

शार्ङ्गधरसंहिता ।

दामोदरसूनुना श्रीशार्ङ्गधराचार्येण
विरचिता

आदमस्त्रेण विरचितया
दीपिकाख्यटीकया समन्विता च ।

पण्डित-श्री-आशुबोध-विद्याभूषणेन
तथा
पण्डित-श्री-नित्यबोध-विद्यारत्नेन च
विविधटिप्पण्या समलङ्कृता
संशोधिता प्रकाशिता च ।

प्रथमसंस्करणम् ।

कलिकाता महानगर्यां

वाचस्पत्ययन्त्रे

मुद्रिता ।

इं १८३१ ।

सूचीपत्रम् ।

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| पूर्वखण्डः । | |
| प्रथमोऽध्यायः । | |
| अथ परिभाषाध्यायः ... | १ |
| यस्य कृत्यकालावरणम् ... | " |
| यस्यस्य प्रामाण्यकालनिर्देशः... | २ |
| वैद्यस्य कालनिर्देशः ... | ३ |
| यस्यस्य आश्रयेयः ... | ५ |
| पूर्वखण्डानुक्रमणिका ... | ६ |
| मध्यखण्डानुक्रमणिका ... | ७ |
| उत्तरखण्डानुक्रमणिका ... | " |
| श्लोकानां सङ्ग्राहसमष्टिः ... | " |
| मानपरिभाषायाः प्रयोगनिर्देशः ... | " |
| मागधीयं मानम् ... | " |
| गुह्यादिद्रव्यकालान्तमानस्य समतानिर्देशः | १२ |
| हेतुगुणपरिभाषायाः विषयनिर्देशः | १२ |
| कुक्षुर्मानतद्रवद्रव्यमानार्थं पात्रविशेष- | |
| ... निर्देशः ... | १३ |
| योगानां नामकरणविधिः ... | " |
| अथ कालिकपरिभाषा ... | " |
| शोधधानां सप्तस्थिरीकरणविधिः | " |
| कालिकमानागतौ हेतुः ... | १४ |
| अथ कालिकमानम् ... | " |
| कालिकमानागममानम् | |
| श्रेष्ठतानिर्देशः ... | १५ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| युक्तायुक्तविचारः ... | १५ |
| गुह्यद्रव्यगुणस्य हेतुगुणपरिभाषाया- | |
| चापवादः ... | १६ |
| अनुक्तविषयिणी परिभाषा ... | " |
| द्विरुक्तद्रव्ये कालनिर्देशः ... | १७ |
| द्विविधचन्दनयोः प्रथममध्यमम् | " |
| शोधधानां गुणस्थितौ गुणदानौ | |
| च कालनिर्देशः ... | " |
| युक्तायुक्तद्रव्ययोः साक्षादव्यत्यनिर्देशः | १८ |
| शोधध्याकरणोपयोगनिर्देशनिर्देशः | " |
| शोधध्याकरणविधिः ... | " |
| शोधध्याकरणे अनुपयोगिर्देशः | २० |
| प्रयोगविशेषः शोधध्याकरणकालः | " |
| शोधध्याकरणे साक्षादनिर्देशः ... | २१ |

द्वितीयोऽध्यायः ।

| | |
|-------------------------------------|----|
| अथ भैषज्याख्यानकाध्यायः २२ | |
| शोधधमन्त्रणे पञ्चविधकालनिर्देशः | " |
| तत्र प्रथमकालः ... | २३ |
| " द्वितीयकालः ... | " |
| " तृतीयकालः ... | २४ |
| " चतुर्थकालः ... | " |
| " पञ्चमकालः ... | २५ |
| द्रव्ये रसादिपञ्चकानां सत्यनिर्देशः | " |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|-----------------------------------|---------------|
| मज्जिमाः | २६ |
| भूतविशेषसंयोगे रसविशेषोत्पत्तिः | २७ |
| भूतविशेषाधिक्ये गुणविशेषः... | २७ |
| बोध्यम् | २७ |
| रसविशेषे विपाकविशेषः ... | २७ |
| रसानां विपाकविशेषे दोष- | |
| विशेषोत्पत्तिः | २८ |
| प्रभावः | २८ |
| रसादिपञ्चकानां पृथक् पृथक् | |
| कार्यकारिता | २८ |
| दोषाणां चयादौ कृतवर्णकानां हेतुता | २८ |
| राशिविशेषे कृतविशेषः | २८ |
| कृतविशेषे दोषाणां चयकोपप्रशमाः | २८ |
| यसदंष्ट्रा | २९ |
| दोषाणां चयादौ विहाराद्वारादीना- | |
| मपि हेतुता | २९ |
| बायोः प्रकोपे प्रशमे च कारणानि | २९ |
| पित्तस्य | २९ |
| कफस्य | २९ |

तृतीयोऽध्यायः ।

अथ नाडोपरोक्षादिविधि-

| | |
|---------------------------------|----|
| रध्यायः | ३४ |
| नाडोपरोक्षास्थानम् | ३४ |
| वातकोपे पित्तकोपे च नाडोलक्षणम् | ३५ |
| श्लेष्मकोपे विदोषकोपे | ३५ |
| विदोषकोपे | ३५ |
| असाध्य | ३६ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|------------------------------|---------------|
| ज्वररोगे कामक्रोधादौ च | |
| नाडोलक्षणम् | ३६ |
| मन्दाग्नि-वातुक्षीणादौ | ३७ |
| दोषाभ्यादौ | ३७ |
| दूतलक्षणम् | ३७ |
| शकुनम् | ३८ |
| चिकित्स्योगिलक्षणम् | ४० |
| स्वप्नलक्षणम् | ४१ |
| तत्र दुःस्वप्नानि | ४१ |
| दुःस्वप्नप्रतीकारः | ४२ |
| सुस्वप्नानि | ४४ |

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ दीपनपाचनाध्यायः ४५

| | |
|-------------------------|----|
| दीपनं पाचनं दीपनपाचनञ्च | ४५ |
| शसनम् | ४६ |
| अनुजीवनम् | ४६ |
| संजनम् | ४७ |
| भेदनम् | ४७ |
| रेचनम् | ४७ |
| वसनम् | ४८ |
| शीघ्रनम् | ४८ |
| हिदनम् | ४८ |
| लेखनम् | ४८ |
| शार्दि | ५० |
| क्षानम् | ५० |
| रसायनम् | ५० |
| वाजीकरणम् | ५१ |
| पुनःकरणम् | ५१ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|-----------------------------|---------------|
| शुक्लस्य प्रवर्तकं जनकस्य ... | ५१ | दोषाणां पार्थ्यायाः ... | ६३ |
| ,, प्रवर्तन-रेचन-साधन-शोधन- कारकाणि ... | ५२ | दोषादीनां निवृत्तिः ... | ६३ |
| सूक्ष्म ... | ,, | दोषेषु बाधोः प्रभावः ... | ६३ |
| व्यवायि ... | ,, | बाधोः स्वरूपम् ... | ६४ |
| विकाशि ... | ५३ | ,, पञ्चस्थानानि ... | ६४ |
| मदकारि ... | ,, | पञ्चबाधोः नामानि ... | ६४ |
| जीवितहरम् ... | ५४ | पित्तस्य स्वरूपम् ... | ६५ |
| प्रमाधि ... | ,, | पञ्चानां पित्तानां स्थानानि | |
| अभिष्यन्ति ... | ५५ | कार्याणि च ... | ६५ |

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ कलाटिकाख्या-

| | | | |
|-------------------------------------|----|--|----|
| नाध्यायः ... | ५५ | पञ्चानां पित्तानां नामानि ... | ६६ |
| कलास्वरूपम् ... | ,, | कफस्य स्वरूपम् ... | ६६ |
| कलादीनां सङ्गानिर्देशः ... | ,, | पञ्चानां कफानां स्थानानि | |
| कलानां विवरणम् ... | ५७ | कार्याणि च ... | ६६ |
| आशयानां ,, ... | ५८ | पञ्चानां कफानां नामानि ... | ६६ |
| धातूनां ,, ... | ५९ | स्नायूनां सन्धोनाञ्च स्वरूपम् ... | ६७ |
| पूर्वपूर्वधातव्यः उत्तरोत्तरधातूना- | | अस्यां समन्थाञ्च स्वरूपम् ... | ६८ |
| मृत्पत्तिः ... | ,, | शिराणां धमनीनाञ्च स्वरूपम् | ६८ |
| सङ्गानां विवरणम् ... | ६० | मांसपेशीनां कण्ठराणाञ्च स्वरूपम् | ६९ |
| ,, अन्धविधिविवरणम् ... | ,, | रन्ध्राणां विवरणम् ... | ७० |
| उपधातूनां विवरणम् ... | ६१ | फुफ्फुस-श्लेष्म यकृतानां स्थाननिरूपणम् | ७० |
| फाणः स्वरूपम् ... | ६२ | फुफ्फुसस्य श्लेष्मस्य स्वरूपम् ... | ७१ |
| त्वणां विवरणम् ... | ६२ | यकृतः तिलस्य (क्लोवः) च स्वरूपम् | ७१ |
| | | वृक्षयोः वृषणयोश्च स्वरूपम् ... | ७१ |
| | | लिङ्गस्य हृदयस्य च ,, ... | ७१ |
| | | शिराधमनीनां शरीरधीवकत्वम् | ७२ |
| | | प्राणबाधोः कार्याविशेषः ... | ७३ |
| | | आयुषः पञ्चवयस्य च लक्षणम् ... | ७४ |
| | | जीवानां मरणवर्त्मनिर्दिष्टः ... | ७४ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------------------|---------------|
| रोगप्रतीकारे दोषोक्तिः ... | ७४ |
| रोगप्रतीकारे गुणोक्तिः ... | ७५ |
| वात्तादीनां वैषम्ये साम्ये च दोषगुणौ | ७५ |
| अथ सृष्टिक्रमः ... | ७६ |
| अव्यक्तम् ... | ७६ |
| महान् ... | ७७ |
| आङ्कारः ... | ७७ |
| एकादशेन्द्रियाणि ... | ७७ |
| बुद्धोन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च | ७८ |
| पञ्चतन्मात्रम् ... | ७८ |
| पञ्चभूतम् ... | ७९ |
| इन्द्रियाणां ... | ७९ |
| बुद्धोन्द्रियाणां विषयाः ... | ७९ |
| कर्मेन्द्रियाणां ,, ... | ७९ |
| प्रकृतः पत्यायाः ... | ८० |
| अतुर्विश्रितितत्त्वानि ... | ८० |
| जीवात्मनो विवरणम् ... | ८० |
| ,, बन्धनकारणानि ... | ८१ |
| ,, बन्ध-मुक्ति-दुःख-सुखद्वैतः | ८२ |

षष्ठोऽध्यायः ।

| | |
|-------------------------------|----|
| अथ आहारादिगतिरध्यायः ८३ | |
| आहारपरिपाके प्रथमक्रमः | ८३ |
| ,, द्वितीयतृतीयक्रमद्वयम् | ८३ |
| यद्येवमिदंनिर्देशः ... | ८४ |
| सुपक्वापक्वाकारयोः क्रिया ... | ८४ |
| सुम्यक्पक्वरसस्य ,, ... | ८४ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| असम्यक् पक्वरसस्य क्रिया ... | ८५ |
| आहारस्य सारमलधोनिर्देशः | |
| मूलस्वरूपस्य ... | ८५ |
| मलस्य स्वरूपम् ... | ८५ |
| बलितयस्य नामानि ... | ८५ |
| रक्तोत्पत्तिक्रमः ... | ८६ |
| रक्तस्य विवरणम् ... | ८६ |
| शुक्तस्य रजसस्य उत्पत्तिविवरणम् | ८७ |
| गर्भस्य ,, ,, | ८८ |
| कन्या-पुत्र-नपुंसकोत्पत्तौ हेतुः | ८८ |
| बाले औषधप्रयोगनिश्चयः ... | ८८ |
| ,, अज्ञानादीनामपि कर्तव्यता- निर्देशः ... | ९० |
| ,, कबलादीनां कालनिर्देशः | ९० |
| वयोऽनुसारेण बाल्यादीनां ऋतुनिर्देशः | ९१ |
| वातप्रकृतेः लक्षणम् ... | ९१ |
| पित्तप्रकृतेः लक्षणम् ... | ९२ |
| श्लेष्मप्रकृतेः लक्षणम् ... | ९२ |
| हृन्मसप्रिपातप्रकृत्योः लक्षणम् | ९१ |
| वयसः प्रकृतेषु वैविध्यनिर्देशः | ९३ |
| वयोऽनुसारेण बाल्यादीनां सीमानिर्देशः ... | ९३ |

| | |
|--|----|
| निद्रामूर्च्छाधानितन्द्राणां दोषनिर्देशः | ९३ |
| ग्लानेरासस्यस्य च लक्षणम् | ९४ |
| जृम्भाया लक्षणम् ... | ९४ |
| अवस्य लक्षणम् ... | ९५ |
| उद्गारस्य लक्षणम् ... | ९५ |

सप्तमोऽध्यायः ।

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|-------------------------------|---------------|
| अथ रोगगणनाध्यायः | ८६ |
| रोगगणनायाः प्रतिज्ञा | ८६ |
| पञ्चविंशतिज्वराणां विवरणम् | ८६ |
| षड्तीमारणां विवरणम् | ८८ |
| पञ्चषष्ठ्याणां विवरणम् | ८९ |
| चतुर्विधप्रवाहिकाणां विवरणम् | ८९ |
| चतुर्विधाशोथानां विवरणम् | ८९ |
| द्विविधालसकानां विवरणम् | ९० |
| द्विविधविमूचोनां विवरणम् | ९० |
| एकविधदण्डकालसकल्य विवरणम् | ९० |
| एकविधविलम्बिकायां विवरणम् | ९० |
| षड्ग्रन्थां | ९० |
| द्विविधचर्मकीलानां | ९० |
| एकविंशतिक्रिमीणां | ९० |
| पञ्चपाण्डूनां | ९० |
| एकेककामला-कुम्भकामला- | |
| हस्तीमकानां विवरणम् | ९० |
| त्रिविधरक्तपित्तानां विवरणम् | ९० |
| पञ्चकाशानां विवरणम् | ९० |
| पञ्चलयाणां विवरणम् | ९० |
| षट्शोषाणां विवरणम् | ९० |
| पञ्चशालानां विवरणम् | ९० |
| पञ्चद्विकानां विवरणम् | ९० |
| चतुर्विधाप्रविकाराणां विवरणम् | ९० |
| पञ्चरोचकानां विवरणम् | ९० |
| सप्तशूर्पानां विवरणम् | ९० |
| षट्स्रमेदानां विवरणम् | ९० |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|------------------------------------|---------------|
| षट्पणानां विवरणम् | ९० |
| चतुर्विधमूर्च्छाणां विवरणम् | ९० |
| एकेकसमानद्रातन्द्रासन्नासग्लानिनां | |
| विवरणम् | ९० |
| सप्तमदानां विवरणम् | ९१ |
| चतुर्विधमदाशयानां विवरणम् | ९१ |
| एकेकपरमद-पानाशोथ-पानविधम्- | |
| पानाशयानां विवरणम् | ९१ |
| सप्तमदानां विवरणम् | ९१ |
| षड्गन्धादानां विवरणम् | ९१ |
| विंशतिभूतोन्मादानां विवरणम् | ९१ |
| चतुर्विधापद्माराणां विवरणम् | ९१ |
| चतुर्विधामवातानां विवरणम् | ९१ |
| षट्शूलानां विवरणम् | ९१ |
| षट्परिणामशूलानां विवरणम् | ९१ |
| एकेकस्रग्द्व-अरन्ध्रशूलयोः | |
| विवरणम् | ९१ |
| अथोदशोदावर्तानां | ९१ |
| द्विविधानाहृत्य | ९१ |
| एकविधोरोग्रहस्त | ९१ |
| पञ्चद्विगोणां | ९१ |
| अष्टोदराणां | ९१ |
| अष्टगुणानां | ९१ |
| अथोदशमूलाघातानां | ९१ |
| अष्टमूलाघातानां | ९१ |
| चतुर्विधामूलाघातानां | ९१ |
| विंशतिमेहेषु दशश्लेष्ममेहानां | ९१ |
| तत्र षट्पिचमेहानां | ९१ |
| चतुर्विधवातमेहानां | ९१ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------|---------------|--------------------------------|---------------|
| एकसोमरोगस्य विवरणम् | १२२ | विविधास्त्रपित्तानां विवरणम् | १४८ |
| दशप्रमेहपिडकानां | १२२ | अष्टविधवातरक्तानां | १४९ |
| एकमेदीरोगस्य | १२४ | अश्लीतिवातरोगाणां | १४९ |
| नवशोथानां | १२४ | अल्पाविंशत्-पित्तरोगाणां | १५० |
| सप्तद्वीपां | १२५ | विंशतिकफरोगाणां | १५९ |
| एकविधास्त्ररुहेः | १२५ | दशवक्त्ररोगाणां | १६० |
| एकगण्डमास्रायाः | १२५ | चतुःसप्ततिमुखरोगाणां | १६० |
| एकगण्डालज्या | १२५ | तत्र एकादशोष्ठरोगाणां | १६० |
| नवयन्त्रिणां | १२६ | ,, दशदन्तरोगाणां | १६१ |
| षड्वर्तुदानां | १२७ | ,, त्रयोदशदन्तमूलरोगाणां | १६३ |
| विविधश्लोषदानां | १२७ | ,, षट्त्रिंशद्वातरोगाणां | १६४ |
| षड्विंशद्वीपां | १२८ | ,, अष्टताम्ररोगाणां | १६५ |
| पञ्चदशत्रयानां | १२८ | ,, अष्टादशगन्धरोगाणां | १६५ |
| अष्टमद्योत्रयानां | १३० | ,, अष्टमर्ममरमुखरोगाणां | १६८ |
| द्विविधकोष्ठमेदस्य | १३१ | अष्टादशकर्णरोगाणां | १६९ |
| अष्टाष्टमङ्गानां | १३१ | सप्तकर्णपालीगतरोगाणां | १७२ |
| अतुर्विंशतिदग्धत्रयानां | १३३ | पञ्चकर्णमूलगतरोगाणां | १७३ |
| पञ्चनाडीत्रयानां | १३३ | अष्टादशनासांरोगाणां | १७३ |
| अष्टभगन्द्वाणां | १३४ | दशशरीररोगाणां | १७६ |
| पञ्चापदंशानां | १३५ | नवकपालरोगाणां | १७९ |
| अतुर्विंशतिशूलदीपाणां | १३६ | चतुर्नवतनत्ररोगाणां | १८० |
| अष्टादशकुष्ठानां | १३८ | तत्र अतुर्विंशतिनेत्रवक्त्रगत- | |
| विविधश्लिषाणां | १४० | रोगाणां विवरणम् | १८१ |
| षष्टिपुट्ररोगाणां | १४० | तत्र नवनेत्रसन्धिमतरोगाणां | |
| तत्र अतुर्विंशत्यङ्गानां | १४५ | विवरणम् | १८६ |
| ,, अष्टविस्फोटानां | १४६ | तत्र त्रयोदशनेत्रशूलमतरोगाणां | |
| ,, अष्टदंशमसुरिकाणां | १४६ | विवरणम् | १८८ |
| नवविस्फोषाणां | १४७ | तत्र पञ्चनेत्रकण्ठगतरोगाणां | १८९ |
| एकैकोदशशीतपित्तयोः | १४८ | तत्र सप्तविंशतिनेत्रदृष्टिगत- | |
| | | रोगाणां विवरणम् | १९१ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । | विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|----------------------------------|---------------|----------------------------------|---------------|
| तत्र बीजसर्वनेत्रगतरीगाणां | | स्वरसामुच्चयः | ... २२३ |
| विचरणम् | १८६ | .. | ... २२३ |
| पञ्चविधकैल्याणां | १८८ | स्वरसमवायाणां मात्रा | ... २२३ |
| अष्टविधशृङ्गरीगाणां | २०० | स्वरसं मध्यादीनां प्रत्येकमात्रा | २२४ |
| अष्टविधार्चवटीगाणां | २०० | प्रमेदि स्वरसमूहम् | ... २२४ |
| चतुर्विधरत्नप्रदराणां | २०१ | रत्नपितादौ स्वरसः | ... २२५ |
| विंशतिशोनिन्यापदः | २०१ | कामलायां स्वरसाः | ... २२५ |
| चतुर्विधकन्दरीगाणां | २०४ | विषमज्वरेषु स्वरसमूहम् | ... २२५ |
| अष्टविधगर्भरीगाणां | २०५ | रक्तातीसारौ स्वरसः | ... २२५ |
| पञ्चकनरीगाणां | २०८ | अतीसारौ स्वरसाः | ... २२६ |
| पञ्चकान्दरीगाणां | २०८ | हृदिग्रामादौ स्वरसः | ... २२६ |
| द्विविधस्त्रीटीगाणां | २०९ | पार्श्वगुलादौ स्वरसः | ... २२६ |
| सूतिकाग्रीगाणां | २०९ | पित्तगुलप्रीडादौ स्वरसौ | ... २२७ |
| द्वाविंशतिबाह्यरीगाणां | २०९ | अपच्यदौ स्वरसः | ... २२७ |
| हाटशबालगङ्गाणां | २१२ | सूर्यावतादौ स्वरसः | ... २२७ |
| द्विचत्वारिंशत्पादरीगाणां | | उग्रादौ स्वरसाः | ... २२८ |
| निर्देशः ... | २१४ | कीटवमर्दं स्वरसः | ... २२८ |
| द्विषष्टिदोषभेदानां निर्देशः ... | २१४ | क्षिप्रत्रये स्वरसः | ... २२८ |
| पञ्चदशपञ्चकर्मनरीगाणां निर्देशः | २१६ | पुटपाकस्वरसर्वाधः | ... २२८ |
| अष्टादशस्नेहादिन्यापदः | २१७ | पुटपाकस्वरसस्य तत्र प्रत्येकस्य | |
| चतुर्विधशीताद्युपद्रवाणां | २१७ | मात्रा ... | ... २२९ |
| द्विविधविषाणां | विचरणम् २१८ | कुटजपुटपाकः | ... २२९ |
| विषोपमद्विविधमटरोगाणां | २१९ | तण्डुलादिकविधिः | ... २३० |
| | | अरलपुटपाकः | ... २३० |
| | | तित्तिरिपुटपाकः | ... २३० |
| | | दाहिनीपुटपाकः | ... २३१ |
| | | बीजपूरादिपुटपाकः | ... २३१ |
| | | वासापुटपाकः | ... २३२ |
| | | कण्टकारीपञ्चाङ्गपुटपाकः | ... २३२ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|----------------------|---------------|
| विभोतकपुटपाकः | ... २३२ |
| शुण्ठोपुटपाकः | ... २३२ |
| द्वितीयशुण्ठोपुटपाकः | ... २३३ |
| शूरणपुटपाकः | ... २३३ |
| सृग्मशृङ्गपुटपाकः | ... २३३ |

द्वितीयोऽध्यायः ।

| | |
|---------------------------------|---------|
| काथकव्यना | ... २३४ |
| काथविधिः | ... २३४ |
| काथस्य पर्यायः | ... २३५ |
| काथसिक्ने कालो माता च | ... २३५ |
| काथे प्रत्येक्याणां माननिर्देशः | २३५ |
| अनाहतमुखपात्रं काथकरणे | |
| दोषनिर्देशः | ... २३६ |
| सर्वज्वरे गुडूच्यादिः | ... २३६ |
| वातज्वरे | ... २३७ |
| „ शालपत्र्यादिः | ... २३७ |
| „ कागम्यादिः | ... २३८ |
| पित्तज्वरे कट्फलादिः | ... २३८ |
| „ पर्पटादिः | ... २३८ |
| „ द्राक्षादिः | ... २३९ |
| „ पर्पटादिः | ... २३९ |
| कफज्वरे बीजप्रमूलादिः | ... २३९ |
| „ भूनिम्बादिः | ... २३९ |
| „ पटोलादिः | ... २४० |
| वातापतज्वरे पञ्चभद्रम् | ... २४० |
| वातकफज्वरे लवण्टादिः | ... २४० |
| „ आरम्बधादिः | ... २४१ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|----------------------------------|---------------|
| पित्तकफज्वरे अमृताष्टकम् | ... २४१ |
| „ पटोलादिः | ... २४१ |
| सर्वज्वरे कण्टकाद्यादिः | ... २४१ |
| वातश्लेष्मज्वरे दशमूलम् | ... २४२ |
| सन्निपातज्वरे अभयादिः | ... २४२ |
| „ पिप्पल्यादिः | ... २४३ |
| „ अष्टादशाङ्गः | ... २४४ |
| वातश्लेष्मज्वरे कट्फलादिः | ... २४४ |
| श्लेष्मज्वरे गुडूच्याकाथः | ... २४४ |
| पित्तज्वरे पर्पटादिः | ... २४४ |
| जीर्णज्वरे निदिग्धिकादिः | ... २४५ |
| मूर्तिकाज्वरे देवदावादिः | ... २४५ |
| जीर्णज्वरे ब्रह्मन् क्षयादिः | ... २४५ |
| विषमज्वरे मूलादिः | ... २४६ |
| „ पटोलादिः | ... २४६ |
| ऐकाङ्गिके | ... २४६ |
| तृतीयक गुडूच्यादिः | ... २४६ |
| जातश्लेके देवदावादिः | ... २४७ |
| ज्वरातीसारे ब्रह्मन् गुडूच्यादिः | २४७ |
| „ नागरादिः | ... २४७ |
| आमश्ले चान्यपञ्चकम् | ... २४८ |
| आमवाते चान्यनागरकाथः | ... २४८ |
| सामरक्तातीसारे वसकादिः | २४८ |
| „ कृताष्टकम् | ... २४९ |
| अतीसारे क्रीबरादिः | ... २४९ |
| वालातीसारे धातुकादिः | ... २४९ |
| पृष्ठगुणा शालपत्र्यादिः | ... २५० |
| „ गुडूच्यादिः | ... २५० |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|----------------------------------|---------------|---------------------------------------|---------------|
| अतोसारे यवादिः | ... २५० | प्यौल्ये विस्वादिपञ्चमूलम् | ... २५८ |
| किमिरोगे विफलादिः | ... २५० | ” विफलाकायः उष्णाल्प- | |
| ” फण्विकादिः | ... २५१ | योगश्च | ... २५८ |
| पाण्डुमाधे पुनर्नवादिः | ... २५१ | उदरे चव्यादिः | ... २५८ |
| रक्तपित्त वासादिः | ... २५१ | शोथोदरे पुनर्नवादिः | ... २६० |
| रक्तपित्तादौ वासाकायः | ... २५१ | यकृतादौ पथ्यादिः | ... २६० |
| कासे वासादिः | ... २५२ | शोथे पुनर्नवादिः | ... २६० |
| ” क्षुदादिः | ... २५२ | हृद्दिशे विफलाकायः | ... २६० |
| चिक्याया रेणुकादिः | ... २५२ | अन्तर्बद्धौ रासादिः | ... २६० |
| कृपा योगवधम् | ... २५२ | गण्डमालाया काञ्चनावरवणकायो | २६१ |
| गृध्रस्य दशमूलकायः निर्गुण्यी- | | श्लोपदे शाखोटवल्कलकायः | २६१ |
| कायश्च | ... २५३ | अन्तर्बद्धौ पुनर्नवादिः श्लेष्मकायश्च | २६१ |
| आमवाने रासापञ्चकम् | ... २५३ | ” वरुणादिः | ... २६१ |
| ” रासापञ्चकम् | ... २५३ | वरुणादिगणः | ... २६१ |
| वातव्याधौ मङ्गरासादः | ... २५४ | भगन्दरे स्फटिरादिः | ... २६२ |
| स्तनादिगतयूले एरण्डसप्तकम् | २५४ | उपदंश पटोलादिः | ... २६३ |
| वातयूले नागरादिः इन्द्रियवकायश्च | २५५ | वातरक्ते अमृतादिः | ... २६३ |
| पित्तयूले विफलादिः | ... २५५ | ” पटोलादिः | ... २६३ |
| कफयूले एरण्डमूलकायः | ... २५५ | श्लेष्मे धात्रादिः | ... २६३ |
| हृत्पित्तादौ दशमूलकायः | ... २५६ | वातरक्ते स्वेत्पमज्जिहादिः | ... २६४ |
| मूत्रकृच्छ्रे हरीतक्यादिः | ... २५६ | कुष्ठादौ वृद्धन्मज्जिहादिः | ... २६४ |
| अग्न्यथा वीरतरादिः | ... २५६ | श्लेष्मरोगे मादौ पथ्यादिः | ... २६५ |
| ” एलादिः | ... २५७ | नेत्ररोगे वासादिः | ... २६५ |
| मूत्रकृच्छ्रे गोचुरमूलकायः | ... २५७ | ” अमृतादिः | ... २६६ |
| प्रमेहे वरादिवत्सकादिश्च | ... २५७ | व्रणादौ पञ्चवल्कलम् | ... २६६ |
| प्रमेहे फण्विकादिः | ... २५८ | प्रमथ्यालकायम् | ... २६६ |
| प्रदरे दाह्यादिः | ... २५८ | रक्तातोसारे मुस्तादिप्रमथ्या | २६७ |
| वृणरोगे अथोधादिः | ... २५८ | यवागुसाधनविषयः | ... २६७ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|---------------------------------|---------------|
| चङ्कणाम् चाम्बादियथायुः ... | २६८ |
| धूपसाधनविधिः ... | २६८ |
| त्रिदोषञ्चर सप्तमुष्टिकधूपः ... | २६८ |
| पानोद्यसाधनविधिः ... | २६९ |
| पिपासाञ्चर चङ्कणपानोद्यम् | २७० |
| सर्षादकावाधः ... | २७० |
| रात्रौ सर्षादकपानस्य मुखाः | २७१ |
| क्षीरसाधनविधिः ... | २७१ |
| जीर्णञ्चरे पञ्चमूलीक्षीरम् ... | २७२ |
| „ त्रिकसृक्कादक्षीरम् | २७२ |
| यवागुग्गुशरयोः साधनविधिः | २७२ |
| यवागुग्गुणाः ... | २७४ |
| विलेप्याः साधनविधिर्मेणस्य... | २७४ |
| पेयाधूपयोः „ | २७४ |
| „ मुखाः ... | २७५ |
| भक्तस्य साधनविधिः गुणस्य ... | २७५ |
| मण्डस्य „ „ | २७६ |
| अष्टगुणमण्डस्य „ „ | २७६ |
| षाण्डमण्डस्य „ „ | २७७ |
| आगमण्डस्य „ „ | २७७ |

तृतीयोऽध्यायः ।

| | |
|----------------------------------|-----|
| फाण्टकल्पना ... | २७८ |
| फाण्टस्य साधनविधिर्मात्राविधिश्च | २७८ |
| धातपित्तञ्चरे मध्वरूपप्यादिः | २७९ |
| पित्तञ्चरे चाम्बादिः ... | २८० |
| दाहलक्षणादौ मध्वरूपप्यादि .. | „ |
| फाण्टभेदमन्त्रस्य साधनावधिः | |
| मात्रा च ... | २८० |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|------------------------|---------------|
| महात्थये खर्जूरदिः ... | २८१ |
| कृष्णो मसूरप्रयोगः ... | „ |
| लक्षणादौ यवप्रयोगः ... | „ |

चतुर्थोऽध्यायः ।

| | |
|----------------------------------|-----|
| हिमकल्पना ... | २८२ |
| श्रीतस्य साधनविधिः मात्राविधिश्च | २८२ |
| रक्तपित्ते चाम्बादिः ... | २८३ |
| लक्षणादौ मरिचादिः ... | „ |
| धातपित्तञ्चरे गोक्ष्वात्पलादिः | „ |
| जीर्णञ्चरे गुडचोपयोगः ... | २८४ |
| क्षामादौ वासाप्रयोगः ... | „ |
| चतुर्दशिकादौ धन्याकप्रयोगः | „ |
| रक्तपित्तादौ धन्याकादिः ... | „ |

पञ्चमोऽध्यायः ।

| | |
|--|-----|
| कल्ककल्पना ... | २८५ |
| कल्कस्य साधनविधिः पर्यायो | |
| मात्रा च ... | २८५ |
| कल्क प्रलेप्याणां मात्रा ... | „ |
| पाण्डुरोगादौ पिप्पलीबहुमान- प्रयोगः ... | २८६ |
| त्रणादौ निम्बवस्त्रप्रयोगः ... | „ |
| गृध्रस्य महानिम्बप्रयोगः ... | २८७ |
| वातव्याधौ रसोनप्रयोगः ... | „ |
| वातव्याधौ रसोनपिण्डः ... | २८७ |
| रसोनप्रयोगे अपय्यानि ... | २८८ |
| पय्यानि ... | २८९ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| ऊरुक्षेत्रे पिप्पल्यादिः ... | २८८ |
| परिणामशुली अपराजिताप्रयोगः .. | २८८ |
| परिणामशुलाको गुण्टादिः... | २८८ |
| रक्ताशंसु अपरामागप्रयोगः ... | २८९ |
| रक्ताशंसारे वदध्यादिः ... | २८९ |
| रक्तपित्तादौ लाक्षाप्रयोगः ... | २८९ |
| रक्तप्रदरे तण्डुलीयप्रयोगः ... | २९१ |
| अतोसारदो अक्षीठप्रयोगः ... | २९१ |
| विषे बभ्याकूर्कोटकादिप्रयोगत्वग्रम् | २९१ |
| सर्पिपाते अभ्रयादिः ... | २९१ |
| अग्रमान्यादो पथ्यादिः ... | २९१ |
| किमिरोगे विवदादिः ... | २९१ |
| रक्ताशंसु तिलप्रयोगे नानकेशरप्रयोगौ .. | २९१ |
| यङ्ग्यां गुण्टादिः वृद्धीप्रयोगश्च | २९१ |

षष्ठोऽध्यायः ।

| | |
|---|-----|
| चूर्णकल्पना ... | २९३ |
| चूर्णलक्षणं तस्य पर्यायी माता च .. | २९३ |
| चूर्णे गङ्गादीनां द्रवणाञ्च मात्रानिर्देशः .. | २९४ |
| दीर्घभेदेन अनुपादानां .. | २९४ |
| अनुपातस्य गुणः ... | २९४ |
| भावनाञ्च द्रवपरिमाणनिर्देशः | २९५ |
| सर्वावधत्तरे चामलक्यादिः ... | २९५ |
| कासज्वरादौ पिप्पलीप्रयोगः .. | २९५ |
| मेहादौ विफलः .. | २९५ |
| अग्रमान्यादौ विकटः .. | २९५ |
| अरुच्यादौ पञ्चकोलम् ... | २९७ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|-----------------------------------|---------------|
| त्रिजातकचामुर्जातके ... | २९७ |
| जीवनीयगणः ... | २९८ |
| अष्टवर्गः ... | २९८ |
| पञ्चलवणम् ... | २९८ |
| सारदयम् ... | २९९ |
| सर्वावधत्तरे मुद्गान्मचूर्णम् ... | २९९ |
| कासादौ विफलः ... | ३०२ |
| कटफलः ... | ३०२ |
| द्वितीयकटफलः ... | ३०२ |
| तृतीयकटफलः ... | ३०२ |
| बालस्य कासादौ शृङ्गादि ... | ३०३ |
| कासं यवक्षारादि ... | ३०३ |
| चामातोसारं गुण्टादि ... | ३०३ |
| हरीतक्यादि ... | ३०४ |
| अतोसारं स्वल्पगङ्गाधरचूर्णम् | ३०४ |
| हृद्गङ्गाधरचूर्णम् | ३०४ |
| अजमोदादिचूर्णम् | ३०५ |
| वहण्यां मरिचादि चूर्णम् ... | ३०५ |
| कपित्थाटकः ... | ३०५ |
| अरुच्यादौ टाडिमाटकम् ... | ३०६ |
| अतोसारदौ वृद्धन टाडिमाटकम् | ३०७ |
| वातशङ्ख्यां पिप्पल्यादिचूर्णम् | ३०७ |
| अरोचकादौ लवङ्गादिः ... | ३०८ |
| यङ्ग्यां जातीफलः ... | ३०८ |
| अरुच्यादौ मद्गायकम् ... | ३१० |
| उदरादौ नारायणचूर्णम् ... | ३११ |
| अजोषादौ हृषीकादौ ... | ३१४ |
| शुलादौ पञ्चसमं ... | ३१४ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|-------------------------------------|---------------|-----------------------------------|---------------|
| आज्ञानादौ नाराच चूर्णम् ... | ३१४ | कासे मरिचादिचूर्णम् ... | ३२० |
| यकच्छूलादौ लवणवितयाद्यं चूर्णम् ... | ३१५ | आसकासे गुडादिचटिका ... | ३२१ |
| गुलादौ तुम्बादि चूर्णम् ... | ३१६ | टण्यायाम् आमलकादिगुडिका ... | ३२२ |
| यकण्यां चिककादि ... | ३१७ | अजोर्णादौ सन्नोषनीवटी ... | ३२३ |
| अग्निमान्द्ये बडवानलचूर्णम् ... | ३१८ | पीनसादौ व्याघादिगुडिका ... | ३२४ |
| आमवातादौ अजमोदादिचूर्णम् ... | ३१९ | आमादौ गुडगुण्डादियोगचतुष्टयम् ... | ३२५ |
| आमादौ गुण्डादि ... | ३२० | अश्वसु वडदारकादिमोदकः ... | ३२६ |
| गुन्दादौ चटिकादि ... | ३२१ | शूरणपिण्डो ... | ३२७ |
| अरोचकादौ धमानीषाडवः ... | ३२२ | शूरणवटकः ... | ३२८ |
| कासादौ तालीशादिचूर्णम् ... | ३२३ | कामलादौ मण्डूरवटकः ... | ३२९ |
| अधादौ नितीपलादिचूर्णम् ... | ३२४ | विषमज्वरादौ पिप्पलीमोदकः ... | ३३० |
| गुन्दादौ भान्कराचूर्णम् ... | ३२५ | प्रमेहादौ चन्दप्रभागुग्गुलुः ... | ३३१ |
| क्रूर्याम् पलादिचूर्णम् ... | ३२६ | गुन्दादौ काङ्गायनगुडिका ... | ३३२ |
| कुर्ववातादौ व्याघ्रादि चूर्णम् ... | ३२७ | आमवाते योगराजगुग्गुलुः ... | ३३३ |
| कुष्ठादौ पञ्चनिम्बिकादि ... | ३२८ | वातरक्तादौ कैशोरगुग्गुलुः ... | ३३४ |
| वाजोकरणे शतावस्थादि ... | ३२९ | भगन्दरादौ भिफला ... | ३३५ |
| अश्वगन्धादि ... | ३३० | प्रमेहादौ गोक्षुरादि ... | ३३६ |
| मुमल्यादि ... | ३३१ | कुष्ठादौ भिफलामोदकः ... | ३३७ |
| पाण्डुरीमादौ नवायस ... | ३३२ | गण्डमालादौ कचनारगुग्गुलुः ... | ३३८ |
| कामने आकारकरभादि ... | ३३३ | पुष्टौ माषादिमोदकः ... | ३३९ |

सप्तमोऽध्यायः ।

| | |
|------------------------------------|-----|
| वटकादिकल्पना ... | ३२८ |
| वटकपर्यायाः ... | ३२९ |
| वटकादीनां प्रसूतविधिः ... | ३३० |
| वटकादिषु शर्करादीनां भावा ... | ३३१ |
| वटकादीनां ... | ३३२ |
| अश्वप्रभृतिषु शीघ्रादिशो गुरुः ... | ३३३ |

अष्टमोऽध्यायः ।

| | |
|-----------------------------------|-----|
| अवलेहकल्पना ... | ३४० |
| अवलेहस्य स्वरूपं पर्यायो भावा ... | ३४१ |
| अवलेहे द्वितागुडद्वयाणां भावा ... | ३४२ |
| अवलेहकालेन कल्पना ... | ३४३ |
| अवलेहे अनुपानम् ... | ३४४ |
| कासे कण्टकाद्यवलेहः ... | ३४५ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|------------------------------|---------------|
| अथचोषादो अयनप्रागः ... | ३५० |
| रक्तपित्तं कृष्णवर्णलेहः ... | ३५३ |
| अर्शोरोमे खण्डयूरणावलेहः | ३५४ |
| कासे अगस्त्यहरीतकवलेहः | ३५५ |
| अर्शोरोमादो कूटजाष्टकम् ... | ३५६ |
| रक्तातोसारादो कूटजाष्टकम् | ३५७ |

नवमोऽध्यायः ।

| | |
|---|-----|
| अथ स्नेहपरिभाषा ... | ३५७ |
| स्नेहस्य पाकविधिः मातृगन्ध | ३५८ |
| स्नेहपाकायै कायमाधनविधिः | ३५८ |
| कायस्य स्रग्मण्यादिभेदेन | |
| जलपरिमाणम् | ३५९ |
| कायस्य स्रग्मण्यादिभेदेन | |
| जलपरिमाणम् | ३६० |
| स्नेहपाके जलादिद्रवभेदेन | |
| कल्कस्य परिमाणम् | ३६१ |
| पञ्चादिद्रवेषु स्नेहपाके द्रवपरिमाणम् | ३६२ |
| केवलकल्कमात्रस्नेहपाकपरिभाषा | ३६३ |
| कल्कस्यैवविरहितस्नेहपाकपरिभाषा | ३६४ |
| अकल्कस्नेहपाकपरिभाषा | ३६५ |
| पुष्पकल्कस्नेहपाकपरिभाषा | ३६६ |
| स्नेहपाकसिद्धिलक्षणम् | ३६७ |
| स्नेहस्य विविधपाकलक्षणम् | ३६८ |
| दग्धानपक्वस्नेहयोः दीवः | ३६९ |
| पाकविज्ञेयेषु स्नेहस्य उपयोगिता | ३७० |
| व्यूष्य व्यूष्य पक्ववृत्तादीनां गुणाधिक्यम् | ३७१ |
| विषमज्वरादो चौरघटपलघृतम् | ३७२ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|-------------------------------|---------------|
| यङ्ग्यादो चाङ्गेरी घृतम् ... | ३६३ |
| मसूर | ३६४ |
| रक्तपित्तादो कामदेव | ३६५ |
| उन्मादादो पानीयकल्याणक घृतम् | ३६६ |
| वातरक्तो पित्तता घृतम् | ३६७ |
| कुष्ठादो महातिक्तकं | ३६८ |
| काशीशाखं | ३६९ |
| व्रणशोथे कालादि | ३७० |
| उदरे बिन्दु | ३७१ |
| नेत्ररोमे विफला | ३७२ |
| व्रणशोथे गौराद्य | ३७३ |
| शिरीरोमे माथूर | ३७४ |
| शूलिन्यापत्तुं तृप्तफलघृतम् | ३७५ |
| स्वल्पफलघृतम् | ३७६ |
| विषमज्वरादो पञ्चतिक्तकं घृतम् | ३७७ |

दशमोऽध्यायः ।

| | |
|----------------------------|-----|
| तैलकल्पना | ३७८ |
| विषमज्वरादो लाक्षादि तैलम् | ३७९ |
| जीर्णज्वरे अङ्गारक | ३८० |
| वातव्याधौ नारायण | ३८१ |
| वेपथुवाते बाहयो | ३८२ |
| वातव्याधौ बला | ३८३ |
| प्रसारणी | ३८४ |
| माष | ३८५ |
| शतावरी | ३८६ |
| अर्जुन काशीशाखं | ३८७ |
| वातरक्तो पिच्छ | ३८८ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------------|---------------|-----------------------------------|---------------|
| पानादौ चकं तैलम् ... | ३८६ | वासवारिष्ठयोः भेदो मात्रा च | ३८८ |
| कुष्ठे मरिचाद्यं ,, ... | ,, | चतुक्तमानारिष्टादौ गुडचौद्रादीनां | |
| अष्टविजायां विफलाद्यं तैलम् | ३८७ | मात्रा ... | ३८९ |
| पलिते निम्बरीज ,, | ,, | शोतरस-पक्रममौषधीः लक्षणम् | ,, |
| „ यष्टिमधुकाद्यं ,, | ३८८ | विविधसुराभेदानां ,, | ४०० |
| इन्द्रलेपे करक्याद्यं ,, | ,, | वारुणी ,, | ,, |
| पलिते नीलिकाद्यं ,, | ,, | शुक्त ,, | ,, |
| पलितादौ मृद्वराज ,, | ३८९ | पुष्प ,, | ४०१ |
| मुखरागे हरिमेदाद्यं ,, | ३९० | गुडशुक्त ,, | ,, |
| नाडीव्रणादौ आल्याद्यं ,, | ,, | इक्षुयुक्तं मृद्वीकाशुक्तम् ... | ,, |
| क्षण्यूर्णे हिङ्गाद्यं ,, | ३९१ | तुषाम्बु मौरीरकयोः लक्षणम् | ४०२ |
| बाधिर्ये विन्व ,, | ,, | कार्ष्णिकलक्षणम् ... | ,, |
| कर्णरोगे चार ,, | ३९२ | शिखंडाकीलक्षणम् ... | ,, |
| मधुशुक्तम् ... | ३९३ | रक्तपित्ते सशोरासवः ... | ,, |
| घोनसे पाठाद्यं तैलम् ... | ,, | परिणामशूलादौ क्रमाध्यासवः | ४०३ |
| पूतिनासायां व्यघ्नराद्यं तैलम् | ,, | अथादौ पिप्पल्यावासवः ... | ४०४ |
| चवथौ कुष्ठाद्यं ,, | ३९४ | पाण्डुरोगादौ लोहासवः ... | ४०५ |
| नासाग्रं सु गृह्णन्माद्यं ,, | ,, | यक्ष्णयादौ मृद्वीकारिष्टः ... | ,, |
| कुष्ठे बज्रोसोराद्यं ,, | ,, | ज्वरे कटुकारिष्टः ... | ४०६ |
| लोमशातने करवीराद्यं ,, | ३९५ | विटप्यादौ विडङ्गारिष्टः ... | ,, |
| अथ चन्दनाद्यं ,, | ,, | प्रमेहादौ देवदार्याद्यारिष्टः ... | ४०७ |
| गण्डमालाया बचाद्यं ,, | ३९६ | कुष्ठादौ खट्विरारिष्टः ... | ४०८ |
| „ लाङ्गली ,, | ,, | अथादौ बल्लारिष्टः ... | ४०९ |
| वातव्याध्यादौ धुतूराद्यं ,, | ,, | „ द्राचारिष्टः ... | ,, |
| | | प्लीहादौ रोहोतकारिष्टः ... | ४१० |
| | | वागोक्षरणादौ दशमूलारिष्टः | ,, |

एकादशोऽध्यायः ।

सन्धानकल्पना ... ३९८

वासवारिष्टादीनां सामान्यलक्षणम् ,,

विषयाः

पृष्ठाङ्काः ।

द्वादशोऽध्यायः ।

धातूनां शोधनमारणा-

| | | |
|-------------------------------|-----|-----|
| धिकारः | ... | ४१३ |
| सप्तधातुनिर्देशः | ... | " |
| स्वर्णादिधातुपञ्चकानां शोधनम् | " | " |
| नागवङ्गयोः शोधनम् | ... | ४१४ |
| स्वर्णमारणम् | ... | " |
| मतान्तरे स्वर्णमारणम् | ... | ४१५ |
| " " | ... | " |
| " " | ... | ४१६ |
| " " | ... | " |
| " " | ... | " |
| कृतस्वर्णस्य गुणाः | ... | ४१७ |
| रौप्यमारणम् | ... | " |
| मतान्तरे रौप्यमारणम् | ... | " |
| पित्तलमारणम् | ... | ४१८ |
| कांठ्य " | ... | " |
| ताम्रपित्तलकांठ्यमारणानि | ... | " |
| ताम्र मारणम् | ... | " |
| सोसक " | ... | ४२० |
| मतान्तरे सोसकमारणम् | ... | " |
| वङ्गमारणम् | ... | ४२१ |
| लोह " | ... | ४२२ |
| मतान्तरे लोहमारणम् | ... | ४२३ |
| " " " | ... | " |
| " " " | ... | ४२४ |
| सर्वधातूनां " | ... | " |
| उपधातुनिर्देशः | ... | ४२५ |

विषयाः

पृष्ठाङ्काः ।

| | | |
|----------------------------------|-----|-----|
| स्वर्णमासिकशोधनम् | ... | ४२५ |
| " मारणम् | ... | " |
| रौप्यमासिकशोधनम् | ... | " |
| तुल्यक शोधनम् | ... | ४२६ |
| अश्वक " | ... | " |
| " मारणम् | ... | ४२७ |
| सुतामस्य प्रयोगार्हताकरणम् | " | " |
| " गुणाः | ... | " |
| मतान्तरे अश्वमारणम् | ... | ४२८ |
| " " | ... | " |
| नीलाञ्जन शोधनम् | ... | " |
| गैरिकानि " | ... | ४२९ |
| मनःशिला " | ... | " |
| हरिताल " | ... | ४३० |
| खर्पर " | ... | " |
| सर्वधातूनां मत्त्वपातनम् | ... | " |
| होरक शोधनम् | ... | ४३१ |
| " मारणम् | ... | ४३२ |
| मतान्तरे होरकमारणम् | ... | " |
| " " " | ... | " |
| वैक्रान्त शोधनम् | ... | ४३३ |
| " मारणम् | ... | " |
| सर्वरत्नाणां शोधनम् | ... | " |
| " मारणम् | ... | " |
| मतान्तरे सर्वरत्नानां शोधनमारणम् | ४३५ | " |
| शिलाजतुशोधनम् | ... | " |
| मतान्तरे शिलाजतुशोधनम् | ४३६ | " |
| मण्डूर शोधनम् | ... | ४३७ |
| ज्वारप्रच्छुतविधिः | ... | ४३८ |

विषयः पृष्ठाङ्काः ।

तयोदशोऽध्यायः ।

रसगन्धकशोधनमारणा-

धिकारः ... ४३८

पारदप्रशंसा

पारदपर्यायाः ... ४४०

नर्वावधधातूनां नवयष्टसंज्ञकत्वम् ४४१

पारद शोधनम्

गन्धक ,, ... ४४६

चिङ्गुल ,, ... ४४७

चिङ्गुलान् रसाकर्षणविधिः

शङ्करस्य मुखकरणविधिः ... ४४८

मत्तान्तरे शुङ्करस्य मुखकरणविधिः ४४८

.. ..

गन्धककारणम्

पारदमारणम् ... ४५०

मत्तान्तरे पारदमारणम् ... ४५१

.. .. ४५२

.. .. ४५३

—

चतुर्दशोऽध्यायः ।

रसकल्पना ... ४५३

सर्वज्वरे ज्वराङ्गु रसः

विषमज्वरे ज्वराणि ,, ... ४५४

.. शीतज्वराणि रसः ४५५

सर्वज्वरे ज्वरघ्नी गुड़िका ... ४५६

अथादौ लोकाय रसः ... ४५७

.. मृगाङ्गुलि ,, ... ४६०

विषयः पृष्ठाङ्काः ।

अथादौ हेमगर्भपोष्टलि रसः ... ४६२

.. .. ४६३

विषमज्वरे ज्वराङ्गुशी ,, ... ४६४

अतिसारे आनन्दभैरवी ,, ... ४६५

सन्निपातज्वरे लज्जमुषिकामरणी

रसः ... ४६६

.. कालवन्धुः रसः ४६७

.. पञ्चवक्त्रः ,,

.. उग्रास्य ,, ... ४६८

.. अञ्जनम्

उदावर्ते नाराची रसः ... ४६९

विरचने इच्छाभेदी ,,

सर्वमेहे वसन्तकुसुमाकरी रसः ..

ज्येष्ठे राजस्रगाङ्गी रसः ... ४७०

अथकासे व्यथमात्र रसः ... ४७१

आसे अमृतार्थवी रसः ... ४७२

आसे मृद्यावर्ती रसः

वातव्याधौ स्वच्छन्दभैरवी रसः ४७३

यक्ष्म्या हसपोष्टली रसः

अश्लथी विविकनी रसः ... ४७४

कुष्ठे मृदातालेयरी रसः

.. कुष्ठकुठारी रसः ... ४७५

कुष्ठे श्वित्रे च उदयादित्यो रसः ४७६

सुप्तिकुष्ठे सर्वेश्वरी रसः ... ४७८

.. स्वर्णक्षीरी रसः ... ४७९

प्रमेहे मेढवङ्गी ,,

उदररोगे मृदावक्त्रिः ,, ... ४८०

गुल्मप्लीहादौ विद्याधरी रसः ४८१

परिणामशूलि दिनेनी ,, ..

| | |
|-------------------------------------|---------------|
| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
| शुक्ल शूलगन्धकीशरी रसः ... | ४८२ |
| अग्निमान्द्ये अग्नितुण्डीवटी रसः .. | ४८३ |
| अजीर्णे अजीर्णकण्टको रसः | ४८३ |
| कज्जि मन्थानभैरवो रसः ... | ४८४ |
| वातव्याघ्रो वातनाशभो रसः | ४८४ |
| सन्निपातादौ कनकसुन्दरी रसः .. | ४८५ |
| सन्निपाते सन्निपातभैरवो रसः | ४८५ |
| घण्ट्या घण्टीकपाटो रसः ... | ४८६ |
| ॥ घण्टीवज्रकपाटः ... | ४८७ |
| वाजीहरणे मदनकामटवो रसः | ४८८ |
| ॥ कन्दर्पसुन्दरी रसः | ४८८ |
| रसायने लोहरसायनम् ... | ४८९ |
| जैपालशोधनम् ... | ४८९ |
| विष | ४९० |

उत्तरखण्डः ।

प्रथमोऽध्यायः ।

| | | |
|---------------------------------|-----|-----|
| अथ स्नेहपानविधिः | ... | ४८४ |
| चतुर्विधः स्नेहः स्नेहपानकालश्च | | ॥ |
| स्नेहस्य विविधधीनिः तथोः | | |
| अष्टनिर्देशश्च | ... | ४८५ |
| मिश्रस्नेहानां भामानि | ... | ॥ |
| स्नेहपाने तस्य सात्त्विकीभवने च | | |
| कालनियमः | ... | ॥ |
| दोषादीनां शलाकालानुसारण | | |
| पानीयस्नेहस्य मात्रा | ... | ४८६ |
| अमात्रादिविहितस्य स्नेहस्य | | |
| अपकारिता | ... | ॥ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|-------------------------------------|---------------|
| अग्निबलभेदेन पानीयसोदक्य मात्रा ४२७ | |
| मत्तान्तरे | ” ” ” |
| मात्राभेदेन सोदक्य गुणविधिषः | ४२८ |
| दोषभेदेन सोदक्ययोगनिबन्धः | ४२९ |
| घृतपानाङ्काः | ... ” |
| तैलपानाङ्काः | ... ५०० |
| वसापानाङ्काः | ... ” |
| मज्जपानाङ्काः | ... ५०१ |
| ऋतुभेदेन दोषभेदेन च सोदकपान- | |
| कालः | ... ” |
| नद्यादिषु यथोक्तसोदकनिबन्धः | .. |
| सोदक्यविशेषाणां यथोक्तपरीक्षा | ... ५०२ |
| सोदक्यविशेषाणां सोदक्ययोगनिबन्धः | .. |
| नद्याः सप्तमकूपी योगो | ... ५०३ |
| नद्याः सप्तमकूपी योगो | ... ५०४ |
| नद्याः सप्तमकूपी योगो | ... ” |
| नद्याः सप्तमकूपी योगो | .. |
| सोदकपानाङ्काः | ... ५०५ |
| सोदकपानाङ्काः | ... ” |
| सम्यक् सङ्ग्रह्य तथा कृत्य च | |
| लक्षणम् | ... ” |
| अतिस्निग्धस्य लक्षणम् | ... ५०६ |
| कृत्वातिस्निग्धयोः चिकित्सा | .. |
| सहमेदिनः लक्षणम् | ... ५०७ |
| .. अण्डम् | ... ” |

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ स्वेदविधिः ॥ ५०८

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------------------|---------------|--|---------------|
| चतुर्विधस्वेदानां नामानि ... | ५०८ | मंशोधनस्य कालनिर्देशः ... | ५२१ |
| दोषविशेषे स्वेदविशेषः ... | ५०९ | वमनाङ्गाः ... | ५२२ |
| प्रवरावरमध्यस्वेदस्य विषयः ... | ५०९ | वमनवाध्या रोगाः ... | ५२३ |
| दोषविशेषे चक्षुःस्वेदनियमः ... | ५१० | वमनानङ्गाः ... | ५२३ |
| प्राक् स्वेदाङ्गाः ... | ५१० | वमनानङ्गाणामवस्थाविशेषे | |
| पश्चात् " ... | ५११ | वमनविधिः ... | ५२४ |
| पूर्वं पश्चात् " ... | ५११ | सुकुमारादीनां वमनविधिः ... | ५२४ |
| सर्वावधस्वेदस्य सामान्यकाल- | | वमनस्य पूर्वकर्तव्यनिर्देशः ... | ५२४ |
| नियमः ... | ५१२ | वामकद्रव्ये अवश्यादेयद्रव्यनिर्देशः ... | ५२५ |
| स्वेदस्य फलम् ... | ५१२ | वमनविरेचनोपयोगिद्रव्यनिर्देशः ... | ५२५ |
| स्वेदकाले हृत्प्रेषधौ रक्षाविधिः ... | ५१२ | वमनार्थे क्राथविधिः ... | ५२५ |
| स्वेदानङ्गाः ... | ५१२ | ॥ क्राथपानस्य उत्तमादिमात्रा ॥ | ५२६ |
| अतिस्वेदजः रोगाः तेषां सामान्य- | | ॥ कल्कादीनाम् ॥ ॥ | ५२६ |
| नियमः ... | ५१३ | उत्तमादिभेदेन वमनस्य वेगिकालिक- | |
| तापस्वेदस्य नियमः ... | ५१४ | मानानर्देशः ... | ५२६ |
| ऊष्णस्वेदस्य " ... | ५१४ | वमनादौ प्रवृत्तमानस्य पारिभाषिकार्थः ... | ५२७ |
| ॥ अन्तर्विधनियमः ... | ५१५ | दोषभेदेन वमनद्रव्यस्य भेदनिर्देशः ... | ५२७ |
| ॥ " ... | ५१५ | वमनविधिः ... | ५२८ |
| उपनादस्वेदस्य नियमः ... | ५१६ | दुर्बलस्य लक्षणम् ... | ५२८ |
| अङ्गशाल्यस्वेदस्य नियमः ... | ५१६ | अतिबालस्य " ... | ५२८ |
| द्रवस्वेदस्य नियमः ... | ५१८ | वमनातिशये चिकित्सा ... | ५२८ |
| द्रवस्वेदाद्यैः द्रवस्य परिमाणम् ... | ५१८ | सम्यक् वमनलक्षणम् ... | ५२९ |
| स्वेदाद्यैः द्रवावगाहने कालनियमः ... | ५१८ | ॥ वमने पथ्यम् ... | ५२९ |
| ॥ स्वेदावगाहने फलम् ... | ५१८ | ॥ वमनस्य फलम् ... | ५२९ |
| सम्यक् स्विन्नस्य लक्षणम् ... | ५२० | वमने अपथ्यम् ... | ५२९ |
| ॥ " आचारनिर्देशः ... | ५२१ | | |

तृतीयोऽध्यायः ।

अथ वमनविधिः ... ५२१

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ विरेचनविधिः ... ५२१

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| विरचनान्त पूर्वकर्त्तव्यनिर्देशः ... | ५३३ |
| ,, पूर्व वसने षकते दोषनिर्देशः .. | ५३४ |
| ,, .. कर्त्तव्यान्तरनिर्देशः ,, | ५३४ |
| वैरचनिक-कृतनिर्देशः ... | ५३४ |
| विरचनाङ्कानिर्देशः ... | ५३५ |
| संशोधनस्य गुणाः ... | ५३५ |
| विरचनानङ्काः ... | ५३६ |
| विरचनाङ्काः ... | ५३७ |
| दोषभेदेन कोष्ठभेदनिर्देशः ... | ५३७ |
| सूत्रादिकोष्ठभेदेन सङ्ग्राहमात्रा- निर्देशः ... | ५३८ |
| सूत्रमध्यतोऽप्यविरचनद्रव्यनिर्देशः ,, | ५३८ |
| उत्तमादिभेदेन वेगिकी चान्तिकी च मात्रा ... | ५३८ |
| ,, सान्तिकी मात्रा | ५३८ |
| दोषभेदेन विरचनद्रव्यनिर्देशः | ५४० |
| एरसुतेन प्रयोगः ... | ५४० |
| वर्षासु विहृतप्रयोगः ... | ५४१ |
| शरादि ,, ... | ५४१ |
| शिंशुरवसन्तयोः ,, ... | ५४१ |
| योषे ,, ... | ५४१ |
| अभयामोदकः ... | ५४२ |
| विरचकपानानन्तरं कर्त्तव्यनिर्देशः | ५४३ |
| सम्यक् वसनविरचनयोः लक्षणम् | ५४४ |
| विरचनायोगस्य ,, | ५४४ |
| ,, चिकित्सा ... | ५४४ |
| विरचनातयोगस्य लक्षणम् ... | ५४५ |
| ,, चिकित्सा ... | ५४५ |
| सम्यक् विरक्तस्य लक्षणं तद काव्यस्य ... | ५४६ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| विरचनस्य गुणाः ... | ५४६ |
| विरक्तस्य अपचयम् ... | ५४७ |
| ,, पच्यम् ... | ५४७ |
| सम्यक् विरचनाभावे कर्त्तव्यनिर्देशः ,, | ५४७ |

पञ्चमोऽध्यायः ।

| | |
|---|-----|
| अथ वास्तिविधिः ... | ५४८ |
| वस्तेः वैविध्यं निरुक्तय ... | ५४८ |
| द्विविधवस्तेः लक्षणम् ... | ५४८ |
| द्विविधवस्तेः कर्मावधिः ... | ५४८ |
| अनुवासनस्य भेदः भेदस्य तस्य मात्रा च ... | ५४८ |
| अनुवासनानङ्काः ... | ५४८ |
| अनुवासनानङ्काः ... | ५४८ |
| वास्तिनेत्रप्रस्तुतिविधिः ... | ५४९ |
| त्रयो वास्तिनेत्रप्रस्तुतिविधिः ... | ५४९ |
| वस्तिप्रयोगस्य गुणाः ... | ५४९ |
| सूत्रभेदे सङ्गवास्तप्रयोगस्य कालः | ५४९ |
| सङ्गवस्तिप्रयोगे भोजनविधिः | ५४९ |
| अथोगार्तयोगयुक्तवस्तेः निष्फलता | ५४९ |
| उत्तमादिभेदेन वस्तेमात्रा ... | ५४९ |
| अनुवासने प्रचल्यद्रव्यस्य उत्तमादि- भेदेन मात्रा ... | ५४९ |
| अनुवासनप्रयोगविधिः ... | ५४९ |
| सम्यगनुवासनस्य लक्षणम् ... | ५४९ |
| खेदे प्रत्यागते कर्त्तव्यनिर्देशः ... | ५४९ |
| अनुवासनव्यापकौ चिकित्सा ... | ५४९ |
| वास्तिदानस्य सङ्ग्रानिर्देशः ... | ५४९ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---------------|
| अष्टादशवारदेशवस्त्रेः प्रत्येकस्य फलम् ५६० | |
| अनुवासनस्त्रे हे सद्यःप्रसागते पुनर्दान- | |
| विधिः ... ५६१ | |
| स्त्रे हे अनागते दोषनिर्देशः वस्त्रिकाया च .. | |
| ,, अनागतेऽपि अनुपद्रवे कर्तव्य- | |
| निर्देशः ... ५६२ | |
| अनागते स्त्रे हे कर्तव्यनिर्देश | |
| अनुवासनः शुं गुह्य्यादि तैलम् ... ५६३ | |
| वस्त्रिव्यापदः सङ्ग्रहः | |
| अनुवासने पथ्यविधिः ... ५६४ | |

षष्ठोऽध्यायः ।

| | |
|--------------------------------------|--|
| अथ निरुहविधिः ... ५६४ | |
| कारणभेदेन निरुहस्य भेदोक्तिः .. | |
| निरुहस्य पर्यायी निरुक्तिर्य ... ५६५ | |
| ,, उत्तमादिमात्रा | |
| निरुहानङ्काः ... ५६६ | |
| निरुहाङ्काः | |
| निरुहस्य स्थानकालावस्थानिर्देशः ५६७ | |
| निरुहदानविधिः | |
| सम्यक् निरुहस्य लक्षणम् ... ५६८ | |
| असम्यक् ,, ,, | |
| निरुहस्य अनुवासनवत् देशानिर्देशः ५६९ | |
| निरुहे दोषभेदेन भोजनादिविधिः .. | |
| सुकुमारारौ तोल्यवस्त्रिदानी दोष- | |
| निर्देशः ... ५७० | |
| वस्त्रिदानकमः | |
| उत्तरेक्षणवस्तुः | |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---------------|
| दोषहर वस्त्रिः ... ५७० | |
| संशमन ,, | |
| सशीधन ,, ... ५७१ | |
| लोहम् ,, | |
| बृंहण ,, | |
| पिच्छम् ,, | |
| निरुहापर्यागिद्रव्याणां परिमाण- | |
| विधिः ... ५७२ | |
| निरुहे दोषभेदेन औद्रस्त्रेद्योर्मात्रा- | |
| भेदः ... ५७३ | |
| माधुतेलिकर्मात्मः | |
| धापना ,, | |
| धुक्तरथ ,, ... ५७४ | |
| सिद्ध ,, | |
| निरुहे पथ्यापथ्यविधिः | |

सप्तमोऽध्यायः ।

| | |
|--|--|
| अथ उत्तरवस्त्रिविधिः ५७५ | |
| उत्तरवस्त्र्यर्थं नेत्रस्वरूपम् | |
| वयोभेदेन देशस्त्रेहस्य मात्रानिर्देशः .. | |
| उत्तरवस्त्रिप्रयोगविधिः ... ५७६ | |
| स्त्रीणां नेत्रस्वरूपम् ... ५७७ | |
| बालाणां ,, | |
| स्त्रीबालयोर्देशस्त्रेहस्य मात्रानिर्देशः .. | |
| स्त्रीषु वस्त्रिप्रयोगविधिः | |
| वस्त्रिदाहे प्रतीकारः ... ५७८ | |
| उत्तरवस्त्रेर्गुणः | |
| अतिदेशेन उत्तरवस्त्रेर्लिङ्गादि- | |
| निर्देशः ... ५७९ | |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|----------------------------------|---------------|---------------------------------|---------------|
| फलवर्तः स्वल्पं प्रयोगविधिः | ५७६ | खेडननखाङ्करीगाः | ५८६ |
| — | | सुधावर्णादौ कुङ्कुमादि नखम् | ५८६ |
| अष्टमोऽध्यायः । | | अणुतैलादि | ५८६ |
| अथ नखविधिः | ५८० | दोषभेदेन नखे खेडभेदनिर्देशः | ५८६ |
| नखस्य निरुक्तिः पर्यायश्च | ५८० | पञ्चाचातादौ माषादिनखम् | ५८६ |
| द्विविधं नखं तयोः कार्यश्च | ५८० | प्रतिमशंस्य माषानिर्देशः | ५८० |
| नखप्रयोगस्य अवस्था कालश्च | ५८१ | विन्दुमात्रायाः परिमाणनिर्देशः | ५८० |
| नखानङ्गाः | ५८१ | मशंस्ये शाखस्य | ५८० |
| नखाङ्करीनिर्देशः | ५८२ | प्रतिमशंस्यस्य कालः | ५८० |
| वैरेचननखस्य द्रव्यनिर्देशः | ५८२ | प्रतिमशंस्य माषान्तरनिर्देशः | ५८० |
| माषा | ५८३ | गथाः | ५८१ |
| नखाङ्करीयाणां परिमाणम् | ५८३ | पलिते खेडनस्थानि | ५८१ |
| वैरेचननखस्य द्वौ भेदौ | ५८३ | नखप्रयोगविधिः | ५८१ |
| अवपीडय स्वरूपम् | ५८४ | नखगृहणान्तरम् आचारनिर्देशः | ५८१ |
| प्रथमनख | ५८४ | नखे सम्यग्गोमायोगातिथोगनिर्देशः | ५८१ |
| वैरेचननखाङ्करीगाः | ५८४ | सम्यग्गोमलक्षणम् | ५८१ |
| खेडननखाङ्गाः | ५८४ | हीनयोग | ५८३ |
| अवपीडनखाङ्गाः | ५८५ | नखे अतिथोग | ५८३ |
| प्रथमनखाङ्गाः | ५८५ | हीनातिमस्यगोमी क्रियासूत्रम् | ५८३ |
| गुडादि-पिप्पल्यादिनखे | ५८५ | नखातिथोगे लक्षणात्तरं | ५८३ |
| मंज्जापथोधने मधुकसादि नखम् | ५८६ | चिकित्सान्तरञ्च | ५८३ |
| तन्द्रायां मैत्रवादि | ५८६ | पञ्चकसंज्ञा सञ्ज्ञानिर्देशः | ५८३ |
| माषितमैत्रवादि | ५८६ | — | |
| खेडननखस्य भेदद्वयनिर्देशः | ५८६ | नवमोऽध्यायः । | |
| खेडनभेदमशंस्य माषा | ५८७ | अथ घृमपानविधिः | ५८४ |
| मशंस्यप्रयोगस्य अवधि | ५८७ | वृद्धविषयमानां नामानिर्देशः | ५८४ |
| मशंस्यप्रयोगे विविधव्यापनिर्देशः | ५८८ | मशनादिद्रव्याणां पर्यायकथनम् | ५८४ |
| मशंस्यपदः चिकित्सा | ५८८ | घृमपानानङ्गाः | ५८४ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---------------|
| अविधिपौतधूमस्य दीपनिर्देशः | |
| प्रतीकाग्निर्देशश्च ... | ५८६ |
| धूमयोग्यवथोनिर्देशः ... | ५८७ |
| सम्यग्युक्तस्य धूमस्य गणाः ... | ,, |
| सामान्यता धूमनेवस्य स्वरूपनिर्देशः | ,, |
| धूमनेवस्य ज्ञाननादविशेषतः | |
| स्वरूपनिर्देशः ... | ५८८ |
| धूमनेवविधिः धूमपानविधिश्च | ५८९ |
| प्रणधूपनविधिः ... | ६०० |
| ज्ञाननादधूमनां पृथक् द्रव्यनिर्देशः | ,, |
| बालवृद्धादौ अपराजितो धूपः | ६०१ |
| धूमप्रयोगे अपव्यनिर्देश धूम- नेवस्य उपादाननिर्देशश्च | ६०२ |

दशमोऽध्यायः ।

अथ गण्डूष-कवल-प्रति-

| | |
|-----------------------------------|-----|
| सारणविधिः ... | ६०३ |
| अतर्विधगण्डूषकवलयोः नामानिर्देशः | ,, |
| दीपभेदेन तत्रा प्रयोगनिर्देशः | |
| द्रव्यनिर्देशश्च ... | ,, |
| गण्डूषकवलयोर्भेदः ... | ६०४ |
| ,, द्रव्याणां परिमाणनिर्देशः | ,, |
| ,, वथानिर्देशः ... | ६०५ |
| गण्डूषस्य कतिवारकर्तव्यतानिर्देशः | ,, |
| कौटुकगण्डूषस्य द्रव्यम् ... | ,, |
| जगुषकादौ गण्डूषः ... | ६०६ |
| मुखप्रणादौ | ,, |
| विषादौ दन्तचाले च गण्डूषौ | ,, |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|---------------------------------|---------------|
| मुखशोषे कफे च गण्डूषौ ... | ६०६ |
| कफे रक्तपित्ते च गण्डूषः ... | ६०७ |
| सखपात्रे | ,, |
| कवलपतिमारणथोर्द्रव्यनिर्देशः | ,, |
| मुखग्राह्यादौ कवलः ... | ,, |
| प्रतिसारणस्य वैविध्यनिर्देशः | ६०८ |
| दन्तमूलात् रक्तसावादौ कुष्ठादि- | |
| प्रतिसारणम् ... | ,, |
| हीनातियोगयुक्तगण्डूषादिलक्षणम् | ,, |
| सम्यग्योगयुक्त | ६०९ |

एकादशोऽध्यायः ।

अथ प्रलेपमूहनेलकर्ण-

| | |
|--------------------------------------|-----|
| पूरणविधिः ... | ६०९ |
| प्रलेपस्य पद्यांश भेदश्च ... | ,, |
| लेपस्य प्रमाणनिर्देशः आर्द्रशुष्कयोः | |
| गुणनिर्देशश्च ... | ६१० |
| शोथे पुनर्नवादिर्लेपः ... | ,, |
| दाहो विभोतकमज्जालेपः ... | ,, |
| विसर्पादौ दशाङ्गलेपः ... | ६११ |
| भङ्गातकशोथे अजादुग्धादिलेपद्वयम् | ,, |
| कौटुगविस्फोटे लाङ्गुल्लादिलेपः | ,, |
| व्यङ्गे रक्तचन्दनादिलेपः ... | ६१२ |
| मुखपिडकादौ मातुलङ्गजटादिलेपः | ,, |
| तारुखपिडकायां शोभादिर्लेप- | |
| वयम् ... | ,, |
| व्यङ्गे अर्जुनत्वगादिलेपवयम् ... | ,, |
| मुखकार्पाशं अर्कचौरादिलेपः... | ६१३ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|----------------------------------|---------------|---------------------------------------|---------------|
| तारुण्यपिडकादौ बटपत्रादिलेपः | ६१३ | पामादौ हेमचौध्यादिलेपः ... | ६२० |
| अरुणिकायां पुराणपिण्याकादिलेपः | " | कण्डादौ दूर्वादिलेपः ... | ६२१ |
| " खदिरादिलेपः | " | " " ... | " |
| दारुणे पिथालबीजादि " | ६१४ | दद्रुरोगे सिद्धायां दिलेपः ... | " |
| " खाखसबीज " | " | वातविषर्पे रास्नादिलेपः ... | " |
| " आसवीजादि " | " | पित्तविषर्पे स्यालादिलेपः | " |
| इन्द्रलुप्त तित्तपटोलरस " | " | ज्वरविषर्पे विकलादिलेपः ... | ६२२ |
| " हृत्तोरसादिलेपवयम् | " | वातरक्त-रक्तपित्तयोः माभ्यादिलेपः | " |
| " गोक्षुरादिलेपः ... | ६१५ | नासासुतरक्ते आमलकोलेपः | " |
| " उक्षिदन्तमभ्यादिलेपः | " | वाताशिरारोगे कुष्ठादिलेपवयम् | " |
| " यष्ट्यादिलेपः ... | " | " देवटाबादिलेपः | ६२३ |
| रोमसञ्जनने अतृप्तानां त्वगादि- | | रक्तपित्तजशिरारोगे चन्दनादिलेपः | " |
| भक्षलेपः ... | " | पित्तशिरारोगादौ धात्र्यादिलेपः | " |
| पलिते इन्द्रवारुणीबीजतेलाभ्यङ्गः | ६१६ | कफशिरारोगे कुर्यादादिलेपः | " |
| " अयश्चूर्णादिलेपः ... | " | " शुण्डादिलेपः | ६२४ |
| " विकलादिलेपः ... | " | सूत्र्यावर्त्ताङ्गावभेदकयोः शारिवादि- | |
| " " ... | " | लेपः ... | " |
| " " ... | ६१७ | शङ्खकान्तवातयोः शतावर्ष्यादिलेपः | " |
| रोमशतने शङ्खचूर्णादिलेपः | " | प्रलेपस्य वैविध्यनिर्देशः ... | " |
| " तालकादिलेपः ... | ६१८ | द्विविधयोस्तथोर्लक्षणयोः | ६२५ |
| श्वित्रे सुवर्णपुष्पादिलेपः ... | " | तयोः प्रयोगविधिः ... | " |
| " वायस्यादिलेपः ... | " | अवस्थाविशेषे रासौ प्रलेपदानस्य | |
| " तालकादिलेपः ... | " | कार्तव्यतानिर्देशः ... | ६२६ |
| " वाकृच्यादिलेपः ... | ६१९ | व्रणस्य समविधोपक्रमाः ... | " |
| सिन्धे धात्र्यादिलेपः ... | " | वातजव्रणशोथे बीजपूरजटादिलेपः | ६२७ |
| " दाभ्यादिलेपः ... | " | पित्तजव्रणशोथे रुध्रकादिलेपः | " |
| नेवरीये हरीतक्यादिलेपः ... | ६२० | कफजव्रणशोथे कृष्णादिलेपः ... | " |
| अम्रनामिकाया रमाश्रनादिलेपः | " | रक्तजव्रणशोथे निम्बादि- | |
| दद्रुादौ प्रपुन्नाङ्गबीजादिलेपः | " | लेपः ... | ६२८ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|-----------------------------------|---------------|-----------------------------------|---------------|
| प्रथमोऽथ पावनः प्रथमोऽथादिलेपः | ६२८ | त्रिचिह्नयोनी पलाशफलादिलेपः | ६३५ |
| „ दारणो दन्त्यादिलेपः | „ | „ माकन्दफलादिलेपः | „ |
| „ „ चिरविल्लादि- | | लिङ्गवृद्धादौ मरिचादिलेपः | ... |
| लेपः ... | ६२८ | लिङ्गवृद्धौ सितादिलेपः | ... |
| „ „ स्वजिंकादिलेपद्वयम् | „ | योनिटावधे इन्द्राक्षिकादिलेपः | „ |
| „ शोधनः तिलादिलेपः | „ | गान्धर्वाद्ये ताम्बूलपत्रादिलेपः | ६३६ |
| „ शोधनरापणः निम्ब- | | „ कुलत्याद्यवधूलनम् | „ |
| पत्रादिलेपः ... | ६३० | वधौकरणे चणादिलेपः | ... |
| „ क्रिमिनाः करन्नादिलेपः | „ | मूर्हतैलस्य चतुर्विधत्वनिर्देशः | „ |
| दूषितत्रयगोष्ठे शोधनरापणः निम्ब- | | अभ्यङ्गादौना विधिः | ... |
| पत्रादिलेपः ... | „ | शिरोवलिटानय दिनमङ्गला | ६३८ |
| शूलं सदनफलादिलेपः | ... | शिरोवस्त्रेनन्तरं कर्णव्यनिर्देशः | „ |
| वातज्विदधौ शयुमूलादिलेपः | „ | वस्त्रेर्गुणः | ... |
| पित्तज्विदधौ लाजादिलेपद्वयम् | ६३१ | कर्णपूरणविधिः | ६३८ |
| कफज्वदधौ इष्टकादिलेपः ... | „ | कर्णपूरणधारणायै साधानिर्देशः | „ |
| रक्तजागन्तु ज्विदधौ रक्तचन्दनादि- | | सावालक्षणम् | „ |
| लेपः ... | „ | कर्णपूरणार्हद्वयभेदात् कालभेदः | ६४० |
| वातजगन्तुगण्डे निचलादिलेपः | „ | कर्णशूलं चर्कपत्ररसपूरणम् ... | „ |
| कफजगन्तुगण्डे देवदारुादिलेपः | ६३२ | „ कागमूवादपूरणम् ... | „ |
| गण्डभालादौ निचलादिलेपः | „ | „ शङ्खवरादपूरणम् ... | „ |
| अववाहकादौ गुग्गुलादिलेपः | „ | „ कपित्थादिपूरणम् ... | ६४१ |
| श्लोषट् पुञ्जरादिलेपः | ६३३ | „ पुटपकाकर्षपूरणम् ... | „ |
| क्षेपण्डे अजाज्वाादिलेपः | „ | „ दीपिकातेलम् | „ |
| क्षपदंशे करवीरमूललेपः | „ | „ श्योनाकतेलम् | ६४२ |
| „ त्रिफलाक्षारलेपः | „ | कर्णनादे याष्टमधकादिकेष्टः | „ |
| „ रसाञ्जनादिलेपः | „ | कर्णनादादौ स्वर्जाकाटितेलम् | „ |
| क्राश्टदंशे तुगाक्षीणादिलेपः | ६३४ | क्षार्थिणादौ अपामार्गचारतेलम् | „ |
| „ शिन्दु कत्वगुल्लेपः | „ | कर्णनाद्या शम्बुकतेलम् | ६४३ |
| „ श्वश्रुजलेपः | „ | कर्णस्रावे पञ्चकषायादपूरणम् | „ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|------------------------------|---------------|
| पञ्चमवायाः ... | ६४३ |
| कर्णसावाहो बीजपूररसपूरणम् | " |
| पुतिवर्णे आम्नादितैश्चम् ... | " |
| कर्णकोटे गोमूवहरिताम्नादि- | " |
| पूरणद्वयम् ... | ६४४ |
| कर्णकोटे शिग्रुरसादिपूरणम् | " |

द्वादशोऽध्यायः ।

| | |
|------------------------------------|-----|
| अथ शोणितसावविधिः | ६४५ |
| साव्यरक्तस्य सावानिर्देशः ... | " |
| रक्तसावणार्द्धः षट्पुः रक्तसावणस्य | " |
| गुणस्य ... | " |
| रक्तस्य स्वरूपम् ... | ६४६ |
| रक्ते पाचभौतिकगुणाः ... | " |
| दूषितरक्तस्य लक्षणम् ... | ६४७ |
| प्रवृद्धरक्तस्य ... | " |
| क्षीणरक्तस्य ... | " |
| वातेन दृष्टरक्तस्य लक्षणम् ... | ६४८ |
| पित्तेन ... | " |
| कफेन ... | " |
| द्वित्रिदोषेण ... | " |
| विवेण ... | ६४९ |
| प्रकृतिस्थरक्तस्य ... | " |
| रक्तसावणार्द्धरोगाः ... | " |
| रक्तसावणोपायाः ... | ६५० |
| शिरामोक्षेः रक्तसावणार्द्धाः ... | " |
| रक्तसावणार्द्धाणां नवस्थाविशेषे | " |
| सावणविधिः ... | ६५१ |
| वासादिदूषितरक्तस्य सावणोपायाः | ६५२ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| द्वित्रिदोषदूषितरक्तस्य सावणोपायः | ६५२ |
| रक्तसावणोपायानां शक्तिनिर्देशः | " |
| प्रयुक्तेऽपि सावणोपाये तद्व्यवहारहेतुः | ६५३ |
| अप्रवृत्तिरक्ते तत्प्रवृत्तिनिधिः | " |
| रक्तसावणस्य कालावस्थादिनिर्देशः | " |
| रक्तस्य अतिथोगे हेतुः ... | ६५४ |
| अतिप्रवृत्तिरक्ते चिकित्सा ... | " |
| " अतुर्विधप्रयोगस्य फलम् | " |
| मुष्कग्रोणे शिरादाहविधिः ... | ६५५ |
| विमूविकायां ... | " |
| यक्तमृद्वीकृत्यै ... | " |
| अतिरक्तसावणविधेः ... | " |
| अतिरक्तसावणे दोषाः ... | ६५६ |
| रक्तसावणार्द्धां हेतुनिर्देशः ... | " |
| रक्तसावणमितवातकापे प्रतिकारः | " |
| क्षीणरक्तस्य प्रतिकारः ... | " |
| सम्यक् सुतरक्तस्य लक्षणम् ... | ६५७ |
| रक्तमोक्षणे उपपद्यम् ... | " |

त्रयोदशोऽध्यायः ।

| | |
|-----------------------------------|-----|
| अथ नेत्रकर्मविधिः ... | ६५७ |
| नेत्रप्रसादनकर्मणि ... | " |
| सेकाविधिः ... | ६५८ |
| दोषभेदेन सेकस्य त्रैविध्यनिर्देशः | " |
| सेकप्रयोगस्य कालमात्रा ... | ६५९ |
| " कालः ... | " |
| वासाभिष्यन्दे परण्णादिक्षीरसेवः | ६६० |
| " दुग्धादिसेकाद्वयम् | " |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|---------------------------------------|---------------|-------------------------------------|---------------|
| मासुतपथ्याथ-गुक्तादिपाकयोः सेकः ६६१ | | सर्वांश्चिरोमे यष्ट्यादिविडालकः ६६६ | |
| पित्तरक्ताभिम्यन्दे मावरादिकेकः ॥ | ॥ | ॥ रसाञ्जनादिविडालकाः ६६७ | |
| रक्ताभिम्यन्दे त्रिफलादिकेकः ... ॥ | ॥ | ॥ सैन्धवादिविडालकः ॥ | ॥ |
| ॥ लावादिकेकः ... ॥ | ॥ | ॥ निम्बुकविडालकः ॥ | ॥ |
| अभिम्यन्दे नगूने श्वेतलोत्रसेकः ६६२ | | अमंथि सरिषविडालकः ... ६६८ | |
| आश्रितनविधिः ... ॥ | ॥ | अञ्जननामिकायां शिलादिविडालकः ॥ | ॥ |
| लेखनादिभेदेन विविधाश्रितनस्य ॥ | ॥ | तर्पणाहंरोगाः ... ॥ | ॥ |
| विन्दुनामानिर्देशः ... ॥ | ॥ | तर्पणानहंरोगादयः ... ६६८ | |
| शीतोष्णभेदेन तस्य प्रयोगविधिः ॥ | ॥ | तर्पणप्रयोगविधिः ... ६७० | |
| होत्रभेदेन आश्रितने तित्तरसादि- | | वत्सादिगतरोगे तर्पणधारणस्य काल- | |
| प्रयोगविधिः ... ६६३ | | परिमाणम् ... ६७१ | |
| आश्रितनधारणस्य कालमावा | ॥ | तर्पणजनितरक्तकफपतीकारः ६७२ | |
| वाताभिम्यन्दे विन्वाद्याश्रितनम् ॥ | ॥ | तर्पणप्रयोगस्य दिननिश्चयः ... ॥ | ॥ |
| वाताश्रितभिम्यन्दे लोघ्राश्रितनम् ॥ | ॥ | सस्यक् तर्पणस्य लिङ्गानि ... ॥ | ॥ |
| सर्वाभिम्यन्दे त्रिफलाश्रितनम् ६६४ | | अतितर्पण-हौनतर्पणयोः लिङ्गानि ६७३ | |
| रक्ताश्रितभिम्यन्दे सन्ध्याश्रितनम् ॥ | ॥ | ॥ ॥ चिकित्सा ॥ | ॥ |
| वातरक्ताभिम्यन्दे क्षौरघृताद्या- | | पुटपाकविधिः ... ॥ | ॥ |
| श्रितनम् ... ॥ | ॥ | विविधपुटपाकानां नामानि ... ६७४ | |
| पिण्डौविधिः ... ॥ | ॥ | ॥ ॥ प्रयोगविषयः ॥ | ॥ |
| अभिम्यन्तादौ क्रियाविशेषः ... ६६५ | | क्षेप्तपुटपाकस्य द्रव्याणि धारणस्य | |
| वाताभिम्यन्दे एरण्डादिपिण्डौ ॥ | ॥ | कालपरिमाणञ्च ... ॥ | ॥ |
| पित्ताभिम्यन्दे घावौपिण्डौ महा- | | लेखनपुटपाकस्य द्रव्याणि धारणस्य | |
| निम्बपिण्डौ च ... ॥ | ॥ | कालपरिमाणञ्च ... ॥ | ॥ |
| श्लेष्माभिम्यन्दे श्लेष्मपिण्डौ ... ॥ | ॥ | रोपणपुटपाकस्य द्रव्याणि धारणस्य | |
| पित्तश्लेष्माभिम्यन्दे निम्बादि- | | कालपरिमाणञ्च ... ६७५ | |
| पिण्डौद्वयम् ... ॥ | ॥ | पुटपाकन्यापत्तौ चिकित्सा ... ॥ | ॥ |
| रक्ताभिम्यन्दे क्षौद्रपिण्डौ ... ६६६ | | ऋतुभेदे अञ्जनप्रयोगस्य समयः ६७६ | |
| अक्षुःशीघ्रादौ शुष्कादपिण्डौ ॥ | ॥ | विविधान्नानां नामानि तेषां | |
| विडालकविधिः ... ॥ | ॥ | द्रव्याणि च ... ॥ | ॥ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|---------------------------------------|---------------|--|---------------|
| विविधाञ्जनात्तरं तेषां श्रेष्ठत्वादि- | | प्रक्षिप्तवर्त्मनि रसाञ्जनादि रसक्रिया | ६८४ |
| निर्देशश्च ... | ६७६ | पित्तादौ गुडूचीस्वरसादि | " " |
| अञ्जनानङ्गाः ... | ६७७ | नेत्रकण्डूदौ पुनर्नवास्वरस | " ६८५ |
| तोल्याञ्जनावर्त्तीनां मात्रा ... | " | नेत्रस्त्रावे बङ्गुल | " " |
| रसक्रियाया उत्तमादिमात्रा | " | " द्विज्जल | " " |
| नेत्रवैरेचनिकचूर्णानां तोल्यादिमात्रा | ६७८ | नेत्रप्रसादने कतक | " " |
| अञ्जनशलाकायाः स्वरूपम् ... | " | शिरोव्याते रसाञ्जन | " " |
| लेखनाञ्जनशलाकानां द्रव्याणि | " | आख्यं कण्टकसंपवसादि | " ६८६ |
| अञ्जनप्रयोगस्य कालः ... | ६७९ | नेत्रपुष्पादौ कृकटाष्टादि चूर्णाञ्जनम् | " |
| " " स्थानम् ... | " | नक्ताख्ये पिप्पलीमरिचाञ्जनद्वयम् | " |
| तिमिरादौ चन्द्रोदया वर्त्तिः ... | " | नेत्रकण्डूदौ मरिचादि चूर्णाञ्जनम् | ६८७ |
| नेत्रपुये करञ्जरीजवर्त्तिः ... | ६८० | सर्वनेत्रगतरोगे रसकादि | " " |
| नेत्रगुकादौ समुद्रफेतादिवर्त्तिः | " | " " सोबीर | " ६८८ |
| नेत्रयुक्ते दन्तादिवर्त्तिः ... | " | " " नागशलाका | " " |
| अतिनिद्रायां नीलोत्पलादिवर्त्तिः | ६८१ | प्रत्यञ्जनविधिः ... | ६८९ |
| तिमिरादौ कुसुमिका वर्त्तिः ... | " | सर्वनेत्रगतरोगे नयनामृताञ्जनम् | " |
| नक्ताख्ये रसाञ्जनादिवर्त्तिः ... | " | सर्पविषे सञ्जीवनाञ्जनम् | " " |
| नेत्रस्त्रावे धात्र्यादिवर्त्तिः ... | ६८२ | तिमिरे मुष्टियोगः ... | ६९० |
| वर्त्मरोगादौ तुल्यादि रसक्रिया | " | " " ... | " " |
| नेत्रपुये कर्पूर | " | चक्षूरन्वाया आवश्यकता | " " |
| अतिनिद्रायां मरिच | ६८३ | यस्यक्रियेवेदनम् | " " |
| तन्त्राया जातोपुष्पादि | " | शार्ङ्गधरसंक्षिताया उपयोगिता | ६९१ |
| " सञ्जाजनने शिरोवृत्तीनादिरसक्रिया | " | शार्ङ्गधरपाठस्य | " ६९२ |
| नेत्रदाह्यादौ दाह्यादिरसक्रिया | " | | |

सटीक-

शार्ङ्गधरसंहिता ।

[पूर्वखण्डः] ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथ परिभाषाध्यायः ।

यन्यकन्यमङ्गलाचरणम् ।—

श्रियं स दद्याद्भवतां पुरारिर्यदङ्गतेजःप्रमरे भवानो ।

धिराजते निर्मलचन्द्रिकायां महौषधोव ज्वलिता हिमाद्रौ ॥१॥

टीकाकन्यमङ्गलाचरणम् ।—

करशिरसाऽच्युतमीशं भवभवपटिचयालमुपायम् । स्वर्गापवर्गयोरपि तापव्य-
नाशार्थमभिवन्दे ॥१॥ सगणगणेशं मतिदं विघ्नममृच्छां च हन्ति यः । स्मरणे
तदनु गुरोरपि चरणं गदहीनं (दीनं) मनुजानाम् ॥२॥ ये दुर्जनाः परगुणाननु-
सूचयन्ति तेऽपि स्वभाववशगाः किमु वारणोद्याः । ये शास्त्रबोधगुणदोषविचार-
दबासे सज्जनाः प्रणुतिभिः खलु बन्दीयाः ॥३॥ श्रीवास्तव्यकुलप्रकाशमणयो ये
पूर्वेणा विभुताः श्रीहस्मोरपुरे मङ्गाजनतते धेषां स्थितिः कथ्यते । ये कामं मद-
विह्वलामिव रवेः क्षीराब्धिपारङ्गतामत्याशय्येषु चान्द्रकान्तिविततां प्रख्यातकीर्तिं
गताः ॥४॥ तदन्वये किं बहुना प्रसिद्धः श्रीचक्रपाणिः कुलकैरवेन्दुः । नानागुणा-
लोद्यमभूच्च यस्य समस्तवैदोहटनादिरूपा ॥५॥ तस्य बुद्धिमुभयस्य तनूजो भार्वासेऽह
इति भूपतिमान्यः । मुमुतादिकरहस्यविधिज्ञो यो यशामि विपुलानि च क्षेमं ॥६॥
तस्यात्मजो दीर्घमतिः प्रहृष्टो नाम्नाऽऽदुर्मन्त्रोऽल्पनिबन्धदर्शी । तेन स्वगुर्वर्चनतत्परं
विधास्यते शार्ङ्गधरप्रकाशः ॥७॥ केविच्छास्त्रावशारदाः कतिपये दिव्यौषधीकोविदाः
नानाव्याधिपरौक्षणेषु चतुराः कर्मोत्सुकाश्चापरे । कामं तानधिकर्तुमुत्सुकमना
नाहं समर्थो यतस्तेषां सन्निधिमेष्य चात्र राक्षतं यत्किञ्चिदेव शुभम् ॥८॥ हस्तीकान्तपुरी
पुरा पुरजिता काशीव विद्वज्जनेर्व्याप्ता यत्र सरः सरिद्धण्वरा चर्मण्वती पापहृदा ।
स्रग्धां हृदयवासुदेवचरणदन्ताम्बुजः स्नापतिः ख्यातो धूमं इवास्ति धर्मगतियु

ग्रन्थस्य प्रामाणिकत्वनिर्देशः ।—

प्रसिद्धः—योगा मुनिभिः प्रयुक्ताधिकिकसकैर्ये बहुशोऽनुभूताः ।

विधोयते शार्ङ्गधरेण तेषां सुसङ्ग्रहः सज्जनरञ्जनाय ॥ २ ॥

श्रीजैवसिंहः प्रभुः ॥२॥ तस्यां शार्ङ्गधरोक्तानां योगानाम् प्रकाशिवी । क्रियते साऽऽटमञ्जेन संहितायाः प्रदीपिका ॥१०॥ अभिनवनिबन्धरचनां श्रोतुं कः कोऽन लोलुपो भवति । यः कृपया परकाव्यं पश्यति सर्वैः स वै धीरः ॥११॥

अथेह पृथतरदुरधिगमायुर्बेदतत्त्वाङ्कितसङ्ग्रहपरिसमाप्तये श्रोतृणामपि प्रत्यह-
ज्यपीडार्थं मनसि विशिष्टेष्टदेवताप्रणामपूर्वकमाशीर्षतमादौ निबद्धवान् ग्रन्थकारः ;
तद्यथा, श्रियमित्यादि ।—यदङ्कतेजःप्रसरे भवानी विराजते स पुरारिर्भवतां श्रियं
दद्यादित्यन्वयः । यथा हिमाद्रौ ज्वलिता महीषधी राजते ; कः ? सत्या निर्मल-
चन्द्रिकाया निर्मला या चन्द्रिका ज्योत्स्ना तस्यामित्यर्थः । “निर्मलचन्द्रिकायाम्”
इत्यस्य स्थाने “निर्मलचन्द्रिकातः” इति केचित् पठन्ति व्याख्यानयन्ति च । पुरारिः
पुरनामा देवविशेषः स एवारिश्रयः, यद्वा—पुरस्थारिः पुरारिः शिव इत्यर्थः । श्रिय-
मिति कल्याणं लक्ष्मीं वा । भवतामित्यत्र यस्मै दिक्ता रोचते प्रारयते वा तत् सम्प्रदान-
मित्यनेन चतुर्थी न स्यादित्यत्र आह—“विब्रजातः कारकाणि भवन्ति” इति न्यायादिह
दिक्कार्थे षष्ठापि भवतीत्यर्थः । यदङ्कतेजःप्रसरे तेजःसमूहे अङ्गीर्णे इति सम्बन्धः । एतेन
विभूत्यालिप्ताङ्कस्यापि शुभत्वाददिसाम्यम् । † “भवानी पार्वती चण्डी” इत्यमरः ।
अनेनाशीर्षनिर्देशं कथितवानाचार्यः ; यतः,—“आशीर्षमस्मिन्ना वस्तु-निर्देशो वाऽपि
तन्मुखम्” इति विविधं प्रबन्धमुखलक्षणं भवति । आशीर्षोऽणमत्र दुष्कृतादीनां
विपाकजन्यदुःखस्वरूपरीगनिवृत्त्यर्थं, तद्विहायां मुखश्रियः प्राप्तिरिति भावः ॥ १ ॥

अथ ग्रन्थोऽयं सकलजनोंपकारार्थे भवतु इति मत्वा सङ्ग्रहस्य सम्बन्धः कथनीयः ;
तदयथा—“सिद्धिः श्रोतृप्रवृत्तीनां सम्बन्धकथनात् यतः । तस्मात् सर्वेषु शास्त्रेषु सम्बन्धः
पूर्वमुच्यते ॥” इति । अनेन तावत् पूर्वं तमाह, प्रसिद्धयोगा इत्यादि ।—ये प्रसिद्ध-
योगाः सन्ति तेषां सुसङ्ग्रहः सज्जनरञ्जनाय मया शार्ङ्गधरेण विधीयते विशिष्य क्रियते
इत्यभिप्रायः, न तु क्रियते (?) , यतश्चरन्मुमुक्षुतादिमुनिभिरितकतो विस्तृता, मया
संक्षेप्य प्रकारान्तरेण लिख्यते (?) इति भावः । एतेन ग्रन्थस्य विशिष्टत्वं दर्शितम् ।

* “युज्यते इति योगः क्वाणचूर्णादिगणः” इति गूढार्थदीपिकाकारः ।

† अमरकोषे तु “शिवा भवानी रुद्राणी सर्वाणी सर्वमङ्गला । अपर्णा पार्वती
दुर्गा वृङ्गानी चण्डिकाऽम्बिका ॥” इति पाठः ।

वैद्य कर्त्तव्यनिर्देशः ।—

हेत्वादिरूपाकृतिसात्त्व्यजाति-भेदेः समीच्यात्तुरसर्वरोगान् ।

चिकित्सितं कर्षणवृंहणाख्यं कुर्वीत वैद्यो विधिवत् सुयोगैः ॥३॥

कीटशा योगाः ? मुनिभिः प्रयुक्ताः इति—वैकालिकदंशीं पुरुषातिशयो हि मुनि-
रुच्यते ; तेः पूर्वं कथिता इत्यर्थः । एतेन संन्यस्य ग्रामाख्यं कथितम् । पुनः कीटशाः ?
चिकित्सकेर्वैद्यवृंहणो वारं वारंमनुभूता नामरूपगोत्रादिभिर्दृष्टप्रत्यया इत्यर्थः ।
एतेनात्र सज्जनानां दर्शनादात्कण्ठा आदित्यभिधायः ॥ २ ॥

इदानीं “रोगेनादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्” इत्यादिमतमासीत्युक्तं प्राक्परी-
क्ष्याद्, हेत्विति ।—वैद्य आतुरसर्वरोगान् समीक्ष्य पश्चात् चिकित्सितं विधिवत्
कुर्वीतति, अन्यथा दीपः स्यात् । तथा कृतं—“यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माग्नारभते
भिषक् । न स मिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परी गतिम् ॥” इति । कैः कृत्वा समीक्ष्य-
त्याद्—हेतुर्निदानम्, आदिष्वपि पूर्वकपम्, आकृतिः स्वरूपं, सात्त्व्यम् उपशयः,
जातिः सम्प्राप्तिरिति, एषां भेदेः नानात्वकत्वेन एते व्यक्ताः समस्ताश्च व्याधिबीजता
ज्ञेया इत्यर्थः ; यथा—हेतुरादिर्येषां ते हेत्वादयः, ते च रूपादयश्च तेरित्यर्थः ; एतेन
हेत्वादपश्चभिः रूपादिभिश्च आतुररोगान् परीक्ष्येति भावः । तथा हि वाग्भटे—
“दर्शनस्यर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम् । रोगं निदानप्राप्त्युपलक्षणोपशयाभिः ॥”
(सू० १ म ५०) इति । हेत्वादपश्चकं पूर्वं व्याख्यातमेव । रूपादिभ्यं यथा—रूप-
मिति चाक्षुषं, तेन शरीरस्य स्थूलकृशतावर्णविकारादयः, एतेन दर्शनज्ञानमलङ्करोति ।
आकृतिरिति आ समस्तादेव कृतिः कृतिकारणमिति समुचितकौशल्येनैव नाद्यादिभिः
श्रीतोष्णादिकज्ञानरूपमित्यर्थः, एतेन स्पर्शनज्ञानमलङ्करोति । सात्त्व्येन हितं कथ्यते,
भवता किं सात्त्व्यम् ? इत्यादिवाक्येन प्रश्नज्ञानमलङ्करोति ; अथवा—सात्त्व्यमभि-
लषितं वदन्त्यन्ते, यतो येन यत् वाञ्छितं भवति तस्य तेनैव दीषादौर्णां क्षीणशुद्धत्वं
ज्ञायते, इति दर्शनादिकं त्वयं कथितम् । जातिशब्देन विशिष्टेन्द्रियज्ञानमभिधीयते ;
यतः सुसुते—“षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, तद्वयथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः
प्रश्नेन च” (सू० १० म ५०) इति । अतो दर्शनादयस्त्रय एवादौ व्याख्याताः, शेषाः
श्रोत्रादयो जातिभेदेन कथिताः । तदुक्तं सुश्रुताचार्येण—“तत्र श्रीनेन्द्रियविज्ञेया
विशेषा रोगेषु प्रगटशब्दविज्ञानीयादिषु बलवती सफेनं रक्तमीरयन्नमिलः सशब्दो
निर्गच्छतीत्येवमादयः । स्पर्शनैन्द्रियविज्ञेयाः श्रीतोष्णस्पर्शकृशशुद्धकठिनत्वादयः
स्पर्शविशेषा ज्वरशीवादिषु । चक्षुरिन्द्रियविज्ञेयाः शरीरोपचयापचयायुल्लक्षणबलवर्ण-

दिव्यौषधीनां बहवः प्रभेदा वृन्दारकाणामिव विस्फुरन्ति ।

ज्ञात्वेति सन्देहमपास्य धीरैः सम्भावनीया विविधप्रभावाः ॥४॥

स्वाभाविकागन्तुककायिकान्तरा रोगा भवेयुः किल कर्मदोषजाः ।

तच्छेदनार्थं दुरितापहारिणः श्रेयोमयान् योगवरान्नियोजयेत् ॥५॥

विकारादयः । रमनेन्द्रियविज्ञेयाः प्रभेदादिषु रसविशेषाः । गन्धेन्द्रियविज्ञेयाः परिष्ट-
लिङ्गादिषु त्रयानामत्रयानाञ्च गन्धविशेषाः” (सूत्र० १० म अ०) इति हेत्वादयो
व्याख्याताः । तदाद्यः पक्षो व्यवहारसिद्धः, द्वितीयस्तु कल्पितोऽपि साधुः । समीच्येति
सम्यक्प्रकारेण विचार्य, एतद्गुणं तज्ज्ञानविच्छेदार्थं, यतः “मिथ्यादृष्टा विकारा
हि दृग्ग्राह्यातास्तथैव च । तथा दुष्परिदृष्टाश्च मोहयेयुश्चकित्सकम् ॥” इति ।
चिकित्सा रोगापनयनं कर्म व्याधिप्रतीकारः धातुसाध्यार्था क्रिया चेत्यादिपदार्थ-
वाचकैः शब्दैश्चिकित्सा कथिता । तथा चोक्तं — “चतुर्णां भिषगादीनां शक्तानां धातु-
वेकते । प्रवृत्तिर्धातुसाध्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥” (अ० सूत्र० १ म अ०) इति ।
तच्चैव द्विविधं कर्म—कर्षणं वृद्ध्याप्यमिति । कर्षणमिति प्रवृद्धदोषाणां, वृद्ध्याप्यमिति
क्षीणानाम् ; तथा च—“क्षीणा वर्द्धयितव्याः” (सु० चि० ३३ अ०) इत्यादि । तथा—
“रोगस्तु दोषवेषस्य दोषसाध्यमरोगता” (वा० सूत्र० १ म अ०) इति वचनात् । सुयोगै-
रिति शोभनद्रव्यकृतप्रयोगैः शीघ्रमारोग्योत्पादकेरित्यर्थः । इदानीं द्रव्याणां विविध-
प्रभावाः सन्ति तेषां हेतुभिः परीक्षां निराकर्तुमाह, दिव्यौषधीनामिति ।—दिव्यौ-
षधीनां बहवः प्रभेदा वृन्दारकाणामिव विस्फुरन्ति प्रकटीभवन्ति इत्यर्थः, इति ज्ञात्वा
विचार्य तदा (?) सन्देहमपास्य दूरीकृत्य विविधप्रभावा अपरिमितशक्तयोऽविच्छिन्न-
शक्तयो वा सम्भावनीयाः तेषां सम्भावना कर्त्तव्येत्यर्थः, धीरैरिति ज्ञेयम् । एतेनाचिन्त्यो
हि सन्निभन्तौषधीनां प्रभाव इति तात्पर्यार्थः । दिव्यौषधीनामिति—दिव्यगुणमय
द्रव्याणां विशिष्टत्वज्ञानार्थम् । वृन्दारकाणामिति—यथा देवानां भेदा अपरिमितास्तथैव
द्रव्यभेदा इत्यभिप्रायः । प्रभावाख्येति ज्ञानयोगाः । धीरैरिति गम्भीरकुक्षिभिः, धीरा हि
बाह्याख्यात्मिकाणां हिताहितपरिच्छेदकारिणो भवन्ति, अतो धीरवद्वयमवानिश्चयार्थ-
ज्ञापकत्वव्यवच्छेदार्थम् । अथ प्रयोजनमपि सर्वस्यैव स्यात्, तथा हि—“सर्वस्यैव
हि शास्त्रस्य कर्मणो बाऽपि कस्यचित् । यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् केन न
गृह्यते ॥” इति । अत एव तदधिकृत्याह, स्वाभाविकेति ।—स्वाभाविकादयो रोगाः
कर्मदोषजा भवेयुः । किलेत्यागमनिश्चयार्थम् । तच्छेदनार्थं तेषामुपशमनिमित्तम् ।
योगवरान् प्रयोगश्रेष्ठान् नियोजयेत् ; एतेन समक्षार्पतन्माभ्यन्तरस्थान् योगान्

यस्य अभिधेयः ।—

प्रयोगानागमात् सिद्धान् प्रत्यक्षादनुमानतः ।

सर्वलोकहितार्थाय वक्ष्याम्यनतिविस्तरान् ॥ ६ ॥

विचिन्त्य आचार्येणात्र ते बुज्यन्त इति भावः । स्वाभाविका इति—स्वभावेन भवाः स्वाभाविकाः, ते क्षुत्पिपासागरामृत्युनिद्राप्रभृतयः । आगन्तुका इति अभिघात-निमित्ताः, ते व्यालादिकृताश्च । कायिकान्तरा इति शरीरा अन्तर्जाताश्च, शरीरास्तेऽन्नपानमूत्राः वातादिदोषद्वाराऽऽसृक्पित्तकासादयः । अन्तःशब्देन मनी-ऽभिधीयते, तद्वद्वा मानसा इत्यर्थः, ते कामकीधादिनिमित्ता मदमूर्च्छासंश्राम-यहभूतीत्यादादय इति । सुशृते स्वाभाविकादयो दर्शिताः । कर्मदोषजा इति—एके कर्मजाः, एके दोषजाः, अपरं कर्मदोषजाश्च । तथा चोक्तं—“कर्मप्रकीपेण कदाचित्के दोषप्रकीपेण भवन्ति चान्ये । तथाऽपरे प्राणिषु कर्मदोष-प्रकीपजाः कायमनोविकाराः ॥” इति । कर्मजादीनां मंजा केषाञ्चित् ज्ञापनार्थं लिख्यते यथा—“यं चामयाः स्युरपरद्रविणापहाराद्भवङ्गनागमनविप्रवधादभियं । दुष्कर्मभि-स्तनुभूतामिह कर्मजास्ते नोपक्रमेण भिषजासुपयान्ति शान्तिम् ॥” किञ्च—“दानैर्दंशादिभिरतिषिद्धिजदेषतानां मूर्खेनाप्रणतिभिश्च जपेक्षपोभिः । इत्युक्तपण्य-निचयेरुपचौयमानाः प्राक्कर्मजा यदि रुजः प्रशमं प्रशान्ति ॥” इति । अथ दोषजा यथा—“बह्वेदुदुष्टेरनिन्नादिदोषैरुपप्लुतैः खेष परिस्त्रवाद्भिः । भवन्ति ये प्राणभृता विकारास्ते दांषजा भेषजमिहमाध्याः ॥” उभयोपपन्ना यथा—“दानादिभिः कर्मभिरौषधैश्च कर्मचये दोषपरिचये च । सिध्यन्ति ये यत्नवता कदाचित् ते कर्मदोषप्रभवा विकाराः ॥” इति । दुरितापहाराणि इति—दुरितशब्देन दुःख-मभिधीयते, तत्संयोगा व्याधय इत्युक्तत्वात् । श्रेयोमथानिति पुण्यस्वरूपान् । येऽन्येऽपि पुण्यमयास्ते दुःखच्छेदनाय सम्भवन्ति, सच्यते—“परदुःखविनाशार्थं मज्जानो निज-शक्तिभिः । कर्म कुर्वन्ति यत् पुण्यं तेन पुण्यमयाः स्मृताः ॥” इति ॥ ३—५ ॥

इदानीं प्रत्यक्षसिद्धयोगानां कथनेन मङ्गेपकरणेन च निजयस्य साक्षात्-साह, प्रयोगानिति ।—आगमादिसिद्धान् प्रयोगान् सर्वलोकहितार्थाय अनति-विस्तरान् वक्ष्यामि कथयिष्यामीत्यर्थः । “अनतिविस्तरं यथा स्यात्” इत्येके पठन्ति । आगमादीनां लक्षणान्तु जंझादिभिराचार्यैरुक्तं, तदेव सुबोधार्थं लिख्यते ; यथा—आगमो वेदः, आप्तानां शास्त्रं वा । तथा हि—“सिद्धं सिद्धैः प्रमाणैस्तु हितञ्चात्र परत्र च । आगमः शास्त्रमाप्तानामाप्तः सत्यार्थवेदिनः ॥” इति । आगमात् सिद्धाः

अथानुक्रमणिका ।—

पूर्वखण्डानुक्रमणिका ।—

प्रथमं परिभाषा स्याद्वैषज्याख्यानकं तथा ।

नाडीपरीक्षादिविधिस्ततो दीपनपाचनम् ॥ ७ ॥

ततः कलादिकाख्यानमाहारादिगतस्तथा ।

रोगाणां गणना चेति पूर्वखण्डोऽयमीरितः ॥ ८ ॥

ग्रह्यन्ते, यथा—“जीवेदधंस्वस्वाणि योगस्यास्य प्रभावतः । इडा च शतवर्षीया भवेत् षोडशवार्षिकी ॥” इत्यादि । प्रत्यक्षादिति—यत्किञ्चिद्वैषज्यं साक्षात्कारि ज्ञानं तदेव प्रत्यक्षं, तथा हि—“मनोऽस्तिगतमभ्यासं वस्तु प्रत्यक्षमुच्यते । इन्द्रियाणामभ्यासानं वस्तु तदेव भवः स्मृतः ॥” इति । तस्मिन्ना यथा—वसनवैरचनदिकयोगाः प्रत्यक्षफलाः । अनुमानत इति—अनु पश्चादव्यभिचारिणलङ्काराणि ज्ञायते येन तदनुमानम् । तत्-निहा यथा—स्रव्याख्यरोगेण स्रव्यलक्षणमनुमीयते, कुर्यां संचिकादिभक्षणं, त्वक्पि-पाटनादिभिः प्रकाशमवगच्छति । केन हेतुना तथा क्रियते इति विवेकाया सर्वलोक-हितार्थायैति यद्वचनं कृतम् । सर्वलोक इति—लोको हि द्विविधः स्यात्परजन्ममात्मक-भेदेन, अथ पुरुषप्राधान्यात् जना एव लोकश्चेन्न गृह्यन्ते । आर्षेणापि यत्नेन ज्ञानं भविष्यति किमनेन तदपुनर्जीविना यत्नेनेत्याशङ्क्य अनतिविस्तारमिति यद्वचनं कृतं, य-अतिशयेन विस्तरो यत्र तानिति । यतो बहुप्रपञ्चवर्चितानि ऊहापोहपूर्वपक्ष-ममाधानादिना तन्नाणि मोहेगकराणि भवन्ति तस्मात् सङ्क्षिप्तानुलिखतीत्यर्थः ॥६॥

* अथानुक्रमणिकासाह, अथेति ।—अथ शब्दः आनन्त्यार्थे सङ्कलार्थे वा । अनुक्रमणिका इति अध्यायानामनुक्रमणं त्रिखण्डानामित्यर्थः । इदानीं तामनु-क्रमणिका दर्शयितुमाह, प्रथममित्यादि ।—परिभाषादिगोचरगणनात्तैः सप्तभिरध्यायैः कृत्वा पूर्वखण्डोऽयमीरितः कथित इत्यर्थः, आचार्येण इति शेषः । ते के अध्याया इत्याह, प्रथममिति—प्रथममादौ परिभाषा तुलनादिकम् । द्वितीये भेषज्याख्यानकम् ; भेषज्याख्यानक्रमित्यौषधप्रभक्षणविधिः । तथेति यद्वचनात् द्रव्य-वसणवैपकादौना कथनम् सृष्टृषट्ककथनञ्च । नाडीपरीक्षादिविधिरिति तृतीयम् ; आदियद्वचनादिह स्वप्रादीना कथनम् । ततोऽनन्तरं दीपनपाचनादिलक्षणकथनं

* टीकाकारकृतव्याख्यादर्शनात् “अथानुक्रमणिका” इति पाठो मूलग्रन्थ-आसीदित्यनुमीयते, अन्यथा “अथेति” इत्यारभ्य “त्रिखण्डानामित्यर्थः” इत्यन्तो ग्रन्थः टीकाकारस्य उन्मत्तप्रज्ञाप इत्याशङ्क्य दूरपनेया इति ।

मध्यखण्डानुक्रमणिका ।—

स्वरसः क्वाथफाण्टी च हिमः कल्कश्च चूर्णकम् ।

तथैव गुटिकालेहौ स्नेहः सन्धानमेव च ।

धातुशुद्धी रसाश्चैव खण्डोऽयं मध्यमः स्मृतः ॥ ९ ॥

उत्तरखण्डानुक्रमणिका ।—

स्नेहपानं स्वेदविधिर्वमनञ्च विरेचनम् ।

ततस्तु स्नेहवस्तिः स्यात्ततश्चापि निरूहणम् ।

ततश्चाप्युत्तरो वस्तिस्ततो नस्यविधिर्मतः ॥ १० ॥

चतुर्थम् ; * आदिशब्दात् संसन-भेदनामुन्मीलन-वमन-लेखन-स्तम्भनादिकथनम् । ततोऽनन्तरं कलाटिकाख्यानमिति पञ्चमम्, आदिशब्दनात् सृष्टिक्रमशरीरादिकथनम् । तथेत्यनन्तरं आहारादिगतिरिति षष्ठम् ; आदिशब्दनात् गर्भोत्पत्तिकृमार्पोषणप्रकृत्यादि-लक्षणकथनञ्च । रोगाणां गणना चेति—इतिशब्देनावशिष्टं सप्तममित्यर्थः, एतेन साध्या ये उक्ता रोगा ज्वरादयः तेषां गणना महदाकथनमिति पूर्वखण्डाध्यायानु-क्रमः कथितः ॥ ७।८ ॥

अथ मध्यमखण्डानुक्रमणिकां दर्शयामास, स्वरस इत्यादि ।—स्वरसादिरसान्ते दीपशभिरध्यायैर्मध्यमः खण्डः स्मृतः कथित इत्यर्थः । स्वरसादयो विख्याता एव, ते चाग्रे बह्व्यमाणाः सन्ति । तत्र अरसेषु घृतपाकविधिकथनम् । क्राधे प्रमथ्याद्युष्णीटक-क्षीरपाकान्नक्रियाविधिकथनम् । फाण्टे नस्यविधिकथनम् । स्नेहशब्दनात् घृतकल्पना-तैलकल्पना च । सन्धानमित्यनेन मद्यभेदकथनम् । धातुशुद्धिरित्यत्र समस्तधातुप-धातूनां शोधनमारणादिकथनम् । रसा इति बहुवचनेन सर्वेषां रसोपरसादीनां शोधनमारणादिकथनम् । इति मध्यमखण्डस्याध्यायानुक्रमो व्याख्यातः ॥ ९ ॥

इदानीमुत्तरखण्डानुक्रममाह, स्नेहपानमिति ।—स्नेहपानादिनेवकर्मप्रकारान्ते-

* “दीपनपाचनम्” इति मूलोक्तपाठे ‘आदि’शब्दाभावात् टीकाकारस्य “आदिशब्दनात्” इत्यादियर्थः स्तोक्तस्य “दीपनपाचनादिलक्षणकथनम्” इत्यस्त्वेव व्याख्या न वा तत् सुधीभिः स्वयमेव विचार्यमिति । वस्तुतस्तु, चतुर्थे दीपनपाचनाध्याये संसनादीनां लक्षणसत्त्वात्, “गाडीपरीक्षादि” “कलादि” इति पूर्वापरयोः आदि-शब्दसङ्गावाच्च दीपनपाचनमित्यत्र अनुक्तीऽपि आदिशब्दः सन्दर्शयितव्यत्वादेन पूर्वा-परत आकृष्य योज्य इति ।

धूमपानविधिश्चैव गण्डूषादिविधिस्तथा ।

लेपादीनां विधिः ख्यातस्तथा शोणितविस्मृतिः ।

नेत्रकर्मप्रकारश्च खण्डः स्यादुत्तरस्त्वयम् ॥ ११ ॥

श्लोकानां सङ्ग्रहसमाप्तः ।—

द्वाविंशत्सम्प्रिताध्यायैर्युक्तं संहिता स्मृता ।

षड्विंशतिशतान्यत्र श्लोकानां गणितानि च ॥ १२ ॥

मानपरिभाषायाः प्रयोजननिर्देशः ।—

न मानेन विना युक्तिर्द्रव्याणां जायते क्वचित् ।

अतः प्रयोगकार्यार्थं मानमचोच्यते मया ॥ १३ ॥

मागधीयं मानम् ।—

त्रसरेणुर्बुधैः प्रोक्तस्त्रिंशता परमाणुभिः ।

त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना * ध्वंसो निगद्यते ॥ १४ ॥

स्त्रयोदशभिरध्यायैरुत्तरः खण्डः स्यात् । तत्र धूमपाने त्रणधूपनं गृहधूपनञ्च । गण्डूषं कवलादीनां लक्षणग्रहणात् कवलप्रतिमारणकथनम् । लिपेत्यादिग्रहणात् मूर्हतैलकणं-पूरणविधिकथनम् । शेषं सुबोधम् । इत्युत्तरखण्डाध्यायानुक्रमः कथितः ॥ १०।११ ॥

इदानीं संहितानिरुक्तिपूर्वकं श्लोकसङ्ग्रहमाह, द्वाविंशदिति ।—यतः पूर्वाक्तानां त्रिखण्डानां द्वाविंशदध्यायैर्युक्तं, तस्मात् संहिता कथिता । “सम्प्रित” स्थाने “संहित” इति केचित् पठन्ति ; तत्रापि स एवाशङ्कः । अत्र संहितायाः श्लोकानां गणितानि गणनानि षड्विंशतिशतानि, भवन्तीत्यव्याहृत्यम् । अध्याय इति—पदसमूहो वाक्यं, वाक्यसमूहः प्रकरणं, प्रकरणसमूहोऽध्याय इति ॥ १२ ॥

अथेदानीं तावत् पूर्वं परिभाषा दर्शयितुमाह, न मानेनेति ।—मानेन परिमाणेन विना द्रव्याणां युक्तिः कर्तव्यविधिः क्वचित् क्वापि न जायते नीत्यच्यते, अत इत्यस्मात् प्रयोगकार्यार्थं प्रयोगाणां योगानां कार्यार्थं कर्तव्यविधिनिमित्तं मानं तुलनादि अत्र संहितायां मया आचार्येण उच्यते कथ्यते इत्यर्थः । भक्ष्यमान-व्यवच्छेदार्थमुक्तं, तद्वत्त्य-मानं वक्ष्यमाणमप्यस्ति ॥ १३ ॥

इदानीं परमाण्वादिसंज्ञा-मानार्थं लक्षणाव्याहृत्य, त्रसरेणुरिति ।—परमाणुभिर्युक्तैः

* “वंशी” इति गूढार्थदीपिकासम्प्रतः पाठः । “दशरब्धं प्रविष्टं यत् रजः, तत् वंशी, तस्याः त्रिंशता परमाणुना या सङ्ख्या सा वंशीत्यर्थः” इति गूढार्थदीपिकाकारः ।

(जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।

तस्य त्रिंशत्तमो भागः परमाणुः स कथ्यते ॥

जालान्तरगतैः सूर्यकरैर्ध्वंसी विलोक्यते ॥)

षड्ध्वंसीभिमरोचिः स्यात्ताभिः षड्भिस्तु राजिका ।

तिसृभौ राजिकाभिश्च सर्षपः प्रोच्यते बुधैः ॥१५॥

यवोऽष्टमर्षपैः प्रोक्तो गुञ्जा स्यात्तच्चतुष्टयम् ।

षड्भिस्तु रक्तिकाभिः स्यान्माषको हेमधान्यकौ ॥१६॥

माषैश्चतुर्भिः शाणः स्याद्वरणः स निगद्यते ।

टङ्कः स एव कथितस्तद्वयं कोल उच्यते ॥१७॥

क्षुद्रमोरटकश्चैव द्रङ्गणं तन्निगद्यते ।

* (क्षुद्रको वटकश्चैव द्रङ्गणः स निगद्यते ॥)

कोलद्वयञ्च कर्षः स्यात् स प्रोक्तः पाणिमानिका ॥१८॥

त्रिंशता स एव वसरणः प्रोक्तः कथितो बुधैस्तदेदिभिः पुरुषैः । “परमाणुः सूक्ष्मः स्वभावतो याज्ञो न चक्षुषा अनुमानेन च” इति कश्चित् । तथा हि—“जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः । तस्य त्रिंशत्तमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥” इति । त्रिंशतेति—परमाणूनां दशत्रिसहस्रैरित्यर्थः । वसरणुरेव पर्यायनाम्ना एकार्थवाचक-
शब्देन कृत्वा ध्वंसीति निगद्यते कथ्यते, यव समानार्थकता शब्दानां तत्र ते पर्याया उच्यन्ते इत्यर्थः । ध्वंसीलक्षणन्तु एतस्याये कश्चित् पठन्ति, यथा—“जालान्तरगतैः सूर्यकरैर्ध्वंसी विलोक्यते” इति । सूर्यकरैरादित्यरश्मिभिः । अथ मरोचिप्रभृतीनां परम्परामाह, षड्ध्वंसीभिरिति ।—षड्ध्वंसीभिरिका मरोचिर्भवेदिति । मरोचिभि-
र्मानसञ्चकाभिर्मरोचिभिः षड्भिः सहस्राभिरिका राजिका, कथिता इत्यध्याहारः, राजिका सर्षपभेदः । तिसृभौ राजिकाभिरिति—राजिकाद्वितयेनैकः सर्षपः प्रोच्यते कथ्यते बुधैरिति, सर्षपयङ्गणेनाव गौरसर्षपो ज्ञेय इति । अष्टसर्षपैः कृत्वा एका यवः कथितः, यवोऽन्नविशेषः । गुञ्जामाह—तच्चतुष्टयमित्यनेन गुञ्जा स्यात्, तेन एका गुञ्जा कथिता इत्यभिप्रायः, गुञ्जा रक्तिका वाच्या । अथ माषकमाह—षड्भिः षट्सङ्काभिः रक्तिकाभिः गुञ्जाभिरैको माष इति ख्यातः, स एव हेमधान्यकपर्याय-
नाम्ना कथित इति स्वमते, कश्चित् सप्तभिः कश्चित् पञ्चभिर्दशभिर्वा गुञ्जाभिः कृत्वा

* पाठोऽयं गूढावदीपिकाकारसम्मतः ।

अक्षः पितुः पाणितलं किञ्चित्पाणिञ्च तिन्दुकम् ।

विडालपदकञ्चैव तथा षोडशिका मता ॥१८॥

करमध्ये हंसपदं सुवर्णं कवलग्रहः ।

उड्म्बरश्च पर्यायैः कर्ष एव निगद्यते ॥२०॥

स्यात् कर्षाभ्यामर्द्धपलं शुक्तिरष्टमिका तथा ।

शुक्तिभ्याश्च पलं ज्ञेयं मुष्टिराम् चतुर्थिका ॥२१॥

प्रकुञ्चः षोडशी बिल्वं पलमेवात्र कोत्थते ।

पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया प्रसृतश्च निगद्यते ॥२२॥

प्रसृतिभ्यामञ्जलिः स्यात् कुडवोऽर्द्धशरावकः ।

अष्टमानश्च स ज्ञेयः कुंडवाभ्याश्च मानिका ॥२३॥

माषकः कथितः, स एव माषको मरौच्यादिभिर्विषायेषाम्पाण्डव न विरुद्धः, तच्च
विस्तरभयात्र लिख्यते । इदानीं शाणपरिमाणं कोलपरिमाणञ्च वक्तुमाह, माषेरिति ।
—अतुर्भिर्माषकैरेकः शाणो घरणः षड्भिरुग्राभिस्तुलित
इति सर्वत्र । तद्वयमिति—शाणद्वयेनैकः कोलः । “कोलो बदरसंज्ञः” इति
केचित् । तस्य पर्यायवाचकाः चुद्र-मौरटक-द्रुणादयः, तेषां षड्वयमानसंज्ञका
बोद्धव्याः । कर्षमाह, कोलद्वयमिति ।—कोलद्वयमेव कर्षः स्यात्, स चतुःशाण
इत्यर्थः । तस्य पर्यायसंज्ञकाः पाणिमानिकादयः, पाणिमानिका करतले विदुरात
भावः । अक्ष इति विभीतकफलं, तच्च कर्षमानसंज्ञम् । तिन्दुकं तिन्दुकफलम् ।
विडालपदकम् अजुलिग्रययाक्षं चूर्णद्रव्यं, तत् कर्षसंज्ञमित्यर्थः । षोडशिका षोडश-
माषकपरिमितेत्यर्थः । शेषं सुगमम् । अर्द्धपलं पलमानञ्चाह, स्यात् कर्षाभ्यामिति ।
—कर्षद्वयेनार्द्धपलं कथितं, तदेव शुक्तिः । अष्टमिका च शुक्तिः प्रसिद्धा, अष्टमिका
अष्टशाणसंज्ञमानविशेषः । पलमप्याह, शुक्तिभ्यामिति ।—शुक्तिद्वयेनैव पलं बोद्धव्यं,
पलं प्रसिद्धम् । एतस्यापि मुख्यादयः पर्यायवाचका ज्ञेयाः । अत्र मुख्यादिषु पलमेव
कोत्थते नाव्यत् । मुष्टिः नखानामुष्टिः । आसं फलम् । चतुर्थिकेति चतुःकर्ष इति
भावः । षोडशी षोडशशाणमिता, शाणीद्वैवोक्तौ ज्ञातव्यः न तु व्यावहारिकः । बिल्वं
बिल्वफलम्, एतत्संज्ञा पले बोद्धव्या । इदानीं प्रसृतिपूर्वकं मानिकान्तं मानमाह,
पलाभ्यामिति ।—पलद्वयेनैका प्रसृतिर्ज्ञेया, प्रसारिताञ्जलिकरतलं प्रसृतिः, सेव
द्वामिश्रश्चाणमिता । प्रसृतिभ्यामिति—प्रसृतिद्वयेनैकाञ्जलिः, अञ्जलिस्तु करद्वय-

शरावोऽष्टपलं तद्वज्रयमत्र त्रिचक्षणेः ।

शरावाभ्यां भवेत् प्रष्टव्यतुःप्रस्थैस्तथाढकम् ॥२४॥

भाजनं कंसपात्रञ्च चतुःषष्टिपलञ्च तत् ।

चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कलशो नखणोऽर्धणः ॥२५॥

लम्बानञ्च घटो राशि-द्रोणपर्यायसंज्ञकाः ।

द्रोणाभ्यां शूर्पकुम्भौ च चतुःषष्टिशरावकः ॥२६॥

शूर्पाभ्याञ्च भवेद्द्रोणी वाही गोणी च सा स्मृता ।

द्रोणीचतुष्टयं खारी कथिता सूक्ष्मबुद्धिभिः ॥२७॥

चतुःसहस्रपलिका षष्ठवत्यधिका च सा ।

पलानां द्विसहस्रञ्च भार एकः प्रकीर्तितः ॥

तुला पलशतं ज्ञेया सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥२८॥

मिलितसम्पुटकाकारः प्रसिद्धः, स एव कुडवः अर्द्धशरावकश्च कथितः, कुडवः प्रसिद्ध-
यतुःपलप्रमितः अर्द्धशरावकश्चतुःषष्टिपात्रसंज्ञः । कुडवाभ्यामिति—कुडवद्वयेनैका
मानिका, सैव शरावः, अष्टपलञ्च शरावः, स तु साष्टाविंशतिशतसङ्ख्याकशरणैः
कथितः । अथ प्रस्थाऽऽढकैर्दृश्यितुमाह, शरावाभ्यामिति ।—शरावद्वयेन एकः प्रस्थाः,
स च षोडशपलपरिमितो भवति । चतुःप्रस्थैः कृत्वा षाढकमेकं, तच्च भाजनं कंसं
पात्रञ्च कथितं, भाजनादयोऽप्याढकस्यैव पर्याया इत्यर्थः, एतश्चतुःषष्टिपलपरिमितं
बोद्धव्यम् । अथ द्रोणप्रभृति द्रोणीपर्यन्तमानमाह, चतुर्भिरिति ।—चतुर्भि-
र्यतुःसङ्ख्याकैः षाढकैः कृत्वा एको द्रोणः, स च कलशादिपर्यायनामभिरुपलक्षितो
द्वाविंशच्छरावतुलितो ज्ञेयः । द्रोणाभ्यामिति—द्रोणद्वयेन शूर्पकुम्भौ कथितौ, शूर्पश्च
कुम्भश्चेति । शूर्पयतुःषष्टिशरावको ज्ञेयः । शूर्पाभ्यामिति—शूर्पद्वयेन एका द्रोणी, सैव
वाही गोणी च कथिता, अत्र चतुःषष्टिप्रस्था भवतीति तात्पर्याद्यः । इदानीं खारी-
परिमाणमाह, द्रोणीचतुष्टयमिति ।—द्रोणीचतुष्टयं सन्नाहं तत् खारीशब्दवाच्यं, तेन
षष्ठवत्यधिकचतुःसहस्रपलमानेन सा ज्ञातव्या, अत एव सूक्ष्मबुद्धिभिरिति ग्रहणम् ।
अथ भारपरिमाणं तुलापरिमाणमप्याह, पलानामिति ।—पलानां पूर्वप्रतिपादितानां
यत् सङ्ख्येयं तेन एको भारः प्रकीर्तितः कथितः ; एतेन विंशतितुलामिः परिमितो
भवति । तुला च पलशतपरिमिता ज्ञेया । तथा शीतं—“तुला पलशतं तासां विंशति

माषटङ्गाच्चबिल्वानि कुडवः प्रस्थ आढकम् ।

राशिर्गोणी खारिकेति यथोत्तरचतुर्गुणाः ॥२८॥

गुञ्जादि कुडवान्मानस्य समतानिर्देशः ।—

गुञ्जादिमानमारभ्य यावत् स्यात् कुडवस्थितिः ।

द्रवादृशुष्कद्रव्याणां तावन्मानं समं मतम् ॥३०॥

द्वैगुण्यपरिभाषाया विषयनिर्देशः ।—

प्रस्थादिमानमारभ्य द्विगुणं तत् द्रवादर्थोः ।

मानं तथा तुलायाश्च द्विगुणं न क्वचित् स्मृतम् ॥३१॥

भार उच्यते । खारी भारद्वयेनैव स्मृता षड्भाजनाधिका ॥” इति । एष निश्चयः सर्वत्रैव सर्वदेशेष्वेव प्रयोगेषु वा ज्ञेय इत्यर्थः, न तु केवलं मगधदेशे । एवेति निश्चयार्थ-
बोधकः । इदानीं सकलमानज्ञापनार्थे श्लोकेनैकेन मानमाह, माषेत्यादि ।—माषादि-
खाद्यैवसाना यथोत्तरं चतुर्गुणा ज्ञेयाः । यो यस्मादुत्तरो यथोत्तरम् ; एतेन किमुक्तं
भवति ? “माषाच्चतुर्गुणः शाणः शाणात् कर्षश्चतुर्गुणः । कर्षाच्चतुर्गुणं बिल्वमित्याद्या
अपरे मिताः ॥” इति । बिल्वमतं पलं, राशिर्द्रीणसंज्ञः, गोषौत्यनेन द्रोणी
कथिता ॥१४—२८॥

इदानीं द्रवादृशुष्कद्रव्याणामनुक्तानां मानं निर्दिष्टमाह, गुञ्जादीति ।—गुञ्जाप्रभृति-
मानमारभ्य यावत् कुडवस्थितिः स्यात् तावद्द्रवादीनां मानं समं ज्ञेयम् । गुञ्जा
आदिर्येषां ते माषक-कीलाच-शुक्ति-प्रसृताः कुडवपर्यन्ताः । द्रवं तोयादि, आढे
तत्त्वणोद्धृतं, शुष्कं मूर्ध्नाशुभिः शोषितं चिरकालं धृतञ्च । एके “यावन्न कुडवस्थितिः”
इति पठन्ति, तत्र—कुडवादर्वाक् सममिति । तथा हि—“रक्तिकादिषु मानेषु यावन्न
कुडवो भवेत् । शुष्के द्रवादर्थोऽस्मावत् तुल्यं मानं प्रकीर्तितम् ॥” इति । एतदपि
तत्त्वान्तरे यथा—“प्रस्थादिमानमारभ्य द्विगुणं द्रवादर्थोः । * कुडवोऽपि क्वचिदुच्यते
यथा दलीघृते मतम् ॥” इति ॥ ३० ॥

प्रस्थादिमानमिति ।—प्रस्थादिपरिमाणमारभ्य यावत् तुला पूर्यते, तावद्द्रवादर्थो-
द्विगुणपरिमाणं ज्ञेयम् । द्विगुणन्तु शुष्कद्रव्यादित्यर्थः ; तथा च—“शुष्कद्रव्यस्य
या मात्रा त्वादृशं द्विगुणा हि सा । शुष्कस्य गुह्यतोऽण्णत्वात्स्मादहं प्रथोजयेत् ॥”

* हारीतः कुडवस्यापि द्वैगुण्यमाह, तथा च—“आद्रद्रव्यस्य कुडवः पलैरष्टभि-
र्युक् च । शुष्कद्रव्यचतुर्गुणे कुडवः समुदाहृतः ॥” इति ।

कुडवमितद्रवद्रव्यमानार्थे पावविशेषनिर्देशः ।—

मृद्वृक्षवेणुलोहादेर्भाण्डं यच्चतुरङ्गुलम् ।

विस्तीर्णञ्च तथोच्चञ्च तन्मानं कुडवं वदेत् ॥३२॥

योगानां नामकरणविधिः ।—

यदौषधन्तु प्रथमं यस्य योगस्य कथ्यते ।

तन्नाम्नैव स योगो हि कथ्यंतेऽत्र विनिश्चयः ॥३३॥

अथ कालिङ्गपरिभाषा ।—

औषधानां मावास्थीकरणविधिः ।—

स्थितिर्नास्थेव मात्रायाः कालमग्निं वयो वनम् ।

प्रकृतिं दोषदेशौ च दृष्ट्वा मात्रां प्रकल्पयेत् ॥३४॥

प्रस्थादिमानमित्यादिशब्दात् पञ्चदशपलमारभ्य यावत् पलशतं पूर्यते तावदित्यर्थः । मानं तथा तुलायाः तुलाया उपरि मानं कश्चित् क्वापि द्विगुणं न, तत्कार्यं द्वादशैरिति शेषः । उपरि मानमिति दोषादिकम् । तथा च—“द्वेगुणं न तुल्यमानादिति मानविदो विदुः । यतो द्वादशैकादशैः प्रासङ्गिश्चात्र लोकोक्तः ॥” एतदभिप्रायं स्नेहपाकविषये प्रायशो मन्यन्ते केचित् ॥ ३१ ॥

इदानीं द्रवमानार्थे कुडवपावनिर्माणमाह, मृद्विति ।—मृदादिबस्तुभिर्निर्मितं यत् भाण्डं भवति तत्परिमितं द्रवद्रव्यं कुडवसंज्ञितं वदेत् । कथंभूतम् ? आधाम परिणाहाभ्यां चतुरङ्गुलप्रमाण, तथा उच्चैर्नापि (१) चतुरङ्गुलम् । वेणुः वंश, लोहमष्टविधं, तच्च सुवर्ण-रजत ताम्रार-लोष-तपु सौसक लोहमञ्जम् ; आदि-प्रदणाश्वम-शृङ्ग दन्तोपलादयः । अङ्गुलशब्देनायाङ्गुलनखतलभागं गृह्णाति । केचित् मध्यमाङ्गुलिकायास्तु मध्यमपर्वमिताङ्गुलमिति । यद्वा—चतुर्भिरङ्गुलिभिः परिमितं चतुरङ्गुलम् इति प्रसिद्धम् । एतत् परिमाणं द्रवद्रव्यार्थं बोद्धव्यम् ॥ ३२ ॥

अथ प्रयोगाणामादिद्रव्याकृतसज्जा निर्देष्टुमाह, यादिति ।—यस्य योगस्य गण स्वरूपस्य प्रथममादिपाठतं यदौषधं भवति तन्नाम्नैव स योगः कथ्यते इत्यत्र विनिश्चयो ज्ञातव्यः । यद्वा—शुद्धादि, गुडूच्यादीनां तात्पर्यायः । मगधदेशं प्रायशः प्रचरतीत्यतो मगधपरिभाषा कथ्यते ॥ ३३ ॥

इदानीं कालिङ्गपरिभाषां दर्शयितुमाह—अथेति । तत्रादौ मावाव्यवच्छेदाद्यं योक्तुमशकं पठन्ति केचित्, तमाह, स्थितिरिति ।—मात्रायाः परिमाणस्य स्थितिः व्यवस्था नास्ति, यतः कालादिकमवश्यं परिमाणं युज्यादित्यभिप्रायः । कालः

कालिकमानोक्तौ हेतुः ।—

यतो मन्दाग्नयो ऋक्षा हीनसत्त्वा नराः कलौ ।

अतस्तु मात्रा तद्योग्या प्रोच्यते सुश्रसम्पता ॥१५॥

अथ कालिकमानम् ।—

यवो द्वादशभिर्गौरैः-सर्षपैः प्रोच्यते बुधैः ।

यवद्वयेन गुञ्जा स्याद्विगुञ्जो वल्ल उच्यते ॥१६॥

माषो गुञ्जाभिरष्टाभिः सप्तभिर्वा भवेत् क्वचित् ।

स्याच्चतुर्माषकैः श्राणः स निष्कष्टङ्क एव च ॥१७॥

गद्याणो माषकैः षड्भिः कर्षः स्याद्व्यमाषकः ।

चतुःकर्षैः पलं प्रोक्तं दशश्राणमितं बुधैः ॥

चतुःपलैश्च कुडवः प्रस्थाद्याः पूर्ववन्मताः ॥१८॥

श्रीतीक्ष्णवर्णलक्षणः, मेघजगद्वृणकाको वा । अग्निरपि चतुर्विधो मन्दतीक्ष्णविषम-
समभेदेन । वर्णाऽपि द्विविधमादिमध्यान्तम् । बलमपि हीनोत्तममध्यमम् ।
प्रकृतिरपि त्रिधा हीनमध्योत्तमा, अथवा देशजातिशरीरादिभिः प्रकृतेर्विधो भेदाः ।
दाषोऽपि त्रिविधो वातादिभेदेन । देशोऽपि द्विविधो भूमिर्देहप्रभेदेन । भूमिर्देशस्तु
त्रिधा जाङ्गलानूपसाधारणभेदेन, देहदेशोऽपि त्रिधैव पूर्वोक्तः ॥ ३४ ॥

अथ भक्षणार्थं प्रागुक्ता कालिकपरिभाषाऽस्ति अतस्तामपि दर्शयन्नाह, यत इति ।
—यतः कारणात् कलौ कलियुगे ईदृशा नराः सन्ति, अतः स्थितिहेतोः तद्योग्यैषा
नराणां विहिता मात्रा भक्षणद्रव्यपरिमाणं प्राच्यते कथ्यते इत्यर्थः । कथन्मता ?
सुश्रसम्पता इति मानवेदिभिः पुरुषैर्विचार्यमाणा इत्यर्थः । कोटशास्त्रे नराः ? मन्दाग्नय
इति क्षत्याहारिणः । ऋक्षाश्चेत्यल्पकायाः । हीनसत्त्वा इति स्वल्पबलाः ॥१५॥

इदानीं तत्तुलनमाह, यव इत्यादि ।—द्वादशभिर्द्वादशसङ्काकैर्गौरैःसर्षपैरेको यवः,
गौरजगद्वृणं तद्वृणजातिव्यवच्छेदाद्यम् । ईदृशेन यवद्वयेन एका गुञ्जा स्याद्वेत ।
विगुञ्जा गुञ्जादयः एका वल्लसंज्ञः, वल्लः प्रसिद्धः परिमाणः । अष्टाभिरष्टसङ्काकाभिः
गुञ्जाभिः कृत्वा एको माषः कथितः, माषोऽत्र टङ्कस्य चतुर्थांशः । क्वचिदिति कुदापि
सप्तभिर्गुञ्जाभिः कृत्वा माषको ज्ञेय इति तन्मान्तरीयमतं, तस्य विषयकस्य प्रचरित-
मिति वदन्ति केषां सत्त्वाप्रसिद्धत्वात् । गुञ्जाऽप्यवैभोक्ता, ज्ञेया । चतुर्माषकैः

कालिङ्गात्मागधमानस्य श्रेष्ठतानिर्देशः ।—

कालिङ्गं मागधञ्चेति द्विविधं मानमुच्यते ।

कालिङ्गात्मागधं श्रेष्ठं मानं मानविदो विदुः ॥३६॥

युक्तायुक्तविचारः ।—

नवान्धेव हि योज्यानि द्रव्याण्यखिलकर्मसु ।

विना विडङ्गकृष्णाभ्यां गुडधान्याऽऽज्यमात्मिकैः ॥४०॥

कृत्वा एकः शाणः, स एव निष्कः टङ्गश्च पर्यायनाम्ना कथितः । षड्भिः सहस्राकैः माषकैः कृत्वा एको गद्याणः, स च सार्द्धटङ्गैकेन परिमितो भवति । गद्याण इति परिमाणसंज्ञाशब्दः । दशमाषकोरेव एकः कर्षः स्यात्, कर्षोऽस्रः कथितः, स च सार्द्धद्विशायमितः । चतुःकर्षैः कृत्वा पलमेकं प्रीक्तं कथितम् ; पलं प्रसिद्ध कर्षणैश्च पृक्तं, मानतस्तत् पलं दशशाणमितं बोद्धव्यम् । ईदृशेष्वर्षभिः पलैः कृत्वा कुडवमेकं, तच्चत्वारिंशच्छाणपरितुलितं भवति । प्रस्थाद्याः पूर्ववत् मताः इति प्रस्थापय-
शिशं मागधपरिभाषावत् श्रेयमनुक्तमथेत्यर्थः, न तु तत्तल्लयमानम् ; एतेन कुडवाच्छेष-
मानमप्यवैव प्रतिपादितपलेन परिमितं बोद्धव्यम् ; न तु मागधपरिभाषोक्तपलनेति
तात्पर्याशयः ॥ ३६—३८ ॥

यद्यपि देशान्तरं बहूनि मानानि सन्ति तथाऽपि हे परिमाणे प्रसिद्धे इति
विचार्याह, कालिङ्गमिति ।—“कालिङ्गम्” इति केचित् पठन्ति । कलिङ्गदेशे
प्रचुरं प्रसिद्धं यत् तत् कालिङ्गम् । मागधदेशे प्रायशः प्रचरतीति मागधमानम् ।
इति द्रव्याणां परिमाणमिति द्विविधं द्विप्रकारमुच्यते मानवेदिभिः कथ्यते इत्यर्थः ।
इति कालिङ्गपरिभाषा ॥ ३९ ॥

इदानीं द्रव्याणां युक्तायुक्तविचारमाह, नबानीति ।—अखिलकर्मस्त्रिति दशधा
द्रव्यकल्पनाविधयेषु नूतनद्रव्याणि योज्यानीति भावः, यत “सर्वं च चौरवदीप्य-युक्तं
भवति भेषजम् । तेषामन्नाभे गृह्णीयादनतिक्रान्तवत्सरम् ॥” इति । विडङ्गादिद्रव्यं
विना, तेन विडङ्गप्रभृतिकं पुरातनं गुणकरमिति तात्पर्याशयः । पुरातनत्वं संवत्सरा-
दुपरि भवति । तत्र धान्यं चान्यकम्, चाज्यं घृतं, तदन्नापकं ज्ञेयं, पक्वत्
हीनवीर्यं स्यात् । तथा हि—“घृतममृदात् परं पक्वं हीनवीर्यं प्रजायते ।
तेलं पक्वमपक्वं वा चिरस्त्रावि गुणाधिकम् ॥” इति । पुरातनं कदादिगुण-
संयुक्तत्वात् ॥ ४० ॥

ग्रहद्रव्यगृहणस्य हेतुगुणपरिभाषायाश्चापवादः ।—

गृहूचो कुटजो वामा कुष्माण्डश्च शतावरो ।
 अश्वगन्धा सहचरः शतपुष्पा प्रसारिणी ॥
 प्रयोक्तव्याः सदैवाद्राः दिगुणान् नैव कारयेत् ॥ ४१ ॥
 (शुष्कं नवीनं यद्द्रव्यं योज्यं सकलकर्मसु ।
 आर्द्रं च दिगुणं युञ्ज्यादेष सर्वत्र निश्चयः ॥)

अनुक्तविषयिणी परिभाषा ।—

कालेऽनुक्ते प्रभातं स्यादङ्गेऽनुक्ते जटा भवेत् ।
 भागेऽनुक्ते तु साम्यं स्यात् पात्रेऽनुक्ते च सृन्मयम् ॥ ४२ ॥
 (द्रवेऽनुक्ते जलं ग्राह्यं तैलेऽनुक्ते तिलोद्भवम् ॥)

इदानीं ये सर्वकालेष्वद्रा अधिगुणा द्रव्यविशेषा योज्यास्तानाह, गृहूचीति ।—
 गृहूचो पूर्वकप्रसारिणीपर्यन्ता ओषध्यः सदैव सर्वस्मिन् काले ऋतौ वा तात्कालीने-
 ङ्गता, प्रयोक्तव्याः, एते च द्रव्यविशेषा दिगुणा न कार्या बौद्ध्यात्कृत्वात् । गृहूक्तो
 भूमिद्रा । कुटजो वृक्षविशेषः स च कौरुयाशब्दवाच्यः । वामा पाटलवृक्षः । सहचरः
 करण्टकः, पिशावासा इति ख्यातः । प्रसारिणी स्वनामख्याता । एतस्याग्रे “शुष्कं
 नवीनं यद्द्रव्यं योज्यं सकलकर्मसु । आर्द्रं च दिगुणं युञ्ज्यादेष सर्वत्र निश्चयः ॥”
 इति श्लोकं पठन्ति केचित्, स चोक्तमेवाग्रे द्रव्यमिति, अतो न दोषः पौनरुक्त्या ।
 दिगुणमत्र एकद्रव्यभागापेक्षया, तत् पूर्वमुक्तं, न त सकलमानात् । सर्वत्रेति
 कल्पनासु ॥ ४१ ॥

इदानीमनुक्तप्रयोगे तद्गृहणकालादिकमाह, काले इत्यादि ।—काले भेषजभक्षण-
 समयेऽनुक्ते अप्रकाशिते सति प्रभातं प्रातःकालमेव स्यात् । तथा अङ्गे द्रव्यावयवेऽनुक्ते
 सति जटा मूलं स्यादित्यर्थः । भागे द्रव्याणां परिमाणेऽनुक्ते सति साम्यं स्यात्
 सर्वेषां समता भवतीत्यर्थः । पात्रे इति द्रव्यस्य कारणार्थे स्थापनार्थश्च भाजनेऽनुक्ते
 सति तदा सृन्मयं सृत्पातं ग्राह्यम् । चकारात् द्रव्यानुक्तविषये पानीयं, तथा चोक्तं
 —“द्रवेऽप्यनुक्ते जलमेव देयं भागेऽप्यनुक्ते समता विधेया । अङ्गेऽप्यनुक्ते विहितं
 मूलं कालेऽप्यनुक्ते दिक्मस्य पूर्वम् ॥” इति ॥ ४२ ॥

द्विरुक्तद्रव्ये कर्तव्योपदेशः ।—

एकमष्वौषधं योगे यस्मिन् यत् पुनरुच्यते ।

मानतो द्विगुणं प्रोक्तं तद्व्यं तत्त्वदर्शिभिः ॥४३॥

द्विविधचन्दनयोः प्रयोगव्यक्तम् ।—

चूर्णस्नेहासवा लेहाः प्रायशश्चन्दनान्विताः ।

कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम् ॥४४॥

औषधानां गुणस्थितौ गुणदानी च कालनिर्देशः ।—

गुणहीनं भवेद्वर्षादूर्ध्वं तद्रूपमौषधम् ।

मासद्वयात्तथा चूर्णं हीनवीर्यत्वमाप्नुयात् ॥४५॥

अथ योगेषु पुनरुक्तद्रव्यस्य मानमाह, एकमिति ।—यत्र योगे एकं वाऽपि द्रव्यं द्विपर्यायनाम्ना कथितं तदेवौषधं मानतः परिसाणात् द्विगुणं कार्यं, द्विगुणिता च एकद्रव्यभागापेक्षया इति तत्त्वदर्शभिरायुर्वेदरहस्यशापकेः प्रोक्तमित्यर्थः । तथा हि —“घृते तैले च योगे च यद्व्यं पुनरुच्यते । तत् ज्ञातव्यमिहाय्यं मानतो द्विगुणं भवेत् ॥” इति ॥ ४३ ॥

इदानीं सामान्यचन्दनगुणं योगविधिषु विभज्यमाह, चूर्णेति ।—चूर्णादयः कल्पनाः चन्दनगुणेन चेत्यचन्दनान्विता ज्ञेयाः ; आसवगुणेन सर्वे सस्नानकाश्च, लेहगुणेन गुटिकायुक्तं, यथा—खवड़ादिचूर्णं लाक्षादितैले क्षिपलाघृते दाक्षामवे चवनप्राशावल्लहे द्रष्टव्यम् । कषायलेपयोस्तु चन्दनगुणेन रक्तचन्दनं युज्यमित्यर्थः । कषायः स्वरसादिपञ्चकः, तेन स्वरसकायफाण्डहिमकल्कादयः । लेपो दशाङ्गप्रभृतयः । प्राय इति गृहणात् कुत्रापि व्याख्यारूपं बोध्यम् । न चात्र नियमायं, प्रायःशब्दो यतो न्यूनमाचष्टे कश्चित् । तथा हि—“प्रायःशब्दो विशेषाथ कश्चिद्गुणेऽपि दृश्यते” इति । कर्तव्यमेलादिचूर्णे रक्तचन्दनान्वितमिति प्रसिद्धं, व्याधिबहिस्तत्वात् । तथा चोक्तं—“रक्तं शीतं गुरु स्वादु कर्दितृणाऽस्वपित्तजित् । तित्तं नेत्रहितं वृष्यं ज्वरघ्नविषापहम् ॥” इति ॥ ४४ ॥

इदानीं प्रसिद्धद्रव्याणां कालातिक्रमेण हीनगुणत्वमाह, गुणहीनमिति ।—वर्षादूर्ध्वं संवत्सरादुपरि तद्रूपमौषधं गुणहीनं भवेत् स्वकार्यकरं न भवतीत्यर्थः । तद्रूपमिति यादृशं द्रव्यस्वरूपं तादृशमेव तद्रूपं कथितं न तु चूर्णादि कल्पितम् । तथा च—“धातुपद्रव्यवर्जं न श्रेष्ठं वत्सरोषधम्” इति । तथा चूर्णे तालीशाद्यादिकं, मास-

हीनत्वं गुटिकालेहौ लभेते वत्सरात् परम् ।

हीनाः स्युर्घृततैलाद्याश्चतुर्मासाधिकान्तथा ॥४६॥

ओषध्यो लघुपाकाः स्युर्निर्वीर्या वत्सरात् परम् ।

पुराणाः स्युर्गुणैर्युक्ता आसवा धातवो रसाः ॥४७॥

इथादुपरि हीनवीर्यस्य भावः हीनवीर्यत्वमाप्नुयात्, वीर्यहानिरप्यत्र भावमात्रं, न तु सर्वथा वीर्यरहितत्वम् ; यत्तत्त्वान्तरे दृश्यते हि लवणभास्करादीनां बहुपरिमाणं चिरकालसेवनार्थम् । तदुक्तं—“पिप्पली पिप्पलीमूलं धान्याककणजीरकम् । सैन्धवञ्च बिडश्चैव पत्रं तालीशकेशरम् ॥ एषां द्विपलिकान् भागान् पञ्च सौवर्चलस्य च । मरिचाजगिशुषठीनामैकैकस्य पलं पलम् ॥ त्वगेले चार्द्धभागे च सामुद्रात् कुडवडयम् । दाडिमात् कुडवच्चैव द्वे पले चास्त्रवेतसात् ॥” इति । एतत् सन्धारं बहुकालीपयोगिकम्, अन्यथा व्यर्थमेतत्, तस्मात् भावमात्रं चूर्णस्य मासत्रयादुपरि हीनं स्यादित्यभिप्रायः । गुटिका विजयादिगुटिका, लेङ्का खण्डखाद्यावलेहप्रभृतयश्चिरकालस्थिता अपि स्वगुणं न परित्यजन्ति, किन्तु किञ्चिद्गुणरहिता इति भावः । तथा तेलघृताद्याश्चतुर्मासाधिकादपि वत्सरात् परं स्वगुणं न परित्यजन्ति, किन्तु किञ्चिद्गुणरहिता इति भावः, चतुर्मासाधिकात् वत्सरात् परं षोडशमासादुपरि इत्यर्थः । एके “चतुर्मासाधिकास्तथा” इति पठन्ति ; तत्र—चतुर्मासयुद्धेन वर्षाकालं सन्त्यजे, “वर्षायामुचितं खेदः पक्वा हीनत्वमाप्नुयात्” इति वचनात् । तथेति शङ्कणात् अत्रापि भावमात्रं, किन्तु अन्यसमूहपाकजन्य गुणस्य हानिर्न तु प्रकृतिगुणहानिः । तथा च “लेहः सिद्धौ गृहादीनां गुणहानौ भवेद्द्रवम् । खेदाद्याः पूर्णवीर्याः स्युस्ते चतुर्मासतल्लघा” इति । केचित् “हीनत्वं स्यात् घृते पक्के तैले वा वत्सरात् परम्” इति केषाञ्चित्तत्त्वमवलोक्य पठन्ति ; तत्र सर्वसम्मतं, यतः सर्वसम्मतं वाक्यामिदं दृश्यते, “घृतमब्दात् परं किञ्चिद्धीनवीर्यत्वमाप्नुयात् । तैलं पक्वमपक्वं वा चिरस्थायि गुणाधिकम् ॥” इति । लघुपाका ओषध्यो वर्षादुपरि निर्वीर्याः निःश्रेष्ठे वीर्यरहिता इत्यर्थः, स्युः, न तु हीनत्वम् ; ताश्च यवगोधूमप्रमुखाः ; तथा च—“एतेषु यवगोधूमतिलमाषा नवा हिताः । रुढाः पुराणा विरसा न तथा गुणकारिणः ॥” इति । अथ चिरकालस्थिता ये उत्कृष्टगुणाः स्युस्तानाह, पुराणा इत्यादि ।—पुराणाश्चिरकालस्थिताः, बहुसंवत्सरोविता अपीलयेः, गुणैर्युक्ता इति ।—ते आसवादयो विशिष्टगुणान्विताः, भवन्तीत्यध्याहार्यम् । आसवा मद्यभेदाः, आसवा इति बहुवचनेन सर्वे सन्धानकाश्च श्रेयाः । धातव इति रजसादयः, बहुवचनाच्च संसिद्धमाह्लादयोऽपि बोद्धव्याः ॥४५—४७॥

युक्तायुक्तद्रव्ययोः बाह्यवर्ज्यत्वनिर्देशः ।—

व्याधेरयुक्तं यद्रव्यं गणोक्तमपि तत् त्यजेत् ।

अनुक्तमपि यद्युक्तं योजयेत्तत्र तदबुधः ॥४८॥

शेषव्याहरणोपयोगिर्देशनिर्देशः ।—

आग्नेया विन्ध्यशैलाद्याः सौम्यो हिमगिरिर्मतः ।

अतस्तदौषधानि स्युरनुरूपाणि हेतुभिः ॥

अन्येष्वपि प्ररोहन्ति वनेषूपवनेषु च ॥४९॥

शेषव्याहरणविधिः ।—

गृह्णीयात्तानि सुमनाः शुचिः प्रातः सुवासरे ।

आदित्यसम्मुखो मौनी नमस्कृत्य शिवं हृदि ॥

साधारणधराद्रव्यं गृह्णीयादुत्तराश्रितम् ॥५०॥

इदानीं रोगाणामुक्तानुक्तद्रव्यविशेषमाह, व्याधेरिति ।—यस्य व्याधेरयुक्तमसात्म्यं यत् द्रव्यं गणेषुक्तमपि तत् त्याज्यम् ; यथा—अतीसारे पथ्या । यत् गणेषुक्तमपि व्याधिः सात्म्यं तत्र तत् योज्यामिति व्यवहारः । यथा—अतीसारे क्षम्यार्थं बस्मकपाठादि । तथा चोक्तं—“गणोक्तमपि यत् द्रव्यं भवेत् व्याधौयोगिकम् । तदङ्गैर्योगिकान्त्रु पक्षिपेदप्यकौर्त्तितम् ॥” (सु० चि० १५०) इति ॥ ४८ ॥

इदानीं द्रव्याहरणार्थं देशादिकथनमाह, आग्नेया इति ।—यती विन्ध्य-शैलाद्या आग्नेयाः अग्निगुणभूयिष्ठाः ; आदित्यव्याध्यान्त्यसंज्ञपरिघाता (पर्वता) दयः । हिमगिरिस्तु सौम्यो मतः सौम्यगुणभूयिष्ठ इत्यर्थः, अती हेतोस्तदुद्भवानि द्रव्याणि तद्रूपाणि स्युरणुश्रौतवीर्याणि भवन्तीत्यर्थः । न केवलं शैलजातानि, अन्येष्वपि वनेषूपवनेषु च यानि प्ररोहन्ति तान्यापि हेतुभिः कृत्वा श्रौतोणवीर्याणि भवन्तीति तात्पर्यार्थः । हेतुरपि ऋतुस्वरूपमिति, एतेन यादृशम् ऋतुषु श्रौतोणादिकं भवति तादृशमेव तज्जातद्रव्यस्य वीर्यमित्यर्थः । आग्नेयाऽपि “अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः” इति । वनमुद्यानम् । उपवनं पुरुषव्यापारकृतं पूर्वमुक्तम् ॥ ४९ ॥

इदानीं द्रव्याणामाहरणक्रममाह, गृह्णीयादिति ।—सुमनाः शोभनचित्तः, पुरुष इति शेषः, तानि पूर्वोक्तानि द्रव्याणि प्रातरुणोदये गृह्णीयादुत्प्राग्य धारयेदिति भावः । कथम्भूतः ? शुचिरिति बाह्याभ्यन्तरेण । आदित्यमुख इति पूर्वोन्मुखः । मौनीत्यजल्पकः । सुवासरे इति विशिष्टनक्षत्रादिसंयुक्ते दिने । किं कृत्वा ? चित्ते ।

ओषध्याहरणे जन्तुपयोगिदेशः ।—

वल्मीककुक्षितानृप-श्मशानोषरमार्गजाः ।

जन्तुवह्निहिमव्याप्ता नौषध्यः कार्य्यसाधिकाः ॥५१॥

प्रयोगविशेषे ओषध्याहरणकालः ।—

शरद्यखिलकार्य्यार्थं याह्यं सरसमौषधम् ।

विरैकवमनार्थञ्च वसन्तान्ते समाहरेत् ॥५२॥

ईश्वरं नमस्कृत्य । * साधारणधराद्रव्यमिति साधारणधरा जाङ्गलानृपमुश्रिता पृथ्वी तन्नीत्यन्नद्रव्यम् । उत्तराश्रितमिति उत्तरदिग्बिभर्गास्थितं, मूलं द्रव्यमिति शेषः । एतेन द्रव्याणां सवीर्य्यत्वं दर्शितम् । केचित् “उत्तराश्रितः” इति पुरुषविशेषणं पठन्ति ; स च उत्तराभिमुखो भूत्वा च गृह्णीयादिति । गृह्णीयादिति हिरुक्तिः निश्चयार्थज्ञापनार्थं, नान्यथा गृह्णीयादित्यस्य तात्पर्य्यार्थः । एके तु गृह्णीयादिति पदं पूर्वश्लोकेन योजनीयमिति वदन्ति ॥ ५० ॥

इदानीं कृत्स्नतस्थानजातद्रव्यस्य परित्यागमाह, वल्मीकेति ।—वल्मीकादिषु स्थानेषु जाता उत्पन्ना ओषधो न कार्य्यकराः । तथा जन्तुवह्निहिमव्याप्ताश्च, अथ व्याघ्रशब्दो जन्तुवादिभिः प्रत्येकसमिसम्बध्यते । कुक्षितं बीभत्सस्थानम् । आनृपं जल-प्रायस्थानं, जलव्याप्तमित्यर्थः । जन्तुव्याप्ता इति किमिजग्धाः, वह्निव्याप्ता दावाग्नि-दग्धाः, हिमव्याप्तास्तृषारामिव्याप्ता । ओषध्य इति बहुवचनेन अत्र पुष्पफलमूल-त्वक्सारनिघ्नांसादयो बीड्व्याः ॥ ५१ ॥

इदानीं स्तुतिविशेषेण विरैकवमनार्थमपि द्रव्याहरणकालमाह, शरदौति ।—शरदि शरत्काले अखिलकार्य्यार्थं सकलप्रयोगनिमित्तं याह्यम् । वसन्तान्ते शीघ्रकाले समाहरेत् गृह्णीयादित्यर्थः । यद्यपि अखिलकार्य्यग्रहणेनैव विरैकवमनमपि प्राप्तमेव, तथापि वाक्यानां द्वैविध्येन सामान्यविशष्टत्वं दर्शितमिति न दोषोऽखिल-

* “यस्यान्तरात् भूमिर्लक्षणमाह—‘गन्धवर्णरसोपेता षड्विधा भूमिरिष्यते’ (सु० सू० ३७५०) तत्र समां गौरीं कृष्णां खोदितौ हृषहतौ बहुजलां कठिनाश्च भूमिभोषधग्रहणाय परीक्षित । तत्र साधारणा भूमिः श्रेष्ठा । सुस्रुतः साधारणां भूमि-माह—‘सर्वलक्षणसम्पन्ना भूमिः साधारणा स्मृता । द्रव्याणि यत्र तत्रैव तद्गुणानि विशेषतः ॥’ (सु० सू० ३७५०) इति” इति गृह्यार्थदी० ।

द्रव्यविशेषे याज्ञाङ्गनिर्देशः ।—

अतिस्थूलजटा याः स्युस्तामां याज्ञास्त्वचो ध्रुवम् ।

गृह्णीयात् सूक्ष्ममूलानि सकलान्यपि बुद्धिमान् ॥५३॥

न्यग्रोधादेस्त्वचो याज्ञाः सारः स्याद्बीजकादितः ।

तालीमादेश पत्राणि फलं स्यात्त्रिफलादितः ॥

धातव्यादेश पुष्पाणि स्रग्धादेः क्षीरमाहरेत् ॥५४॥

इति श्रीदामोदरसूनुना श्रीशार्ङ्गधरेण विरचितायां शार्ङ्गधरसंहितायां

पूर्वखण्डे परिभाषा नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ग्रहणेन । तथा च—“धीमं मञ्जरिकाशेषु वर्षासु दलचर्मणि । वसन्ते मूलमाश्रित्य
त्रिजाणाञ्च रसस्य च ॥” ॥ ५२ ॥

अथानुक्तावयवानां द्रव्याणामङ्गग्रहणमाह, अतिस्थूलेति ।—या बोधयः अति-
स्थूलजटाः पृथुतरमूलाः, तामामीषधानां त्वचो वल्कला याज्ञाः, ताश्च वटनिम्बास-
प्रभृतयः । ध्रुवमिति निययेन । यानि सूक्ष्ममूलानि द्रव्याणि तानि सकलान्यपि
गृह्णीयात्, बुद्धिमानिति सूचयः । सूक्ष्ममूलानि गौक्षुरकगुटकारिप्रभृतीनि । सकला-
नीति मूलपत्रपुष्पशाखान्वितानि इत्यर्थः । “अतिस्थूलजटायाः स्युः” इति केचित्
पठन्ति ; तत्र अतिस्थूलजटानां त्वचो याज्ञा इति दशमूलपत्रे प्रचारः । अथ द्रव्याणां
प्रसिद्धाङ्गाहरणत्वेन विशेषमाह, न्यग्रोधादेरित्यनेन विशेषो
दर्शितः ; न्यग्रोधी वटवृक्षतटादेर्द्रव्यस्यानुकृतात् त्वचो वल्कला याज्ञाः, आदिशब्दात्
प्रलासजम्बुकपीतनकाश्रित्यप्रभृतयः । बीजकादित इति बीजको विजयासारी
शुचविशेषस्तदादितस्तत्प्रभृतेः सारो मध्यस्थितः काष्ठविशेषो याज्ञः, आदिशब्दात्
श्वदिगसनवम्बुकवल्कुलादीनां ग्रहणम् । तालीशादेरिति तालीशः स्वनामधेयात्,
तदादेशत्पूर्वकात् पत्राणि पत्राणि याज्ञाणि ; आदिग्रहणात् पत्रककौसारीनाम-
वल्लीपत्रशाकादयः । त्रिफलादित इति त्रिफला प्रसिद्धा, तदादितस्तत्प्रभृतेः फलं
याज्ञम् ; आदिग्रहणात् प्रियङ्गुककळीक्षमदनफलादयः । तालीशादेशेति चकारादनुक्ता-
न्यपि पुष्पनिर्व्यासगुह्यादीन्यनुमानतो बोद्धव्यानि ॥ ५३५४ ॥

इति श्रीवास्तव्यान्वयप्रकाशवेद्यश्रीभावसिंहात्मजेनादमह्नेन

विरचितायां शार्ङ्गधरदीपिकायां प्रथमखण्डे

परिभाषा नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ भैषज्याख्यानकाध्यायः ।

औषधभक्षणे पञ्चविधकालनिर्देशः ।—

भैषज्यमभ्यवहरेत् प्रभाते प्रायशो बुधः ।

कषायांश्च विशेषेण तत्र भेदस्तु दर्शितः ॥ १ ॥

ज्ञेयः पञ्चविधः कालो भैषज्यग्रहणे नृणाम् ।

किञ्चित् सूर्योदये जाते तथा दिवसभोजने ॥

सायन्तने भोजने च मुहुश्चापि तथा निशि ॥ २ ॥

पूर्वमुक्तं “भैषज्याख्यानकं तथा” इति, इदानीं तद्दर्शयन्नाह, अथेति ।—भैषज्यं
आख्यानकं भक्षणकालादिकथनम् । तदधिकृत्याह, भैषज्यमिति ।—बुधो भैषज्यं
प्रायशो बाहुल्येन प्रभाते अभ्यवहरेत् भक्षयेदित्यर्थः । भिषजा भंस्तुतं द्रव्यं भैषज्यम् ।
बुध इत्यनेन औषधकालान् वीक्ष्य स्वबुद्ध्या शीलयेदित्यर्थः । नात्र प्रभातमेव सर्वेषां
नियतकालम् ; अत एव वक्ष्यते अत्रैव विशेषाः, यथा—कषायांश्च विशेषेणेति ।
विशेषग्रहणेन कषायां प्रातराभ्यवहरेत् नान्यत्र । कषायानिति बहुवचनेन
स्वरमादयः पञ्च कषायसंज्ञका ज्ञातव्याः, तद्वयथा—“स्वरसः कल्कनिर्युष्टौ
हिमफाण्टौ च विभृताः” इति । तत्र औषधभक्षणे भेदः काश्चभेदः दर्शितः कथित
इत्यर्थः, वक्ष्यमाण इति शेषः । इदानीं तद्देमाह, ज्ञेय इति ।—भैषज्यग्रहणे
औषधभक्षणनिमित्ते नृणां पञ्चविधः पञ्चप्रकारः कालः समथो ज्ञेयः । एतच्चाति-
पातिव्याधिषु न कालनियम इत्येके भाषन्ते, यतः “अतिपातिषु रोगेषु नेच्छेद्विधिममं
भिषक् । प्रदीप्तागारवच्छीघ्रं तत्र कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥” (सु० सू० ५५०) इति ।
सत्यं, तथाऽपि कर्तव्यमेतत् । अथ पञ्चप्रकारान् तानाह, किञ्चिदिति ।—तत्र
किञ्चित् सूर्योदये जाते सति एकः कालः, स तु प्रायशः कषायाद्येनादौ प्रतिपादितः,
“कषायांश्च विशेषेण” इति वचनात् । द्वितीयस्तु दिवसभोजने भेषजकालः,
स पञ्चविधो भवति । भोजनाद्ये यथा—लवणार्द्रकं, भोजनमिथं यथा—हिङ्गु-
वृतादिकं, भोजनमध्ये यथा—पानीयभृतिकं, भोजनान्ते यथा—लवङ्गहरीतकादि,
भोजनपूर्वान्ते चेति यथा—धात्रीलोहमन्त्रपिते । तृतीयकालस्तु सन्ध्यासमयभोजने

तत्र प्रथमकालः ।—

प्रायः पित्तकफोद्रेके विरेकवमनार्थयोः ।

लेखनार्थञ्च भैषज्यं प्रभाते तत् समाहरेत् ॥

एवं स्यात् प्रथमः कालो भैषज्यग्रहणे नृणाम् ॥३॥

तत्र द्वितीयकालः ।—

भैषज्यं विगुणेऽपाने भोजनाग्रे प्रशस्यते ।

अरुचौ चित्रभोज्यैश्च मिश्रं रुचिरमाहरेत् ॥ ४ ॥

समानवाते विगुणे मन्देऽग्नावग्निदीपनम् ।

दद्याद्भोजनमध्ये च भैषज्यं कुशलो भिषक् ॥ ५ ॥

ज्ञेयः, सोऽपि त्रिविधः, यासे यासान्तरं भुक्तास्ते चेति ; स जानुमानतो (१) बोद्धव्यः । चतुर्थकालस्तु वारंवारं कथितः, स द्विविधः, तत्र द्रव्यं सामं निरन्नचेति । पञ्चमः कालस्तु निशि रात्रौ बोद्धव्यः ॥ १।२ ॥

अथ तेषां प्रत्येकं विशेषविवरणमाह, प्राय इति ।—पित्तकफोद्रेके सति विरेक-
वमनार्थयोः द्रव्यं प्रभाते भक्षयेदित्यभिप्रायः । यथा—पित्तोद्रेके विरेकः कफोद्रेके
वमनम् इति । उद्रेकः दीर्घोक्तः । * अन्यथा अस्मिन् कालेऽपि वमनविरेकयोर्न
निषेधः । तथा हि “सद्योभुक्तस्य वा जाते † ज्वरे सामं विशेषतः । वमनं वमनार्हस्य
शक्तमित्याह बाष्पटः ॥” इत्यादिबचनात् । वमनातिथीगेन विरेकं सृष्टुं कारयेत्
इत्यपि । न केवलं वमनविरेकनिमित्तं, लेखनार्थञ्च प्रातरिव ; ‡ लेखनं पतलीकरणं
पुरुषाणां दोषाणाञ्च । पुरुषाणां यथा—स्थूलस्य मध्वन्मूनी, दीषाणां यथा—
वायोक्षौलं, पित्तस्य घृतं, कफस्य मधु इति । एवमिति परिसमाप्तः प्रथमः
कालः ॥ ३ ॥

अथ द्वितीयकालमाह, भैषज्यमिति ।—अपाने गुदस्थिते वाते विगुणे क्रुद्धे
भोजनाग्रे भुक्तादौ, भक्षयेत् भैषज्यमिति शेषः । अरुचौ सत्या चित्रभोज्यैर्मनोज्ञ-
व्यञ्जनादिकैः सद्य मिश्रं मिलितं रुचिरं रुचिकरं यथा स्यात्तथा, भक्षयेत् भैषज्यमिति

* “अन्यथा अस्मिन्” इत्यत्र “अन्यस्मिन्” इति पाठो युक्तत्वेन प्रतिभाति ।

† “ज्वरे सामे विशेषतः” इत्यत्र “ज्वरे सन्तर्पणीत्यिते” इति अक्षपाणिः ।

‡ “लेखनार्थं क्षीरकरणैः मेदोरांगादौ दन्तधावनार्थं च” इति गूढाथदी० ।

व्यानकोपे च भैषज्यं भोजनान्ते समाहरेत् ।
 हिक्काक्षेपककम्पेषु पूर्वमन्ते च भोजनात् ॥
 एवं द्वितीयकालश्च प्रोक्तो भैषज्यकर्मणि ॥६॥

तत्र तृतीयकालः ।—

उदाने कुपिते वाते स्वरभङ्गादिकारिणि ।
 ग्रासे ग्रासान्तरे देयं भैषज्यं साम्यभोजने ॥ ७ ॥
 प्राणे प्रदुष्टे साम्यस्य भुक्तस्यान्ते च दीयते ।
 औषधं प्रायशो धीरैः कालोऽयं स्यात्तृतीयकः ॥८॥

तत्र चतुर्थकालः ।—

मुहुर्मुहुश्च ढट्छर्दि-हिक्काश्वासगरेषु च ।
 सान्नञ्च भेषजं दद्यादिति कालश्चतुर्थकः ॥९॥

पूर्ववन्मन्त्रव्यम् । समानवाते नाभिस्थिते वायो विगुणे प्रकुपिते सत्यग्निमान्योऽपि च
 अपिदीपनमग्निकरं द्रव्यं भोजनमन्त्रे दद्यादित्यर्थः । तथा हिक्काक्षेपककम्पेषु सक्तु
 भोजनस्य पूर्वमन्ते च दद्यात् । आक्षेपको वातरोगे पठितः, कम्पोऽपि
 वातरोगे ॥ ४—६ ॥

अथ तृतीयकालमाह, उदाने इति ।—उदाने कण्ठस्थिते वाते कुपिते,
 कथम्भते ? स्वरभङ्गादिकारिणि, स्वरभङ्गो विकृतस्वरत्वं मूकत्वं वा, आदिग्रहणान
 कण्ठगतरोगाणां ग्रहणम् । साम्यभोजने सम्यग्भोजनभोजनेऽयं ग्रासे कवले ग्रासान्तरे
 कवलयोर्मध्ये भैषज्यं देयमित्यभिप्रायः । तथा प्राणे हृदयस्थिते प्राणवाते प्रदुष्टे
 सति साम्यस्य भुक्तस्याहारस्य अन्ते प्रान्ते औषधं देयमित्यर्थः । धीरैरिति गम्भीरबुद्धिभिः
 पुरुषैः । अयं तृतीयः कालः स्याज्जानीयात् । ननु वायोः प्राणादयः पञ्च भेदा दर्शिताः,
 पिक्तकफयोस्तु कथं नोदाहृताः ? उच्यते—अनिलस्तु दोषधातुमलादीनां प्रधानतमः
 प्रकोपकारणश्च, अत एवास्य प्रकोपेण पित्तकफयोः प्रकोप एव “एकः प्रकुपितो
 दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्” इति वचनात् । अन्यदपि “स्वयम्भूरं भगवान् वायुरित्यभि-
 शान्तः । अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट्” ॥ ७८ ॥

अथ चतुर्थकालमाह, मुहुर्मुहुरित्यादि ।—ढट्छर्दिषु सक्तु मुहुर्मुहुर्बोर्बोर्
 सान्नमिति भक्तमिश्रितं द्रव्यं दद्यात् । अकारान् कृषिन्निरन्नव्यवहारान्न दोषः । ढट्
 ढट्छर्दि । गरमव विषम् । इति चतुर्थः कालः ॥ ९ ॥

तत्र पञ्चमकालः ।—

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु लेखने बृंहणे तथा ।

याचनं शसनं देयसननं भेषजं निशि ।

इति पञ्चमकालः स्यात् प्रोक्तो भेषज्यहेतवे ॥१०॥

द्रव्ये रसाद्रिपञ्चकानां सम्बन्धनिर्देशः ।—

द्रव्ये रसो गुणो वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च ।

सम्बन्धेन क्रमादेताः पञ्चावस्थाः प्रकीर्तिताः ॥ ११ ॥

अथ पञ्चमकालमाह, ऊर्ध्वेति ।—रात्रौ पाचनशसनरूपमौषधं चाग्नरहितं द्रव्यमिति भावः । कुत्र ? ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु तथा लेखने बृंहणे च । जत्रु यौवामूलं, तदूर्ध्वविकाराः शिरोरोगादयः । तथा च—“ऊर्ध्वजत्रुगोगग्नौ सायं स्याद्वलेहिका” इत्यादिवचनात् । लेखनं प्रवृद्धरोगाणाम् । ऋष्यानां बृंहणमिति श्लेषदीपवर्द्धनमिति भावः । निश्रीति सामान्येन सकलरात्रावित्येके भाषन्ते, सम्प्रदाये तु प्रथमं यामं वरमित्यर्थः । “इति पञ्चमः कालः स्यात्” इत्यस्य स्थाने “इत्येव पञ्चमः कालः” पाठः साधुः । भेषज्यहेतवे द्रव्यभक्षणात्मनिति इत्येवं पञ्चमः कालः कथितः ॥ १० ॥

इदानीं द्रव्ये रसादीनां विशेषावस्थामाह, द्रव्ये इति ।—द्रव्ये प्रधानभूते रसादयः पञ्चावस्थाः कथिताः, सम्बन्धेन क्रमादिति ज्ञानक्रमात्, ताश्च रसगुणवीर्यविपाक-प्रभावाद्यः । रसाः षट् मधुरादयः, ते तु मधुरास्त्रुजत्रुविकारौषणकषायाः । गुणा विंशतिः, ते यथा—गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-मान्द-सृग्-स्थिर-सूक्ष्म विशदया इति दश । विपर्ययास्तु—लघु-तोष्णीष्ण-ऊष्ण-खुर द्रव-कठिन-मर-स्थूल-पिच्छिलाः ; एवं विंशतिगुणाः कथिताः । वीर्यमिति द्विविधं, शीतमृणालेति । केचिदष्टविधमाहुः,—“शीतोष्णस्निग्धरुचविशदपिच्छिलसृदुतीक्ष्णञ्च” इति, यतः,—“वीर्यमञ्जा गुणा स्ते तेऽपि द्रव्याश्च या मताः” इति वचनात् । विपाकस्तु विविधः, स्वाहस्त्रुकाकृकाकृ इति । केचिद्गुरुलघुपुष्टारिण विविधमाहुः । तत्र मधुरः कटुकश्च, यतो मधुराख्यो गुरुः कटु-काख्या लघ्वरिति । शक्तिशालित्वप्रभावो द्रव्याणां, यथा—मणिमन्त्रौषधीनां विधिः । एतेऽपि रसादयो द्रव्यश्रिता भवन्ति, तस्मात् द्रव्यं प्रधानमित्याहुः । यदुक्तं—“पात्रो नास्ति बिना वीर्योद्दीर्यं नास्ति बिना रसात् । रसो नास्ति बिना द्रव्यात् द्रव्यं श्रेष्ठमतः स्मृतम् ॥” (सु० सू० ४० अ०) इति । द्रव्यमिति सामान्यग्रहणेन सूक्ष्मत्वक्षारनिर्व्यासादीन्यभिधीयते । तत् ग्रथा—“सूक्ष्मत्वक्षारनिर्व्यास-नालस्वरस-प्रज्ञायाः । चाराः श्रीरं फलं पुत्रं भक्त तैत्तानि कथयकाः ॥

मधुरसाः ।—

मधुरोऽम्लः पटुश्चैव कटुतिक्तकषायकाः ।

इत्येते षड्रसाः ख्याताः नानाद्रव्यसमाश्रिताः ॥ १२ ॥

भूतविशेषसंयोगे रसविशेषोत्पत्तिः ।—

धराऽम्बुक्ष्माऽनलजलज्वलनाकाशमारुतेः ।

वायुग्निक्ष्माऽनिलैर्भूत-द्वयैः रसभवः क्रमात् ॥ १३ ॥

भूतविशेषाधिक्ये गुणविशेषः ।—

गुरुः स्निग्धश्च तीक्ष्णश्च रुक्षो लघुरिति क्रमात् ।

धराऽम्बुवह्निपवन-व्योम्नां प्रायो गुणाः मताः ।

एष्वेवान्तर्भवन्त्यन्ये गुणेषु गुणसञ्चयाः ॥ १४ ॥

पत्राणि शुक्लाः कण्टाश्च प्ररोहास्तृड्निदादयः ॥” (च० सू० दीर्घञोवि०) “द्रव्यशब्देन गृह्यन्ते जङ्गमाः पाण्डिवास्तथा ॥” इति । जङ्गमा अपि यथा—“मधूनि गोरसाः पित्तं वसा मज्जाऽष्टगामिषम् । विष्णुवचर्मरेतोऽस्थिस्त्रायुश्शङ्खगन्धाः खराः ॥ जङ्गमेभ्यः प्रयुज्यन्तं केशा लोमानि रोचनाः ॥” (च० सू० दीर्घञोवि०) इति । पाण्डिवाश्च यथा—“सुवर्णं समलाः पद्म लोहाः ससिकताः सुषा । मलःशिलाले मणयो लवणं गेरिकाष्ठने ॥” (च० सू० दीर्घञोवि०) इत्यादि ॥ ११ ॥

अथ तेषां रसादीनां स्वरूपमाह, मधुर इति ।—मधुरादयः षड्रसा द्रव्याश्रिताः सन्नोऽपि विख्याता एव । तत्र मधुरी घृतगुडादिः, अम्लः अम्लोक्तानातुलकादिः, पटुर्लवणपर्यायः स च मैथवादिः, कटुकां मरौचादिः, तिक्तो निम्बादिः, कषायो कूरोतकादिः ॥ १२ ॥

एतेषां मूर्त्तीनाम् (?) उत्पत्तिमाह, धरेत्यादि ।—उत्पत्तिस्तु भूतद्वयेन भवति । भूतं पृथिव्यादि । क्रमादिति युक्तक्रमेण ; तत् यथा—धराऽम्बुभ्यां मधुरो रसः, तेन पृथिव्यम्बुवाहुष्येन मधुररसः उत्पद्यते । एवं आऽनलाभ्यामम्लः, जलज्वलनाभ्यां लवणः, आकाशमरुद्भ्यां कटुकः, वायुग्निभ्यां तिक्तः, आऽनिखाभ्यां कषाय इति रसः ॥ १३ ॥

अथ गुणाः, गुरुरिति ।—गुरुस्निग्धादयो गुणाः क्रमात् धरादीनां कथिताः । क्रमो यथा—धरायां गुरुः, अम्बुनः स्निग्धः, वह्नेर्लोष्णः, पवनस्य रुक्षः, व्योम्नौ लघुरिति । प्राय इति प्रायेण एतेऽत्र मुख्या गुणा गुणानां मध्ये कथिताः ।

वीर्यम् ।—

वीर्यमृणं तथा शीतं प्रायशी द्रव्यसंश्रयम् ।

यत् सर्वमग्निषोमीयं दृश्यते भुवनत्रयम् ।

अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति वीर्याण्यन्यानि यान्यपि ॥१५॥

रसविशेषे विपाकविशेषः ।—

(त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वादुक्लकटुकात्मकः ।)

मिष्टं पटुञ्च मधुरमक्लोऽक्लं पच्यते रसः ।

कषायकटुतिक्तानां पाकः स्यात् प्रायशः कटुः ॥१६॥

रसानां विपाकविशेषे दोषविशेषोत्पत्तिः ।—

मधुराज्जायते श्लेष्मा पित्तमक्लाच्च जायते ।

कटुकाज्जायते वायुः कर्माख्येतानि पाकतः ॥१७॥

पञ्चगुणयुक्तं भुतक्रमेण कृतम् । एष्वेव पञ्चगुणेषु अन्येऽपि कृष्णान्द्रमुदुमभृतिगुण-
संख्या बोद्धव्याः, ते चाप्यनुमानतो निरूपणीयाः । गुणा इति बहुवचनत्वेन व्याख्या-
विकासी चापरो हो दाविश्रत्ययमिति केचित्, सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयो महागुणाः
कथिता इति कैश्चित् ॥ १४ ॥

अथ वीर्यम् ।—वीर्यमिति शक्तिः । तद्विविधमपि प्रायशी बाहुल्येन द्रव्यसंश्रये
द्रव्याधीनं भवति, द्विविधं शीतोष्णभेदेन, यस्माद्भुवनत्रयमग्न्यात्मकं सोमात्मकञ्च
दृश्यते । अत्रैव शीतोष्णवीर्यं अन्यानि यानि वीर्याणि तान्यन्तर्भविष्यन्ति इति केचित्
वदन्ति न स्वमते, यतः प्रायश इति यद्व्येन शीतोष्णं विशिष्टवीर्यम् ।
अन्यानीति खिग्धरूषविशदपिक्खलमुदुतीक्ष्णादीनि । महाभूतानि तु आऽन्वुज्वलना-
काशमाहताः ॥१५॥

अथ विपाकमाह, मिष्टं इति ।—प्रायशी बाहुल्येनात्र विविध एव विपाकः मधुरो-
ऽक्लः कटुक इति । विशिष्टो पाको विपाकः । तत्र निष्टो मधुरः, षटुलंबण
एतयोर्भेदुर इति मधुरविपाक इत्यभिप्रायः । अक्लोऽस्त्रमिति अक्लो रसः अक्लमेव
पच्यते । कटुतिक्तकषायाणां रसानां कटुरिति कटुकविपाकः स्यात् । एतदभिप्रायेण
तत्त्वान्तरे चोक्तं—“त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वादुक्लकटुकात्मकः” (बा० सू० १५०)
इति ॥१६॥

अथ एव विपाकानां विविधं कर्म भवति, तदाह, मधुरादिव्यादि ।—मधुरात्

प्रभावः ।—

प्रभावस्तु यथा धात्री लघुरस्ति रसादिभिः ।

समाऽपि कुरुते दोष-त्रितयस्य विनाशनम् ॥ १८ ॥

क्वचित् केवलं द्रव्यं कर्म कुर्यात् प्रभावतः ।

ज्वरं हन्ति शिरोबद्धा सहदेवोजटा यथा ॥ १९ ॥

रसादिपञ्चकानां पृथक् पृथक् कार्यकारिता ।—

क्वचिद्रसो गुणो वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च ।

कर्म स्वं स्वं प्रकुर्वन्ति द्रव्यमाश्रित्य ये स्थिताः ॥ २० ॥

अधुरविपाकात् श्रेष्ठा प्रजायते प्रकोपमापद्यते इत्यर्थः । अस्त्राद्वैद्यैर्विपाकात् पित्तमिति । कटुकादिति कटुकविपाकात् वायुरिति । एतानि कर्माणि यत् कुर्वन्ति तत् कर्म, कर्मशब्देनाव दोषप्रकोपव्यापारलक्षणं धर्म इति ॥ १७ ॥

इदानीं प्रभावमाह, प्रभाव इति ।—विशिष्टो भाव उत्कृष्टा शक्तिरित्यर्थः । यथा धात्री आमलकौफलं रसादिभिराति रसगुणवीर्यविपाकादिभिः समा समानगुणा लघुरप्यस्ति, तथाऽपि तदेवामलकौफलं प्रभावाद्दोषत्रयनाशनं नियतमेव । इति रसादि-प्रभावः । केवलं द्रव्यप्रभावमाह, क्वचिदित्यादि ।—कुत्रापि केवलमेकद्रव्यमेव प्रभावतः कर्म कुर्यात् । यथा सहदेवोजटा शिरोबद्धा सती ज्वरं हन्तीति । अत एवाश्रित्यो मन्थिमल्लोषधीना प्रभाव इति विस्तृतिः । एके—“प्रभावस्तु यथा धात्री * लकुचस्य रसादिभिः” इति पठन्ति, तत्र—लकुचफलस्य रसादिभिः सह धात्री समानधर्मा, तथाऽपि धात्री प्रभावादेव दोषत्रयनाशनो भवति । लकुचफलं लकुचः क्षुद्रपनसः, “नारङ्गफलम्” इत्येके ॥ १८।१९ ॥

अथ द्रव्याश्रितानां रसादीनां निर्जालकृतामाह, क्वचिदिति ।—द्रव्यमाश्रित्य स्थिता ये रसादयस्तस्त्वं स्वं कर्म प्रकुर्वन्ति । क्वचिद्रस इति, यथा—तित्ता गृध्रौ उष्णवीर्याऽपि पित्तं शमयति । क्वचिद्गुणो यथा—कटुकं मूलकं श्लेष्माणश्च बर्हयति सिन्धुगुणत्वात् । क्वचिद्वीर्यमिति, यथा—सहत् पञ्चमूलं कवायं तित्तागुरुसं वातं शमयति उष्णवीर्यत्वात् । ननु गुणवीर्ययोः को भेदः ? उच्यते—य एव गुणा धात्रीफले त एव हरीतक्या सन्ति, वीर्यविशेषोऽस्ति, यतः उष्णवीर्या हरीतकी शीतवीर्यं धात्रीफलमिति ; तस्माद्विश्रुतं प्रतिपादितमिति न दोषः । क्वचिद्विपाक इति, यद्वैद्य परिणामकाले

* अयमेव पाठः साधुः ।

दोषाणां चयादौ ऋतुषट्कानां हेतुता ।—

चयकोपशमां यस्मिन् दोषाणां सम्भवन्ति हि ।

ऋतुषट्कं तदाख्यातं रवे राशिषु सङ्गमात् ॥२१॥

राशिविशेषे ऋतुविशेषः ।—

ग्रीष्मो मेषवृषौ प्रौक्तौ प्रावृट् मिथुनकर्कयोः ।

सिंहकन्ये स्मृता वर्षास्तुलाहृदिकयोः शरत् ॥

धनुर्ग्राहौ च हेमन्तो वसन्तः कुम्भमीनयोः ॥२२॥

स्वभाविकं रसं परित्यज्य रसान्तरं भजते तत्र विपाक इति संज्ञा, यथा—शुद्धी कटुका-
ऽपि वातं शमयति मधुरपाकत्वात् । कृत्रिमं शक्तिरिति, यथा—शक्तिः प्रभावतः, यत्नी
रसयुग्मवीर्यविपाकैर्यत् कर्म कर्तुं न शक्यते तत् कर्म कुर्वन् प्रभाव इति संज्ञा, यथा—
खेदिरः कुष्ठं हन्ति । अत एवाह सुश्रुतः,—“अमीमांस्यान्यच्चिन्यानि प्रसिद्धानि
स्वभावतः । आगमेनोपवांज्यानि भेषजानि विचक्षणैः ॥” (सु० सू० ४० च०) इति
द्रव्यादिकथनम् ॥२०॥

अथ दोषोपचयप्रकाशोपशमान् दर्शयन्नाह, चयकोपशमा इति ।—दोषाणां
वातादीनां चयकोपशमा इति अथः सचयः, स च संहतिरूपा हृदिः, “स्वस्थानहृदिः”
इत्यर्थः । कोपः प्रकोपः, स च प्रविलयरूपा हृदिः प्रकोपः । शमं इत्युपरमः,
यथा—वातापत्तकफानां शरद्धेमन्तग्रीष्मेषु यथामहामुषशमः स्वभावत एव । तत्
ऋतुषट्कं ग्रीष्मप्रावृट्पुशरद्धेमन्तवसन्ताख्यमित्यर्थः । कुत इत्याह—रवेः राशिषु
सङ्गमादिति * रवेः सूर्यस्य राशिषु मेषादिषु सङ्गमात् प्रवेशादित्यर्थः ॥ २१ ॥

दृढानीऋतुषट्कं राशिद्वयेन दर्शयन्नाह, ग्रीष्म इति ।—मेषसङ्गान्तिप्रभृति द्वेष-

* “जीवितमरणे च मनुष्याणामाश्रयति स सृष्ट्यासापि कलां न लीयते
इति कालः, कलयति उत्पादयति मरणं नयति वा भुतानीति कालः ।
तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेण अक्षिनिमेषिकाकाष्ठाकलामुहूर्ताहो-
रात्रपञ्चमाससर्वथनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति । तत्र लघुचन्द्रोच्चारणमावो-
ऽक्षिनिमेषः, पञ्चदशाक्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठाः कला, विंशतिकलो मुहूर्तः
कलादशभागश्च, विंशद्मुहूर्तमहोरात्रं, पञ्चदशाहोरात्राणि पञ्चः, स च द्विविधः,
युक्तः कृष्णश्च, तौ मासः, तत्र माघादशो द्वादश मासाः, दिमासिकम् ऋतुं
कला षड्ऋतवो भवन्ति” इति गृह्यार्थदीपिका ।

ऋतुविशेषे दीपाणां चयकोपप्रश्नाः ।—

श्रीषे सञ्चीयते वायुः प्रावृट्काले प्रकुप्यति ।

वर्षासु चीयते पित्तं शरत्काले प्रकुप्यति ॥

हेमन्ते चीयते श्लेष्मा वसन्ते च प्रकुप्यति ॥२३॥

सङ्क्रान्त्यवसानं श्रीष-ऋतुः प्रोक्तः कश्चित् इत्यर्थः । एवं निष्पन्नादिककालं प्रावृट्, सिंहादिजन्मान्तं वर्षा-ऋतुः, तुलादिजन्मान्तं शरत्, चतुरादिजन्मान्तं हेमन्तः, याज्ञी मकरः, कुम्भादिजन्मान्तं वसन्त इति । एतेन राशिचर्येण हिमासिकमपि ऋतुवट्कं भवति । तद्दोषचयादिनिमित्तमभिहितं तत्त्वज्ञानार्थम् । यदुक्तं सुश्रुतेन—“दीपकोप-चयप्रकोपोपप्रश्ननिमित्त, ते तु भाद्रपदाद्येन हिमासिकेन व्याख्याताः” (सु० सू० ६ अ०) वर्षादंशो यथासङ्गताः । ये तु तन्नास्तरे—“मासैर्द्विसङ्केताभिधानैः” (वा० सू० ३ अ०) इत्यादिनां त्रिशिरवसन्तशीषवर्षाशरहेमन्ता भवन्ति, ते तु शीतोष्णवर्षलक्षणाद्यन्त्रादित्ययोः कालविभागकरत्वाद्यायननिमित्ताः, यतो “मासराशिस्वरूपाख्यातौ यज्ञचण्डयम्” इति वचनात् । ननु प्रावृट्पूर्वार्धोऽपि को भेदः ? उच्यते—* प्रथमः प्रवृत्तः कालः प्रावृट् तस्मानुत्पन्नो वर्षा इत्यत्र भेदः । एवं “त्रिशिरे शीतमधिक” (सु० सू० ६ अ०) “रीत्यसादानकालगन्” (वा० सू० ३ अ०) इत्यनेन त्रिशिरहेमन्तयोरपि भेदोऽस्ति ॥२३॥

पूर्वमुक्तं चयकोपप्रश्ना ऋतवो भवन्ति, तयोर्मध्ये चादौ सुश्रुतादिभ्योऽप्युक्तत्वात् केवलप्रकोपि ऋतुमाह—“ते त्रिशिरवसन्तशीषवर्षाशरहेमन्ताः, † तेषां माघफाल्गुनी त्रिशिरः, चैत्रवैशाखौ वसन्तः, ज्येष्ठाषाढौ श्रीषः, श्रावणभाद्रपदौ वर्षाः, आश्विनकार्तिकौ शरत्, मार्गशीर्षो हेमन्त इति । ते एते शीतोष्णवर्षलक्षणा-द्यन्त्रादित्ययोः कालविभागकरत्वाद्यने हे भवतो दक्षिणसुतरश्च ; तथोर्दक्षिणं वर्षाशरहेमन्ताः, तेषु भगवानाख्यायते सोमः, अस्मत्तवणमधुराश्च रसाः बलवन्तो भवन्ति उत्तरोत्तरश्च सर्वपाणिनां बलमभिवर्द्धते । उत्तरश्च त्रिशिरवसन्तशीषास्तेषु भग-वानाख्यायते अर्कः तिक्तलषायकटुकाश्च रसा बलवन्तो भवन्ति उत्तरोत्तरश्च

* “प्रथमः प्रवृत्तेः कालः” (अ० वि० रीमभिप०) इति पाठः ।

† “तेषां तपस्तपस्यौ त्रिशिरः, सङ्क्रान्त्यवसानौ वसन्तः, शुचिपुत्रौ श्रीषः, नभो-नभस्यो वर्षाः, इषोर्जी शरत्, सहःसहस्री हेमन्तः इति” सूत्रे “तेषाम्” इत्यादि-“हेमन्त इति” इत्यत्राने पाठः ।

प्रायेण प्रथमं स्याति सञ्चयनिव समीरणः ।

शरत्काले वसन्ते च पित्तं प्राण्ड-कृतौ कफः ॥२४॥

सर्वप्राणिनां वसन्तपक्षीयते । भवति चात्र—श्रीतः श्लेष्मन्मूर्ध्नि निवस्यन् शीतवत्पि । तावन्मात्रेण संश्लिप्तं वायुः पालयति प्रजाः ॥” (सु० सू० ६५०) इति । अतस्तानाह, शीते इति ।—वायुर्गर्भे सञ्चिद्यते सञ्चयमापद्यते इत्यर्थः । एवं पित्तश्लेष्माद्यावपि स्वस्व-कृतुषु सञ्चयीयावापद्यते । सम्यग्-वृद्धं सञ्चयकारणाद्यं बोध्यम्, तत् सञ्चयकारणं तन्मात्रादवगन्तव्यम् । तद्वद्व्या—“ता एवौषधयो निदाघे नि, सारा कथा अतिमात्रं कथ्यो भवत्यापद्य, ता उपयुज्यमाना सृष्ट्यप्रतापोप-शोषितदेहानां देहिनां-रौक्ष्याद्भ्रष्टत्वादेवद्याह वायो, सञ्चयमापादयति” (सु० सू० ६५०) इति । ननु शीतस्य वायोदृश्ये शीते सञ्चय कथं सम्भवति ? उच्यते—सर्वेषु वातगुणेषु रौक्ष्यं प्रधानं, तेनैवधीनान्मथरौक्ष्येण कृत्वस्य वायोर्गर्भे सञ्चय स्यादित्यदोषः । यदेवं सञ्चयको भवति प्राण्डकालं प्रकृष्यतीति प्राण्डकालं प्राहाय, प्रकृष्यतीति प्रशब्दाऽयं प्रकर्षकारस्य सूचयति, तद्वद्व्या—“न सञ्चयः प्राण्डपि चाल्यते जलोपक्षिन्नायां भूमौ क्लृप्तदेहानां प्राणिना शीतवातवर्धरितो वातिकान् व्याधीन् जनयति” (सु० सू० ६५०) । वायुः प्रकोपमापद्यते इत तात्पर्यायं । एवं पित्तमपि वर्षासु सञ्चितं शरत्काले प्रकृष्यति । कफोऽपि हिमने सञ्चयमापद्य वसन्ते प्रकोपं करोतीत्यर्थः । अनयो कारणं तन्मात्रादवगन्तव्यम् । केषाञ्चित् ज्ञापनार्थं लिख्यते, यथा—“तत्र वर्षास्त्रौषधयस्तद्व्याख्या बोध्या आपश्चाप्रसन्नाः क्षीतमलप्रायाः, ता उपयुज्यमाना नभसि मेघावतते जलप्रक्षिन्नायां भूमौ क्लृप्तदेहानां प्राणिना शीतवातविष्टाभताद्यौना षट्स्थान्त, विदाहान् पित्तसञ्चयमापादयन्ति, स सञ्चय शरदि प्रविरलमत्र विद्यत्पश्यन्नात पक्षे अर्ककिरणप्रविलासितं पेतिकान् व्याधीन् जनयति । ता एवौषध्य कालं परिणामात् परिणतयोव्या वलनयो हिमने भवन्त्यापद्य प्रमत्ता षट्स्थान्त अत्यर्थं मूर्ध्नि, ता उपयुज्यमाना मन्दकिरणत्वाद्वातो सतुषारपवनोपलाभतदेहानां देहिनामविदग्धा कोहात् श्लेष्मात् गौरवादुपनिपाद्य श्लेष्मस्य सञ्चयमापादयन्ति, स सञ्चयो वसन्तेऽर्ककिरणप्रविलासितः ईषत्सञ्चदेहानां देहिना श्लेष्मिकान् व्याधीन् जनयति” (सु० सू० ६५०) । इत्येवं दीपाणां सञ्चयप्रकोपो दाश्र्म्यो । ननु दोषाणां सञ्चितेषु कृतुषु कथं न प्रकोपः ? इति । उच्यते—शीतस्य वायोर्गर्भे स्याति उष्ण-त्वात्किमेव काले न प्रकोपः । सञ्चयसामगमपि पित्तम् अतुशेत्वात् माकम्

यमदंष्ट्रा ।—

❖ कार्तिकस्य दिनान्यष्टावष्टाग्रहायणस्य च ।

यमदंष्ट्रा समाख्याता स्वल्पभुक् चात्र जीवति ॥

दोषाणां चयादौ विहाराहारादीनामापि हितता ।—

चयकोपशमान् दोषा विहाराहारसेवनैः ।

समानैर्यान्त्यकालेऽपि विपरीतैर्विपर्ययम् ॥२५॥

काले न प्रकृष्यति ऋत्वादिस्वभावात् । कफस्य मचीयमानस्य हिमानीवशात् तदानीं न्यानतेव भवति न प्रकोपः । वसन्ते च प्रकृष्यति इति च-कारयङ्गणेनाव सञ्चयादिकमहोरात्रावपि जानीयात् । तद्वदथा—“तत्र पूर्वाह्ने वसन्तस्य लिङ्गं, मध्याह्ने शीतस्य, अपराह्णे प्रातः, प्रदोषे वार्षिकं, शरदमर्द्धरात्रे, पत्युषमि हैमन्तमुप-लक्षयेत्” (सु० सू० ६ अ०) । अथ दोषाणामुपशममाह, प्रायेणेत्यादि ।— समीरणो वायुः, शरत्काले स्वयमेव कारणं विना प्रशमं याति प्राप्नोति ; स्वयमेवेति स्वभावतः स्वलक्षणात् इत्यर्थः । स्वलक्षणं पुनरपि शीतोष्णवर्षादि । एवं वसन्तेऽपि पित्तं, प्रातृकाले कफ इति । अत्र यत् शरद्वसन्तप्रातृ चयोपशमार्थमुक्तं तद्वाग्नि-परिवर्त्तनात्, अन्यथा तन्त्रान्तरविरोधः । प्रायेणेत्यङ्गणात् दोषज्ञा अपि व्याधयः प्रशमं याति स्वयमेवेति सूक्ष्मतः । तथा हि—तत्र “पेत्तिकानां व्याधौनामुपशमो हैमन्ते, श्लेष्मिकाणां निदाघं, वातिकानां शरदि स्वभावत एव” (सु० सू० ६ अ०) । अत्र शीतोष्णवर्षालक्ष्यकालप्रभावादुपशमः ; तस्मात् पूर्वभ्यो न विरोधः ॥ २३२४॥

इदानीं दोषाणामकालेऽपि चयादिनिमित्तं हितमाह, अथेत्यादि ।—दोषा वातादयः समानैर्विहाराहारसेवनैः कृत्वा चयादौ याति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । विपरीतै-रसमानैः कृत्वा अकाले अपशम ऋतावपि विपर्ययं नाशं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । समानैरिति दोषानुरूपकारणैः ; तद्वदथा—लघुकृच्छशीतादयो वातगुणसमानाः, विदाहिकटु-काक्लोणादयः पित्तगुणसमानाः, मधुरस्निग्धशीतादयोऽपि श्लेष्मगुणसमाना इति । एषां विपरीतैर्विपर्ययैः ; यथा—गुरुस्निग्धोणादयो वातगुणविपर्येयाः, अविदाह-मधुरशीतादयः पित्तगुणविपरीताः, तिक्तोष्णरूक्षादयः श्लेष्मगुणविपरीताः इति ॥२५॥

❖ श्लोकोऽयं प्रचिन्न इति केचित्प्रचक्षते ।

वाथीः प्रकोपे प्रशने च कारणाणि ।—

लघुलक्ष्मिताहारादतिशीताच्छ्रमात्तथा ।

प्रदोषे कामशोकाभ्यां भी-चिन्ता-रात्रिजागरैः ॥२६॥

अभिघातादपां गाहाज्जीर्णोऽन्ने धातुमङ्गयात् ।

वायुः प्रकोपं यात्येभिः प्रत्यनीकैश्च शाम्यति ॥२७॥

पित्तस्य प्रकोपे प्रशने च कारणाणि ।—

विदाहिकटुकाम्लोष्ण-भोज्यैरत्युष्णसेवनात् ।

मध्याह्ने क्षुत्तृषो रोधाज्जीर्यत्यन्नेऽर्द्धरात्रके ॥

पित्तं प्रकोपं यात्येभिः प्रत्यनीकैश्च शाम्यति ॥२८॥

अथ दोषाणां प्रत्येकं प्रकोपशमकारणान्याह, लघ्विधादि ।—लघ्वादिकृतसङ्ख्यान्तैः कारणैर्वायुः प्रकोपं याति प्राप्नोतीत्यर्थः । एतेषां प्रत्यनीकैर्विपरितेजः शाम्यतीत्यर्थः । आहारशब्दो लघ्वादिविभिः प्रत्येकं सम्बध्यते, तेन लघ्वाहारात् कृदाहारात् मिताहारादित्यर्थः । लघ्वात् पाकतः, मितं मूलं, कृत्स्नमस्त्रिगुणम् । अतिशीतादित्यतिशीतसेवनात् । अतिशमादिति अतिशरीरायासात्, अतिशब्दोऽत्रापि बोद्धव्यः । प्रदोषे रजनौमुखे । कामशोकाभ्यामिति कामोऽभिलाषः स च स्त्रीसङ्गल्परूपः, अभिमतकामिन्याय-प्राप्तिरिति भावः, शोको धनवन्धनाशादिना, भीर्भयं, कामशोकभयादायुरिति । अभिघातः शस्त्रलग्नादीनाम् । अपां गाहादतिजलावगाहात्, अतिशब्दोऽयं पूर्वादन्वयसंज्ञे । जीर्णेऽन्ने आहारे परिपाकं गते सति । धातुमङ्गयादिति रसादिधातूनां क्षीणत्वात्, यदुक्तं—“धातुक्षयात् क्षुते रक्ते मन्दः सञ्जायतेऽनलः । पवनस्य परं कापं याति तस्मात् प्रव्रतः ॥” (सु० सू० १४ अ०) इत्यादि । प्रत्यनीकैरिति लघ्वादौर्णां विपरितेजैः, तेऽव्यनुमानतोऽवगन्तव्याः ॥२६।२७॥

अथ पित्तं—विदाहीति ।—विदाहिकटुभोज्यादिविभिः कारणैः पित्तं प्रकोपं याति । एषां प्रत्यनीकैर्विपरितेजैः कृत्वा शाम्यतीति । भोज्यशब्दो विदाहादिविभिः प्रत्येकमभि-सम्बध्यते, तेन विदाहिकटुभोज्यैरस्रभोज्यैरुष्णभोज्यैरिति । यथा—विदाहीति भिन्नार्थत्वकं ज्ञेयं, तेन विदाहिवंशकरीरादि पित्तकरत्वात् । स्रग्भोजनञ्च बोध्यात् अर्थाद्वा । अत्युष्णसेवनादित्यातप्राप्तीनाम् । क्षुत्तृषो रोधादिति क्षुत् क्षुधा तला

कफस्य प्रकीपे प्रसूते च कारणाणि ।—

मधुरस्निग्धशोतादि-भोज्यैर्दिवसनद्रयां ।

मन्देऽग्नी च प्रभाते च भुक्तमात्रे तथाऽश्रमात् ॥

श्लेष्मा प्रकीपं यात्येभिः प्रत्यनौकैश्च शान्ति ॥२६॥

इति श्रीटामोदरसूनुना श्रीशङ्करेण विरचितायां शङ्करसंहितायां

पूर्वखण्डे भैषज्याख्यानकं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथ नाडीपरीक्षादिविधिरध्यायः ।

नाडीपरीक्षास्थानम् ।—

करस्याङ्गुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी ।

तच्चेष्टया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पण्डितैः ॥१॥

शोधात् ढट् ढवां तस्या अशरीरान्, अशरीरो विगधारणम् । एके “तुत्तृषो रीषात्” इति पठन्ति ; तत्र—तुत्तृषोरिति वेगात्, रीषात् क्रोधात्, तथा च—“क्रोधात् पित्रं प्रकुप्यति” इति । प्रत्यनीकेरिति विदादिभोज्यादीनां विपरीतेरिति सुगमम् ॥२८॥

अथ कफस्य—मधुरेति ।—मधुरभोज्यादिभिः श्लेष्मा प्रकीपं याति । एषां प्रत्यनौकैः नाशकरैः शान्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः । भोज्यशब्दोऽत्रापि मधुरादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तेन मधुरभोज्यैः स्निग्धभोज्यैः शोतादिभोज्यैश्च । आदिशब्दात् शुक्लश्लादीनां यद्वचम् । दिवसनद्रया कफवृद्धिः स्यात्, यतः,—“राक्षो जागरणं क्वं स्निग्धं प्रसूनं दिवा” (च० सू० चष्टौ निन्दितोय०) इति वचनात् । अत्रमादिति अव्यायामात् “व्यायामः कफनाशनम्” इत्युक्तेः ॥२९॥

इति श्रीबालव्याख्यपञ्चाशद्वैद्यश्रीभावसिंहकामजनादेनसंज्ञेन विरचितायां शङ्कर-

दीपिकायां प्रथमखण्डे भैषज्याख्यानकं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

पूर्वमुक्तं नाडीपरीक्षादिविधिरिति अगमनं नाडीपरीक्षासाधु—अथेति । करस्येति । जीवसाक्षिणी वा धमनी सा करस्याङ्गुष्ठमूलेऽस्तीति क्रियापदं बोध्यं, पण्डितैः

वातकोपे पित्तकोपे च नाडीलक्षणम् ।—

नाडी धत्ते मरुत्कोपे जलौकासर्पयोगतिम् ।

कुलिङ्गकाकमण्डूक-गतिं पित्तस्य कोपतः ॥ २ ॥

श्लेष्मकोपे विदोषकोपे च नाडीलक्षणम् ।—

हंसपारावतगतिं धत्ते श्लेष्मप्रकोपतः ।

लावतित्तिरवर्त्तीनां गमनं सन्निपाततः ॥ ३ ॥

विदोषकोपे नाडीलक्षणम् ।—

कदाचिन्मन्दगमना कदाचिद्देगवाहिनी ।

विदोषकोपतो ज्ञेया—” ॥ ४ ॥

तत्रैतया कृत्वा कायस्य शरीरस्य सुखं दुःखञ्च ज्ञेयम् इति । धमणीति शब्दवाहिनी
नाडी, धमनी जीवनं तनो इत्यतो धमनी जीवसाक्षिणीति प्राणवायोः साक्षिभूता,
अत एव कुवचिजीवनाडीति कथिता । तथा हि—“प्रदर्शयेद्दोषनिजस्वरूपं व्यक्तं
समस्तं युगलौकतञ्च । मूकस्य मुग्धस्य विमोहितस्य दोषः पदार्थानिव जीवनाडी ॥”
इति । लक्षणमपि च—“अस्यः प्रकोष्ठवाह्यस्य मध्यमानामिकाश्रिता । जीवनाडीति
सा प्रोक्ता नन्दिनी तत्त्ववेदना ॥” इति । तत्रैतया दुःखमिति दोषादिबैवस्थ्यधर्मः,
यतः “रोगस्तु दोषवैवस्थ्यम्” (वा० सू० १ प०) इत्यादिवचनात् । पण्डितैरिति प्रवीणैः
नाडीयद्वयस्य समयविशेषैरित्यर्थः । यतः,—“सद्यःस्नातस्य सुप्तस्य क्षुत्तृणा-
स्तपशीलिनः । व्यायामशान्तदेहस्य सम्यक्कुनाडी न युज्यते ॥” इति ॥ १ ॥

इदानीं दोषाणां निजस्वरूपं चक्षमाह, नाडीति ।—नाडी मरुत्कोपे वात-
प्रकोपे जलौकासर्पयोगतिं गमनं धत्ते । जलौकासर्पयोगतिरित्यभिप्रायः ;
तद्वदत्रापि । पित्तप्रकोपतस्तु कुलिङ्गादीनां गतिं धत्ते ; कुलिङ्गो गृहचटकः ।
काकमण्डूकौ प्रसिद्धौ, एतेषामुत्प्लवनगतिरित्यर्थः । एके कुलिङ्गस्याने “कलापी”
इति पठन्ते व्याख्यायन्ति च—कलापी मयूरः । श्लेष्मप्रकोपात् हंसपारावतगतिं
धत्ते, अत्रापि नाडीति सूच्यते । एतेन मन्दगतिवाहिनी भवतीत्यभिप्रायः ;
यतो हंसपारावतयोरपि मन्दगतिः स्यात् । अथ सन्निपातसंसर्गयोगीकौचक्षमाह,
लावति ।—सन्निपाततस्त्रिदोषकोपात् लावादीनां गमनं नाडी धत्ते इति पूर्वादनु-
वर्त्तते । लावतित्तिरौ प्रसिद्धौ । वर्त्तीति वर्त्तिका “धरधर” शब्दवाच्या । गडूककाभि-
धानेत्यन्वे । एतेषां सीतास्ता गतिः सूच्यते । विदोषकोपादपि नाडी कदाचिन्मन्द-
गमिनी कदाचिद्देगवाहिनीति ॥ २—४ ॥

असाधनाडीलक्षणम् ।—

“—इन्ति च स्थानविच्युता ।

स्थित्वा स्थित्वा चलति या सा स्मृता प्राणनाशिनी ।

अतिक्षीणा च शीता च जीवितं हन्त्यसंशयम् ॥५॥

ज्वररोगे कामक्रोधादौ च नाडीलक्षणम् ।—

ज्वरकोपेन धमनी सोष्णा वेगवती भवेत् ।

कामक्रोधाद्देगवद्वा क्षीणा चिन्ताभयप्लुता ॥६॥

मन्दाग्निधातुक्षीणादौ नाडीलक्षणम् ।—

मन्दाग्नेः क्षीणधातोश्च नाडी मन्दतरा भवेत् ।

असृक्पूर्णा भवेत् कोष्णा गुर्वी सामा गरीयसी ॥७॥

इदानीमसाध्याया लक्षणमाह, इतीति ।—स्थानविच्युता स्वस्थानास्थिता, नडीति शेषः, इतीति चातुरमिति शेषः । या स्थित्वा स्थित्वा चलति गच्छति साऽपि प्राणनाशिनी ज्ञेया, एतेन कदाचिद्वदति कदाचित्रं वदतीत्यभिप्रायः । अतिक्षीणा चेति विभक्त्युक्तं, अतिशीता चेति हिमस्यशैवत् । असंशयं निश्चयेन जीवितं प्राणान् हन्ति, नाडीति शेषः । अकारात् कुटिला श्रोत्रोर्धोगमनशीलाऽपि प्राणनाशिनी बोद्धव्या । तथा चोक्तं—“नाडी मध्यवह्नाऽङ्गुलं मूले याऽत्यथमुच्छलति । शनैरुर्धोगमना कुटिला हन्ति मानवम् ॥” इति ॥५॥

अथ ज्वरादीनां धमनीलक्षणमाह, ज्वरकोपेनेति ।—ज्वरकोपेन सामान्यज्वरस्य प्रकोपणं कृत्वा धमनी नाडी सोष्णा उष्णयुक्ता भवेत्, ज्वरस्थीणात्मकत्वात् ; न केवलं सोष्णा, वेगवती भवेत्, ज्वरस्य देहं हिंन्त्यमनःसन्तापित्वात् । कामक्रोधादपि वेगा वेगयुक्ता अनौष्ठेन ज्वरार्द्रा । कामोऽभिमतकामिन्याद्यप्राप्तिः । क्रोधो हिंसात्मकादिरूपः । चिन्ताभयप्लुतेति चिन्ताभययुक्ता नाडी क्षीणा सुप्तज्ञा ज्ञेया । चिन्ता मनोदेगरूपा । भयं शत्रुप्रभृतोनाम् । एकं “चिन्ताभयप्रमात्” इति पठन्ति, चिन्ताभयप्रमात्नाडी क्षीणा सुप्तज्ञा ज्ञेया । चिन्ता मानसोदेगरूपा ज्ञेया । तत्र समात् श्लोकेः ॥६॥

मन्दाग्नेः क्षीणधातोश्च पुरुषस्य नाडी मन्दतरा भवेत् अत्यथे मन्दगतिरित्यर्थः । असृक्पूर्णा रुधिरप्रकोपात् पूरिता नाडी कोष्णा गुर्वी च भवेत् । कोष्णा ईषदुष्णा गुर्वी गुरुतरा पाषाणवदित्यर्थः । एकं “कोष्णा” इति पठन्ति । सामा सामयुक्ता

दीप्ताग्न्यादौ नाडीलक्षणम् ।—

लघ्वी वहति दीप्ताग्नेस्तथा वेगवती मता ।

सुखितस्य स्थिरा ज्ञेया तथा बलवती स्मृता ।

चपला क्षुधितस्यापि तप्तस्य वहति स्थिरा ॥८॥

दृढलक्षणम् ।—

दृढाः स्वजातयोऽव्यङ्गाः पटवो निर्मलास्वराः ।

सुखिनोऽश्वत्थारूढाः शुभ्रपुष्पफलैर्युताः ॥९॥

नाडी गरीयसी स्यात् अत्यर्थं गुर्वी भवतीति भावः । आमेन सह वर्तते इति सामा ; आमोऽपरिपक्वः, तत् यथा—“ज्वरानलदौर्बल्याद्विपक्वस्तथी रसः । स आमभक्तो टङ्गे सर्वदोषप्रक्षोपकः ॥” इति । अथवा आमयष्टणेन आमादिवयमन्नजमजीर्णं गृह्यते, तेन तैद्युक्तेत्यर्थः । तच्च आमं विदग्धं विष्टम् चेति । एके “सामा गरीयसी” (१) इति पठन्ति, आमेन सह वर्तते इति सामा तच्च दंष्ट्रादृष्टतादयः * । यतः “आमेन तेन संयुक्ता दंष्ट्रा दृष्ट्या दूषिताः । सामा दृष्ट्यादृष्ट्यते यच्च रोगाक्षदंष्ट्रा ॥” (वा० सू० १३ अ०) इति । एतेन किमुक्तं भवति, सामदोषात् + सामदृष्ट्यात् सामदूषितात् सामरोगाच्चति । दृष्ट्या रसादर्थो वातव* । दूषितानि मलमुद्रपङ्क्तौनि ॥७॥

दीप्ताग्नेः प्रवलाग्नेः पुरुषस्य लघ्वी वेगवती च वहति । लघ्वी तुल्यवत्, नैव वेग-युक्ता ज्ञेया न तु पूर्वोक्ता ज्ञेया । सुखितस्य स्वस्थस्य स्थिरा प्रकृतिस्था भवतीत्यर्थः । न केवलं स्वस्था तथा बलवती बलयुक्ता, न क्षीणेत्यभिप्रायः । क्षुधितस्य क्षुभ्रक्षुधित-स्यापि चपला चञ्चला, न मत्तेत्यर्थः ; एतेन प्रकृतिस्थिताद्यिरिति भावः । तप्तस्य ओजनादिना सन्नृष्टस्य पुरुषस्य स्थिरा निश्चलैव ॥ ८ ॥

इति नाडीपरीक्षा ।

पूर्वमुक्तमादिगणनात् दृढलक्षणप्रादीनां लक्षणकथनम् । अथ दृढलक्षणान्याह, दृढा इति ।—एवंविधा दृढा यदा भिषजं वेद्यं प्राप्ताक्षदा रोगिणं आनृतस्य सुखवृत्तवे भवतीत्यष्टाहार्यम् । वेद्याह्वानाय प्रश्लाय आगताः पुरुषा दृढाः कीदृशास्मानाह, स्वजातय इति ।—स्वस्था जातो स्वगोत्रे वा जाता-

* दृष्ट्यादयः इति साधुः ।

+ “सामदोषात्” इत्यादि व्याख्यानमसमीचीनम् ।

सुजातयः सुचेष्टाश्च सजीवदिशि सङ्गताः ।

भिषजं समये प्राप्ता रोगिणः सुखहेतवे ॥१०॥

स्वजातयः । एके “सुजातयः” इति पठन्ति, तत्र सपत्न्या इत्यर्थः । यदुक्तं—“पाषण्डाश्चमवर्णानां सपत्न्याः कर्मसिद्धये । त एव विपरीताः स्युर्दृताः कर्मविपत्तयः ॥” (सु० सू० २६ अ०) इति । अन्यथा इति ।—व्यङ्गा हस्ताद्यवयवहीनाः न व्यङ्गा अन्यथा । पटव इति प्रतीक्षा । एतेन विश्वदिक्कालज्ञाः कथिताः । निर्मलाम्बरा इति शुभवस्त्रधारिणः, तेन रक्तकण्ठावस्त्रादिरहिता इत्यर्थः । सुखिन इति अदीनाः । अश्वत्थारुढा इति अश्वत्थारुढाः, वृषारुढाश्च । आ समन्तात्कारण रुढाः इति यद्गृह्यं तन्महिषोष्ट्र-खरादिधाननिषिध्यम् । गन्धपुष्पफलैर्युता इति श्वेतपुष्पैरभिः सारफलैश्च मथुक्ता इत्याभिराधः । एतेन रक्तपीतकणादिभिः सारफलरहिता (१) इत्यर्थः, यत एवैवधानि पुष्पफलान्यमङ्गलानि भवन्ति । तथा चोक्तं—“तैलकदर्शनदिग्धाङ्गा रक्तस्वगन्धलपनाः । फलं पङ्कमसारं वा गृहीत्वाऽन्यच्च तद्धिषम् ॥ वैद्यं य उपमर्षन्ति दृतास्ते चापि गर्हिताः ॥” (सु० सू० २६ अ०) इति । सुजातय इति शोभना जातियेषां ते तथाविधाः । एतेनान्यजातिजनिता निषिद्धाः, पाप-कृतगर्भोत्पत्तिरहिता इत्यर्थः । यद्वा—विज्ञातजातय इति पिण्डार्थः । सुचेष्टा-इति चेष्टाश्च कायकर्ता व्यापारः, शोभनव्यापार इत्यभिप्रायः ; शोभनगृह्यं दृष्टेष्टित्यवयवार्थम् । तथा चोक्तं—“किन्दन्तकृष्णकाष्ठानि मृगश्रोत्रो नासिका क्षणम् । वस्त्रान्तानामभिकांशेन खरीमदशास्रशः ॥ स्रोतोऽवरोधच्छङ्खमूर्धोरः-कृन्ति पाणयः । कपालोपलभस्यास्थित्वाङ्गारकराश्च ये ॥ बिलखन्तां महौ किञ्च-त्पुञ्जन्तो लोष्टभेदिनः ॥” (सु० सू० २६ अ०) इत्यादि दुष्टेष्टिता दर्शिताः । सुचेष्टाश्चैति चकारगृह्यात् सुदर्शनाः सुवेशा अपि गृह्यन्ते, अन्यथा गर्हिताः स्युः । तथा हि—“नपुंसकः स्त्री बहुवी नेककार्या असूयकाः । गर्दभीष्ट्ररथप्राप्ताः प्राप्ता वा स्युः परम्परा ॥ पाशदण्डायुधधराः पाण्डुरेतरवाससः ॥ आर्द्रजीर्णोपसव्येकमलिन-वस्त्रवाससः । न्यूनाधिकाङ्गा उद्दिग्ना विकृता रौद्ररूपिणः ॥ वैद्यं य उपमर्षन्ति दृतास्ते चापि गर्हिताः ॥” (सु० सू० २६ अ०) सजीवदिशि सङ्गता इति—जीवनेन प्राणानिलेन रुद्ध या दिक् न उदीरसां रुद्धताः प्राप्ता इत्यर्थः । तथा च—“यस्या प्राणमरुद्वाति सा नाडी जीवसंयुता” इति । नाडी चाव नासासम्बन्धिनो ज्ञेया । यद्वा—जीवनं रुद्ध वर्त्तते इति या दिक् दिशा

शकुनम् ।—

वैद्याह्वानाय दूतस्य गच्छतो रोगिणः कृते ।

न शुभं सौम्यशकुनं प्रदीप्तञ्च सुखावहम् ॥११॥

चिकित्सां रोगिणः कर्तुं गच्छतो भिषजः शुभम् ।

यात्रेयं सौम्यशकुनं प्रोक्तं दीप्तं न शोभनम् ॥१२॥

तस्यामित्यर्थः, तेन ग्राम्यदिग्दितदिग्वायां प्राप्ता इति तात्पर्यार्थः : यतो ग्राम्यदिक् निविद्धा ; तथा हि—“ग्राम्यां दिशं प्राञ्जल्यो विषमैकपटे स्थिताः । दैर्घ्यं य उपसर्पन्ति दृनास्ते चापि गर्हिताः ॥” (सु० सू० २८ अ०) इति । समये प्राप्ता इति समये शुभवेलातिथिनक्षत्रादियुक्ते काले, अन्यथा अशुभकरा इति भावः । तदुक्तं—“वेद्यस्य पैत्र्ये देवे वा कार्ये चोत्पातदर्शने । मध्याह्ने चार्द्धरात्रे वा मन्ययो, कृत्तिकासु च ॥ चार्द्राग्नेयामघामूलपूर्वासु भरणीषु च । चतुर्थ्या वा नवम्यां वा षष्ठां मन्थिदिनेषु च ॥ टांशुणाभिमुखं दर्शं लग्नौ वा हुताशनम् । त्वलपन्नं पचन्नं वा क्लृप्तकर्मणि चोद्यतम् ॥ नष्टं समी शयानं वा वेगोत्सर्गेषु वाऽगुचिन् । प्रकीर्णकेशमभ्यक्तं स्निग्धं विल्वमेव च । वेद्यं य उपसर्पन्ति दृनास्ते चापि गर्हिताः ॥” (सु० सू० २८ अ०) इति ॥ ८।१० ॥

इति दूतलक्षणं सम्पूर्णम् ।

इदानीं गच्छतो दूतस्य शकुनान्याह, वैद्याह्वानायेति ।—रोगिण आतुरस्य कृते निमित्ते वैद्याह्वानाय गच्छतो दूतस्य सौम्यशकुनं भेरीसदृक्कादि न शोभनमित्यर्थः । प्रदीप्तसौम्यं सुखावहं भवति । गच्छत इति मार्गे चलितस्य । एतेन विपरीतशकुनान्यत्र शुभकराणि बोद्धव्यानि । उक्तञ्च ज्योतिःशास्त्रे—“सद्यो रणे कर्मणि च प्रवेशं शुक्लगृहे नष्टविलोकने च । व्याधौ च नद्युत्तरणे भयार्त्तं शस्तः प्रयाणाद्विपरीतभावः ॥” ११ ॥

इदानीं गच्छतो वेद्यस्यापि शकुनानि दर्शयन्नाह, चिकित्सांमिति ।—रोगिण आतुरस्य चिकित्सां रोगापनयनं कर्म कर्तुं गच्छतो मार्गे चलितस्य भिषको वेद्यस्य यात्रेयं सौम्यशकुनं प्रोक्तमितं शुभं कथितं, दीप्तसौम्यशकुनं न शोभनमित्यर्थः । यात्रेयं यात्रायोग्यं यथा—“भेरीसदृक्कसदृमदंलशङ्खवैद्यवेदध्वनि-मधुरमङ्गलगीतघोषाः । पुढान्विता च युवतिः सुरभिः सवक्त्रा धौताम्बरश्च रज्ज्वीरश्चपान्नपूर्णकलशच्छवाणि सिद्धार्थकाः । वीणाकेतनमीनपङ्कजदधिष्ठाद्वाज्य-

चिकित्स्यरोगलक्षणम् ।—

निजप्रकृतिवर्णाभ्यां युक्तः मत्त्वेन संयुतः ।

चिकित्स्यो भिषजा रोगी वैद्यभक्तो जितेन्द्रियः ॥१३॥

गोरोचना., कल्याणशक्तिरुच्यस्त्वधुमनोविप्राश्च रत्नानि च ॥” इति । दीप्त-
मित्यथावेयं, तद्वयथा—“गमनं दक्षिणे वामाक्षे शस्त्रं शृङ्गालयोः ॥” “वामं नकुल-
चाषाणां नोभयं शशसर्पयोः । भानकौशिकयोश्चैव न प्रशस्तं किलोभयम् ॥
दर्शनं च कतञ्चापि न गोधाककलामयोः । कुलत्थतिलकार्पासतृषपाषाणभञ्जनम् ॥
पातं नेष्टं तथाऽङ्गारतैलकर्दमपूरितम् । प्रमत्नेतरमद्यानां पूर्णं वा रक्तसर्पपंः ॥
शवकाष्ठप्रलाशनां शुष्काणां पथि सङ्गमाः । नेष्यन्ति पतितान्स्थलीनाम्ब-
रिपवन्मथा ॥” (सु० सू० २८ अ०) इति ॥ १२ ॥

अथ कौटुशो रोगी चिकित्स्यस्तद्दर्शयन्नाह, निजप्रकृतीति ।—भिषजा वैद्येन
कुटुशो रोगी चिकित्स्यः, चिकित्सा रोगोपनयनं कर्म तद्व्योम्यो भवतीत्यभिप्रायः ।
कौटुशः ? तमाह, निजप्रकृतिवर्णाभ्यां युक्त इति ।—यादृशौ ग्रह्य प्रकृतिवर्णा-
भ्याः, तादृशभावेव संयुक्त इत्यर्थः । ननु केयं प्रकृतिः ? कति भेदाः ?
किं कारणं वा अस्या इति ? तदुच्यते—केयं प्रकृतिः स्वभाव इत्यर्थः ।
सा चाबालप्रवृत्ता निषेकाहा वातारब्धाद्या आपयाणादनृषन्ते । कति भेदा
इति । सम प्रकृतयो भवन्ति पृथग्दाषैर्हन्द्वा समस्तैश्च । किं कारणमिति तदाह
सञ्ज्ञतः,—“गुरुशोणितसंयोगे यो भवेद्विष उत्कटः । प्रकृतिर्जायते तेन तस्या
सं लक्षणं शृणु ॥” (सु० शा० ४ अ०) इति । सा हि प्रकृतिर्जात्यादौन
वद्वर्धनोपेक्षते । तदुक्तं चरके—“तत्र प्रकृतिर्हि जातिप्रसक्ता च कुलप्रसक्ता च
देष्टानुपातिभ्यो च कालानुपातिनी च वयोऽनुपातिनी च प्रत्यात्मनियता
च” (अ० ६० वर्षवरीय०) इति । तत्र जातिप्रसक्ता नाम तासु तासु
भनूष्यादिजातिषु ते ते करचरणादयो स्वभावविशेषाः, वचनेषु च नानाविधा
एव व्यक्त्यादयो धर्मविशेषाः, मनसि च धर्माधर्ममैष्टनाहारप्रभृतयोऽपि
भावाः । कुलप्रसक्ता नाम दिङ्मकुले तपःप्रियतादयो, क्षत्रियकुले समर्पप्रियतादयो
धर्मविशेषा भवन्ति । देष्टानुपातिनी नाम लाटकर्णाटायनादौनां जाये वाचि
मनसि च ते ते स्वभावविशेषा भवन्ति । कालानुपातिनी नाम देहादिषु
दौर्बल्यादिकमाटायनाद्यपेक्षा मटेषु च दोषाद्यपेक्षणीया । वयोऽनुपातिनी
नाम बाण्णायवस्थासु कालादौ मर्यादादयो धर्माः । प्रत्यात्मनियता चति

स्वप्नलक्षणम् ।—

तत्र दुःस्वप्नानि ।—

स्वप्नेषु नग्नान् मुण्डांश्च रक्तकृष्णास्वराहतान् ।

व्यङ्ग्यांश्च विकृतान् कृष्णान् सपाशान् सायुधानपि ॥१४॥

आत्मनि निधता प्रतिपुरुषनिवृत्त्यर्थः । ते पुनः काये वाचि मनसि च स्वभावविशेषा प्रकृतिपुरुषभेदभिन्ना दृश्यन्ते इति । केचित्तु पाञ्चभौतिकीं प्रकृतिमाहुः । अन्ये तु प्रकृतिं सत्त्वरजस्तमोसयीमाहुः । पूर्वमुक्तः प्रकृतिवर्णाभ्यां युक्तः अतस्तावत् प्रकृतिस्तु सङ्गपेयोक्ता । इदानीं वर्णमाह—वर्णशब्देन प्रभा कथ्यते । सेव कायाद्यभिनता । एतेषां भेदोऽप्यस्तीत्येके भावन्ते । स यथा—“वर्णप्रभाभिन्निता या काया सा परिकीर्तिता । वर्णमाकामति क्वाया प्रभाः वर्णप्रकाशनी ॥ आसन्ना लक्ष्यत काया प्रभा दूरात् लक्ष्यते ॥” (वा० शा० ५ अ० ५० इ० पत्ररूपीय०) इति । न केवलं वर्णप्रभाक्वायानां लक्षणभेदः सङ्गामेदोऽप्यस्ति । स यथा चतुर्धा वर्णाः,—गौरः, कृष्णः, श्यामः, गोरश्याम इति । प्रभाः सप्तविधाः—रक्ता, पीता, मिता, श्यावा, ह्रीरत्न, पाण्डुरा, अम्रितेति । कायाऽपि पञ्चविधा—स्निग्धा, विमला, कृष्णा, मलिना, सङ्क्रिप्ता । पुनः कौटुम्भी रोगी चिकित्स्यः ? सत्त्वेन संयुत इति ।—सत्त्वं तु व्यवसानाम्यदशक्रियादिस्थानेष्वपि कर्मकरम् । यतः,—“सत्त्ववान् सङ्गते सर्वे संस्तभ्यात्मानमात्मना । राजसमस्तभ्यमानोऽन्येः सङ्गते नैव तामसः ॥” (सु० सू० ३५ अ०) इति । चतुर्लोपपन्नाद्ये प्रवरावरमभ्यमवल सत्त्वं विविधम् । एतेषां लक्षणं न लिख्यते मन्त्रगन्धार्कल्यात् । पुनः कौटुम्भी ? नैशमक्ता इति वेदाङ्गादकरः तदाव्यपातनेऽनुरक्त इत्यर्थः । यतः “आळो रोगी भिषग्वश्यां ज्ञापकः सत्त्ववानाप” इति वचनान् । पुनः कथम्भूतः ? जितेन्द्रियो जितेन्द्रशत्रिषयः, विषयाः तु स्वक्चन्दन वनितादयः ॥ १३ ॥

इति आतुरलक्षणम् ।

अद्यान्तरं स्वप्नान्याह, स्वप्नेष्विति ।—एवंविधान् स्वप्नान् स्तोपकप्रयाम्यो यश्चेक पश्यति स एव यदि स्वप्नोऽनातुरर्हाहं व्याधिं लभते । यदा रोगी पश्यति तदा पञ्चत्वं मरणं याति प्राप्नोतीत्यर्थः । कौटुम्भी स्वप्नान् ? तानाह—नद्यान् वस्त्रादिरहितान् । मुण्डानिति मुण्डितान् । रक्तकृष्णास्वराहतानिति रक्तकृष्णवस्त्रवेष्टितान् इत्यर्थः । व्यङ्ग्यानि च अवयवादिरहितान् नासाकर्तृनादिभिरपि व्यङ्ग्यानिव्यभि-

बध्नतो निघ्नतश्चापि दक्षिणां दिशमाश्रितान् ।

महिषोद्वज्वराकूटान् स्त्रीपुंसोर्यस्तु पश्यति ॥

स स्वस्थो लभते व्याधिं रोगी यात्येव पञ्चताम् ॥१५॥

अधो यो निपतत्युच्चाज्जलेऽग्नौ वा विलीयते ॥

श्वापदैर्हन्यते योऽपि मत्स्याद्यैर्गिलितो भवेत् ॥१६॥

यस्य नेत्रे विलीयते दीपो निर्वाणतां व्रजेत् ॥

तैलं सुरां पिबेद्वाऽपि लोहं वा लभते तिलान् ॥१७॥

पक्वान्नं लभतेऽश्नाति विशेत् कुडाञ्च मातरम् ।

स स्वस्थो लभते रोगं रोगी यात्येव पञ्चताम् ॥१८॥

प्रायः । विकृतानिति पङ्कजपञ्चतोन् । कृष्णानिति चित्रकल्पितवत् काष्ण्यभिप्रायः । सपाशानिति पाशयुतान्, पाशो दीर्घः पशुना बन्धनरज्जुः । बध्नतो निघ्नत इति निघ्नतपङ्कजनकर्मकारणः । दक्षिणां दिशमाश्रितानिति एते तु यदा दक्षिणां दिशमाश्रिता भवन्ति तदा प्रचुरमणिष्टं स्यादित्यभिप्रायः । तत्र भैक्षत भाग द्येयमिति वदन्ति । महिषोद्वज्वराकूटानिति महिषादिवाहनेषु आरोहितान् इत्यर्थः ; ने तु यमसम्बन्धिनश्चायमभकरा इति भावः ॥ १४।१५ ॥

अथापराणि दुःखप्राप्त्याह, अध इति ।—स्वप्ने योऽपि एवंविधा भवति सोऽप्यनिष्टः । कौटुम्बिकमाह, अधो यो निपतत्युच्चादित्यादि ।—पुरुष उच्चाद-
त्युच्चस्थानादधो निम्नस्थाने निपतति स्वलुप्तोत्यर्थः । अत्युच्चं पर्वतादिकम् । यो जलेऽग्नौ वा विलीयते लीनो भवति । एतेन जले वृद्धति अग्नौ पतङ्गवत् पततीत्यभिप्रायः । योऽपि श्वापदैर्हन्यते श्वनशरपैराकृष्यते ॥ इति । एके “श्वापदैः” इति पठन्ति, तत्र श्वापदैर्निजबन्धुनाशादिभिरुपहन्यते पीडयते इत्यर्थः । मत्स्याद-
रिति गिलितो भक्षितो यो भवेत् । आदिग्रहणान्मकरणक्रशिशमारप्रभृतौनां ग्रहणम् । यस्य पुरुषस्य च नेत्रे विलीयते विलीयतां प्राप्ते इति, स्वप्नानिति शेषः ; एतेन स्वचक्षुषी विगलिते पश्यतीत्यर्थः । दीपो निर्वाणतां व्रजेत् इति । एतेन किमुक्तम् ? वः स्वप्नेऽप्यकस्माद्दीपं विनष्टं पश्यतीत्यभिप्रायः । यश्च तैलं सुरा वा पिबेत्, यश्च लोहं लभते, तिलान् वा लभते, यश्च पक्वान्नं सिद्धमन्नं लभते, यश्च

* श्वापदैः व्याघ्रादिभिर्हंसप्राणिभिरित्यर्थः समीचीनः ; न तु श्वनशरपैरिति ;

श्वापदशब्दस्य हिंसप्राणिषु द्रव्यत्वात् ।

दुःस्वप्नप्रतीकारः ।—

दुःस्वप्नान्येवमादीनि दृष्ट्वा भूयान्न कस्यचित् ।

ज्ञानं कुर्यादुषस्येव दद्याद्देम तिलानयः ॥ १९ ॥

पठेत् स्तोत्राणि देवानां रात्रौ देवालये वसेत् ।

कृत्वैवं त्रिदिनं मर्त्यो दुःस्वप्नात् परिमुच्यते ॥ २० ॥

तदप्राप्तिं भवति च, यो मातरं कुडं विशेत् मातृगृहं * प्रविशतीत्यर्थः, एतेषां स्वप्नेष्विति सत्त्वन्वः । सुराऽत्र पिष्टमयी न तु मद्यविशेषः; स्वप्ने विशिष्टमद्यपानं प्रशस्तम् । तदुक्तं—“रुधिरं पिबति स्वप्ने मद्यं वाऽपि कथञ्चन । ब्राह्मणो लभते विद्यामित्ररस्तु धनं लभेत् ॥” इति । “लौहम्” इत्यस्य स्थाने “लौहम्” इति पाठान्तरं, तत्र लौहं लौहमयं यस्यादि । वा यद्वशात् कापामपिण्याकलवणादीनां यद्वशम्; एतेषां लाभेऽप्यनिष्टं भवति । एके “विशेत् कुडञ्च मातरम्” इत्यत्र कुडामुत्सङ्गं व्याख्यायन्ति । “जननीं प्रविशन्नरः” इति पठान्तं केचित्, तत्र मातृरुदरे प्रविशतीत्यर्थः । तत्र मात्रा सङ्गं शयनं करोतीत्यर्थः ॥ १९—२० ॥

इदानीं दुःस्वप्नदर्शनीत्यन्वयार्थान्नस्यर्थं किञ्चित् प्रतीकारमाह, दुःस्वप्नानोति ।—एवमादीनि पूर्वोक्तानग्रमुण्डादीनि दुःस्वप्नानि दुःखोत्पादकानि दृष्ट्वा स्वप्नावस्थायां मालोक्य कस्यचित् पुरतो न ज्ञेयात् न प्रकाशयेत् इत्यर्थः, परमुखिर्मात्रेण श्रवणमध्यात । तदनं किं कुर्यात् ? तदाह, ज्ञानमिति ।—उषसि प्रातरं च ज्ञानं कुर्यात् हेमतिलानयश्च दद्यात् । हेमं सुवर्णं, तिलान् कृष्णान्, अथो लौहम् । पुनः किं कुर्यादित्याह, पठेदिति ।—देवानां स्तोत्राणि देवानां विष्णु प्रभृतीनां स्तोत्राणि आग्रवशादीनि । यथा—“आग्रवयं वीणि च पुष्कराणि नाम-अयं वीणि पदानि विष्णोः । रुद्रास्त्रिनेत्रास्त्रिपथा च गङ्गा एतानि दुःस्वप्नविनाश-नानि ॥” इति । इति दिनकृत्यं, रात्रौ अपि देवालये देवमण्डपं वसेत् । तत्र जागरणं कुर्यादिति केषाञ्चित्तम् । अथ दुःस्वप्नमुपसंहरन् फलमाह, कृत्वैवमिति ।—एवमुक्तप्रकारेण, प्रकारं तु ज्ञानदानादिकं कर्म कृत्वा सम्याद्य त्रिदिनं दिनवयं यथा स्यात् मर्त्यः पुरुषः दुःस्वप्नात् दुःखजनकनिमित्तात् परि-मुच्यते सुखी भवतीत्यर्थः ॥ १९-२० ॥

* कुडं भिक्षिं तथा मातरं जननीं विशेत्, गृहभिक्षिं प्रविशेत् जननी-जठरं वा प्रविशेत् इत्यर्थो युक्तः, न तु मातृगृहं, चरकादौ तादृशव्याख्याऽदर्शनादिति ।

सुखप्राणि ।—

स्वप्नेषु यः सुरान् भूपान् जीवतः सुहृदो द्विजान् ।

गोममिह्वाग्नितीर्थानि पश्येत् सुखमाप्नुयात् ॥ २१ ॥

तीर्त्वा कलुषनीराणि जित्वा शत्रुगणानपि ।

आरुह्य मौधगोशैल-करिवाहान् सुखी भवेत् ॥ २२ ॥

शुभ्रपुष्पाणि वासांसि मांसमत्स्यफलानि च ।

प्राप्यातुरः सुखी भूयात् स्वस्थो धनमवाप्नुयात् ॥ २३ ॥

अगम्यागमनं लेपो विष्ठया रुदितं मृतिः ।

आममांसाशनं स्वप्ने धनारोग्याप्तये विदुः ॥ २४ ॥

अथ दुःस्वप्नानि प्रतिपाद्य मम्यति प्रशस्तस्वप्नानि दर्शयन्नाह, स्वप्नोऽस्ति ।—
यः पुरुषः स्वप्नेषु सुरादीन् पश्येत् स सुखमाप्नुयादित्यर्थः । सुरानितीन्द्रपञ्चतिदेवान् ।
भूपानिति राज्ञः । सुहृदो मित्राणि । द्विजान् ब्राह्मणान् । एतांस्तु जीवतः
इति प्रकृतिप्राणयुतानित्यर्थः । तथाऽन्यान्पि । गौः । समिद्धाग्निः प्रज्वलितवह्निः ।
तीर्थानि प्रयागादीनि ॥ २१ ॥

अपराध्याह, तीर्त्वेति ।—यः पुरुषः स्वप्नेषु एवंविधो भवति स सुखी
भवेदित्यर्थः । कौटुशस्तमाह—कलुषनीराणि सकर्तृमपानौघानि तीर्त्वा उन्नील-
स्थितमिति भावः । शत्रुगणान् रिपुसमूहान् जित्वा आगत इति तात्पर्यार्थः ।
मौधगोशैलादीनारुह्य प्राप्त इति भावः । मौधो चवलगृहः, गौर्वधमः, शैलः
पर्वतः, करी इस्ती, वाहान्वादीन् । कलुषनीराणीति बहुवचनेन नदीनद-
समुद्रादीनां गृहणम् । तदुक्तं—“नदीनदसमूहाश्च क्षुभितान् कलुषोदकान् ।
तरेण कल्याणलाभाय व्याधिरपगमाय च ॥” (सु० सू० २६ अ०) इति ॥ २२ ॥

अन्यान्यप्याह, शुभेति ।—आतुरो रोगी शमपुष्पादीनि प्राप्य सुखी भूयादनातुरः
स्यादित्यर्थः । यदा स्वस्थोऽपीदृशः स्यात् तदा धनमाप्नुयादिति भावः । शम-
पुष्पाणीति शुभ्रपुष्पप्रभृतीनि । वासांसि चात्र शुभाणि ज्ञातव्यानि । मांसमव आमं
न तु परिपक्वं, वक्ष्यमाणत्वात् । फलानीति आमप्रभृतीनि ॥ २३ ॥

अथेतस्याह, अगम्येति ।—अगम्यागमनम् अनुचितस्थानगमनम् । विष्ठायाः *
पुरीषस्य लेपः करचरणादिषु । रुदितमिति रोदनम् । आसनः परस्य वा मृति-

* “विष्ठया” इति मूलोक्तपाठः समीचीनः ।

जलौका भ्रमरो सर्पो मल्लिका वाऽपि यं दृश्येत् ।

रोगो स भूयादरोगः स्वस्थो धनमवाप्नुयात् ॥ २४ ॥

इति श्रीदामोदरमुन्या श्रीशार्ङ्गधरं विरचितायां शार्ङ्गधरमंडितायां
पूर्वखण्डे नाडीपरीक्षादिविधिनां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ दीपनपाचनाध्यायः ।

दीपनं पाचनं दीपनपाचनञ्च ।—

पचेन्नामं वज्रिञ्च दीपनं तत् यथा मिसिः ।

पचत्यामं न वज्रिञ्च कुर्याद्यत्तद्धि पाचनम् ।

नागकेशरवत् विद्याच्चित्तो दीपनपाचनः ॥ १ ॥

भरस्वम् । “आमसोमाशनम्” इत्यत्र परे “पक्वसोमाशनम्” इति पठन्ति । एतच्च
स्वप्न धनारोग्याप्तये धनप्राप्तये चारीग्यप्राप्तये च ॥ २४ ॥

जलौकेति ।—जलौकादयो यं पुरुषं दृशन्ति भक्षयन्ति, स्वप्नेऽपि शेषः,
स यदा रोगो भवति तदा चरोगः स्यात् । स्वस्थोऽपि धनं प्राप्नोतीत्यभिप्रायः ।
जलौका प्रसिद्धा । भ्रमरोति कृष्णवर्णमधुमल्लिकाभेदः । सर्पोऽजगरप्रभृतिकः ।
मल्लिकाय स्वल्पाः । वा-गृहणात् वरटा-मधुमल्लिका-मशकादीनां गृहणम् ॥ २५ ॥

इति स्वप्नलक्षणम् ।

इति श्रीबालक्यान्वयप्रकाशवैद्यर्षीभाषमिंडात्मजेनाठमं विरचितायां शार्ङ्गधर-

दीपिकायां प्रथमखण्डे नाडीपरीक्षादिविधिरध्यायस्तृतीयः ॥ ३ ॥

पूर्वमुक्तं “ततो दीपनपाचनम्” अतो दीपनपाचनादीनां लक्षणान्याह, पचेदिति ।

—गृह्यमांसं न पचेद्वज्रिञ्च भवति तद्दीपनं जानीयात् । यथा मिसिः *

शतपथा । तथा चोक्तं द्रव्यगुणवल्यां—“शतपथा लघुकीक्षा पित्तकृद्दीपनी कटुः”

इति । दीपनं जठराग्निः, अग्निगुणमूयिष्ठत्वात् । ननु कथमेतद्गुणयुक्तमिंसिनांमन्त्रो

शमनम् ।—

न शोधयति न हेष्टि समान् दोषांस्तथोद्धतान् ।

समो करोति विषमान् शमनं तद्वयथाऽमृता ॥२॥

अनुलोमनम् ।—

कृत्वा पाकं मलानां यद्वित्त्वा बन्धमधो नयेत् ।

तच्चानुलोमनं ज्ञेयं यथा प्रोक्ता हरीतकी ॥३॥

भवति ? तद्विनाशकत्वेन कथमग्रेः प्रबोधः स्यात् ? उच्यते—द्रव्याणां प्रभावी विचारणीय इति सूत्रतः न हेतुमिविचार्यते । तदुक्तं—“नौषधीर्हेतुमिर्विद्वान् परोक्षतः कथञ्चन । सहस्रेणापि हेतूनां नास्वहादिर्वरचयेत् ॥” (सु० सु० ४० अ०) इति । आस इत्यपरिपक्वस्य । तद्वयथा—“जठरानलदीर्घल्यादावपक्वस्तथो रसः । स आससंज्ञको ज्ञेयो देहदोषप्रकापणः ॥” इति । अथ पाचनमाह, पचत्याममित्यादि ।—यद्द्रव्यसमं पचात वाजं न कृत्वा तत् पाचनं ज्ञेयम् । अत्रापि द्रव्यप्रभावा बोध्यः । तच्च नागकेशरवाहयान्जानोद्यात्, यतः “नागकेशरकं कलमुष्णं लज्जामपाचनम्” इति । आसपाचनमिति विद्वत्तणम् । सामानां दावधातुमलानामित्येके । उभयात्मकमाह, चित्तो दीपनपाचन इति ।—चित्तक उभयकार्यकरो भवति, दीपनः पाचनश्च । तदुक्तं—“चित्तकः कटुकाः पाके वज्रकृत्पाचनो लघुः” इति ॥ १ ॥

अथ संशमनमाह, न शोधयतीति ।—यत् किञ्चित् पीतकौटाशितमनिर्धृत्य दोषं संशमयति तत् संशमनम् । एतेन किमुक्तं यद्वयं न वामयति न विरचयति । इति व्याधिना सह एकौभूय तत्स्थमेव व्याधिसुपशमयति तत् शमनमासीति भावः । दोषशब्दाऽव दोषेषु कार्यव्याधिष्वपि वर्तते, कार्ये कारणोपचारात् । असमं समं करोति समीकरोति । यथा—अमृता गुडूचौ शमननो प्रसिद्धा । तदुक्तं—“रसायनी संशमनो दोषाणां ज्वरनाशिनी । गुडूचो कटुका लघ्वी तिक्ताऽपि दीपनी भता ॥” इति । केचित्तु—“न शोधयति यद्दोषान् समान् नोदीरयत्यपि । समीकरोति च कृद्धान् तत् संशमनमुच्यते ॥” इति पठन्ति । अत्रापि स एवाभिप्रायः । सम्यक् शमयतीति संशमनं, सम्यक् दुष्टदोषस्यानिर्हरणपूर्वकं शमनम् अदुष्टस्यानुदीरणञ्च, व्याधिशमने तु प्रस्तुतव्याधिशमनम्, अप्रस्तुतव्याधिरनुदीरणमिति स्पष्टाद्येज्ञापनाय न ह्येषः, पुनर्भावकथनात् ॥ २ ॥

अथानुलोमनमाह, कृत्वेति ।—यद्वयं मलानां दोषाणां पाकं कोपशानिं कृत्वा

संसर्गम् ।—

पक्त्व्यं यदपक्वैर्वास्त्रिष्टं कीष्टे मलादिकम् ।

नयत्यधः संसर्गं तद्यथा स्यात् कृतमालकः ॥४॥

भेदनम् ।—

मलादिकमवद्धं यत् बद्धं वा पिण्डितं मलैः ।

भित्त्वाऽधः पातयति तद्भेदनं कटुकी यथा ॥५॥

रेचनम् ।—

विपक्वं यदपक्वं वा मलादि द्रवतां नयेत् ।

रेचयत्यपि तज्ज्ञेयं रेचनं त्रिवृता यथा ॥६॥

अथ विवस्वं च भित्त्वा भिन्नता नीत्वा अधो नयेत् अधः करोति वातादिक-
मिति शेषः, तेन पतितोमादन्लोम करोतीत्यर्थः । तच्चानलोमनं ज्ञेयम्,
अन्लोमनं वातादीनामधःप्रवर्तनं मरुगुणत्वात् ; यथा हरीतकी ।
मैवानलोमिनी प्रसिद्धेव । बन्धमिति दोषाणां परस्परशयितत्वम् । एके
वातमूत्रपुरीषादीनामप्रवृत्तिरूपं विवस्वमाहुः ॥ ३ ॥

अथ संसर्गमाहुः, पक्त्व्यमिति ।—यद्द्रव्यं मलादिकम् अपक्वैव तेषां पाकनकत्वा अधो
नयति अधः पतनं करोति तत संसर्गं स्यात्, यथा कृतमालकः । कीदृशं मलादि-
कम् ? इत्याहुः, पक्त्व्यमिति ।—पचमानम् अत एव कीष्टे आस्त्रिष्टं, कीष्टे इति
पाचकस्थाने, आस्त्रिष्टमित्याश्रितम् । केचित् कीष्टशब्देन हृदयादीन्पि गृह्णन्ति
तथा हि—“स्थानान्यामाद्यपक्वाना मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदयकुः फुफ्फुसश्च
क्रीड इत्यभिधीयते ॥” इति । एतदभिप्रायेणापि शोधनमस्याहुः ॥ ४ ॥

अथ भेदनमाहुः, मलैति ।—ग्रन्थलादिकमवद्धं मलबद्धं वा, अत एव मलैर्दोषैश्च
कृत्वा पिण्डितं परिपाकात् पिण्डोभूतम्, ईदृशं मलादिकं भित्त्वा स्थानात्
सञ्चाल्याधः पातयति तद्भेदनं, ज्ञातव्यमिति शेषः । यथा कटुकी । बद्धं द्विविधं, शुष्कं
शयितञ्च । तत्र शुष्कं पुरीषविषयं शयितं दोषादीनाम् । अवड्मपि द्विविधं,
तथा एकं द्रवरूपं पुरीषविषयं स्वतन्त्रमेकं मलादिकमिति । मलोऽयं दोषः ।
आदिशङ्कणात् कृच्छ्रावतादीनामपि शङ्कम् । भित्त्वा ।—तत्पुरीषं भित्त्वा
विदार्याधः पातयति, द्रव्यमिति शेषः ॥ ५ ॥

अथ रेचनमाहुः, विपक्वमिति ।—यद्द्रव्यं त्रिपक्वमपक्वं वा मलादि दोषादिकं

वमनम् ।—

अपक्वं पित्तश्लेष्माणं बलादूर्ध्वं नयेत्, यत् ।

वमनं तद्धि विज्ञेयं मदनस्य फलं यथा ॥७॥

शोधनम् ।—

स्थानाद्वह्निर्नयेदूर्ध्वमधो वा मलमञ्चयम् ।

देहं तच्छोधनं यत् स्यादेवदालीफलं यथा ॥८॥

द्वयता नयेत् दृढभावं करोतीत्यर्थः ; न केवलं दृढतां नयेत् रेषयत्यपि च तदेव न ज्ञेयम् । यथा दृढता निमीतः । यतो विरेचनद्रव्याणि गर्वस्वगणभृशिशानि तानि गुरुत्वादधो गच्छन्ति । गुरुत्वादिति गुरुत्वं चेह प्रभावविशेषाधिष्ठितं विद्रवतादिकं समवेतं याह्यं, न तु गुरुत्वमात्रम् । अन्यथा मत्स्यपिष्टाग्नमसुरादीनां विरेचकत्वं स्यात् । अस्वगुणभृशिमित्यर्थः, प्रभावात् । मलादिकमिति आदियहण्यान् दृष्यद्रुपितादीनामत्र सङ्ग्रहः ॥ ६ ॥

अथ वमनमाह, अपक्वमिति ।—यद्व्यमपक्वं पाकमगच्छन्तं पित्तश्लेष्माणं व्यक्तं मिश्रितं वा बलान् हठात्कारेण ऊर्ध्वं नयेत् मुखे कृत्वा वामयेत् इत्यभिप्रायः, तद्वमनं विज्ञेयं, यथा मदनस्य फलम् । बलादिति प्रभावमृचकशब्दः, यतो वमनद्रव्याणि वायुश्लेष्मणभृशिशानि, वायुश्लेष्मि हि लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति । लघुत्वं चेह प्रभाव-विशेषाधिष्ठितं मदनफलादिद्रव्यसमवेतं याह्यं, न तु लघुत्वमात्रम्, अन्यथा कपिञ्जल-लाजादीनां च वामनीयत्वं स्यात् । ननु कफस्य वमनं पित्तस्य विरेचनं प्रशस्तमिति प्रसिद्धिः, तत् कथं पित्तस्य वमनमिति ? उच्यते—अपक्वपित्तस्य वमनादेव निवर्द्धणं बोद्धव्यम् । तच्च दृश्यते हि कटुतिक्तहरित्योतास्त्रवमनत्वेन, यतः पित्तं दग्धमस्त्रनामुपेतोति । अत एवास्त्रपित्तविक्रियायामादौ वमनमित्यदोषः ॥ ७ ॥

अथ शोधनमाह, स्थानादिति ।—यद्व्य स्थानात् प्रकुपितस्थानात् मलमञ्चयं दीषादीनां स्वस्थानादूर्ध्वमधो वा वह्निर्नयेत् वह्निः करोति तदेहे शरीरे शोधनं कथितम् । यथा देवदालीफलम् । देवदाली बल्लोसंज्ञा । ऊर्ध्वं मुखनासिकाभ्याम्, अधः पादुसेन्द्रमार्गेण । देहयहणेन शोणितावसेचनमपि गृह्यत शोधनत्वात् । यतः शोधनं हविषमाचक्षते, वह्निराश्रयमभ्यन्तराश्रयश्च । तत्र वह्निराश्रयं शब्द-क्षाराप्रभेदादयः । अभ्यन्तराश्रयं तु अतुःप्रकारं वमनरेचनास्थापनशोणित-

केदनम् ।—

श्लिष्टान् कफादिकान् दोषानुन्मूलयति यद्दलात् ।

केदनं तद्वयथा क्षारा मरिचानि शिलाजतु ॥८॥

लेखनम् ।—

धातून् मलान् वा देहस्य विंशोऽप्योलेखयेच्च यत् ।

लेखनं तद्वयथा क्षौद्रं नीरमुष्णं वचा यवाः ॥९॥

भोजणञ्च । एके शिरोविरेचनं मन्यन्ते ; तस्याद्य वमनान्तर्भूतं बोद्धव्यम्, ऊर्ध्वशोधनत्वात् ॥ ८ ॥

अथ केदनमाह, श्लिष्टानिति ।—यद्द्वयं श्लिष्टान् सञ्चितान्, “परस्परयथितान्” इत्येकं, “अन्यथं कुपितान्” इत्यपरे, कफादिकान् दोषान्, आदियक्षणेन वातपित्त-श्लेष्मिन्तुल्यमिष्यद्वयं, न तु दृष्यदृषितादिकं, यतः दोषानिति पुनर्यद्वयं कृमिश्लेष्मिन्तुल्यमिष्यद्वयं दापयति । तदुक्तं सुश्रुते—“नर्से देहः कफादीन् न पित्ताच्च च मारतात् । श्लेष्मिन्तादपि वा नित्यं देह एतेषु धार्यते ॥” (सु० सु० २१ अ०) इत्यादि प्रति-पादितत्वात् । कृमिषु गुग्गुलुकल्पे यथा “पञ्चादि दोषान् शमयेत्” इत्यादिप्रत्ये कृमिदोष-निबर्हणादित्यादिना, तस्यैव कृमिषु दोषसंज्ञा । बलादिति स्वशक्तितः, उन्मूलयति उच्छेदयति, तच्छेदनं ज्ञेयम् । यथा क्षारा यवक्षारादयः, मरिचानि बहुवचनत्वेन श्वेतमरिचमपि ग्राह्यम् । ननु वातादिकम् पारित्यज्य कफादिकमेष श्लोकः कस्मादहं कृतः ? तदुच्यते—देहस्य ऊर्ध्वमूलत्वमधःशाखत्वं प्रतिपादितं पूर्वाचार्यैः, ऊर्ध्वभागं च कफाधिष्ठानत्वात्ततोऽनेन कफ एव प्रथमं दर्शितः । तदुक्तम्—“ऊर्ध्वमूलमधःशाखं विष्णुं पञ्चदेवतम् । चेदज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वै वेद स वेदवित्” ॥ ९ ॥

अथ लेखनमाह, धातूनि ।—यद्द्वयं धातून् रसादीन् मलान् वा ; अथ “मलान् वा” यद्द्वयं कृतं, तन्मनोदोषव्यवच्छेदायम् ; यतो मनोदोषप्रतीकारमन्य-द्व्यक्ष्यतीति । तथा हि—“धीर्धृतिर्ज्ञानविज्ञानं मनोदोषोपशमं परम्” इति । के ते मनोदोषाः ? इत्युत्तरमाह—“रजस्तमस्य मानसौ द्वौ च दोषावुदाहृतौ” (बा० सु० १ अ०) इत्यादि । एके—“लेखनं तद्वयथा क्षौद्रमीरे कोष्णं वचा यवाः” इति पठति । तत्र—क्षौद्रमीरे मध्वसुनी मिलिते इति योगो लेखनसंज्ञः, कोष्णमित्युष्णपानीयं “कं शिरो गलमाख्यातम्” इति वचनात् । उष्णञ्च तत् कश्चेति कोष्णम्, अक्षरत्वात् पूर्व-

याहि ।—

दीपनं पाचनं यत् स्यादुष्णत्वाद्ववशोषकम् ।

याहि तच्च यथा शुण्ठी जीरकं गजपिप्पली ॥११॥

साम्नम् ।—

रौच्याच्छैत्यात् कषायत्वात्क्षुपाकाच्च यद्भवेत् ।

वातकृत् स्तम्भनं तत् स्याद्यथा वत्सकटुण्डुकी ॥१२॥

रसायनम् ।—

रसायनञ्च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम् ।

यथाऽमृता रुदन्ती च गुग्गुलुश्च हरीतकी ॥१३॥

निपातः । अयं पाठः श्वकपोलकल्पनया केनापि लिखितः, यतो बहुपुस्तकेषु न दृश्यते । यथा इति बहुवचनग्रहणेन एवं-गुणविशिष्टा अन्येऽपि बोद्धव्याः ॥ १० ॥

अथ यादिलक्षणमाह, दीपनमिति ।—यद्व्यं दीपनमग्निकरं, पाचनमामादीनां, द्रवशोषकमिति द्रवस्वरूपाणां दोषघातुमलादीनां शोषकमित्यर्थः, स्रग्जत्वात् लघुबोध्यत्वात् द्रवशोषकमिति बोध्यं, दीपनादिकार्यकरत्वेन उपलक्षितमिति भावः, तद्ग्राहं विज्ञेयम् । यथा शुण्ठी, जीरकं, गजपिप्पली; गजपिप्पली अन्यफलम् । ननु सङ्ग्राहकमनिलगुणभूयिष्ठं, यतोऽनिलस्य शोषणात्मकत्वात्, तत् कथमुष्णत्वादिति ? उच्यते—पक्वामशाहकत्वेन दिविधं हि सङ्ग्राहकत्वं, तच्च यत् यद्व्यासामं सम्पाद्य वाङ्मं कृत्वा तदस्यं द्रवञ्च शोषयित्वा साम्नं करोति तद्व्यासाहकं ज्ञेयम् । यद्व्यमतीसारादौ पक्वमलादिकं संज्ञाय सङ्ग्राहं करोति वच्छीतशाहकं ज्ञेयम्, एतदनिलगुणभूयिष्ठमित्यदोषः ॥ ११ ॥

अथ च तदेव साम्नमाह, रौच्यादिति ।—यद्व्यं रौच्यात् रुच्यगुणत्वात्, अस्यादिति शीतवीर्यत्वात्, कषायत्वादिति कषायरसत्वात्, क्षुपाकाच्च लघुपरिपाकान् वातकृद्भवति तत् साम्नं स्यात् । वातगुणसाधर्म्यं हेतुचतुष्टयम् । अनिलस्य शोषणात्मकत्वेनानिलगुणभूयिष्ठं द्रव्यं साम्नं भवति इत्यभिप्रायः । यथा वत्सक-टुण्डुकी, यथेति दृष्टान्तत्वेनोपदर्शितम्; वत्सकः कुटजः । टुण्डुकः श्लोनाकः । वातकृदित्यनेन कोष्ठवायोर्विष्टम्भकः, तस्मात् तद्व्यं साम्नं भवति इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अथ रसायनमाह, रसायनञ्चेति ।—यद्व्यं जराव्याधिनाशनं भवति तद्रसायनं ज्ञेयं, रसादीनां घातूनामयनमाप्यायनरूपं रसायनम् । यथा—अमृता गुडूची,

वाजीकरणम् ।—

यस्माद्द्व्याह्वेत् स्त्रीषु हर्षो वाजीकरणञ्च तत् ।

यथा नागबलाद्याः स्युर्वीजञ्च कपिकच्छजम् ॥१४॥

शुक्लम् ।—

यस्माच्छुक्लस्य वृद्धिः स्याच्छुक्लञ्च तदुच्यते ।

यथाऽश्वगन्धा मुषली शर्करा च शतावरी ॥१५॥

शुक्लस्य प्रवर्त्तकं जनकञ्च ।—

दुग्धं माषाश्च भेङ्गात-फलमज्जाऽऽमलानि च ।

प्रवर्त्तकानि कथ्यन्ते जनकानि च रेतसः ॥ १६॥

कटली शकभेदः पश्चिमे अतीव विख्यातः । गगान् * शालनिर्व्यासः प्रसिद्धः । इरीतकी प्रसिद्धा । जरा बार्डक्यं, व्याधयो ज्वरादयो रोगा याक्षाः । ननु व्याधिपट्टणेन जरापट्टणं, तत् कथमत्र जरा पृथग्भिदिता ? उच्यते—जरा स्वाभाविकी ज्ञेया, स्वभावकथनत्वेन पृथग्भिधानमित्यदोषः ; यतः सप्ततेरुहं स्वभाव वद्भवतीति ॥ १३ ॥

अथ वाजीकरणमाह, यस्मादिति ।—यस्माद्द्व्याह्वेत् स्त्रीषु स्त्रीपुरुषयोः (?) हर्ष- कामशक्तिसुरतमुखं भवेत् तद्वाजीकरं ज्ञातव्यम् । यथा नागबलाद्याः स्युरिति —नागबला गाङ्गेरुकी ; आदिशब्दात् कातिफलादिफेनभङ्गाप्रभृतीनां यदृष्टम् । कपिकच्छजमपि वाजीकरणं, कपिकच्छ्वानरो । द्विविधदृष्टान्तेनाव द्विविधं वाजीकरणं सूचितम् ; एकं वीर्यसम्भनरूपम्, अपरं वीर्यवर्द्धनमित्यनेन पीन- रेतस्यस्याप्यदोषः ॥ १४ ॥

अथात्र तदेव वीर्यकरद्रव्यं प्रकटयमाह, यस्मादिति ।—शुक्लमिति शुक्ल- वृद्धिकरम् । शेषं सुबोधम् ॥ १५ ॥

अथ शुक्लस्य प्रवर्त्तकानि जनकानि च द्रव्याण्याह, दुग्धमिति ।—रेतसः शुक्लस्य दुग्धादीनि द्रव्याणि प्रवर्त्तकानि कथ्यन्ते, न केवलं प्रवर्त्तकानि, उत्पादकराणि

* शालशब्दीऽत्र सामान्यतया हचवाचोति ज्ञेयं, न तु शालाख्यविशेष- हचवाचो, तन्निर्व्यासस्य शालसंज्ञकत्वात् । “शालः पादपमात्रे स्यात् प्राकारे सर्जपादपे” इति मेदिनी ।

शुक्रस्य प्रवर्त्तनरेचनस्तम्भशोषणकारकाणि ।—

प्रवर्त्तनो स्त्री शुक्रस्य रेचनं बृहतीफलम् ।

जातीफलं स्तम्भकञ्च शोषणी च हरीतकी ॥१७॥

सूक्ष्मम् ।—

देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद्यत् सूक्ष्ममुच्यते ।

तद्यथा सैन्धवं क्षौद्रं निम्बतैलं रुवृद्धवम् ॥१८॥

व्यवायि ।—

पूर्वं व्याप्याखिलं कायं ततः पाकञ्च गच्छति ।

व्यवायि तद्यथा भङ्गा फेनञ्चाहिमसुद्धवम् ॥१९॥

च कथ्यन्ते प्रभावात् । माषोऽर्घ्राविशेषः । आमलानीति आमलकफलानि । शोषं प्रसिद्धम् ॥ १६ ॥

वाजोकरणानामौषधानां विशेषानाह, प्रवर्त्तनीति ।—शुक्रस्य बीजस्य प्रवर्त्तनीति प्रकटकारिणी स्त्री कथितेत्यर्थः । रेचनं बृहतीफलमिति शुक्रस्येत्यत्रापि सन्धन्वः । बृहती बृहत्कण्टकारिका तस्याः फलम् । स्तम्भकमवरोधकरं जातीफलं भवति, अत्रापि बीजस्येति सन्धन्वः । शोषणी हीनकारिणी हरीतकी कथिता, चकारादत्रापि शुक्रस्येत्यर्थः । एके “शोषणी च हरीतकी” इत्यस्य स्थाने “कालिङ्ग लयकारि च” इति पठन्ति व्याख्यानयन्ति च—“कालिङ्गं फलवर्त्तुलम् इति ॥ १७ ॥

अथ सूक्ष्मद्रव्यमाह, देहस्येति ।—यद्द्रव्यं देहस्य शरीरस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु रोमकूप प्रभृतिषु विशेत् प्रवेशं करोति तत् सूक्ष्ममुच्यते ; यथा सैन्धवादिकम् । सूक्ष्मो गुण-विशेषः, स्त्रीतोऽनुसरणशीलत्वात् । सैन्धवं प्रसिद्धम् । क्षौद्रं मधु । निम्बतैलं निम्ब-तैलञ्च ; यथा—निम्बस्य तैलं रुवृद्धं तैलञ्च, रुवृद्धमेरण्डसम्भवम् ॥ १८ ॥

अथ व्यवायिद्रव्यमाह, व्यवायीति ।—व्यवायीति गुणविशेषः अपक्वमेवाखिलं देहं व्याप्नोति पच्यमानविषयवत् * पाकं याति । एवं भङ्गा, अहिफेनञ्च, अहिफेनम् “आफू” शब्दवाच्यम् । अन्ये तु “तदभावाय (?) + कथ्यते” इति पठन्ति । तत्रापि—स्थितये कथ्यते मोहमधी वा प्रवर्त्तते इति स एवार्थः । अन्ये पुनर्भावा-

* “मद्यविषयवत्” इत्यत्र “मद्यविषयवत्” इति पाठः सङ्गतः । एवमग्रेऽपि ।

+ अन्ये, प्रमादात् “ततो भावाय” इति पाठस्थले “तदभावाय” इति पाठः सन्निविष्टोऽभूत्, वक्ष्यमाणव्याख्याऽसङ्गतैरिति ।

विकाशि ।—

सन्धिवन्धांस्तु शिथिलान् यत् करोति विकाशि तत् ।

विश्लेष्णीजश्च धातुभ्यो यथा क्रमुककोद्रवाः ॥ २० ॥

मदकारि ।—

बुद्धिं लुप्पति यद्द्रव्यं मदकारि तदुच्यते ।

तमोगुणप्रधानञ्च यथा मद्यं सुरादिकम् ॥ २१ ॥

शब्दमभिप्रायार्थकमिच्छन्ति ; तत्र—नियतद्रव्यप्रभावेणाकाशशतनुकपं तद्द्रव्यं मद्य-
विषयवत् (?) विशेषाभिप्रायाय कथ्यते इत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथ विकाशिद्रव्यस्यापि किञ्चिद्देहं दर्शयन्नाह, सन्धिवन्धानिति ।—यद्द्रव्यं
सन्धिवन्धान् शिथिलीभूतान् करोति तद्विकाशि बौद्धव्यं, विकाशि इत्यपि
गुणविशेषः ; न केवलं सन्धिवन्धान् शिथिलान् करोति, किन्तु धातुभ्य ओजो बल
विश्लेष्ण्य विभज्य, पाकं गच्छति इत्यप्याहारः, धातुशैथिल्यमपि करोति इत्यभिप्रायः ।
अकारादपक्रमिवेत्यत्रापि सम्बन्धः । क्रमुककोद्रवा इति—क्रमुकं पूगफलं, कोद्रवं
कुधान्यविशेषः ; अतः क्रमुककोद्रवा मदकरा ज्ञेयाः, धातुशैथिल्यात् । ओजो
बलमिति । सुश्रुतेन तदुक्तं—“रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत्
खन्दाजस्तदेव बलमित्युच्यते” (सु० सू० १५ अ०) अतः,—“देहः सावयवकान्
व्याप्ता भवति देहिनाम्” (सु० सू० १५ अ०) इति । सन्धिप्रसृतौनां शिथिलत्वेन
अमाणां (?) * चोत्पद्यते, तेन ओजःक्षयो भवतीत्यभिप्रायः । अत एवाह कश्चिन्
—“अभिघातात् क्षयात् कोपात् ध्यानाच्छोकाच्छमात् क्षुभः । ओजः सङ्क्षोभेन
क्षिभ्यो धातुगच्छति” इत्यतम् ॥” (सु० सू० १५ अ०) इति । अन्ये तु सविशेषो (?) :
अथायी तोष् ५शेषा विकाशोति ब्रूवते, तत्र सर्वमतम् ॥ २० ॥

अथ मदकारिद्रव्यस्य लक्षणानि दर्शयन्नाह, बुद्धिमिति ।—यद्द्रव्यं बुद्धिं
ज्ञाननिषयं लुप्पति आच्छादयति तन्मदकारि कथ्यते, अत एव तमोगुणप्रधानं
तमोगुणबहुलमित्यर्थः । यथा सुरादिकं मद्यादिकम् । बुद्धिस्तु मेधाश्रुति-
स्मृतिमतिप्रतिपात्तषु वर्तते । एतेषां लक्षणं प्रसङ्गादुच्यते, तद्वयथा—मेधा

* अनादिकम् इति पाठः सङ्गतः ।

† मन्वे, “सुरविशेषः” इति पाठाऽत्र भाव्यः, “सविशेषः” इत्यस्य
निरर्थकत्वात् ।

जीवितहरम् ।—

व्यवायि च विकाशि स्यात् सूक्ष्मं ह्येदि मदावहम् ।

आग्नेयं जीवितहरं योगवाहि स्मृतं विषम् ॥ २२ ॥

प्रमाथि ।—

निजवीर्येण यद्वयं स्रोतोभ्यो दोषसञ्चयम् ।

निरस्यति प्रमाथि स्यात्तद्वयथा मरिचं वचा ॥ २३ ॥

यस्याकर्षणसामर्थ्यम् । धृतिः सन्तुष्टिः, अन्ये “निग्रमात्मिका बुद्धिर्” आहुः । श्रुतिः पूर्वानुमतस्य स्मरणम्, “अर्थधारणाशक्तिः” इत्यन्ये । मतिरनागतविषयोपदेशः, “विकालविषया बुद्धिः” इत्यन्ये । प्रतिपत्तिरर्थावबोधप्रागल्भ्यमिति । सृगादिकमित्यादि यद्वयात् सर्वे मयविकारा गृह्यन्ते । ननु, मयानु बुद्धिश्रुतिवाग्विचेष्टादिकरमुत्तमः ; तदुक्तं—“बुद्धिश्रुतिप्रतीतिकरः सुखस्य पानान्ननिद्रातिवर्द्धनस्य । सम्पाठगौतमस्वरवर्द्धनस्य प्राक्तोऽतिरस्यः प्रथमो मदो हि ॥” (मा० नि० मदात्म्य) तत् कथं बुद्धिलोपकरमभिहितम् ? उच्यते—मदस्य चतस्रः पानावस्थाः कथिताः ; तत्र—प्रथमो मदः बुद्ध्यादिकं करोति, शेषास्तु बुद्ध्यादिकं क्षुब्धनीत्यदोषः । तदुक्तं साधवेन—“अव्यक्तबुद्धिश्रुतिवाग्विचेष्टः क्षीयमानलोलाकृतिरप्रशान्तः । आलस्यनिद्राभिहतो मुहुष मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन ॥” (मा० नि० मदात्म्य) इत्यादि ॥ २१ ॥

अथ प्राणहरद्रव्यमाह, व्यवायि चेति ।—यद्वयं व्यवायादिगुणयुक्तं भवति, तज्जीवितहरं प्राणहरं श्रुतं कथितम् ; यथा विषं, तदेव योगवाहि श्रुतमित्यर्थः । व्यवायीति—समस्तदेहं व्याप्य पश्चात् पाकं गच्छतीति व्यवायी गुणः । विकाशी गुणस्य सकलदेहं व्याप्य धातुश्लेष्मिणं करोति । सूक्ष्मो गुणस्तूक्ष्मात् सूक्ष्मे स्रोतःस्वनुसरः श्रुतः । हृदि मं मनोदोषधातुमलादीन् बलादुन्मूलयति तच्छेदि कथितम् । मदावहमिति मदकारकम् । आग्नेयमित्याग्नेयगुणसूयिष्ठम् । योगवाहीति रसादिषु द्रष्टव्यम् ॥ २२ ॥

अथ प्रमाथिद्रव्यमाह, निजवीर्येणेति ।—यद्वयं निजवीर्येण स्वप्रभावेण कृत्वा स्रोतोभ्यः कर्णमुखनासादीनाम् अन्यविषयेभ्यश्च वा दोषवाहुष्यं निरस्यति तत् प्रमाथिभञ्जं कथितम् । यथा मरिचं वचा । दोषशब्दोऽत्र व्याधिष्वपि वर्तते कारणकार्योपचारात्, तेन व्याधिसञ्चयमपीत्यर्थः ॥ २३ ॥

अभिष्यन्दि ।—

पैच्छित्यान्नौरवाद्गुर्व्यं रुद्धा रसवद्वाः शिराः ।

धत्ते यन्नौरवं तत् स्यादभिष्यन्दि यथा दधि ॥२४॥

इति श्रीदामोदरमुन्या श्रीशार्ङ्गधरेण विरचितायां शार्ङ्गधरसंहितायां

सूत्रस्थाने दीपनपाचनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इति सूत्रस्थानम् ।

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ कलादिकाख्यानाध्यायः ।

कलास्वरूपम् ।—

* (धात्वाशयान्तरस्थस्तु यः क्लेदस्त्वधितिष्ठति ।

देहोष्मणा विपक्वो यः सा कलेत्यभिधीयते ॥)

कलादीनां सङ्ग्रानिर्देशः ।—

कलाः समाशयाः सप्त धातवः सप्त तन्मलाः ।

सप्तोपधातवः सप्त त्वचः सप्त प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

अथाभिष्यन्दिलक्षणमाह, पैच्छित्यादिति ।—यद्गुर्व्यं पैच्छित्यात् पिच्छिल-
गुणयोगात्, गौरवात् गुरुगुणयोगात्, गुरुपाकस्वभावाद्वा रसवद्वास्तुविंशति-
सङ्ख्याकाः शिराः रुद्धा संरुध्य गौरवं गुरुतां धत्ते तदभिष्यन्दि कथितम् । यथा
दधि । अभिष्यन्दीति श्लेषप्रकीर्णोति इतिः गुणसाधर्म्यात्, श्लेषाऽपि पिच्छिलगौरवादि
गुणयुक्तः ॥ २४ ॥

इति श्रीवासव्यान्वयप्रकाशवेद्यश्रीभावसिंहात्मजोनाट्टमञ्जेन विरचितायां शार्ङ्गधर-

दीपिकायां प्रथमखण्डे दीपनपाचनादिविधिरध्यायचतुर्थः ॥ ४ ॥

पूर्वमुक्तं कलादिकाख्याना इति, अतस्तद्दर्शयन्नाह, कला इति ।—कलादि

* एके श्लोकमिमं प्रक्षिप्तं वदन्ति ।

त्रयो दीषा नवशतं स्नायूनां सन्ध्यस्तथा ।

दशाधिकञ्च द्विशतमस्थ्राञ्च त्रिशतं मतम् ॥२॥

सप्तोत्तरं मर्मशतं शिराः सप्तशतानि च ।

चतुर्विंशतिराख्याता धमन्यो रसवाहिकाः ॥३॥

भांसपेष्ट्यः समाख्याता नृणां पञ्चशतं बुधैः ।

स्त्रीणाञ्च विंशत्यधिकाः कण्डूराद्यैव षोडश ॥४॥

नृदेहे दश रन्ध्राणि नारीदेहे त्रयोदश ।

एतत् समासतः प्रोक्तं विस्तरेणाधुनोच्यते ॥५॥

प्रतानानामेतन्नामसङ्ख्याकघनम् । समासतः सङ्क्षेपात्, प्रोक्तं कथितमित्यन्वयः ।
तद्वयथा—कलाः सप्तसङ्ख्याकाः, तास्य धात्वाश्रयान्तरमन्यादाः । तथा हि—“धात्वा-
श्रयान्तरस्यस्तु यः क्लेदस्त्वधितिष्ठति । देहाप्येणा विपक्षय सा कलित्वभिधीयते ॥”
इति । आश्रयाः सप्त, आश्रयाः स्थानानि, तानि कोष्ठशब्देनोपलक्षितानि : तथा हि
—“स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूदस्य रुधिरस्य च । ऋदण्डकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधी-
यते ॥” (सु० चि० २ अ०) इति । धातवः सप्त कथिताः, धातवो रसादयः, ते
“रसाऽऽसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः” (वा० सू० १ अ०) इति । सप्त तन्मूला
धातुमूलाः, तेषां धातूनां प्रतिपाकतः कफादिभञ्जा इत्यर्थः । समीपधातव इति—
धातुसमीपे भवा उपधातवः, यथा गोमयादिभ्यो हसिकादिसम्भवः, ते कन्ध्वरजःप्रभृतयः ।
त्वचः सप्त प्रकीर्तिता इति—शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य श्वीरस्थेव सन्तानिकाः सप्त
त्वचो भवन्ति । त्रयो दीषाः वातपित्तकफभञ्जाः, धात्वादीन् दूषयन्ति इति ।
सन्धिरवयवादीनां सन्धानं, यन्विरिति लोके । अथ चकारयद्व्यात् दशीतरशत-
द्वयादपि अधिका बोद्धव्याः । तदुक्तं—“ज्ञेयं चिकित्सकेनूनं सन्धीनाञ्च
शतद्वयम् । दशीतरं रु०से हे निजगादाविनन्दनः ॥” इति । अस्थ्राञ्च त्रिशतं
मतमिति—अस्थि सारभूतं शरीरस्थाधाररूपञ्च कथितम् । सप्तोत्तरं मर्मशत-
मिति—मर्माणि जीवस्थाधाररूपाणि, तानि सप्ताधिकशतसङ्ख्याकानि । तथा
शिराः सप्त शतानि चेति—दीषधातुजलवाहिन्यः शिराः कथिताः । चकारादव
न च सप्तशतं नियतम् अन्यथा सन्धीत्येके भाषन्ते ; तदुक्तं—“द्विसप्ततिसङ्ख्याणि
नाड्यीनां तद्विनिर्गताः । ताभ्यो विनिर्गता नाड्यस्ताभ्योऽद्यान्याः पुनः पुनः ॥
तावन्तो नाडिका देहे यावन्तो रोमकूपकाः । स्थूलमूलाः सूक्ष्मायाः पत्ररेखा-

कलानां विवरणम् ।—

मांसासृष्टेदसां तिस्रो यकत्प्रीक्रीशतुर्थिका ।

पञ्चमी च तथाऽन्धाणां षष्ठी चाग्निधरा मता ।

रेतोधरा सप्तमी स्यादिति सप्त कलाः स्मृताः ॥६॥

प्रतानवत् ॥” इति । धनन्यो नाडीविशेषाश्चतुर्विंशतिसङ्ख्याकाः कथिताः, ताश्च रसवर्ण-
श्रेयाः, शिरा धनन्यो नाड्यश्च परस्परपर्यायवाचका श्रेयाः, भिन्नत्वमासां कार्यत्वात् ।
मांसपेक्ष्य इति—नृणां पुरुषाणां मांसपेक्ष्यः पञ्चशतसङ्ख्याकाः समाख्याताः, बुधे-
रिति शेषः, पेक्षी दीर्घाकृतिमांसखण्डः । अपरैश्चतुरस्त्रा पेक्षीत्युच्यते । तथा प्रोक्तं
—“चतुरस्त्रा भवेत् पेक्षी हस्तः पिण्डो घनः स्मृतः । शाकालीमृज्जुलाकारमर्जुदं
परिचक्षते ॥” इति । स्त्रीणां विशत्यधिकका इत्यनेन मांसपेक्ष्यः कथिताः, अधिकाश्च
पञ्चशतात्, तेन विशत्यधिकपञ्चशतमांसपेक्ष्यः स्त्रीणां भवन्तीत्यभिप्रायः । विंशति-
विंशरणमाह—सप्तयोः पञ्च पञ्च, चतस्रश्च योनौ, गर्भमार्गे तिस्रः, गर्भाशये च
तिस्र इति । कण्डराद्यैव षोडशीति—कण्डरा मद्वास्त्रायुः षोडशीति षोडश
सङ्ख्याकाः ; तद्यथा—चतस्रः पादयोः, हस्तयोश्चतस्रः, शीवाया चतस्रः, प्रष्ठे
चतस्रः । नृदेहे दश रम्भाणि नारीदेहे त्रयोदशति—नृदेहे पुरुषवर्गरे
दशसङ्ख्याकानि रम्भाणि किंदाणि, स्त्रीत्यप्याहार्यम् । नारीदेहे स्त्रीवर्गरे त्रयोदश
रम्भाणीति भावः, तान्ये वक्ष्यमाणानि ज्ञातव्यानि । एतत् सर्वं कलादिकं
समासतः सङ्केपात् प्रोक्तं कथितमित्यर्थः ॥ १—५ ॥

अथ “विस्तरैषाधुनोच्यते” इत्युक्तं प्राक्, इदानीं विस्तरमेतेषां दर्शयन्नाह,
मांसेति ।—मांसासृष्टेदसा तिस्रः कलाः, तासां संज्ञा यथा—मांसधरा, रक्तधरा,
सेतोधरा इति । चतुर्थिका यकत्प्रीक्रीः सा ज्येष्ठधरा यकत्प्रीक्रीमध्ये इत्यभिप्रायः ।
पञ्चमी कला चान्धाणां, सा पुरीषधरा । षष्ठी चाग्नेः, सा पित्तधरा । सप्तमी
कला रेतोधरा इति सप्त कलाः स्मृताः कथिताः । तदुक्तं सुश्रुते—“तासां प्रथमा
मांसधरा नाम, यस्यां मासे शिरास्त्रायुधमनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति । यथा
विसृष्ट्यालानि विवर्जन्ते समन्ततः । मूमी पण्डोदकस्थानि तथा मांसे शिरादयः ॥”
(सु० शा० ४ अ०) इति । ननु रसाद्रक्तं ततो मांसमिन्द्रादि क्रमः, तत्कथं
प्रागेव मांसधरा कथिता ? उच्यते—शरीरपोषणार्थं रसादिकमोऽयं, न तु धारणः
अत एव मांसधरत्वेन पूर्वं प्रतिपाद्य कला निर्दिष्टाः परस्परानुयुक्ताः । “द्वितीया रक्तधरा
नाम मांसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शीघ्रितं विशेषतश्च शिरासु यकत्प्रीक्रीश्च भवति । वक्ष्याम्

आशयानां विवरणम् ।—

श्लेष्माशयः स्यादुरमि तस्मादामाशयस्त्वधः ।

ऊर्ध्वमग्न्याशयो नाभेर्बामभागे व्यवस्थितः ॥७॥

तस्योपरि तिलं ज्ञेयं तदधः पवनाशयः ।

यथाभिप्रेक्षतात् चौरिणः चौरमावहेत् । मासादेवं चतात् विप्रं शोणितं सम्प्रमिच्यते ॥” इति । “तृतीया मेदीधरा नाम ; मेदी हि सर्वभूतानामुद्रस्थ-
मण्डस्थिषु च, मङ्गु च मज्जा भवति । स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः ।
अधेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते ॥” इति । “चतुर्थी श्लेष्मधरा नाम सर्वसन्धिषु
प्राणवृत्तां भवति । स्नेहाभ्यक्ते यथा त्वचे चक्रं साधु प्रवर्तते । सन्धयः साधु वर्तन्ते
संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा ॥” इति । “पञ्चमी पुरीषधरा नाम याऽन्तःकोष्ठे मलमभि-
विभजते पक्वाशयस्या । यकृत्समन्तात् कोष्ठञ्च तथाऽन्तर्गात्रं समाश्रिता । उलूकस्थं
विभजते मलं मलधरा कला ।” (सु० शा० ४ अ०) इति । “षष्ठी पित्तधरा नाम,
या चतुर्विधमन्नपानमुपयुक्तभामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति । आश्रितं
खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम् । तज्जीयेति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा ॥”
(सु० शा० ४ अ०) इति । “सप्तमी शुक्रधरा नाम या सर्वप्राणिनां सर्व-
शरीरव्यापिनी । यथा पयसि सर्पिस्तु गुडयन्तुरसे यथा । शरीरेषु तथा
गन्तं नृणां विद्याह्वयस्वरः ॥ इन्द्रुले दक्षिणे पार्श्वे वाक्तराशयः चाप्यधः ।
मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते ॥ कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसक्तमनसस्तथा ।
स्त्रीषु व्याधकृतश्चापि वृषात् तत् सम्प्रवर्तते ॥” (सु० शा० ४ अ०) ॥ ६ ॥

इदानीं सप्ताऽऽशयानाह, श्लेष्माशय इति—उरसि वचःस्थले श्लेष्माशयः, आशयो-
ऽविज्ञानं तत्र विशिष्टस्थानं कफस्थित्यर्थः । तस्मात् श्लेष्माशयादधः आमाशयः, आमो-
ऽपरिपक्वाकारः तस्याऽऽशयः स्थानमित्यर्थः, स एव क्षान्तरात् किञ्चिदधो ज्ञातव्यः ;
तथा चोक्तं—“नाभिक्षान्तरं जलोरामाशय उदाहृतः ॥” (च० वि० विविधकुडीय०)
नाभेरुर्ध्वमग्न्याशयः, स एव यद्विषयीस्थानं कथितम् । “अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य यद्विषयात्
यद्विषी मता । नाभेरुपरि सा ह्याग्निबलोपष्टभमृदिता ॥” (च० वि० यद्विषी०) इति
वचनात् । बामभागे व्यवस्थित इति सोऽप्यग्न्याशयस्तु नाभेर्बामभागे आश्रित इत्यर्थः ;
बामभागे पुरुषस्य इति व्याख्यानं वा । तस्योपरि तिलं ज्ञेयं—तिलमित्यनेन
क्लृप्तं कथितं, तत् पिपासास्थानमित्यभिप्रायः । अत एव जलवाहिरामूलं तिल-
मित्युक्तमाचार्येण । एके—“तस्योपरि जलं ज्ञेयम्” इत्येवं पठन्ति व्याख्यानमिति च ।

मलाशयस्त्वधस्तस्मात् वस्तिर्मूत्राशयस्त्वधः ॥

जीवरक्ताशयमुरो ज्ञेयाः सप्ताशयास्त्वभौ ॥८॥

पुरुषेभ्योऽधिकाश्चान्ये नारीणामाशयास्त्रयः ।

धरा गर्भाशयः प्रोक्तः स्तनौ स्तन्याशयौ मतौ ॥९॥

धातूनां विवरणम् ।—

रसासृक्क्षाममेदोऽस्थि-मज्जाशुक्राणि धातवः ।

जायन्तेऽन्योऽन्यतः सर्वे पाचिताः पित्ततेजसा ॥१०॥

पूर्वपूर्वधातव्यः उत्तरीत्तरधातूनामुत्पत्तिः ।—

* (रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते ।

मेदमोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्रसम्भवः ॥)

तथा स्मृतम्—“अग्रेऽर्द्धं जलं स्थाप्य तदग्रं च जलीपरि । अग्रैरधः स्वयं वायुः स्थितोऽग्निं धमते शनैः ॥ वायुना धममानोऽग्निरत्युष्णं कुरुते जलम् । तदन्न-मुष्णतोयं समन्तात् पच्यते शनैः ॥” इति । तदधः पवनाशय इति—तत् तस्यान्याशयस्याधः पवनाशयो वायोः स्थानमित्यर्थः, तस्य वायोः समान इति संज्ञा । मलाशयस्त्वधस्तस्मादिति—तस्य पवनाशयस्याधो मलाशयः, स च पक्वाशयः कथितः । तस्मैकदेशं वा विभक्तः मलाधारः उण्डुको विद्यते; अत एवोण्डुकात् पक्वाशयो भिन्नः इति । उण्डुकः पोटलकः इति लोके । चरके तु पुरीषान्न शब्देनोण्डुकः प्रतिपादितः इति । बलिर्मूत्राशयस्त्वध इति—अत्रापि पवनाशयस्याधः इति सम्बन्धः । बलिभूतं चर्मखल्लाटकाकारो मूत्राधारः, स च पक्वाशय-समीपे स्थितः । जीवरक्ताशय इति—जीवतुल्यं रक्तं, तस्याशयः स्थानं, तच्च “ज्ञेया” इति प्रसिद्धं हृदयस्य तामसागाश्रितं भवति । अत एव जीवरक्ताशयसुर इति प्रतिपादितम् । ज्ञेयाः सप्ताशयास्त्वभौति—अभौ पूर्वोक्ताः सप्ताशया बोद्धव्याः । तद्वक्तं वाग्भटेन—“दाः सप्त सप्त चाधारा रक्तस्थायाः कृमात् परं । कफामपित्तपक्वानां वायोर्भवस्य च स्मृताः ॥” (वा० शा० १ अ०) इति । नारीणामाशयास्त्रय इति—पुरुषाशयेभ्योऽधिकाः स्त्रीणां त्रय एवाशया विज्ञेयाः, एको गर्भाशयः, द्वौ स्तन्याशयौ च । गर्भाशयस्य पक्वाशयान्तरे वर्तते । स्तन्याशयौ चोराशयौ ॥ ७—९ ॥

अथ धातूनां सप्तसङ्ख्याविवरणं दर्शयन्नाह, रसेति ।—रसादयः सर्वे धातवः पित्ततेजसा प्रतिधात्वग्निना पाचिताः परिपाच्यमाना अन्योऽन्यतः परस्परानुपपन्नात्

* क्राचत् श्लोकानि कृ प्रविष्टं सम्बन्धे ।

मलानां विवरणम् ।—

जिह्वानेत्रकपोलानां जलं पित्तञ्च रज्जकम् ।

कर्णविड्मनादन्त-कक्षामेढ्रादिजं मलम् ॥ ११ ॥

नखनेत्रमलं वक्त्रे स्निग्धत्वं पिण्डिकास्तथा ।

जायन्ते सप्तधातूनां मलान्येतान्यनुक्रमात् ॥ १२ ॥

मलानाम् अन्यविधिविवरणम् ।—

कफः पित्तं मलः खेषु प्रस्वेदो नखरोम च ।

नेत्रविट्त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः ॥ १३ ॥

जायन्ते उत्पद्यन्ते इति भावः । तदुक्तं—“रसादन्तं ततो मांसं मासान्धेदः प्रजायत । मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्रसम्भवः ॥” (सू० सू० १४ अ०) इति । परिणामस्त्रिविध एव धातूनां मलस्थूलाणुभागविशेषेण भवति । तद्वत्तथा—अन्नात् पच्यमानाद्विष्णुं मलः, सारो रसः । रसादग्निपक्वात् मलः कफः, स्थूलो भागो रसः, सूक्ष्मभागी रक्तम् । रक्तादग्निपक्वात् मलः पित्तं, स्थूलभागः शोणितम्, अणुभागी मांसमिति । मांसादग्निपच्यमानात् मलः श्रोत्रनासाप्रजननादिस्त्रोतो-मलः, स्थूलो भागो मांसं, सूक्ष्मभागी मेदः । ततोऽपि निजवर्द्धपच्यमानान्मलः स्वेदः, स्थूलोऽंशो मेदः, सूक्ष्मभागीऽस्थि । ततोऽपि पच्यमानात् मलः केशलोभश्मश्रूण, स्थूलोऽस्थि, सूक्ष्मस्तु मज्जा । ततो मज्जः पावकपच्यमानादपि मलो नयन-प्रवीणत्वञ्च स्नेहः, स्थूलो भागो मज्जा, सूक्ष्मभागः शुक्रम् । ततः पुनः पच्यमानादपि मलो नोत्पद्यते, स हि सहस्रधाऽऽघातमुवर्णयन् स्थूलो भागः । शुक्रमेव (?) स्नेहभागः सूक्ष्मस्त्रोतोभूतं श्रोत्र इति ॥ १० ॥

इदानीं मलानाह, जिह्वेति ।—सप्तधातूनां रसादीनाम् एतानि मलान्यनुक्रमात् जायन्ते ; जिह्वानेत्रकपोलानां जलमिति—तेन जिह्वाजलं नेत्रजलम् । जलमद-कफद्रवमेतद्रसस्य मलमिति भावः । रज्जकं पित्तं रक्तस्य मलं, रज्जकं रसस्य रागकरमित्युक्तत्वात् । कर्णविट् मांसस्य मलं, नासामलश्चेत्यन्ये । रसना-दन्तकक्षामेढ्रादिजं मलं मेदसः । आदियङ्गणात् स्वेदमपि केषितुं, न स्वमत, यतः स्वेदस्तु सप्तधातुषु पतित एव । नखा इति अस्या मलम् । नखा इति बहुवचनेन केशलोभादीनां ग्रहणम् । नेत्रमलं वक्त्रेस्निग्धता च मज्जो मलं, नेत्रमलं नयन-

उपधातूनां विवरणम् ।—

स्तन्यं रजश्च नारीणां काले भवति गच्छति ।

शुद्धमांसभवः स्नेहः सान्त्वसा परिकीर्त्तिता ॥१४॥

स्वेदो दन्तास्तथा केशास्तथैवौजश्च सप्तमम् ।

इति धातूद्भवा ज्ञेयाः एते सप्तोपधातवः ॥१५॥

पुरीषम् । पिण्डिका इति—शुक्रस्य पिण्डिकाऽव यौवनोद्भवा । तर्हेति यद्व्याप्तं
अमृग्यपि गृह्यते, यतः आकृष्टाण्डकोषस्य पंमः अमृगपातात् अमृगं शुक्रमलमित्येके ।
अपरं षडेव मलान् यथाक्रमं कथयन्ति । ते तु नेत्रमलं वक्त्राखण्डत्वं पिण्डिकादिकञ्च
मउजो मलमिति व्याख्यायन्ति । तदुक्तं—“किङ्कमन्नस्य विष्णुवं रसस्य तु कफोऽसृजः ।
पित्तं मांसस्य तु मलो खेपुः स्वेदस्तु मेदसः ॥ नखमस्थस्तु लोमाद्या मउजः स्नेहो-
ऽन्निविटत्वचः । प्रसादकिङ्के धातूनां पाकादेवंविधः स्रुतः ॥ शुक्रस्यातिप्रसङ्गत्वा-
न्मलाभाव इति स्रुतिः ॥” इति ॥ ११—१३ ॥

इदानीमुपधातूनामपि विवरणं दर्शयन्नाह, सत्यमिति ।—सत्यादयः सप्तोपधातवो
धातूद्भवा बोद्धव्याः । स्तन्यं स्त्रीरं रसस्योपधातुः, रजशार्त्तवो धातुः, एतद्वृश्च
स्त्रीणां काले समये भवति गच्छति च । तथा च रोमराज्यादयश्च विशिष्टा
नारीणां कालान्तरेणामित्युक्तं गच्छन्ति इति सम्बन्धः । अर्वादिशब्दात् सत्यार्त्तवाद्यौ
गृह्यन्ते । शार्त्तवमपि तन्नान्तरे यथा—“रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्त्तते ।
तद्वर्णाद्वाटशार्द्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥” (सू० सू० १४ अ०) इति । शुद्ध-
मांसभवः स्नेहो मांसस्योपधातुः, एव एव वसा कथिता । शुद्धमांसं स्थूलभावप्राप्तमांस-
मिति भावः, तदस्थी यः स्नेहः स एव च वसाशब्दवाच्यः, “मांसस्नेहो वसा
मता” इति वचनात् । स्वेदो मेदस उपधातुः, स्वेदः प्रस्वेदः । दन्ता अस्थ्यामुपधातुः ।
केशा मज्जीपधातुः । ओजः शुक्रस्योपधातुः । धातूद्भवा इति धातूत्पन्नाः, तेषां
परिपाकविषयत्वात् । क्वचिद्वेते तु मलान्तर्भूतत्वेन तदेव गणिताः । एते सप्तोप-
धातवः इत्यनेन सप्तोपधातवः नियता ज्ञेयाः । अन्यत्राप्युक्तं—“रसात् स्तन्यं ततो
रक्तमसृजः सायुकण्डराः । मांसादसा त्वचः स्वेदो मेदसः सायुसन्धयः ॥”

* चरके तु—“रसात् स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः शिराः । मांसादसा
त्वचः षट् च मेदसः सायुसन्धयः ॥” इतिभावपाठः परिदृश्यते ।

ओजःसूक्ष्मम् ।—

ओजः सर्वशरीरस्थं शीतं स्निग्धं स्थिरं मतम् ।

सोमात्मकं शरीरस्य बलपुष्टिकरं मतम् ॥१६॥

त्वचां विवरणम् ।—

ज्ञेयाऽवभासिनो पूर्वं सिद्धस्थानञ्च सा मता ।

द्वितीया लोहिता ज्ञेया तिलकालकजम्भूः ॥१७॥

श्वेता तृतीया सङ्ग्राता स्थानं चर्मदलस्य च ।

ताम्बा चतुर्थी विज्ञेया किलासश्वित्रभूमिका ॥१८॥

पञ्चमो वेदिनी ख्याता सर्वकुष्ठोद्भवा ततः ।

विख्याता रोहिणी षष्ठो ग्रन्थिगण्डापचोस्थितिः ॥१९॥

स्थूला त्वक् सप्तमो ख्याता विद्रव्यादः स्थितिश्च सा ।

इति सप्त त्वचः प्रोक्ताः स्थूला ब्रौह्मिदिमात्रया ॥२०॥

अस्थौ दन्ताक्षया मङ्गलः केश ओजश्च सप्तमात् । चातुर्भ्यश्चोपजायन्ते तस्मात्ते
उपधातवः ॥”* इति ॥ १४/१५ ॥

ओजमा लक्षणमेतस्याग्रे पठन्ति केचित्, तद्वदथा—ओजइत्यादि ॥१६॥

ज्ञेयाऽवभासिनीति ।—इति वक्ष्यमाणप्रकारेण, ब्रौह्मिदिमात्रया यवद्वयपरिमाणेन
स्थूलाः सोमं धाः सप्त त्वचां ज्ञेयाः । कथं मातं तत्प्रकारमाह—तत्र पूर्वम् अवभासिनो
नाम अवभासयति पराजयतीति (?) भागकारिणा सर्ववर्णान् पञ्चविधाश्च क्वायां
प्रकाशयति, सैव सिद्धस्थानं कथितम् । चकारात् पञ्चकण्टकाधिष्ठानमपि ज्ञेयं,
सा ब्रौह्मरष्टादशभागप्रमाणा । द्वितीया लोहिता ज्ञेया इत्यादि—द्वितीया त्वक्
लोहिता नाम कथिता, सा तिलकालकजम्भुर्ज्ञेया । तिलकालकजम्भुर्ज्ञेयेनैव
न्यच्छब्दोद्भवाद्योऽपि गृह्यन्ते । तिलकालकप्रभृतयश्च क्षुद्ररोगे पठिताः, सैव ब्रौह्मः
षोडशभागप्रमाणा बोद्धव्या । श्वेता तृतीया सङ्ग्रातेत्यादि—तृतीया त्वक् श्वेता
नाम कथिता, सा चर्मदलस्य स्थानं, चर्मदलः कुष्ठभेदः । चकारान्मषकाजगङ्गो-
प्रभृतीनां स्थानं, सा ब्रौह्मरष्टादशभागप्रमाणा । ताम्बा चतुर्थी विज्ञेयेत्यादि—चतुर्थी
त्वक् ताम्बा नाम विज्ञेया, सा किलासश्वित्रभूमिका कथिता । किलासः कुष्ठभेदः,

* “उपगतः वैकृत्यं प्राप्तः चातुः उपधातुः” इति गू० द्रौ० ।

दोषाणां पर्यायाः ।—

वायुः पित्तं कफो दोषा धातवश्च मला मताः ।

तत्रापि पञ्चधा ख्याताः प्रत्येकं देहधारणात् ॥२१॥

दोषादीनां निरुक्तिः ।—

* (शरीरदूषणादोषा धातवो देहधारणात् ।

वातपित्तकफा ज्ञेयाः मलिनीकरणान्मलाः ॥ .

दोषेषु वायोः प्रभावः ।—

पित्तं पङ्कः कफः पङ्कः पङ्कवो मलधातवः ।

वायुना यत्र नोयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥)

शिव प्रसिद्धं, सेव त्रीहिरष्टभागप्रमाणा । पञ्चमी त्वक् वेदिनी नाम ख्याता, सा सर्व-
कषोद्ववा ज्ञेया, सर्वकषान्यष्टादशसङ्ख्याकानि । तत इति यद्वेणेन विसर्पादीनामधि-
ष्ठानं, सेव त्रीहः पञ्चभागप्रमाणा विख्याता । रोहिणी प्रप्नोति—धन्नी त्वक् रोहिणी
नाम विख्याता, सा यन्त्रिगण्डापञ्चोत्थितिः कथिता । यन्त्र्यादयः कफमेदःप्रधानाः,
अतः साधयति श्रोपदार्बुदादीनामपि स्थानं, सा च त्रीहप्रमाणा । स्थूला त्वक्
सप्तमी ख्याता इत्यादि—सप्तमी त्वक् स्थूला + नाम कथिता, सा विट्प्रकारः
स्थितिर्भवति । आदिग्रहणात् भगन्दरार्शमोः यद्वेणं, सेव त्रीहद्वयप्रमाणेन
बोद्धव्या । मांसलेषु मानमिदं न ललाटसूच्याङ्गुल्यादिषु, “यतो वत्सल्युदरं
त्रीहमुखेनाङ्गुलीदरप्रमाणमवगाढं विध्येदिति” (सु० शा० ४ अ०) ॥ १७—२० ॥

अथ दोषाणां विवरणमाह, वायुरिति ।—वायुः पित्तं कफश्च तयो दोषाः प्रसिद्धाः ।
एते एव देहधारणात् धातवः कथिताः । धातूनां मलिनीकरणात् मलाश्च
मताः कथिताः । तत्रापि देहधारणात् प्रत्येकं पञ्चधा पञ्चप्रकाराः ख्याताः ।
तदुक्तं सुश्रुते—“तत्र प्रत्यन्दोहजनपूरणविवेकधारणलक्षणी वायुः पञ्चधा प्रविभक्तः
शरीरं धारयति । रागपक्षीजसेजीमेधीषक्रतु पित्तं पञ्चधा प्रविभक्तमपि कर्मणाऽनुगृहं
करोति । सन्निश्लेषणखेदजरीपणपूरणबलस्थैर्यक्रतु श्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्तः सदृक्-
कर्मणाऽनुगृहं करोति” (सु० सू० १५ अ०) इति ॥२१॥

* श्लोकादिनां प्रसिद्धाविति केषाञ्चित् मतम् ।

+ सुश्रुते इय “मांसधरा” नाम्ना कथिता ।

वायोः स्वरूपम् ।—

पवनस्तेषु बलवान् विभागकरणान्तः ।

रजोगुणमयः सूक्ष्मः शीतो रुक्षा लघुश्चलः ॥२२॥

वायोः पञ्चस्थानानि ।—

मलाशये चरेत् कोष्ठ-वर्जिस्थाने तथा हृदि ।

कण्ठे सर्वाङ्गदेहेषु वायुः पञ्चप्रकारतः ॥२३॥

पञ्चवायोः नामानि ।—

अपानः स्यात् समानश्च प्राणोदानौ तथैव च ।

व्यानश्चेति समीरस्य नामान्युक्तान्यनुक्रमात् ॥२४॥

उदानौ तेषु वातप्राधान्यपूर्वकं तत्स्वरूपमाह, पवन इति ।—तेषु वातादिदोषेषु पवनो वायुः विभागकरणात् पञ्चकरणात् बलवान् मतः । तदुक्तं—“पित्तं पङ्कः कफः पङ्कः पङ्कवो मलघातवः । वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मन्त्रवत् ॥” इति । रजोगुणमय इत्यादि—अग्निलो रजोगुणमयो रजोगुणभूयिष्ठ इति भावः । सूक्ष्म इति सातःप्रवर्जत्वात् । शीतः शीतलभावात् । रुक्षो रुक्षगुणयोगात् । लघुः गुरुः । अलो नेकत्र स्थितिशीलः ॥२२॥

स एवाक्तस्थानेषु चानुगच्छन् वायुः पञ्चप्रकारो ज्ञेयः । केचित्प्याह, मलाशये इत्यादि ।—मलाशये पक्षाशये । कोष्ठवर्जिस्थाने इति—कोष्ठाग्रस्थाने ; कोष्ठग्रहस्थाने धात्वाग्रनिरासार्थम् । हृदि उरःस्थाने । कण्ठे कण्ठदेशे । सर्वाङ्गदेहेष्विति—सर्वाङ्ग-युक्तो देहः ; तान्यङ्गानि षट् प्रसिद्धानि । ननु, देहग्रहणेनैवाङ्गान्यपि प्राप्यन्तं, तत् कथं पृथक् ग्रहणम् ? उच्यते—अङ्गग्रहणमत्र प्रत्यङ्गादीनां निरासार्थं, तेषु प्रत्यङ्गेषु वातस्य विशेषस्थानं न प्रातपादितम् ; तस्माद्विशेषस्थानत्वेन सर्वाङ्गदेहग्रहण-कृतमित्यदोषः ॥२३॥

तथैवास्तानुक्रमानामानि यथा, अपान इत्यादि ।—अपानी वातविशेषः गुददेशे । समानो नाभिदेशे स्यात्, समानो वर्जिस्थाने । प्राणो हृदि । उदानः कण्ठदेशे । व्यानः सर्वशरीरेष्विति । तदुक्तं—“हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः । उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ॥” इति । केचिदग्निलक्षणान्यान्यन्यान्वपि पठन्ति, तदयथा—“नागः कूर्मोऽथ ककली देवदत्तो धनञ्जयः” इति । एते त्वन्वय-प्रधाननाडीषु ज्ञातव्याः ॥२४॥

पित्तस्य स्वरूपम् ।—

पित्तमुष्णं द्रवं पीतं नीलं सत्त्वगुणीत्तरम् ।

कटुतिक्तारसं ज्ञेयं विदग्धं चास्त्रतां व्रजेत् ॥२५॥

पचानां पित्तानां स्थानानि कार्याणि च ।—

अग्न्याशये भवेत् पित्तमग्निरूपं तिलोन्मितम् ।

त्वचि कान्तिकरं ज्ञेयं लेपाभ्यङ्गादिपाचकम् ॥२६॥

दृश्यं यकृति यत् पित्तं तत् रसं शोणतां नयेत् ।

यत् पित्तं नेत्रयुगले रूपदर्शनकारि तत् ॥

यत् पित्तं हृदये तिष्ठेन्मेधाप्रज्ञाकरञ्च तत् ॥२७॥

इदानीं पित्तविवरणमाह, पित्तमिति ।—पित्तमुष्णमित्युपयोगात् । द्रवमकठिनम् । पीतं वर्णतः । नीलञ्च तन्नीलवर्णं सामान्यव्याया भवति पीतं निरामावस्थायाञ्च । सत्त्वगुणीत्तरं सत्त्वगुणवद्गुणम् । कटुतिक्तारसं प्रकृतिस्थं प्रसिद्धम् । यदा विदग्धं तदास्त्रतां व्रजेदिति बाह्यगुणत्वात्, तदुक्तं—“पित्तं विदग्धमस्त्रतामुपैति चाग्नेयत्वात्” इति । अत एवाह काश्यात्—“विदग्धाग्नीषंसंस्मृतं पुनरक्तरसं भवेत्” इति । विदग्धं पित्तं पुनरस्त्रपित्तमिति रोगविशेषमपरे प्रतिपादयन्ति इति ॥२५॥

तत्स्थानानि यथा—अग्न्याशये पित्तमग्निरूपं तिलोन्मितञ्च ज्ञेयं, पक्वमाशयमग्नेः अग्न्याशयमिति वाच्यं, तदस्य चतुर्विधमन्नपानं पचति । न केवलं तिलोन्मितमन्यरूपञ्च बदन्येकं । तद्वयथा—“स्थूलकायेषु सत्त्वेषु यवमात्रं प्रमाणतः । क्रस्वमात्रेषु सत्त्वेषु तिलमात्रं प्रमाणतः ॥ क्षमिकौटपतङ्गेषु बालमात्रं हि तिष्ठेति ॥” इति । यत् पित्तं त्वचि तत् कान्तिकरं ज्ञेयं लेपाभ्यङ्गादिपाचकञ्च भवति तदुष्णगुणयोगात् । कक्षा शरीरस्थोष्णत्वम् । लेपाभ्यङ्गादीत्यादिशङ्कणात् स्नानावागदनादौ यद्गुणम् । त्वगत्र अवभासिनो नाम ज्ञेया, बाह्यत्वान्यभिप्रायः । यत् पित्तं यकृति कालखण्डे दृश्यं दृष्टिगोचरं तद्रसं शोणतां नयेत् कारातीत्यर्थः । तादृशमात्रं यादृक् प्रोक्ष्यान्नेऽस्ति तादृक् भवतीति भावः (?) । यत् पित्तं नेत्रयुगलेऽस्ति तद्रूपदर्शनकारि भवति ; रूपं पीतशुक्लादिकम् । यत् पित्तं हृदये चेतनास्थानेऽस्ति तन्मेधाप्रज्ञाकरं बोद्धव्यं, कस्मात् ? हृदयस्य कफतमोऽपनीदनविषयटीकृतत्वात् । मेधा धीधारणावती बुद्धिः, प्रज्ञा अनागतोपदेशरूपा मतिः । चकारादभिप्रायार्थितमनोरथमाधनकदुक्तम् ॥२६-२७॥

पञ्चानां पित्तानां नामानि ।—

पाचकं भ्राजकञ्चैव रञ्जकालोचके तथा ।

साधकञ्चेति पञ्चैव पित्तनामान्यनुक्रमात् ॥२८॥

कफस्य स्वरूपम् ।—

कफः स्निग्धो गुरुः श्वेतः पिच्छिलः शीतलस्तथा ।

तमोगुणाधिकः स्वादुर्विदग्धो लवणो भवेत् ॥२९॥

पञ्चानां कफानां स्थानानि कार्याणि च ।—

कफश्चामाशये मूर्द्ध्नि कण्ठे हृदि च सन्धिषु ।

तिष्ठन् करोति देहेषु स्थैर्यं सर्वाङ्गपाटवम् ॥३०॥

पञ्चानां कफानां नामानि ।—

क्षेदनः स्नेहनञ्चैव रसनश्चावलम्बनः ।

श्लेष्मकञ्चेति नामानि कफस्थोक्तान्यनुक्रमात् ॥३१॥

पित्तनामान्याह, पाचकमित्यादि ।—पित्तनामानि चतुक्रमात् पञ्चैव ज्ञातव्यानि ; क्रमो यथा—पाचकमाप्रस्थाने, भ्राजकं तर्वाच, रञ्जक यकृति, आलोचकं नेत्रयोः, साधकं हृदीति ॥ २८ ॥

इदानीं कफस्य विवरणं दर्शयितुमाह, कफ इति ।—कफोऽपि द्रष्टव्यः । कीदृशः ? तमाह, स्निग्ध इति—स्नेदगुणयोगात् । गुरुः लघुः । श्वेतो वर्णतः । पिच्छिल इति—मृदुमानः सद्रङ्गुलयादौ । शीतलोऽगुणः सौम्यत्वात् । तमोगुणाधिकस्तमोगुणवहुलः । स्वादुर्मधुरः, मधुरत्वमवाविदग्धत्वात् । विदग्धस्तु लवणो भवेदिति, तदुक्तं—“प्रकृतिस्थोऽविदग्धश्चापदुष्टो मधुरः कफः । विदग्धो विकृतश्च व्यात् प्रदुष्टो लवणकश्चा ॥” इति । यथा—विदग्धः अल्पपाकाक्षयः ॥२९॥

स्थानानि यथा, कफ इत्यादि ।—कफोऽप्येतेषु स्थानेषु तिष्ठन् देहेषु स्थैर्यं करोति सर्वाङ्गपाटवं करोति ; कथमित्याह—चामाशये चतुर्विधस्याङ्गारखाचारे माधुर्यात् पिच्छिलत्वात् प्लेदित्वान्मधुरशीतलोऽपि स्वगत्या श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य च उदककर्मणा क्लृप्तोपकारं करोति । मूर्द्ध्नि शिरसि स्थितः स्नेहेन तपणाधिकतत्वाद्विन्द्रियाणां स्वकार्यसामर्थ्यं जनयति । कण्ठे जिह्वामूले स्थितः सौम्यत्वाज्जिह्वेन्द्रियस्य रसज्ञानाज्ञानयोर्वर्तते । हृदि उरसि स्थितः शिरोबाहुद्वयसन्धानस्थानस्य संस्मरणं प्राकृतगुणेन अन्नरसमङ्गितेन हृदये स्वकार्यसामर्थ्यं करोति । सन्धिषु संस्थितः सर्वसन्धिसंश्लेषादनुगुहं करोति ॥३०॥

अथ नामान्यनुक्रमादुक्तानि ; तानि कानौत्याह—क्षेदन चामाशये, तन्न

स्नायुनां सन्धीनाञ्च स्वरूपम् ।—

स्नायवो बन्धनं प्रोक्ता देहे मांसास्थिमेटसाम् ।

सन्धयश्चाङ्गसन्धानात् देहे प्रोक्ताः कफाम्बिताः ॥३२॥

शौदकेर्गुणैराहारः प्रक्षिप्तो भिन्नसङ्घातः सुखकरो भवति इति क्लेदनव्याभिप्रायः ।
खेदो मूर्द्धि भवति, तत्र स्थितस्य खेदविषयस्य सन्तर्पणं करोतीति
तात्पर्यार्थः, खेदगुणसाधन्यात् । रसनः कफपर्यायः (१) कण्ठेऽस्ति, स च
रसज्ञाने वर्तते । अवलम्बो हृदि वर्तते, स च हृदयावलम्बनं करोतीत्यर्थः ।
श्लेष्मकः सन्धिमिति, स च सन्धिसंश्लेषणक इवति, सन्धिसन्धानं करोतीत्य-
भिप्रायः ॥३१॥

इदानीं स्नायुनां विवरणं दर्शयन्नाह, स्नायव इति ।—स्नायवो नवशतसङ्ख्याकाः,
तास्तु प्रतानवत्यो वृत्ताः पृथ्व्याः शुषिराश्च देहे मांसास्थिमेटसां बन्धनं प्रोक्ताः
कथिता इत्यर्थः । तद्वथा—शाखासु षट्शतानि ताः प्रतानवत्यो वृत्ताश्च, विसृज्याल-
सदृशः प्रतानवत्यः वृत्ताः वर्तुलाः, मङ्गास्नायव इत्यर्थः । हे शते विंशच्च कोष्टे, ताः
शुषिराः पृथुलाश्च । यीवां प्रत्युद्धं सप्रतिः, ता अपि पृथुलाः शुषिराश्च, एवं नवशत-
सङ्ख्याः स्नायवो व्याख्याताः । बन्धनमिति—सर्वशरीरावयवनिबन्धनं, तदङ्गं—
“नौर्यथा फलकाक्षीर्णा बन्धनैर्वह्मिर्युता । भारस्वमा भवेदप्सु नृयुक्ता मुसमाहिता ॥
एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः । स्नायुभिर्बहुभिर्वङ्गास्तेन भारसङ्घा-
नराः ॥” (सु० शा० ५ अ०) इति । सन्धिलक्षणमाह, सन्धय इति ।—अङ्गयद्वयेन
प्रत्यङ्गान्यपि गृह्यन्ते । सन्धयो द्विविधाश्चला अचलाश्च । यदङ्गं—“इन्वीः
कट्याश्च शाखासु सन्धयस्तु अचलाः स्मृताः । शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञेया अचला
बुधैः ॥” कट्याच्चेति चकारात् यौवायामपि अचला ज्ञेयाः । केचिदत्र सन्धिलक्षणपदे
हयं पठन्ति (१) । तान् सन्धीनस्थ्याश्रिता नव भन्त्यन्ते * ॥३२॥

* भन्ते “तान् सन्धीनस्थ्याश्रिता नव भन्त्यन्ते” इत्यत्र “तान् सन्धीनस्थ्याश्रितानेव
भन्त्यन्ते” इति पाठो युक्तः, यतः सुश्रुते चलाचलसन्धीनां दशोत्तरशतइत्यत्र तेषां
विवरणादिकञ्च उक्ता “अस्यान्तु सन्धयो स्ते केचलाः परिकीर्त्तिताः । पेशोश्चायु-
शिराणान्तु सन्धिसङ्ख्या न विद्यते ॥” इत्युक्तम्, अतश्च टीकाकृता इत्यादिषु ये
सन्धयः प्रदर्शिताः ते अस्थ्याश्रिता एव, न तु पेशाद्याश्रिताः इत्येवार्थः
युज्यते, तान् सन्धीन् अस्थ्याश्रिता नव इति पाठश्च व्याकरणदृष्ट्यात्
अर्थावश्यकतेति ।

अष्टां मर्मणाञ्च स्वरूपम् ।—

आधारश्च तथा सारः कायेऽस्थौनि बुधा विदुः ।

मर्माणि जीवाधाराणि प्रायेण मुनयो जगुः ॥३३॥

शिराणां धमनौनाञ्च स्वरूपम् ।—

सन्धिवन्धनकारिण्यो दोषधातुवहाः शिराः ।

धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ ॥३४॥

अथास्थिलक्षणमाह, आधारश्चेति ।—अस्थीनि पञ्चविधानि भवन्ति कपाल-
रुक्क-बलय-तरुण-ललकसज्जानि, काये आधारः शरीरधारणविषयः ; तदुक्तं—
“मांसान्यत्र निवहानि शिराभिः स्नायुभिलया । अस्थीन्थालम्बनं कृत्वा न शीघ्र्यन्ते
पतन्ति वा ॥” (सु० शा० ५ अ०) इति । तथा सार इति—अस्थीनि
शरीरे सारभूतः कथितः ; यथा—“अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भ्रुकडाः ।
अस्थिसारैस्तथा दंढा प्रियन्ते दंढिना ध्रुवम् । तस्माच्चरविनष्टेषु त्वय्यासिषु
शरीरिणाम् । अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि दंढिनाम् ॥” (सु० शा०
५ अ०) इति । इदानीं मर्माणि निदर्शयन्नाह, मर्माणीति ।—मर्माणि सप्तोत्तरशत-
सङ्ख्याकानि प्रायेण बाहुल्येन जीवाधाराणि प्राणाधाराणि मूलयः जगुः, तानि
मर्माणि पञ्च प्रकाराणि भवन्ति ; तद्वयथा—मांसमर्माणि नान्येकादशसङ्ख्यानि,
शिरामर्माणि एकचत्वारिंशत्, स्नायुमर्माणि सप्तविंशतः, अस्थिमर्माणि अष्टौ, सान्ध-
मर्माणि विंशतिश्चेति । एतान्यपि सद्यःप्राणहराणि कालान्तरप्राणहराणि
विश्लेष्यज्ञानि वैकल्यकराणि रुजाकराणीति कथितानि । एतेषां स्वरूपं न
लिखितमत्र विस्तरभयात् । जीवाधाराणीति—जीव आत्मा तस्याधाराणोत्पत्त्यर्थः । तदुक्तं
—“सोममावृततेजासि रजःसत्त्वतमांसि च । मर्मसु प्रायशः पुंसा भूतात्मा
आवतिष्ठते ॥ मर्मस्वभिहतास्तस्माद् जीवन्ति शरीरिणः ॥” (सु० शा० ६ अ०)
इति ॥३३॥

इदानीं शिरालक्षणं प्रकटयन्नाह, सन्धीति ।—शिराश्च स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधाः,
तासां नाभिर्मूलं, ततः प्रसरन्त्यूर्ध्वमधोस्त्यर्थं च । तथा श्लोके—“यावत्स्थु शिराः काये
सन्धवन्ति शरीरिणाम् । नाभ्यां सर्वा निवहास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः ॥” (सु० शा० ७
अ०) इति । तासां विभागाऽप्युक्तः, यथा—“तासां मूलशिराश्चत्वारिंशत्, तासां वात-
वाहिन्यः दश, पित्तवाहिन्यः दश, कफवाहिन्यः दश, दश रक्तवाहिन्यः इति । तासान्

मांसपेशीना कण्डराणाञ्च स्वरूपम् ।—

मांसपेश्यो बलाय स्युरवष्टम्भाय देहिनाम् ।

प्रसारणाकुञ्चनयोरङ्गानां कण्डरा मताः ॥३५॥

वातवाहिनीनां वातस्थानगतानां पञ्चसप्तत्यधिकशतं भवति । तावन् एव पित्त-
वाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च कफस्थाने, रक्तवाहिन्यश्च यकृतश्रीङ्गीः”
(सु० शा० ७ अ०) । सान्धिवन्धनकारिण्यं इति—आकुञ्चनप्रसारणादिभि-
र्विशेषैरित्यर्थः । इदानीं धमनीलक्षणमाह, धमन्य इति ।—धमनादनिलपूरणात्
धमन्यः । रसवाहिन्य इति—चतुर्वैशतिसङ्ख्याकाः । तासाञ्च नाभिप्रभवामामूर्धगा
दश, दश आधोगामित्यथतस्त्रिंशत्यङ्गानामण्यो भवन्ति । अधोगतास्तु वातमूत्रपुरीष-
शुक्राक्षवानधो वहन्ति । अन्नपानरसवाहिन्यो दशोर्धगाः । * त्रिंश्याणाम्
चतसृणां धमनीनामेकैका शतधा सङ्ख्यधा चोत्तरीत्तरं विभज्यन्ते । तास्व-
सङ्ख्यायाः ताभिरिदं शरीरं जालकैरिव व्याप्तं, तासान् मुखानि रोमकूपप्रतिबद्धानि
यैः स्वेदमभिवहन्ति, रसश्चापि सन्तर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च, तैरेव आभ्यङ्गपरिषेकावगाढा-
लेपनवीर्याण्यन्तःशरीरमभिप्रतिपद्यन्ते ॥ ३४ ॥

अथ पेशीवर्णनमाह, मांसपेश्य इति ।—मांसावयवसङ्घाताः परस्परं विभक्ताः
पेश्य इत्युच्यन्ते । तास्व बलाय भोजसे स्युः कथिताः । अत एवाह कश्चित्—“शिरा-
स्त्रायुस्थिपर्वोण सन्धयश्च शरीरिणाम् । पेशीभिः संहतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ॥”
(सु० शा० ५ अ०) इति । तासान् स्थानविशिषाद्गानास्वरूपत्वं दर्शितम् । तदयथा—
“बहुलपेलवस्थलाणपृष्ठतङ्गस्वटीर्घास्त्रिरमृदुल्लङ्घककर्मशर्भाः” (सु० शा० ५ अ०) ।
प्रत्येकलक्षणमेतेषाञ्च न लिखितमत्र गम्यगौरवमयात् । अथ कण्डराः,—कण्डरा
महास्त्रायवः, अङ्गानां हस्तपादशिरःपृष्ठप्रभृतीनां प्रसारणाकुञ्चने कर्मविशेषो तयो-
र्व्यापारो यासां ताः । कण्डराः षोडश, तासां प्ररोडा यथा—“हस्तपादगतानां
कण्डराणा नव्वाः प्ररोडाः, यीवाहृदयनिबन्धनीनाम् अधोभागगतानां मृदम् ।
शोणिपृष्ठनिबन्धनीनामधोभागगतानां विन्धः मूर्द्धोदवसीऽर्धपण्डादीनाञ्च” ।

* आदौ अधोगता उक्ता पश्चात् ऊर्धगाया उक्तिः प्रक्रममङ्गदोषदुष्टा न समीचीना,
तथा “अन्नपानरसवाहिन्यो दशोर्धगाः” इति पाठोऽपि सुश्रुतिविरुद्धतया न युक्तः ;
तथा च सुश्रुतः,—“ऊर्धगाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रश्नासोष्मासृग्ज्वलितसुहृदितकथित-
वदितादीन् विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति” इति ।

रन्ध्राणां विवरणम् ।—

नासानयनकर्णानां हे हे रन्ध्रे प्रकीर्तिते ।

मेढनापानवक्त्राणामेकैकं रन्ध्रमुच्यते ॥

दशमं मस्तके प्रोक्तं रन्ध्राणीति नृणां विदुः ॥३६॥

स्त्रीणां त्रीण्यधिकानि स्युः स्तनयोर्गर्भवर्त्मनः ।

सूक्ष्मच्छिद्राणि चान्यानि मतानि त्वचि जन्मिनाम् ॥३७॥

फुप्फुसप्लीहायकतां स्थाननिरूपणम् ।—

तहामे फुप्फुसप्लीहौ दक्षिणाङ्गे यकृन्मतम् ॥३८॥

(सु० शा० ५ अ०) । षोडशयष्टमस्य शस्त्रव्यापारनिषेधार्थम् ; तथा हि—“जालानि कण्डराशयं पृथक् षोडश निर्दिशेत् । षट् कूर्चाः सप्त सेवन्ती मेढ्राजह्वाशिरोगताः ॥ शस्त्रेण ताः परिहरेद्यतस्त्री मांसरञ्जवः ॥” इति ॥ ३५ ॥

अथ रन्ध्राग्राह, नासेत्यादि ।—नासादीनां त्रयाणां हे हे रन्ध्रे प्रकीर्तिते । तेन हे नासायां, हे नयनयोः, हे कर्णयोरिति । मेढनापानवक्त्राणामेकैकम् । मेढ्रं मेढ्रम्, अपानं गुदसंज्ञं, वक्त्रं मुखकुहरम् । दशमं रन्ध्रं मस्तके चोक्तम् ; तद्ब्रह्मरन्ध्रमित्याहुरेके । एतानि नव स्त्रीतांसि नराणां बहिर्मुखानि भवन्ति, दशमं मस्तके प्रच्छन्नमिति । स्त्रीणामपराणि च वीणि ; तानि कानि ? इत्याह, स्त्रीणामिति ।—हे स्तनयोः क्षीरवह्ने, एकं गर्भवर्त्मनः अक्षलातदन्तवह्नमित्यर्थः । अन्यान्यपि स्त्रीतांसि सन्तीत्याह, सूक्ष्मच्छिद्राणीति ।—जन्मिनां पुरुषाणां त्वचि विषये चान्यानि सूक्ष्मच्छिद्राणि मतानि कथितानीत्यर्थः । तान्यसङ्ख्यायानि, यस्मात् सूक्ष्मत्वाद् दृश्यन्ते अतोऽन्तर्मुखानि वदन्त्यन्ये । अकारादन्यान्यपि स्त्रीतांसि मन्यन्ते केचित् । तानि तु प्राणाग्नीदकरसरक्तमांसमदीमूवपुरीषयुक्तार्चववह्नानि । एतेषां स्वरूपमव बाहुल्याद् लिखितम् ॥ ३६।३७ ॥

इदानीं शरीरकथनप्रसङ्गेनान्येषामपि फुप्फुसादीनां स्वरूपं निदर्शयन्नाह, तहामे इति ।—तहामे हृदयस्य वामभागे फुप्फुसप्लीहानी भवतः । फुप्फुसः स्वनामव्यातः शोणितफेनप्रभवी हृदयनाडिकालग्नः, प्लीहा च शोणितजः स्वनाम्ना प्रसिद्धः ; एतद्व्यञ्जं वामपार्श्वे स्थितमिति भावः । दक्षिणाङ्गे हृदयपार्श्वे यकृत् कालखण्डं मतम्, एतदपि शोणितजम् ॥ ३८ ॥

फुप्फुसस्य ग्रीकस्य स्वरूपम् ।—

उदानवायोराधारः फुप्फुसः प्रोच्यते बुधैः ।

रक्तवाहिशिरामूलं ग्रीहा ख्याता महर्षिभिः ॥३८॥

यकृतः तिलस्य (क्लोमः) च स्वरूपम् ।—

यकृत् रज्ज्वकपित्तस्य स्थानं रक्तस्य संश्रयः ।

जलवाहिशिरामूलं दृणाच्छादनकं तिलम् ॥४०॥

वृक्कयोः वृषणयोश्च स्वरूपम् ।—

वृक्को पुष्टिकरो प्रोक्तो जठरस्थस्य मेदसः ।

वोर्थ्यवाहिशिराधारो वृषणो पौरुषावहौ ॥४१॥

लिङ्गस्य हृदयस्य च स्वरूपम् ।—

गर्भाधानकरं लिङ्गमयनं वोर्थ्यमूत्रयोः ।

हृदयं चेतनास्थानमोजसश्चाश्रयं मतम् ॥४२॥

अथ तेषां शरीरे व्यापारमाह, उदानवायोराध्यादि ।—फुप्फुसः उदानवाधोः कण्ठस्थितवायोराधारः आश्रयः बुधैः प्रोच्यते । ग्रीहा रक्तवाहिशिरामूलमाख्यातम् ; प्रोहति “वनहवा” शब्दवाच्यः ॥३८॥

यकृतं रज्ज्वकस्य पित्तस्य स्थानं रक्तस्य च स्थानमिति । तिलन्तु शोणितकिट्टप्रभवं दक्षिणाश्रितं यकृतमनीषे क्लोमसंज्ञकं भवति, तच्च जलवाहिशिरामूलं कथितम्, अत एव दृणाच्छादनकं प्रतिपादितं, दृणा पिपासा तस्याः आच्छादनं करोतीत्यर्थः ॥४०॥

वृक्कवृषणयोः स्वरूपमाह,—वृक्को कुक्षिगोलको, तो तु रक्तमेदःप्रसादसम्भवो, प्रसादः सारः ; अत एव जठरस्थस्य मेदसः पुष्टिकरो कथितो, तत्सम्भवत्वात् । जठरवृषणमन्यस्थानाश्रितमेदीनिषेधार्थम् । तस्माद्दि—“स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः । अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते ॥” (सु० शा० ४ अ०) इति । वृषणो अण्डौ, तो च मांसाष्टकफमेदःप्रसादसम्भवौ वोर्थ्यवाहिना शिराधामाधारा-वाश्रयावित्यर्थः, अत एव पौरुषावहौ पुरुषस्य धर्मः पौरुषं तदावहौ पुरुषार्थकारिणा-वित्यर्थः, यतः “पाकष्टण्डस्य पुंसस्य स्त्रीप्रहर्षो न जायते” इति ॥४१॥

गर्भाधानकरमिति ।—लिङ्गं मेहनं, तच्च योवया सह हृदयनिबन्धनोर्वा-अतमूणां कण्ठराणां प्ररोहमिति ; गर्भाधानकरं गर्भोत्पादकमित्यर्थः । अत एव

इति पूर्वखण्डः

॥ ५०५ ॥

शिराधमनीनां शरीरपोषकत्वम् ।—

सिरा धमन्यो नाभिस्थाः सर्वा व्याप्य स्थितास्तनुम् ।

पुष्णन्ति चानिशं वायोः संयोगात् सर्वधातुभिः ॥४३॥

कीयंमूत्रयोरथनं मार्गमिति । तदुक्तं—“इङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बलिहारस्य व्याप्यधः । मूत्रस्रोतःपथात् शुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते ॥” (सु० शा० ४ अ०) इति । हृदयं कमलसुकलाकारमधोमुखं, तच्च शोणितकफपसादजं, चेतनास्थानमिति—तद्विशेषश्च चेतन्यास्पदं कथितं, सामान्येन तु सकलशरीरमेव चेतनास्थानम् ; तदुक्तं चरके—“चेतनानामधिष्ठानं मनो देहस्य सिन्धिर्यः । केशलोमनखायात्रमल्लटवर्णैर्विना ॥” (च० शा० कतिधाप०) इति । ओजमस्यायं मतमिति—ओजोऽपि कृत्स्नधातुस्त्रेहः, यथा कृत्स्नचौरस्त्रेहः घृतं तथा ओजोऽपि सर्वधातूनां तेजःशब्देनामनति । यदुक्तं—“रसादीनां शक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजः तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते” (सु० सू० १५ अ०) । तन्त्वान्तरे तु ओजःशब्देन रसोऽप्युच्यते । जीवशोणितमपि ओजःशब्देन कथयन्ति केचित् । श्लेष्माणसविकृतमोजःशब्देनापरे वदन्तीति ॥४२॥

इदानीं शरीरपोषणव्यापारमाह, सिरा इति ।—नाभिस्थाः नाभिस्थितमूलाः सिरा धमन्यः सरणात् सिराः, धमनाद्धमन्यः, सर्वे तनुं सकलशरीरं व्याप्य स्थिताश्च मताः । अनिशमित्यहर्निशं, तनुं शरीरं पुष्णन्ति पोषयन्ति, चकारादनुगृह्णन्ति अर्थात् परिपालयन्तीत्यर्थः ; तत्र तरुणानां शरीरं पुष्णन्ति, ब्रह्मणाञ्च पालयन्तीत्यभिप्रायः । तदुक्तं—“स एवाक्षरसो ब्रह्मनां जरापरिपक्वशरीरत्वादपीणनो भवति” (सु० सू० १४ अ०) इति । कुतः पोषयन्तीत्यत आह, वायोः संयोगादित्यादि ।—वायीरनिलस्य संयोगात् प्राकृतसहायात् । तथा श्रुतं—“क्रियाणामप्रतिघातनमोहो बुद्धिकर्मणाम् । करोत्यन्यान् गुणाश्चापि त्वाः सिराः पवनश्चरन् ॥” (सु० शा० ७ अ०) इति । कैः कृत्वा ? इत्याह, सर्वधातुभिरिति ।—सर्वे धातवो रसाद्याः । एतेन सर्वासां सामान्यं कर्म निर्दिष्टम्, तथा च—“याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कृत्याभिरुपस्त्रिस्तते अनुगृह्यते चाकुक्षनप्रसारणादिभिर्विशेषैः” (सु० शा० ७ अ०) इति । ननु, नाभिस्थाः कथं सकलशरीरं पुष्णन्तीत्याशङ्क्य तन्त्वान्तरात् समाधानमाह, तद्वयथा—“व्यापुबन्धुभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः । प्रतानाः पद्मिनीकन्दाविसादीनां यथा जलम् ॥” (सु० शा० ७ अ०) इति ॥४३॥

प्राणवायोः कार्यविशेषः ।—

नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम् ।

कण्ठादह्निर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् ॥४४॥

पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः ।

प्रीणयन् देहमखिलं जीवञ्च जठरानलम् * ॥४५॥

अथ प्राणानिलस्य शरीरव्यापारसाह, नाभिस्थ इति ।—प्राणपवनः प्राणानिलः, प्राणाश्रितो वायुरिति तात्पर्यार्थः ; प्राणा अग्निमोसादयः, नाभिस्थ इति कारणात् ; नाभौ स्थितः सकलशरीरव्यापकत्वात्, एतेन नाभ्यावरकशिरास्त्वस्थित इति भावः । तदन्तं—“नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्युपाश्रिता । शिराभिराहता नाभिर्युक्ताभिरिवारकैः ॥” (सु० शा० ७ अ०) इति । यथा—“ब्रह्मरन्ध्रान्नाभिचक्रं द्वादशारमबस्थितम् । लूतेव तन्नुजालस्था तव जीवो भगवत्यम् ॥ सुषुप्तया ब्रह्मरन्ध्रमारोहत्यवरोहति । जीवः प्राणसमाकटो रज्जकः स्फटिको यथा ॥” इति । तस्य कारणत्वञ्च तन्वाकरोऽपि कथितम् ; यथा—“तेषामुत्पत्तयः प्राणो नाभिकन्दादयः स्थितः । अरत्यस्ये नासिकायां नाभौ हृदयपङ्कजे ॥ शब्दोच्चारणनिश्वासेष्वासासादि-कारणम् ॥” इति । एवंविधः प्राणानिलः हृत्कमलान्तरं हृदयकमलस्याभ्यन्तरं स्पृष्ट्वा प्रवीक्ष्य कण्ठादह्निर्विनिर्याति ; अर्थात् कण्ठमुल्लङ्घ्य शिरसि प्राप्त इति तात्पर्यार्थः ; कृत इत्याह—विष्णुपदामृतं पातुं विष्णुपदं ब्रह्मरन्ध्राश्रितं, तदाश्रितममृतं पीयूषम् । अत एवाङ्कुराचार्याः,—“चक्रं सहस्रपत्रस्तु ब्रह्मरन्ध्रे सुधाधरम् । तत्सुधासारधारान्नाभि-रभिवर्द्धयते तनुम् ॥” इति । मूलभारतेऽपि—“ब्रह्मरन्ध्रे स्थितो जीवः सुषया मधुतो यदा । तुष्टिगीतादिकार्याणि सप्रकर्षाणि साधयेत् ॥” इति । पीत्वेत्यादि ।—स एवानिलः अम्बरपीयूषं ब्रह्मरन्ध्राश्रितममृतं, पीत्वा अर्थात् समादाय, पुनराति तेनैव पथा, वेगतस्तत्त्वणादेव आयाति, स्वस्थाने इति शेषः । तादृशस्य तस्य कार्यसाह, प्रीणयन्नित्यादि ।—अखिलं देहं प्रीणयन् सन्नासे इति भावः ; अखिलांमिति—शिखादिचरणपर्यन्तं, न केवलं देहं पुष्पाति अपि तु जीवं जठरानलञ्च । जीवः पूर्वं व्याख्यातः, स च ब्रह्मरन्ध्रे स्थितः । जठरानलः पाचकाग्निः, तस्य पाचकादिशक्तिं करोतीत्यभिप्रायः । ननु देहग्रहण्येन जीवानल्लादीनां ग्रहणमेव, तत्कथं पृथगुक्तः ? उच्यते—देहग्रहणात् सामान्येनाङ्गप्रत्यङ्गविभागोऽभिहितः, जीवानलो तु विशेषेण

* “जीवयन् जठरानलम्” इति गूढार्थेदोषिकासम्मतः पाठः ।

आयुषः पञ्चत्वस्य च लक्षणम् ।—

शरीरप्राणयोरेवं संयोगादायुश्च्यते ।

कालेन तद्वियोगाच्च पञ्चत्वं कथ्यते बुधैः ॥ ४६ ॥

जीवानां मरणधर्मिलोक्तः ।—

न जन्तुः कश्चिदमरः पृथिव्यां जायते क्वचित् ।

अतो मृत्युरवार्थः स्यात् किन्तु रोगान्निवारयेत् ॥ ४७ ॥

रोगाप्रतोकारं दोषोक्तिः ।—

याप्यत्वं याति साध्यस्तु याप्यो गच्छत्यसाध्यताम् ।

जीवितं हन्त्यसाध्यस्तु नरस्याप्रतिकारिणः ॥ ४८ ॥

तन्मूलौ, अत एव “शरीराद्भ्रमो जीवः” इति श्रुतिः ; तस्मात् पृथग्गतौ न दोषः । यतः,—“आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुक्ताहोपचयी प्रभा । चीजस्तेजोऽग्नयः प्राणायोक्ता देहाग्निहेतुकाः ॥ शान्तेऽग्नौ स्थिते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः । रोगी स्याद्विजते मूलमग्निस्त्वहोऽग्निश्च्यते ॥” (च० चि० यज्ञपी०) इति ॥ ४४।४५ ॥

अथायुर्लक्षणं तद्विपरीतलक्षणञ्चाह, शरीरेति ।—एवं पूर्वोक्ताभिप्रायात् शरीरप्राणयोः संयोगादायुश्च्यते कथ्यते ; आयुरिति—भूतात्मनः शरीरनिधनपर्यन्तं धर्माधर्मनिमित्तकसामारिकसुखदुःखोपभोगसाधनम् । तद्विपरीतमाह, कालेनेत्यादि । —कालोऽपि स्वयम्भूरैव कथितः । तथा च—“कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भुरनाद-मध्यनिधनः” (सु० सू० ६ अ०) इत्यादि ; भूतानि सङ्कलयति संहरणादिति कालः, सुखदुःखाभ्यां भूतानि योजयतीति वा कालः, अथवा—कलप्रति मृत्युसमीपं जयति इति कालः, ईदृग्विधेनेत्यर्थः, तद्वियोगादिति—तथोः प्राणशरीरयोर्वियोगात् विभ्रष्टात् बुधैः पञ्चत्वं मरणं कथ्यते । अत एवाह आचार्यः,—न जन्तु-रित्यादि । रोगान् निवारयेत्, वैद्य इति शेषः । तदुक्तं वैद्यलक्षणे—“व्याघ्रिस्तत्त्व-परिज्ञानं वेदनायाश्च निषेधः । एतद्वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः ॥” (हारी० १ म स्था० ३५०) इति । शेषं सुबोधम् ॥ ४६।४७ ॥

उदानो साध्यस्य व्याघेरप्रतिक्रियमाणत्वादवस्थान्तरप्राप्तिमाह, याप्यत्वमिति ।—अप्रतिकारिणो नरस्यातुरस्य सुमाभ्यां व्याघिर्याप्यत्वं याति, किन्तु उक्तव्याधिः साध्यतां प्राप्य पश्चात् याप्यत्वं प्राप्नोतीति भावः । याप्योऽप्यसाध्यतां गच्छति, असाध्योऽपि जीवितं हन्तीति । अप्रतिकारिण इति—रोगापनयनादिक्रिया-

रोगप्रतीकारं गुणोक्तः ।—

धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः ।

अतो रुग्भास्तनुं रक्षेन्नरः कर्मविपाकवित् ॥ ४६ ॥

धात्वादीनां वैषम्ये साम्ये च दोषगणौ ।—

धातवस्तन्मला दोषा नोशयन्त्यसमास्तनुम् ।

समाः सुखाय विज्ञेयाः बलायोपचयाय च ॥ ५० ॥

रहितस्य ; अत एवोत्पन्नमात्र एव व्याधिः प्रतिकार्यः । तदुक्तं—“जातमात्रं चिकित्स्यस्तु भोपेक्ष्योऽल्पतया गदः । वङ्गिग्रस्त्रविधैस्तुल्यः स्तन्योऽपि विकरौत्यसौ ॥” इति । याप्य इत्यसाध्यभेदः । तथा च—“असाध्यो द्विविधो श्रेयो याप्यो यश्चाप्रतिक्रियः” इति । तत्र तु—“यापनीयं विज्ञानीयात् क्रिया धारयते तु यम् । क्रियायान्तु निवृत्तायां सदा एव विनश्यति ॥” (सु० सू० २३ अ०) इति । अप्रतिक्रियाशक्त्यावर्जितः, नियतप्राणहर इत्यर्थः । साध्योऽपि द्विविधः सुखसाध्यः कष्टसाध्यः । तत्रैकदोषोत्पन्ना निरुपद्रवोऽपिरीत्यत्र इत्यादिलक्षणः सुखसाध्यः शस्त्रादिसाधनः कष्ट इति ॥ ४८ ॥

इदानीं देहस्य चतुःपदार्थसाधनभूतस्य रक्षां निर्दिशन्नाह, धर्मेति ।—यतो हेतोः शरीरं धर्मादीनां साधनमस्ति, अतः कारणात् रुग्भ्यो व्याधिभ्यस्तनुं शरीरं रक्षेत् ; कीं रक्षेत् ? इत्याह, नरः कर्मविपाकावदिति—कर्म शुभाशुभं, तस्य विपाकः फलं, तं जानातोऽतः कर्मविपाकवित्, एतेनादृष्टजन्यफलं सञ्चिन्त्य तत्परी भूत्वा कृतदानपूर्वकं कर्म कुर्यादित्यभिप्रायः । यतः,—“पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरुपेण तिष्ठति । अतो दानादिकं कुर्यात् प्रसमीक्ष्य विचक्षणः ॥” इति ॥ ४९ ॥

अथ दोषादीनां वैषम्येणावस्थाभाह, धातव इति ।—सुखं स्वल्पता, बलमाङ्गिक-भीजःसंश्रकम्, उपचयः शरीरस्य षड्विधा सन्ततिः । तन्मला इति—धातुमलाः । समा इति—स्वपरिमाणस्थिताः, इति यद्विवरणं कृतं तत् तेषां स्वभावपरिमाणञ्च तन्मान्तरीयवाक्येन दर्शयन्नाह, तद्वयथा—“यः प्रसादपरोऽन्नस्य परं जीर्णस्य सर्वशः । स रसोऽञ्जलयस्तस्य नव देहेषु देहिनः ॥ रक्तस्याञ्जलयस्त्वष्टौ शकतः सम सर्वशः । पित्तस्याञ्जलयः पञ्च षट् कफस्य प्रचक्षते ॥ मूत्रस्य विद्याश्वत्वारो वसायाश्चालिवयम् । दावञ्जली मेदसस्तु मवश एकाञ्जलिर्मेतः ॥ यकस्यार्धाञ्जलिर्ज्ञेयो नलिकस्योजसकृपा । चत्वारोऽञ्जलयः स्त्रीणां रजसः प्रकृतिस्त्रितिः ॥ दावञ्जली

अथ सृष्टिक्रमः ।—

अन्यतम ।—

जगद्योनेरनिच्छस्य चिदानन्दैकरूपिणः ।

सा नित्या प्रकृतिरस्ति * प्रतिच्छायेव भास्वतः ॥ ५१ ॥

अचेतनादि चैतन्यं † योगेन परमात्मनः ।

अकरोत् विश्वमखिलमनित्यं नाटकाकृति ॥ ५२ ॥

प्रस्तायाः कथस्यापि हि योषितः । प्रमाणमेतद्वातूनामदुष्टानामुदाहृतम् ॥ होनः
सुलक्ष्माणात् प्रवृद्धायापि धातवः । योजयन्ति विकारेषु दोषा वृद्धिचयप्रदाः ॥” इति ।
अत एवाह बाम्भटः,—“रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसास्यमरोगता” (वा० सू० १ च०)
इति । अन्यच्च—“विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्णयन्ति च” (वा० सू० १ च०) इति ।
तथा च चरकेऽपि—“विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते । सुखसंज्ञकमारोग्यं
विकारो दुःखमेव च ॥” (च० सू० खुड्डाकचतु०) इति ॥ ५० ॥

पूर्वमुक्तमादिशन्नात् सृष्टिक्रमशारीरयच्छणम्, अतस्तं दर्शयन्नाह, जगद्योनेरिति ।
—जगद्योनेरित्यादिषु सा नित्या प्रकृतिरस्ति इति विषयः । यथा भास्वतो
मार्त्तण्डस्य प्रतिच्छायेव प्रतिबिम्बमिव सा नित्या अस्तीति श्रुतिः । प्रकृतेः पर्यायः अन्यतमं
नाम कथितम् । कौटुशस्य ? तमाह, जगद्योनेरिति ।—अखिलस्य जगतो योनिः
सम्भवहेतुलक्ष्येति ; यदा—जगच्छब्देन पृथिव्यादयोऽभिधीयन्ते, कार्ये कारणोपचारात्,
तेषां योनिरुत्पत्तिहेतुलक्ष्येति ; एतेनाभिव्यक्तिहेतुत्वमुक्तम् । पुनः कौटुशस्य ?
अनिच्छस्येति—इच्छा अङ्गहारस्योत्पादनी प्रतिपादिता, तथा रक्षितस्येत्यर्थः ;
एतेन निर्विकारत्वमुक्तम् । पुनः किञ्छूतस्य ? चिदानन्दैकरूपिण इति—चित्
ज्ञानम्, चानन्दं परब्रह्मावबोधलक्षणं धर्मः, तद्गुणमेवेकं रूपं यस्य ; यदा—
चित्स्वरूपानन्दमेवेकं रूपं यस्य ज्ञानानन्दस्येतिभिर्वाच्यः । तथा श्रुतम्—
“अस्ति ब्रह्म चिदानन्दं स्वयंज्योतिर्निरञ्जनम् । ईश्वरो लिङ्गमित्युक्तमद्वितीयमयं
विशुः ॥ निर्विकारं निराकारं सर्वेश्वरमभीष्टरम् । सर्वशक्ति च सर्वज्ञं तदंशं
जीवसंज्ञकाः ॥ अनाद्यविद्योपहता यथाप्रेर्विस्मृलिङ्गकाः ॥” इति । अतः

* “पुंसांश्च प्रकृतिर्नित्या” इति गूढार्थदोषिकासम्मतः पाठः समीचीनः ।

† “अचेतनादि चैतन्यम्” इत्यत्र “अचेतनाऽपि चैतन्यं” इति गूढार्थ-
दोषिकासम्मतः पाठः समीचीनः ।

महान् ।—

प्रकृतिर्विश्वंजननी पूर्वं बुद्धिमज्जीजनत् ।

इच्छामयीं महद्रूपाम्—” ॥ ५३ ॥

अहङ्कारः ।—

“—अहङ्कारस्ततोऽभवत् ।

त्रिविधः सोऽपि सञ्जातो रजःसत्त्वतमोगुणैः ॥ ५४ ॥

एकादशेन्द्रियाणि ।—

तस्मात् सत्त्वरजोयुक्तादिन्द्रियाणि दशाभवन् ।

कैर्नृत्तनिमित्ततया पूर्वश्रीकेन सन्ध्यः, तेन सा मूलप्रकृतिः परमात्मनी योगेन कृत्वा अखिलं विश्वमकरोदिति तात्पर्यार्थः । अखिलं चराचरात्मकं, कीदृशम् ? तदाह, अचेतनादीति ।—अचेतनमव्यक्तमादित्यं तदचेतनादि । चेतन्यमिति—चेतनान्वितम् । ननु कथमचेतनस्य कारणत्वं प्रवर्तते ? तदसङ्गतमिति सत्यं, यथा व्यभिचिद्वदर्थं चौरमजं कारणत्वेन प्रवर्तते तर्हादिति । अन्यत् सत्त्वरं विस्तरभयात्र लिखितम् । पुनः कीदृशम् ? अनित्यमिति—विनाशि, घटपटादिवत् । पुनः कथमभूतम् ? नाटकाकृति नाटकस्वरूपम्, ऐन्द्रजालिकवस्तु वदिति भावः ॥ ५१।५२ ॥

इदानीमेकेन कारणेन सर्वेषां कार्याणामुत्पत्तिक्रममाह, प्रकृतिरिति ।—प्रकृतिरित्यव्यक्तापरपण्यां * पूर्वमादौ बुद्धिं महानिति विकारसंज्ञम् अज्जीजनत्वात्प्राप्त्यामास । कीदृशम् ? इच्छामयीं सत्त्वरजस्तमागुणस्वभावा नानात्मिकामित्यर्थः । पुनः कीदृशम् ? महद्रूपाम् + इति—महानिति रूपं पश्योद्यमानं यस्याः सा तथा ताम् ; यदा—निर्मलस्फटिकोपलप्रण्यां, सत्त्वसमुद्रकत्वात् । तत इति—बुद्धितत्त्वात्, अहङ्कारोऽभिमानव्यापारलक्षणोऽभवत् । सोऽपि सत्त्वादिगुणैः कृत्वा त्रिविधः सञ्जातः, त्रिविध इति—वैकारिकसैजसो भूतादिरित्यर्थः । तत्र वैकारिकः सात्त्विकः, सैजसो राजसः, भूतादितामस इति ॥ ५३।५४ ॥

अथ त्रिविधस्यापि तस्य कार्यमाह, तस्मादिति ।—तस्मादिति—अहङ्कारात्

* “प्रकर्षेण क्रियते अनया इति प्रकृतिः, गुणानां साम्यं प्रकृतिः, सत्त्वरजस्तमसां साम्याद्यवस्था प्रकृतिरिति साङ्ख्ये” इति गू० दी० ।

† “महद्रूपां बहुद्रूपाम्” इति गू० दी० ।

मनश्च जातं तान्याहुः श्रोत्रत्वङ्मयं तथा ॥

जिह्वा-घ्राण-वचो-हस्त-पादोपस्थ-गुदानि च ॥५५॥

बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च ।—

पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्याहुः प्राक्तनानीतराणि च ।

कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव कथ्यन्ते सूक्ष्मबुद्धिभिः ॥ ५६ ॥

पञ्चतन्मात्रम् ।—

रजःसत्त्वगुणोत्कृष्टादृक्कारादथाभवत् ।

तन्मात्रपञ्चकं तस्य नामान्यक्तानि सूरिभिः ॥ ५७ ॥

शब्दतन्मात्रकं स्पर्श-तन्मात्रं रूपमात्रकम् ।

रसतन्मात्रकं गन्ध-तन्मात्रञ्चेति तद्विद्ः ॥ ५८ ॥

दृशेन्द्रियाण्यभवन्, न केवलं दृशमह्माकांक्षानि, मनोऽपि इन्द्रियमङ्गमुत्पन्नम् ।
कीदृशादृक्कारादित्याह, सत्त्वरजोयुक्तादिति ।—सत्त्वरजोयुक्तात् तमोऽपि
प्राप्तमेव, यतः सात्त्विकादृक्कारात् राजसमुद्भायात् तमोमात्रयानुविज्ञादेका-
दृशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते इति भावः । एके “तन्मात्र” इत्यस्य स्थाने “षट्
सत्त्वरजोयुक्तानि” इति पठन्ति व्याख्यानार्थान् च । तन्मोन्द्रियाणि च साह्य
अदृक्कारकार्याणि कथितानि, वैद्यके तु भौतिकानीत्यभिप्रायः । तत्र पञ्च प्राक्तनानि
श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रियाण्याहुः, बुद्धेश्चाश्रयत्वात् । प्राक्तनानि पूर्वपठितानि । इतराण्यव-
शिष्टानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि कथ्यन्ते, तेषु कर्मणामाश्रयत्वात् । पूर्वाणि पञ्च
श्रोत्रत्वङ्मयनिजिह्वाघ्राणानि, इतराणि च पञ्च वचोहस्तपादोपस्थगुदानि ।
सूक्ष्मबुद्धिभिरिति शङ्खेन मनोऽप्युभयात्मकं मूच्यते, बुद्ध्यात्मकं कर्मात्मकञ्चेत्यर्थः,
बुद्धीन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणाञ्च मनोऽधिष्ठानानामेव प्रवृत्तेः ॥ ५५-५६ ॥

विबिधादृक्कारात्तन्मात्रपञ्चकं भवति, यतस्तदाह, रज इत्यादि ।—अथानन्तरम्,
अदृक्कारादिति—अदृक्कारी भूतादिमञ्जः तन्मादिति तामसुखपादित्यभिप्रायः ।
कीदृशादित्याह, रजःसत्त्वगुणोत्कृष्टादिति—राजसमुद्भायात् सत्त्वमात्रयानुविज्ञात्
तामसादृक्कारादित्यर्थः, ईदृशात्तन्मात्रपञ्चकं भवति इति तात्पर्यार्थः । सा सा
मात्रा यस्मिन् तन्मात्रं, तन्मात्रज्ञत्वभावं वाङ्मेन्द्रियाणाञ्च, वक्ष्यमाणशब्दादीन्वेव
पञ्चतन्मात्राणीति, तच्च योग्यमिदं वाच्यम् ॥ ५७-५८ ॥

पञ्चमत्तम् ।—

तन्मात्रपञ्चकात्तस्मात् सञ्जातं भूतपञ्चकम् ।

व्योमानिलानलजल-क्षीणोरूपञ्च तन्मतम् ॥ ५८ ॥

इन्द्रियार्थाः ।—

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसगन्धवन्नुक्तामात् ।

तन्मात्राणां विशेषाः स्युः स्थूलभावमुपागताः ॥ ६० ॥

बुद्धीन्द्रियाणां विषयाः ।—

बुद्धीन्द्रियाणां पञ्चैव शब्दाद्या विषया मताः ॥ ६१ ॥

कर्मेन्द्रियाणां विषयाः ।—

कर्मेन्द्रियाणां विषया भाषाऽऽदानविहारिताः ।

आनन्दोत्सर्गकौ चैव कथितास्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ६२ ॥

तन्मात्रपञ्चकादिति ।—तस्मात् पूर्वोक्तातन्मात्रपञ्चकात् शब्दादेर्भूतपञ्चकं
व्याप्तादिकं सञ्जातं सम्यक्प्रकारेणोत्पद्यते इति । सम्यक्प्रकारयद्वयेनेकीतर-
परिवृद्धिः सूच्यते, तद्वयथा—शब्दतन्मात्राच्छब्दतद्गुणं व्योम, शब्दपन्मात्रसंहितात्
स्पर्शतन्मात्रात् शब्दस्पर्शगुणो वायुः, शब्दस्पर्शतन्मात्रसंहितात् रूपतन्मात्राच्छब्दस्पर्शगुणं
तेजः, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसंहितात्सतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगुणा आपः,
शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसंहितात् गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी ।
पतञ्जलिमतानुसारिण्यः शब्दादिभ्यो व्योमादीनामुत्पत्तिमिच्छन्ति ॥ ५८ ॥

इदानीं पञ्चकानां तन्मात्रकाणां विशेषा उच्यन्ते, शब्द इति ।—अनुभवयोग्यैः
सुखदुःखमोहरूपधर्मेर्विशिष्यन्ते इति विशेषाः, ते शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । तन्मात्राणि
त्वविशेषाणि, यतस्तानि अनुभवयोग्यैः सुखादिभिर्विशेषं कर्तुं न शक्यन्ते सूक्ष्मात् ;
अत एव स्थूलभावमुपागता अस्मीति विशेषा इत्यर्थः । केचिदमुं श्लोकं तन्मात्रपञ्चका-
दनन्तरं पठन्ति, सङ्गतत्वात् ॥ ६० ॥

अथोन्द्रियाणां विशेषाणां विषयान् दर्शयन्नाह, बुद्धीन्द्रियाणामिति—प्रावृत्त-
चतुर्जिह्वाप्राणानां, शब्दाद्या इति—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, एते तु तेषामनुक्रमेण
बोद्धव्याः । कर्मेन्द्रियाणामिति—वचोदृक्पदादोपस्यगुदानां यथाक्रमं भाषाऽऽदान-
विहारानन्दोत्सर्गा विषयाः कथिताः । भाषा वचनम्, आदानं गृहणं,
विहारोऽन्न चलनादिकम्, आनन्दो रूपं, उत्सर्गो मलपरिचयः इति । तत्त्वदर्शिभिः
पुरुषैश्चतुर्विंशतितत्त्वदृक्पञ्चापकैरित्यर्थः ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

प्रकृतैः पर्यायाः ।—

प्रधानं प्रकृतिः शक्तिर्नित्या चाविकृतिस्तथा ।

एतानि तस्या नामानि शिवमाश्रित्य या स्थिता ॥६३॥

चतुर्विंशतितत्त्वानि ।—

मंहानहङ्कृतिः पञ्च-तन्मात्राणि पृथक् पृथक् ।

प्रकृतिर्विकृतिश्चैवं समेतानि बुधा जंगुः ॥ ६४ ॥

दशेन्द्रियाणि चित्तञ्च महाभूतानि पञ्च च ।

विकाराः षोडश ज्ञेयाः सर्वे व्याप्य जगत् स्थिताः ॥६५॥

जीवात्मनो विवरणम् ।—

एवं चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः मिद्वे वपुर्गृहे ।

जीवात्मा नियतं नित्यो वसति स्वान्तदूतवात् ॥६६॥

इदानीं मूलप्रकृतेः पर्यायनामान्याह,—प्रधानमिति । प्रधानं प्रकृतिरिति—
मूलप्रकृतिः, शक्तिरिति—कारणरूपा, नित्या अविनाशिनो, अविकृतिर्विकाररहिता ।
तस्याः प्रकृतेः । शिवमिति—परब्रह्मलक्षणम् आश्रित्य या स्थिता सृष्ट्यस्य प्रतिविवस्ववत्,
सा च सत्त्वरजस्तमःस्वरूपा भवति । तदुक्तं—“सर्वभूतानां कारणमकारण सत्त्वरज-
स्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सन्ध्यादितुरव्यक्तं नाम” (सु० शा० १ अ०)
इति ॥६३॥

इदानीं चतुर्विंशतिके तत्त्वराशौ प्रकृतित्वं निरख्यन् कथितमुपसंहरन्नाह,
महामिति ।—एतानि सप्त महदादौ नैव प्रकृतिर्विकृतिश्च भवन्तीति पिण्डार्थः ।
प्रकृतिरित्यपरेषा कारणभूता, विकृतिरिति मूलप्रकृतेः कार्यरूपा । अथ यदव्यक्त-
गुणं न कृतं तत् विकृतिपदग्रहणात्, अव्यक्तस्य केवलं हेतुभावेन प्रकृतिरेव,
महदादयः सप्त कार्यत्वेन विकृतयोऽपि ज्ञेयाः । पञ्चतन्मात्राणीति—शब्दादौ ।
इत्येवं बुधाः पण्डिताः जगुः कथितवन्तः । इदानीं षोडश विकारान् दर्शयन्नाह,
दशेन्द्रियाणीति ।—षोडश विकाराः कार्य्याणि, ते विकाराः दशेन्द्रियाणीति—
श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्धृषीपृष्ठपायुपादाणि । चित्तञ्चेति—मनोऽपीन्द्रियभूतमिति
भावः । महाभूतानि आकाशपवनदहनतीयभुमय इति । एवं षोडश
विकाराः, एते तु सर्वे अराचरात्मकं जगत् संसारं व्याप्य स्थिता

स देही कथ्यते पाप-पुण्यदुःखसुखादिभिः ।

व्याप्तो बद्धश्च मनसा कृत्रिमैः कर्मबन्धनैः ॥ ६७ ॥

जीवात्मनो बन्धनकारणानि ।—

कामक्रोधी लोभमोहावहङ्कारश्च पञ्चमः ।

दशेन्द्रियाणि बुद्धिश्च तस्य बन्धाय देहिनः ॥ ६८ ॥

इत्यर्थः । एवमिति—पूर्वोक्तप्रकारेण, चतुर्विंशतिभिरुक्तैरिति—अव्यक्तं, महान्, अहङ्कारः, अद्भ्यन्मात्रं, स्पृशतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रं, श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, घ्राणं, रसना, वाक्, हस्तौ, पादौ, उपस्थं, पायुः, मनः, पृथिवी, आपः, तेजः, वायुः, आकाशं, चतुर्विंशतितत्त्वानि पृथक् दर्शितानि ; एभिः सह जीवात्मा लिङ्गशरीरं गत्यः आविर्भासौ, नियतं सर्वकालं वपुर्गृहे स्थूलशरीरे बसति तिष्ठतीत्यर्थः । कौटुशः ? तमाह, स्वान्तूतवानिति—स्वान्तं मनस्तद्वत् दूतो यस्य स तथा मनोदूत इत्यर्थः । “स्वान्तं हन्मानसं मनः” इत्यभिधानात् । स देही कथ्यते इति—स जीवात्मा देही पुरुषव्यक्तिः, देहं महदादिकृतसुखलिङ्ग-शरीरमुच्यते, तदस्यास्तीति देही कथ्यते ; सोऽपि कर्मपुरुषो वाच्यः पञ्चविंशतितमः कथितः ; अत एव पापपुण्यसुखदुःखादिभिर्व्याप्तः ; मनसा कृत्रिमैः कर्म-बन्धनैश्च बद्धः, एतेन कर्मपुरुषस्य शरीरात्मनोः संयोगकारकेण मनसा संयोगे पापपुण्यसुखदुःखादयो गुणा उत्पद्यन्ते इति भावः । आदिशब्दात् इच्छाद्वेषप्रयत्न-प्राणापानोन्मेषनिभेषबुद्धिमनःसङ्कल्पविचारणास्मृतिविज्ञानाध्यवसायविषयोपलब्धिगुणा ज्ञातव्याः । मन्त्रविक्रतो जीवात्मा कथं विकारिवस्तुभिर्व्याप्तः ? सत्यं, निर्विकार-स्यापि विकारिवस्तुसंयोगेन विकारित्वं स्यात् ; यथा सम्यारागिरविकारनिकर-संयोगादरुणं मग्नतलं भवति तद्वदित्यभिप्रायः । तत् लिङ्गशरीरे विकाराः प्रतिविम्बिता इव तिष्ठन्तीत्येके भाषन्ते ; यथा तडागोदके प्रतिविम्बितो द्रुमसङ्कागोदकप्रकम्पेण प्रकम्पात्मकः कथ्यते इति ॥ ६४—६७ ॥

कर्मबन्धनेर्बद्धश्चेति यदुक्तं तदिदानीं तस्य बन्धनान्माह, कामक्रोधाविति ।— तस्य देहिन इति—पूर्वोक्तस्य पुरुषस्य कामादयो बन्धनाय भवन्तीत्यर्थः । कामो मनसः सङ्कल्पविशेषः ; यदुक्तं—“स्त्रीषु मातो मनुष्याणां स्त्रीणाञ्च पुरुषेषु वा । परस्परकृतः स्नेहः काम इत्यभिधीयते ॥” इति । क्रोधस्तु मनसो व्याधिरूपो हिंसात्मकः ; तथा हि—“यद्दूषा हृदयात्मनोः समुत्पिडति वै स क्रतुः । पर-हिंसात्मकः क्रोधः क्रोध इत्यभिधीयते ॥” इति । लोभो गर्हः, लप्सा ; तथा

जीवात्मनः बन्ध-मुक्ति-दुःखं-सुखहेतवः ।—

आप्नोति बन्धमज्ञानादात्मज्ञानाच्च मुच्यते ।

तद्दुःखयोगकृत् व्याधिरोग्यं तत्सुखावहम् ॥ ६९ ॥

इति श्रीदानोदरसूनुना शाङ्गधरेण विरचितायां शाङ्गधरसंहितायां

कलादिकाख्यानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

श्रीकृतं—“परायं परभोगंश्च परसामर्थ्यमेव च । इहां श्रुत्वा च या तृणा जायते लोभ एव सः ॥” इति । मोहस्तु मिथ्यावबोधः सर्वपापमूलम् ; यथा—“अश्रेयः-श्रेयसीमंध्ये धमणं संशयो भवेत् । मिथ्याज्ञानन्तु तं प्रादुरङ्गिते हितदर्शनम् ॥” इति । अहङ्कारोऽभिमानव्यापारलक्षणः ; यथा—“अहमित्यभिमानेन यः क्रियासु प्रवर्तते । कार्यकारणयुक्तस्तु तदहङ्कारलक्षणम् ॥” इति । दर्शन्मिथ्याणि प्रसिद्धानि । बुद्धिश्चेति—मनोव्यापारः ॥ ६८ ॥

इदानीं बन्धनहेतुमाह, आप्नोतीति ।—अज्ञानादिति—मोहात् बन्धं क्लेश-माप्नोतीति, पुरुष इति शेषः, स एव पुरुषः आत्मज्ञानादन्मोधर्मेविचारणान्मुच्यते बन्धनादेव, कैवल्यं प्राप्नोतीति भावः । अत एव व्याधिरदुःखयोगकृद्वति तत्सुखावहमारोग्यमिति । तद्दुःखयोगकृदिति—तत् तयोः शरीरशरीरिणोः, शरीरमनसोरिति केचित्, * दुःखमयोगकृदिति—दुःखन्तु स्वभावतः प्रतिकूल-वेदनीयम् । सुखन्तु स्वभावतोऽनुकूलवेदनीयम् । आरोग्यं स्वास्थ्यव्यापारलक्षणम् । इति सृष्टिक्रमशरीरम् ॥ ६९ ॥

इति श्रीवासव्यान्वयप्रकाशवेद्यश्रीभावसिंहात्मजने चाटमल्लिन विरचितायां शाङ्गधर-दीपिकायां प्रथमखण्डे कलादिकाख्यानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

* ज्ञेयं व्याख्या समीचीना ; यतः निबन्धसङ्ग्रहे “तच्छब्देनानन्तरनिर्दिष्टः पुरुषो-ऽधिक्रियते । दुःखं कायवासानुसपीडा, विविधदुःखमादधतीति व्याधयः । तस्य पुरुषस्य दुःखाय संयोगी येषामागन्तुप्रवृत्तीनां ते व्याधयः ; अथवा, तस्य पुरुषस्य येषु सन्तु यैर्वा करेणभूतैः यैश्चि वा दुःखं जायते ते व्याधयः । एतौ वाक्यार्थौ न्याय्यौ । अन्ये तु—तस्य पुरुषस्य दुःखानां वेदनानां ये संयोगास्ते व्याधयः । अपरे तु—दुर्दृष्टानि खानि सीतांसि दुःखानि, तस्य पुरुषस्य दुःखानां दुष्टसीतसां निमित्तं संयोगी येषां ते तथोक्ताः” इति व्याख्या परिदृश्यते ।

षष्ठोऽध्यायः ।

—००००—

अथ आहारादिगतिरध्यायः ।

आहारपरिपाके प्रथमक्रमः ।—

यात्यामाशयमाहारः पूर्वं प्राणानिलेरितः ।

माधुर्यं फेनभावश्च षड्रसोऽपि लभेत सः ॥१॥

आहारपाके द्वितीयतृतीयक्रमद्वयम् ।—

अथ पाचकपित्तेन विदग्धश्चान्द्रतां ब्रजेत् ।

ततः समानमरुता ग्रहणीमभिनीयते ॥२॥

इदानीमाहारादिगतिरध्यायः पूर्वं दर्शितस्तमाह,—अथेति । यातोत्यादि ।—
आहारः पाच्यभौतिकस्वरूपमशनमित्यर्थः, तदुक्तं सुश्रुते—“पच्यभूतात्मके दंष्ट्रे आहारः
पाच्यभौतिकः” (सु० सू० ४६ अ०) इति । एवंविधः स आहारः पूर्वमादौ आमाशयं
याति प्राप्नोतीत्यर्थः । आमाशयश्च नाभिसनान्तरे कोष्ठविशेषमाहः, यथा—“नाभि-
सनान्तरं जल्वोरादुरामाशयं युषाः” (अ० वि० त्रिविधकुक्षीय०) इति । कोष्ठशः १
तमाह, प्राणानिलेरित इति—प्राणवायुना प्रेरित इति भावः । “हृदि प्राणानिलो
मतः” इति वचनात् । तत्र षड्रसयुक्तोऽपि स आहारः माधुर्यं मधुररसबाहुल्यं
फेनभावश्च लभते प्राप्नोति, कफस्थानगतत्वात् ; कफोऽपि मधुर इति प्रसिद्धः ;
अत एवाह तन्नान्तरं—मुक्तादौ कफस्य हृद्भिरिति, रससाधर्म्यात् अस्त्रैवामा-
जीर्णमंशा, यतः,—“माधुर्यमन्नं गतमाभसंज्ञम्” (सु० सू० ४६ अ०) इति ॥ १ ॥

अथ स्थानान्तरप्राप्तिसाह,—अथ पाचकेति ।—अथानन्तरं स एवामाशय-
स्थिताहारः पाचकपित्तेन पाचकाग्निजेजसा विदग्धः सन् पच्यमानाभिमुखः सन्नस्नतां
ब्रजेत्, यतोऽस्नात् पित्तं जायते ; तत्रावस्थाया—“विदग्धमसं गतमन्नभावम्”
(सु० सू० ४६ अ०) इति । आमाशयाच्चलितोऽप्राप्तग्रहणीपदो यदा भवति तत्र
स्थानान्तरं बदन्त्येके, नेवं सर्वमतं, किन्तु पाचकाग्निस्थानसमीपवर्षो यदा भवति तदा
विदग्धो भवतीत्येके भाषन्ते । स्वमते तु आमाशयस्यावस्थायामेव पित्तवेदग्धादन्न
एव स्यात्, यतः पित्तं विदग्धमस्नतामुपैति । इदानीं तृतीयावस्थागतस्य कार्यमाह,
तत इत्यादि ।—ततस्तस्मात् स्थानात् समानमरुता नाभिगतवायुना कृत्वा ग्रहणीं
वह्निस्थानमभिनीयते प्राप्यते, आहार इति शेषः । एतत् स्थानं कलाशयेन
जायं, यतः,—“षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तता । पक्वामाशयमध्यस्था

ग्रहणीनिर्देशः ।—

(षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्त्तिता ।

पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणीत्यभिधीयते ॥ *)

सुपक्वापक्वाहारयोः क्रिया ।—

ग्रहण्यां पच्यते कोष्ठ-वज्जिना जायते कटुः ।

रसो भवति सम्पक्वादपक्वादामसम्भवः ॥३॥

सम्यक्पक्वरसस्य क्रिया ।—

वज्जेर्बलेन माधुर्यं स्निग्धतां याति तद्रसः ।

पुष्पाति धातूनखिलान् सम्यक् पक्वोऽमृतोपमः ॥४॥

ग्रहणी सा प्रकीर्त्तिता ॥” (सु० उ० ४० अ०) इति । ग्रहण्यामपि कोष्ठवज्जिना कृत्वा पच्यते ; कोष्ठग्रहणं धात्वग्निरासार्थम् ; तस्मात् कटुको जायते इति तात्पर्यार्थः । यत् “कटुकाज्जायते वायुः” इति तद्विष्टव्याजीर्णमाहुर्बुद्धेः, यदुक्तं— “अशतोदशूल विष्टव्यमान इविबुद्धवातम्” (सु० सू० ४६ अ०) इति । अथ तादृश-स्याहारस्य द्विविधामवस्थां वक्तुमाह, रस इति ।—वर्जस्थाने स्थितस्याहारस्य सम्यक् पाकाद्रसो भवति, असम्यक् पाकादामः सम्भवति इति । रस इति—समाग्निपरिपाचितत्वात् सारभूतो यो द्रवाशः स रस इत्युच्यते, आमश्च अपरि-पाकाद्भवति ; तदुक्तं—“अठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः । स आमसंज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपकः ॥” इति ॥ २।३ ॥

इदानीं तयोः रसामयोर्योपारं दर्शयन्माह, वज्जेरिति ।—तद्रस इति पूर्वोक्तः, वज्जेर्बलेनेति—रसगताग्निप्राबल्यात् मधुरतां स्निग्धताञ्च याति प्राप्नोति सप्त आखिलान् रक्तादीन् धातून् पुष्पाति, तस्मात् सम्यक् पक्वो रसः अमृतोपमः स्यात्, यथा अमृतं जीवनं मधुरादिगुणयुक्तम् इति श्रुतिः, तथा अयमपि जीवनधारण-तर्पणादिगुणयुक्त इत्यभिप्रायः सोम्यत्वात् ; तदुक्तं सुश्रुते—“स खलु द्रवानुसारो केहेनजीवनतर्पणधारणादिभिर्विशेषैः सोम्य इत्यवगम्यते” (सु० सू० १४ अ०) इति ॥ ४ ॥

* प्राचक्षीत्यामति टोकाकर्णुरभिमतम् ।

अस्यैकपक्षरसस्य क्रिया ।—

मन्दवह्निविदग्धश्च कटुर्वाऽस्त्रो भवेद्भ्रमः ।

विषभावं ब्रजेद्वाऽपि कुर्याद्वा रोगसङ्करम् ॥५॥

आहारस्य सारमलयोनिर्देशः मूत्रस्वरूपम् ।—

आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः ।

शिराभिस्तज्जलं नीतं वस्ती मूत्रत्वमाप्नुयात् ॥६॥

मलस्य स्वरूपम् ।—

तत्किदृश्च मलं ज्ञेयं तिष्ठेत् पक्वाशये च तत् ।

बलित्वितयमार्गेण यात्वपानेन नोदितम् ॥७॥

बलित्वयस्य नामानि ।—

प्रवाहणी सर्जनी च ग्राहिकेति बलित्वयम् ॥८॥

अस्यैव स्वरूपान्तरमाह, मन्दवह्निविदग्ध इत्यादि ।—स एव रसो यदा मन्दवह्निविदग्धो भवति अप्रेमन्योनासस्यक् पक्व इति भावः, तदा कटुर्वास्त्रो वा भवेत्, विषभावं सारणं सारणात्मकरूपतां ब्रजेत् प्राप्नोति वा, यदि सारणात्मको न भवति अल्पत्वात्, तदा रोगसङ्करं रोगसमूहं कुर्यात् दोषदूषितत्वात् न तु स्वयमेव, यतः स्नेहदग्धव्यपटेशवत्, तदुक्तं—“रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये । ते ज्ञायन्त इत्युपचारेण (?) तानाहुर्वृतदग्धवत् ॥” इति ॥५॥

अथाहारस्य रससारत्वं निरूप्य नीरमस्य निःसारत्वं दर्शयन्नाह, आहारस्येति ।—

आहारस्य पूर्वप्रतिपादितस्य यो रसो विदितस्वरूपः स सार इत्यभिहितः, सारो मुख्यत्वेन तर्पणादिकृतत्वात् । सारहीन इति साररहित आहारस्यांशो वर्तते स मलद्रवसंज्ञः, मलं पुरीषं, द्रवं मूत्रम् । तयोर्भिन्नगमनस्थानविशेषमाह, शिराभि-
रित्यादि ।—तज्जलमिति पुरीषनिःसृतः द्रवविशेषः शिराभिर्भूतवाहिनोभिः कृत्वा वस्तीं मूत्राधारं नीतं तदेव मूत्रत्वमाप्नुयादिति । तत्किदृश्च मलमिति—मूत्रावशिष्टं मलं किदृशं पक्वं ज्ञेयं, निर्द्रवत्वात् ; तच्च पक्वाशये तिष्ठेदिति । अथ पक्वाशये स्थितस्य तादृशस्य तत्वाधोगमनशीलत्वं दर्शयन्नाह, बलीति ।—अपानेन गुदस्थितवायुना नोदितं प्रेरितं, मलमिति शेषः, तच्च बलित्वितयमार्गेण कृत्वा याति बहिर्निःसरतीत्यर्थः ॥६॥७॥

बलित्वितयनामान्याह, प्रवाहणीत्यादि ।—प्रवाहणी सर्जनी ग्राहिकेति, तावती

रक्तोत्पत्तिक्रमः ।—

रससु हृदयं याति समानमरुतेरितः ।

रञ्जितः पाचितंस्तत्र पित्तेन याति रक्तताम् ॥८॥

रक्तस्य विवरणम् ।—

रक्तं सर्वशरीरस्थं जीवस्याधारमुत्तमम् ।

स्निग्धं गुरु चलं स्यादु विदग्धं पित्तवद्भवेत् ॥१०॥

नामभिरेवाकृतयो बाण्डव्याः । बलिभु गृहस्थावयवभृता, तालिसी बल्य उपर्युपरि व्यवस्थिताः शङ्कावर्त्तनिभा इति ॥८॥

इदानीं मूलद्रव्यं निरूप्य सारभूतस्य रसस्यापि कार्यत्वेन स्थानान्तरप्राप्तिमाह, रसस्त्विति ।—स रसः समानमरुता नामिगतवायुना कृत्वा ईरितः क्वं प्रेरितो हृदयं याति प्राप्नोति ; एतेन किमुक्तम् ? सारभूतो रसो यदृणोऽप्यानात् हृदयमागच्छतीति भावः, सकलशरीरगमनशीलत्वात् । तदुक्तं सुश्रुते—“तस्य च हृदयं स्थानं, स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनोरनुप्रविश्याङ्गुला दश दश चाधोगामिन्यस्यतस्तत्तित्यगाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तपश्यति, वर्द्धयति, धारयति, यापयति, जीवयति चादृष्टहेतुकेन क्लर्मेणा । तस्य शरीरमनुधावतोऽनुमानात् गतिरूपलक्षयितव्या” (सु० सू० १४ अ०) इति । हृदयशब्देनाव हृदयापलक्षितः प्रदेश उच्यते, न तु सावात् हृदयं, कुतः ? हृदयस्य ओजःस्थानत्वात् । तत्र सोऽपि रसः पित्तेन रञ्जकपित्तेन कृत्वा पाचितः, अत एव रञ्जितः रागं प्राप्तः सन् रक्ततां याति प्राप्नोति, यतो रसाद्रक्तं भवतीति वचनात् । रक्तस्य भावो रक्तता, तेन आदावीषद्रक्तभावं प्राप्य पयात् क्रमेण आरक्तः स्यात् । तदुक्तं—“रसः समादादवाक् परिवर्त्तमानः श्वेतकपोतहरितहारिद्र-पद्मकिंशुकाक्षककरसप्रव्यथायं यथाक्रमं दिवसपरिवर्त्ताहर्षपरिवर्त्तमापद्यमानः पित्तोष्णपरागात् शोणितत्वमापद्यते” (का०) इति ॥८॥

अथ रक्तप्राधान्यं दर्शयन्नाह, रक्तमिति ।—तद्रक्तं सर्वशरीरस्थितं भवति पाचभौतिकत्वात्, यतः,—“विस्त्रुता द्रवता रागः स्यन्दनं लघुता तथा । भ्रूयादीनां गुणा स्तेते दृश्यन्ते चात्र शोणिते ॥” (सु० सू० १४ अ०) इति । जीवस्योत्तममाधारश्चेति दृढमूलत्वात् । तदुक्तं—“देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरस्यैव धार्यते । तस्मात् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ॥” (सु० सू० १४ अ०) इति । पुनः कीदृशं तदाह, स्निग्ध-मिव्यादि ।—स्निग्धमरुतम् । गुरु अलघु । चलं नैकाव स्थितिशीलं द्रवत्वात् । स्यादु मधुरं लभावात् । यदा विदग्धं तदा पित्तवद्भवेत् इति—यथा विदग्धं पित्तमप्लावतां

शुक्रस्य रजसश्च उत्पत्तिविवरणम् ।—

पाचिताः पित्ततापेन रसाद्या धातवः क्रमात् ।

शुक्रत्वं याति मासेन तथा स्त्रीणां रजो भवेत् ॥११॥

व्रजेन कटुकश्च भवेत् * तथेदमपीति भावः । उक्तमन्यथापि—“अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तञ्च वर्णतः । शीणितं गुरुं विस्त्रं स्याद्विटादृशस्य पित्तवत् ॥” सु० सू० २१ अ०) इति । कायित्वेनापि तस्य लघुता च दर्शिता इति न दोषः ॥१०॥

इदानीं धातूनामुत्पत्तिपरम्परापूर्वकं शुक्रस्यापि विषय दर्शयन्नाह, पाचिता इति ।—पित्ततापेन पित्तनेत्रसा पाचिताः पाचिपाचिता रसाद्या धातवः क्रमात् शुक्रत्वं मासेन याति प्राप्नोति । रसाद्या इत्यत्र रसशब्दात् रस एव शुक्रत्वं प्राप्नोति, अत एव यातीत्येकवचनं कृतम् । आदिशब्दानां रक्तमांसमेदीमज्जास्थीनीति । एके—रसाद्या धातवो मासेन शुक्रत्वं यातीति । पठन्ति व्याख्यानयन्ति च । तेषां मने तु कायिकारणरीरभेदोपचारात् । न केवलं शुक्रत्वं स्त्रीणामपि रजो भवेत् । तदुक्तं—“रसादिव स्निग्धा रक्तं रजःसंयुं प्रवर्तते । तद्वर्षाद्वादशरूढं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥” (सु० सू० १४ अ०) इति । तथोक्तं शब्दानां शुक्रत्वमपि स्त्रीणामेव भवति ; यतो दृश्यते हि तत्सावर्णादिभिः प्रयोगैः, अन्यथा तासां संदर्भः कथं स्यादिति । तदुक्तं—“सौम्यं त्वगाश्रयं स्वच्छं सुगन्धं योनिमृदाद्गतम् । स्त्रीणां शक्ते न गर्भाय भवेत् गर्भाय चार्चवम् ॥” इति । मासेनेति—विंशद्दिनेरिति भावः । विंशद्दिनविवरणं सुश्रुताचार्यशोक्तं, तद्वयथा—“म खलु व्रीणि व्रीणि कलामहस्ताणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धाताववतिष्ठते, एवं मासेन रसः शुक्रोभवति स्त्रीणाञ्चार्वम्” (सु० सू० १४ अ०) इति । उक्तमपि समुच्चयेन दर्शयति—“षष्टादश मन्त्राणि सङ्ग्राह्यास्मिन् समुच्चये । कलानां नवतिः प्रोक्ताः स्वतन्त्ररतन्त्रयोः ॥” (सु० सू० १४ अ०) इति । विंशतिकाली मुहूर्तः कलादशभागश्चेत्यादिना माससङ्ग्राहात् ज्ञातव्या । एतेन किमुक्तम् ? रसः किलैकादशैव सम्पद्यते, अन्ये धे धातवस्तु पञ्चभिः पञ्चभिरष्टौभिः सम्पद्यन्ते इति भावः ॥११॥

* व्याख्येयं न समीचीना, यतः प्रकृतिस्यैव पिप्पलं कटुरम्, न तु विटगन्धं, तस्यास्त्वत्वात् ; उक्तञ्च—“पिप्पलं तीक्ष्णं द्रवं पूति गोलं पीतं तथैव च । उष्णं कटुरसश्चैव विटगन्धश्चास्त्वमेव च ॥” (सु० सू० २१ अ०) इति । ततश्च—यथा कटुकमपि पिप्पलं विटगन्धमस्त्वतां व्रजेत्, तथेदमपि इति पाठकत्वेन संकृतम् इति ।

† अत्रमेव पाठः साधुः ।

गर्भोत्पत्तिविवरणम् ।—

कामान्मिथुनसंयोगे शुद्धशोणितशुक्रजः ।

गर्भः सञ्जायते नार्याः स जातो बाल उच्यते ॥१२॥

कन्या-पुत्र-नपुंसकोत्पत्तौ हेतुः ।—

आधिक्ये रजसः कन्या पुत्रः शुक्राधिके भवेत् ।

नपुंसकं समत्वेन यथेच्छा पारमेश्वरी ॥१३॥

बालि औषधप्रयागनियमः ।—

बालस्य प्रथमे मासि देया भेषजरक्तिका ।

अवलेहोक्तैकैव क्षीरक्षौद्रमितामृतैः ॥१४॥

गर्भोत्पत्तिमाह, कामादिति ।—शुद्धशोणितशुक्रजो गर्भो नार्याः स्त्रियाः सञ्जायते इति । कुतः ? कामात्, कामोऽभिलाषः ; क ? मिथुनसंयोगे मिथुनं हन्व स्त्रीपुरुषविषयं तस्य संयोगो मेलनं तस्मिन् सति । शुद्धशोणितशुक्रयोर्लक्षणस्य तन्नाशने यथा—“अशास्त्रं प्रातिमं यच्च यदा लाचारसापमम् । तदात्तवं प्रशंसन्ति यदासां न विरजयेत् ॥” (सु० शा० २ अ०) “दिनद्वयं प्रवृत्तं कुरुते शोणितं स्त्रियाः । व्यवायस्युतशुक्रं गर्भलस्यास्तता भवेत् ॥” “तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तममृतावपि । असृग्दरं विजानोयादतस्तोऽन्यद्रक्तलक्षणात् ॥” (सु० शा० २ अ०) इति । शुद्धं शुक्रं यथा—“स्फाटिकाभं द्रवं स्रग्धं मधुरं मधुर्गन्धं च । शुक्रमिच्छन्ति केचित् तेलक्षौद्रनिभं तथा ॥” (सु० शा० २ अ०) इति । “वातादिद्रवितं पूति कुण्ठं र्याम्यरूपि च । क्षीणं मूत्रपुरीषाभ्यां गन्धि शुक्तं निष्फलम् ॥” इति । गर्भ इति—शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकार-सम्पूर्णं गर्भ इत्युच्यते । स जातो बाल उच्यते इति—स गर्भो यदा जातो विद्वान् सरति तदा बाल इत्युच्यते ॥१२॥

बालशब्दः कन्यापुरुषनपुंसकैष्वपि वर्तते ; अत एवाद्याचार्यः, आधिक्ये इति ।—तत्र च गर्भाशये यदा रजस आर्णवस्य आधिक्यं भवति तदा कन्या भवेत् सत्यद्यत, आर्णवाधिकशुक्रादित्यभिप्रायः । यदि शुक्राधिकसहिं पुत्रः, शुक्राधिकार्णवादित्यर्थः । समत्वेनेति—शुक्रशोणितयोः सांख्येन समभागेन ज्ञत्वा नपुंसकं स्यात् ; यथा पारमेश्वरीच्छा बालि तथैव भवति, नात्र विचारः कर्तव्य इति भावः । इच्छेत्यनेनैव यमलजातमपि सूचितम् । तद्वशा—“बीजेऽतर्वायुना भिन्ने हो जीवो कुचिमागतौ । यमावित्यभिधीयते धर्मेतरपुरःसरी ॥” (सु० शा० २ अ०) इति ॥१३॥

इदानीं बालस्य प्रथममासादारभ्य भेषजक्रियां दर्शयन्माह, बालस्येति ।—बालस्य

वर्द्धयेत्तावदेकैकां यावद्भवति वत्सरः ।

माषैर्वृद्धिस्तदूर्ध्वं स्यात् यावत् षोडशवत्सरः ॥ १५ ॥

ततः स्थिरा भवेत्तावत् यावत् वर्षाणि सप्ततिः ।

ततो बालकवन्मात्रा क्वासनीया शनैः शनैः ॥

मात्रेयं कल्कचूर्णानां कषायाणां चतुर्गुणा ॥ १६ ॥

प्रथमे मामि भेषजरक्तिका देया । बालोऽत्र चौरादः, यतस्त्रिविधो बाल आषोडश-
वर्षाद्भवति । स च चौरादः, चौराद्रादः चन्द्राद इति । अत एव चौरादो-
मितामृतैरिति बच्चोऽनुपागादयो दर्शिताः यथासम्भवोपयोगित्वेन । भेषजस्य
सुवर्णरजतशिलाजवादिभ्यः । रक्तिका गुग्गा तत्परिमाणमित्यर्थः । प्रथमे मामीति
प्रथमगृहणं जातदिनसारस्य भेषजं दद्यादित्यभिप्रायः । तथा च सुश्रुते—“अथ
कुमारं शीताभिरद्भिराश्राव्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिर्गन्तान्तासुवर्णचूर्णमिश्रमङ्गुल्या-
ऽनामिकया लेहयेत्” (सु० शा० १० च०) इति । अनन्तमूलचूर्णं सुवर्णचूर्णञ्च ।
भेषजरक्तिकेति—सामान्यभेषजगृहणेन यस्यान्तरीक्षमपि योगचतुष्टयमत्र बोद्धव्यम् ।
तद्वदथा—“सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कष्टं मधु घृतं वचा । मत्स्याक्षकः शङ्खपुष्पी मधु
सर्पिः सकाञ्चलम् ॥ अर्कपुष्पी घृतं चोदं चूर्णितं कनकं वचा । हेमचूर्णानि
केटुर्धुः श्वेता दूर्वा घृतं मधु ॥ अवारोऽभिहिताः प्राशाः श्लोकाङ्गेषु चतुर्नपि ।
कुमाराणां वपुर्भेषजलवृद्धिर्विवर्द्धना ॥” (सु० शा० १० च०) इति । एके प्राक्तनां
मावासानिच्छन्ति, तन्मते तु विश्वामित्रोक्ता मावा प्रचरति । तद्वदथा—“विडङ्ग-
फलमावन्तु जातमावस्य भेषजम् । एतेनैव प्रमाणेन मामि मासि प्रवर्द्धितम् ॥
कोलाश्रिमावं चौरादे दद्याद्द्वैषज्यकोविदः । चौराद्रादे कोलमावमद्रादे (उ)
उन्मरोपमम् ॥” इति । अवलेहीकृतेकैवत्यादि—एकेव रक्तिका अवलेहीकृता,
कैः कृतेत्याह, चौरादोऽमितामृतैरिति—एतेन चौरादिभिर्यत्सैर्यथायोग्यं सम्प्राप्याव-
चारयेदित्यभिप्रायः । चौरं स्त्रीमश्वम् आजं वा । घृतस्य गव्यम् ।
अथ भेषजस्यास्य वृद्धिक्वासत्वमप्याह, वर्द्धयेत्तावदेकैकामित्यादि ।—सा भेषज-
रक्तिका तावदेकैकां वर्द्धयेत् यावत् वत्सरो भवति ; एतेन प्रतिमासवृद्धाः द्वादश-
मासेषु द्वादशैव रक्तिका भवन्तीत्यर्थः । अन्यदप्याह, तदूर्ध्वमिति—वत्सरादुपरि
तावन्माषकैर्वृद्धयित्वा षोडशवत्सरः स्यात् ; एतेन प्रतिवर्षवृद्धा षोडशमाषका
भवन्तीत्यर्थः । माषोऽत्र मागधपरिभाषोक्तः षड्गुणापरिमितः । तत इति
—षोडशवर्षादुपरि तावत् स्थिरा भवेत् यावत् सप्ततिः वर्षाणि भवन्ति । स्थिरैति

बाले अञ्जनादीनामपि कर्तव्यतानिर्देशः ।—

अञ्जनञ्च तथा लेपः स्नानमभ्यङ्गकर्म च ।

वसनं प्रतिमर्शञ्च जन्मप्रभृति शस्यते ॥१७॥

बाले कवलादीनां कालनिर्देशः ।—

कवलः पञ्चमाहर्षादष्टमाहस्यकर्म च ।

विरेकः षोडशात् वर्षात् विंशतेश्चैव मेथुनम् ॥१८॥

—षोडशमाषका न तु वृद्धिः । तत इति—सप्ततैर्वर्षैः सैव मात्रा बालकवच्छनेः श्रमेः
क्रासनीया, तेन सा मात्रा यथैव पूर्वे वर्द्धिता तथैवापकर्षणीया इत्यभिप्रायः ।
अत एव बालवृद्धयोः साम्याक्रिया कार्येति न तु सर्वेषाम् । कल्कचूर्णादीनामियमेव
मात्रा सम्यक्ता किमुतान्या वा ? तदाह, मात्रेयमित्यादि ।—इयं पूर्वोक्ता मात्रा
कल्कचूर्णाणां तदयोगानाञ्च, कषायाणां चतुर्गुणा विज्ञेया । एतेन किमुक्तम् ?
रक्तिपरिमाणे अतस्रः राक्ताक्षाः कार्य्याः, माषकपरिमाणे चतुर्माषक इति ॥१४—१६॥

इदानीं तस्य बालकस्याञ्जनादिकं कर्म निदर्शयन्नाह, अञ्जनमिति ।—बालक-
स्याञ्जनादि प्रतिमर्शपर्यन्तं जन्मप्रभृत्येव शस्यते, जन्मदिनादारभ्य यत् यत्र विहितं
तत् तत्र कुर्यादिति भावः । अञ्जनं सौवीराञ्जनादिकं, लेपः उद्धतनप्रभृतिक,
स्नानं परिषेकः, अभ्यङ्गः अभ्यञ्जनं, वसनं वान्तिः, प्रतिमर्शनं बृंहणम् * इति ॥१७॥

अपराण्याह, कवल इत्यादि ।—कवलो गण्डूषभेदः, स तु पञ्चमात् वर्षादुपरि
कार्य्यः न तु तदवर्कः । नस्यकर्मैति—नासाया यद्दीयते तन्नस्यमिति, तस्य कर्म
क्रिया, चतुर्थे (?), + तश्चाष्टमात् वर्षादुपरि कार्य्ये, षोडशवर्षादुपरि विरेकी दयः,
विशेषेण रेकी विरेक इत्यनेन अपूर्णबोधस्य कोष्ठस्य रेचनस्य निषेधः षोडश-
वर्षाभ्यन्तरे भवति, न तु मृदुरेचनस्य निषेधः । तदुक्तम्—“अग्निचारविरेकेस्तु
बालवृद्धौ विवर्जयेत् । तस्माध्येषु विकारिषु मृद्वौ कुर्यात् क्रियां श्रमेः ॥” (मृ० सू०
३५ अ०) इति । विंशतेश्चैव मेथुनमिति—मेथुनं स्त्रीपुरुषसंयोगलक्षणं, तच्च

* प्रतिमर्शनं बृंहणं नस्यं कीदृशमित्यर्थः । “प्रतिमर्शः नस्यभेदः मृदु न तु
तीक्ष्ण, तीक्ष्णस्य अष्टमाब्दादभिधानाम्” इति गू० दौ० । “प्रतिमर्शः केहनस्यविशेषः”
इत्यन्ये टीकाकृतः ।

+ मन्थे, “चतुर्थे” इत्यत्र “चतुर्विधम्” इति पाठो भविष्यति, पञ्चविधेषु
नस्येषु प्रतिमर्शस्य पूर्वमुक्तत्वात् ।

वयोऽनुसारेण बाल्यादीनां क्वासनिर्देशः ।—

बाल्यं वृद्धिश्च विमेषा त्वग्दृष्टिः शुक्रविक्रमौ ।

बुद्धिः कर्मेन्द्रियं चेतो जीवितं दशती क्रसेत् ॥१८॥

वातप्रकृतेः लक्षणम् ।—

अल्पकेशः कृशो रूक्षो वाचालश्चलमानसः ।

आकाशचारो स्वप्नेषु वातप्रकृतिको नरः ॥२०॥

विंशतिवर्षादुपरि समानवोध्यत्वं स्यादित्याह । तथा च—“पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारो तु षोडशे । समत्वागतवोध्यै तो जानीयात् कुशलो भिषक् ॥” (सु० सू० ३५ अ०) इति ॥१८॥

अथ बाल्यप्रभृतीनां जीवितावसानानां वर्षसङ्ख्यायाः क्वासत्वमाह, बाल्यमिति ।— तत् बाल्यप्रभृतिकं दशत इति—दशवर्षादुपरि क्रसेत् ज्ञानं प्राप्नोतीत्यर्थः । एतेन किमुक्तम् ? दशवर्षादुपरि बाल्यावस्था, विंशतिवर्षादुपरि वृद्धिर्वर्द्धनं, विंशद्वर्षादुपरि कृषिः शरीरं, चत्वारिंशद्वर्षादुपरि मेघा, मेघा तु गन्धाकर्षणसामर्थ्यरूपा, पञ्चाशद्वर्षादुपरि त्वक्, सा श्रोत्रल्यरूपा भवतीति भावः ; षष्टिवर्षादुपरि दृष्टिः, सप्ततिवर्षादुपरि शुक्रम्, अशीतिवर्षादुपरि विक्रमं, तच्च साहसार्थरूपं पराक्रमसंज्ञं, नवतिवर्षादुपरि बुद्धिः, शतवर्षादुपरि कर्मेन्द्रियं, दशाधिकशतवर्षादुपरि चेतसेतनास्थानं, विंशत्यधिकशतवर्षादुपरि जीवितं प्राप्नोति । तेन विंशत्याधिकशतं परमायुर्मनुजानां भवतीति तात्पर्यार्थः । तदुक्तं—“समाः षष्टिर्दृग्गणा मनुजकरिणा पञ्च च निशाः, इयाना द्वाविंशत् खरकरभयोः पञ्चककतिः । विरूपा सत्यायुर्वृषभद्विषयोः सप्तदश युनः स्रुतं कागादीनां दशकसहितः षट् च परमम् ॥” ॥१८॥

इदानीं प्रकृतिलक्षणमाह, अल्पेत्यादि ।—वातप्रकृतिको नरः * दृष्टशो भवति, कीदृशस्तमाह, अल्पकेश इति—तुच्छकेशः, अदीर्घकेश इत्यन्ते, यतो वातस्यातिरौल्यत्वेन त्वक्पाकण्यादैल्यकेशत्वम् । पुनः कीदृशः ? कृशो दुर्बलः, वातस्य श्लेष्मकत्वात् । रूक्षः रुच्यगुणत्वादस्निग्धः । वाचाल इति—प्रवचनशीलः । चलमानस इति—चञ्चलचित्तः, वातस्य चलगुणत्वात् । स्वप्नेष्वपि आकाशचारो भवतीति यथा वायुराकाशे चरतीति स्वभावात् । प्रकृतिस्तु स्वभाव एवेत्याहुराचार्याः, यतः,—

* “नरशब्दोऽथ सामान्यमनुष्यवाचकः स्त्रीपुविषयः ; यतः स्त्रीणां भिन्नप्रकृतिर्नोक्ता” इति गू० दो० ।

पित्तप्रकृतेः लक्षणम् ।—

अकालपलितैर्यामो धीमान् खेटी च रोषणः ।

स्वप्नेषु ज्योतिषां द्रष्टा पित्तप्रकृतिको नरः ॥२१॥

श्लेष्मप्रकृतेः लक्षणम् ।—

गम्भीरबुद्धिः स्थूलाङ्गः स्निग्धकेशो महाबलः ।

स्वप्ने जलाशयालोकी श्लेष्मप्रकृतिको नरः ॥२२॥

“युक्तशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्पाटः । प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं
श्रेण ॥” (सु० शा० ४ अ०) इति ॥२०॥

अथ पित्तप्रकृतिमाह, अकालपलितैरिति ।—पित्तप्रकृतिको नर बुद्धिगो भवति,
कीटशक्तमाह, अकालपलितैर्याम इति—अकाले असमये पलितैर्वाङ्मैत्र्यामः,
पित्तस्थोष्मगुणत्वात् * । तदुक्तं—“कीटशोक्तश्मकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः ।
पित्तश्च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥” (सु० नि० १३ अ०) इति ।
पुनः कीटशः ? धीमान् बुद्धिमान् सत्त्वगुणबाहुल्यात् । खेटीति—प्रखेदयुक्तः,
पित्तस्थोष्ममयत्वात् द्रवगुणत्वाच्च । रोषण इति—रोषयुक्तः पित्तस्य तीक्ष्णत्वात् ।
स्वप्नेष्वपि ज्योतिषामग्न्यादीनां तारकादीनाञ्च द्रष्टा अवलोककः यतः तत् पित्त-
मुष्णमुक्तं तद्गुणत्वात् ॥२१॥

अथ कफप्रकृतिको नर बुद्धिगो भवति, कीटशक्तमाह, गम्भीरबुद्धिरिति ।—
गम्भीरबुद्धिः गम्भीरा अतलस्पृशी बुद्धिर्यस्य स तथा सर्वकाय्येयमा +, कफस्य
तमोगुणाधिकत्वात् । स्थूलाङ्गः स्थूलशरीरः, मेदीऽधिकत्वात्, यतः कफस्तु मेदी-
हृद्भूमौ एव । स्निग्धकेश इति—तस्य खेदगुणत्वात् । महाबल इति—भोजना
शरीरं कर्मसामर्थ्यं, यतः,—“धातूनां यत परं तेजसात् खलु भोजनदेव बलमित्युच्यते”

* ऊष्मगुणत्वात् ऊष्मणो यः गुणः, तद्वत्त्वादित्यर्थः, न तु ऊष्म एव गुणः
ऊष्मगुणः इति व्याख्या । तथा च उल्लेखः,—“कीटोपादिकृतेन शरीरोष्मणा शिरो-
गतेन वैकृतपित्तेन पुनः प्राकृतं पलितम्, अन्यथा पित्तोष्मणोरभेदात् पुनर्कृति-
र्येषः स्यात् । पञ्जिकाकारस्तु—शरीरोष्मा पावकः पित्तं तदाश्रयः, एतौ पित्त-
पावकौ एकीभूय केशान् पचतः, एतेन केवलोष्मकृतस्य विकृतस्य दोषप्रसङ्गो निराकृत
इति मन्यते” इति ।

+ “अथखलबुद्धिः” इति गृ० दो० ।

इहमग्निपातप्रकृत्योः लक्षणम् ।—

ज्ञातव्या मिश्रचिह्नैश्च द्वित्रिदोषोत्पत्त्या नराः ॥२३॥

वयसः प्रकृतेश्च वैविध्यनिर्देशः ।—

* (कौमारं यौवनं वार्धं प्राणिनां त्रिविधं वयः ।

कफपित्तानिलप्रायं क्रमतः प्रकृतिस्त्रिधा ॥

वयोऽनुसारेण बाल्यादीनां सीमानिर्देशः ।—

आषोडशात् भवेद्बालो वर्षात् क्षीराक्षवर्द्धितः ।

मध्वमं सप्ततिर्यावत्तदूर्ध्वं वृद्ध उच्यते ॥)

निद्रामूर्च्छाभ्रान्तितन्त्राणां दोषनिर्देशः ।—

तमःकफाभ्यां निद्रा स्यान्मूर्च्छा पित्ततमोभवा ।

रजःपित्तानिलैर्भ्रान्तिस्तन्त्रा श्लेष्मतमोऽनिलैः ॥२४॥

(सु० सु० १५ अ०) अत एव कफबाहुल्याच्छुक्लं युक्तायसं बलनिर्मितं वचनम् । स्वप्ने जलाशयात्प्रकीर्ति—जलाशयः नदीनदतडागादिकं कफस्य सौम्यगुणत्वात् ॥२२॥

इदानीं द्विदोषजत्रिदोषजप्रकृतेर्लक्षणानि दर्शयन्नाह, ज्ञातव्या इति ।— मिश्रचिह्नैर्मिलितलक्षणैः कृत्वा द्वित्रिदोषोत्पत्त्या नरा बोद्धव्याः, तेन पूर्वीकश्ले- दीपयामिर्ललितलक्षणैर्द्विदोषजा प्रकृतिः ज्ञेया इत्यभिप्रायः, त्रयाणां दोषाणां मिलितलक्षणैस्त्रिदोषजा प्रकृतिरवगन्तव्येति ॥२३॥

अधुना शरीरप्रसङ्गेन निद्रादीनामपि विशिष्टोत्पत्तिमाह, तम इति ।— निद्रा स्वप्नः, सा तमःकफाभ्यां स्यात् तमोगुणकफसंसर्गेण भवतीत्यर्थः । पित्त- तमोभवा मूर्च्छा, मूर्च्छा च रूपाद्यविज्ञानं मोहसंज्ञकम् अचेतनरूपेत्यर्थः । यद्यपि वातादिभिस्तन्त्रिदोषैः शोणितेन मद्येन विषेण च मूर्च्छा अभिसता, तथाऽपि तस्याः पित्तप्रधानत्वेन दर्शितत्वात् । तदुक्तं—“वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च । षट्स्वप्नेतासु पित्तन्तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते ॥” (सु० उ० ४६ अ०) इति । रजःपित्तानिलैः कृत्वा भ्रान्तिः क्षमः, तदुक्तं—“योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः । क्षमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः + ॥” इति । श्लेष्मतमोऽनिलैः

* प्रक्षिप्ताविमौ इति केषाञ्चिन्न्यतम् ।

+ लक्षणमिदं क्रमस्य, न तु क्षमस्य, यदुक्तं—“योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः । क्षमः स इति विज्ञेयः इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥” (सु० शो० ४ अ०) इति । अत्र चास्य समुद्देशः अप्रासङ्गिकः प्राणादिकस्य ।

ग्लानेरालक्ष्यस्य च लक्षणम् ।—

ग्लानिरोजःक्षयाद्दुःखादजीर्णाच्च अमाहवेत् ।

यः सामर्थ्यं प्यनुत्साहस्तदानस्यमुदीर्यते ॥२५॥

जृम्भाया लक्षणम् ।—

चैतन्यश्रियिलत्वात् यः पीत्वैकं खासमुद्धरेत् ।

विदोर्णवदनः खासं जृम्भा सा कथ्यते बुधैः ॥२६॥

कृत्वा तन्त्रा व्यात्, तन्त्रा निद्राभ्रमः, तदुक्तम्—“इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरवं जृम्भार्थं क्लमः । निद्रासंख्येव यस्येष्टा तस्य तन्त्रां विनिर्दिशेत् ॥” (सु० शा० ४ अ०) इति ॥२४॥

अथ ग्लानिसाह, ग्लानिरिति ।—ग्लानिस्तु क्लमापरपर्यायवाचको हृषंस्य इत्यर्थः । स च कारणचतुष्टयाद्वर्तते । किं तत्र कारणचतुष्टयम् ? अोजःक्षयादित्यादि ।—अोजः शुक्लम्, अशेषधातुधामाभिप्रायतमोज इत्येके, तस्य क्षयात् बलक्षयादात् स्यत्यर्थः । दुःखादिति—मानसोद्देगादकर्मणः । तस्य दुःखं विविधमिति सुसुतः,—“आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकम्” (सु० सू० २४ अ०) इति । एषां विवरणं न लिखितमत्र विस्तरमथात् । अजीर्णादिति—अपरिपक्वाग्रस्वरूपात् । एतदपि द्विविधं चतुर्विधं वा । द्विविधमन्नजं विष्टादादिकञ्च चतुर्थे रसशेषमिति । अमादिति—शरीरायासजननकर्मणः ; स च व्यायामापरपर्यायवाचकशब्देन कथितः, “शरीरायासजननं कर्म व्यायाम उच्यते” इति । ग्लानिलक्षणं प्रसङ्गात्तन्त्रान्तरोक्तम्—“क्लेमधुरता तन्त्रा हृदयोद्देष्टव्यं समः । न चात्रमभिकाङ्क्षेत् ग्लानं तस्य विनिर्दिशेत् ॥” (सु० शा० ४ अ०) इति । प्रसङ्गात् तन्त्रान्तरोक्तं क्लमलक्षणं यथा—“गोऽनायासः श्वसो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः । क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियाग्रप्रवाधकः ॥” (सु० शा० ४ अ०) इति । अथाऽऽलक्ष्यमाह, य इति ।—सामर्थ्यं कर्मणि सामर्थ्यं सत्यपि योऽनुत्साहोऽप्रवर्षः स आलस्यशब्देन वाच्यः । लक्षणमस्योक्तं यथा—“सुखस्यप्रसङ्गित्वं दुःखहेतुणोलता । शक्तस्य आप्यनुत्साहः कर्मबालस्यमुच्यते ॥” (सु० शा० ४ अ०) इति ॥२५॥

इदानीं जृम्भालक्षणमप्याह, चैतन्येति ।—पुरुषचैतन्यश्रियिलत्वात् चैतन्यश्रियिलीभावात्, चैतन्यस्य ज्ञानलक्षणस्य श्रियिलीभावं किञ्चिद्गुणतामनुभूय इव स्थितः सन् विदोर्णवदनी व्याप्तमुखो भूत्वा एकं खासमुद्धृतं पीत्वा अपरं खासमधोगतं यदुद्धरेत् त्यजेत्, सा बुधैः पण्डितैः सुसुतादिभिर्जृम्भा इति कथ्यते ।

अथ सङ्ख्येयम् ।—

उदानप्राणयोरुर्ध्वयोगात्सौलिकफस्रवात् ।

शब्दः सञ्जायते तेन क्षुतं तत् कथ्यते बुधैः ॥ २७ ॥

उद्गारस्य लक्षणम् ।

उदानकोपादाहार-स्वस्थितत्वाच्च यङ्गवेत् ।

पवनस्योर्ध्वगमनं तमुद्गारं प्रचक्षते ॥ २८ ॥

इति श्रीहामोदरसूनुना योगार्ङ्गवरेण विरचिताया शार्ङ्गधरसंहितायां शरीरे

आहारादिगतिर्नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

जृम्भाकाले उद्वेष्टनं नेत्राश्रुस्रवणञ्च बोध्यं, यदुक्तं सुश्रुतेन—“पोलैकमनिकोष्कास-
मुद्वेष्टन् विवर्तमानः । यन्मुञ्चति सनेवास स जृम्भः इति संज्ञितः ॥” (सु० शा०
४ अ०) चित्तस्य विषयान्तरव्याप्ताविनिवृत्तये जृम्भाकाले क्वाटिकादानं लौकिकं
सिद्धं, वचनं हि—“क्षुद्रत्पतनजृम्भासु जीव तिष्ठाङ्गुलिध्वनिः” इति ॥२६॥

अथ क्लृप्तालक्षणं दर्शयन्नाह, उदानेति ।—य उदानप्राणयोरुर्ध्वयोगात् मूर्द्ध्नि
स्रोतःपथस्थितात् कफस्रवाच्च यः शब्दः सञ्जायते उत्पद्यते तेन शब्देन बुधैः तत्
क्षुतं क्लृप्ता कथ्यते । “तेन” इति स्थाने “नक्षः” इति पठस्येकं, तत्र—नक्षो
नासातः । अन्यत्राप्युक्तं—“प्राणोदानौ च तौ स्यातां मूर्द्ध्नि स्रोतःपथस्थितौ ।
नक्षः प्रवर्तते शब्दः क्षुतं तदभिनिर्दिशेत् ॥” इति ॥२७॥

अथोद्गारमाह, उदानकोपादिति ।—आहारस्वस्थितत्वाच्चेति—आहारोऽशनं तस्य
स्वस्थाने यदा स्थितिर्भवति तस्मादत्यर्थः, पवनस्य बायोर्ध्वगमनं भवेत्
तमुद्गारं प्रचक्षते इति । उदानवायोरेव प्रकोपः, प्रकोपादेव तस्यैवोर्ध्वगमनमित्याचक्षते ।
समानबायोर्ध्वगमनमित्येके ॥२८॥

इति श्रीवाल्मीक्यान्वयप्रकाशवेद्यभावसिंहात्मजेनाट्टमल्लेन विरचितायां शार्ङ्गधर-

दीपिकायां प्रथमखण्डे आहारादिगतिर्नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

इति शरीरस्थानम् ।

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

अथ रोगगणनाध्यायः ।

रोगगणनायाः प्रतिज्ञा ।—

रोगाणां गणना पूर्वं मुनिभिर्या प्रकीर्त्तिता ।

मयाऽत्र प्रोच्यते सैव तद्भेदा बहुवो मताः ॥१॥

पञ्चविंशतिज्वराणां विवरणम् ।—

पञ्चविंशतिरुद्दिष्टा ज्वरास्तद्भेद उच्यते ।

पृथग्दोषैस्त्रयो हन्धभेदेन त्रिविधः स्मृतः ॥२॥

पूर्वमुक्तं रोगाणां गणना चेति, अतस्मादपि दर्शयन्नाह, रोगाणामिति ।—
मुनिभिस्त्रैकलिकज्ञानदर्शिभिः रोगाणां ज्वरादीनां गणना सङ्ग्राहकरणं पूर्वमादौ
या प्रकीर्त्तिता कथिता, सैव गणना मया, आचार्य्येणेति शेषः, अस्मिन् ग्रन्थे प्रोच्यते
कथ्यते । तद्भेदा रोगभेदा बहुवो मताः कथिताः, अत्रापि मुनिभिरिति शेषः ।
रोगज्ञेन रोगाणां सङ्ग्रहमात्रमत्र याज्ञं नान्यदित्यभिप्रायः । सङ्ग्रहमात्रमपि
प्रयोजनार्थं, निदानार्थपञ्चकं रोगज्ञापकं दर्शितं, तत्र सम्प्राप्तिस्तु कथिता, तस्याः
सङ्ग्रहा पर्यायनामिति * । तदुक्तं—“सङ्ग्रहाविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः । सा
भिद्यते यथाऽत्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति ॥” (वा० नि० १ अ०) इति न्यायात्
सङ्ग्रहमात्रमपि नात्र निरर्थकम् ॥१॥

इदानीं सङ्ग्रहमात्रं प्रकटयन्नाह, पञ्चविंशतिरिति ।—ज्वराः पञ्चविंशतिरुद्दिष्टाः
कथिताः । पञ्चविंशतिरेवात्र हेतुः ज्वरेणैव दर्शिताः । सन्तापलक्षणो ज्वर इति ।
तदुक्तं—“कोधात् पित्तमेवाग्रस्तदूष्मा ज्वरः” इति । अत एवाह साधवकरेण
—“दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्रासम्भवः । ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्वसङ्घाताऽऽगन्तुजः
स्मृतः ॥” (री० वि० ज्वर०) इति । अष्टप्रकारस्यैव पञ्चविंशतिभेदा दर्शिताः ।
अथ पञ्चविंशतिविवरणमाह, पृथग्दोषैरित्यादि ।—पृथग्दोषैः कृत्वा त्रयो
भेदाः, तेन वातेन पित्तेन कफेनेत्यर्थः । हन्धभेदेनापि त्रिविधः, हन्धभेदेन
हिदीषमिलितेन, तेन वातपित्ताभ्यां, वातश्लेष्माभ्यां, श्लेष्मपित्ताभ्यामिति ।

* सङ्ग्रहा न सम्प्राप्तेः पर्यायः, किन्तु भेदविशेषः ।

एकश्च सन्निपातेन तड्डेदा बहवः स्मृताः ।

प्रायशः सन्निपातेन पञ्च स्युर्विषमज्वराः ॥३॥

सन्ततः सततश्चैव अन्येद्युष्कस्तृतीयकः ।

चातुर्थकश्च पञ्चैते कीर्त्तिता विषमज्वराः ॥४॥

तथाऽऽगन्तुज्वरोऽप्येकस्त्रयोदशविधो मतः ।

अभिचारग्रहावेश-शापैरागन्तुकस्त्रिधा ॥ ५ ॥

अमाच्छेदात् क्षताद्वाहाच्चतुर्धाऽऽघातजो ज्वरः ।

कामाङ्गीतेः शुचो रोषादिषाटोषधिगन्धतः ॥

अभिषङ्गज्वराः षट् स्युरेवं ज्वरविनिश्चयः ॥६॥

एकी भेदस्तु सन्निपातेन भिन्नितदोषवयेण भवति । तड्डेदा बहवः स्मृता इति—
तस्य सन्निपातस्य ज्वरस्य बहवो भेदास्तृयोदशविधाः स्मृताः कथिताः । ते तु
नात्र गणिताः, यतो सन्निपातज्वर एक एव निदानदारेण पूर्वाचार्यैर्दर्शितः ।
भेदास्तु दोषाणां ह्येनमध्याधिकभावेन कथिताः । तथा हि—“द्वान्वयेकोऽन्वयेः षट्
स्युर्ह्येनमध्याधिकैश्च षट् । समैश्चैकी विकारास्ते सान्नपातास्तथोदश ॥”
(५० सू० कियन्तःशिरसीय०) इति । पञ्च विषमज्वरास्तु सन्निपातेनैव स्युः, यदुक्त—
“ज्वराश्च विषमाः सर्वे सन्निपातसमुद्भवाः” इति वचनात् । ते च—“सन्ततः सतती-
ऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ” (५० चि० ज्वर०) इति । एके “चत्वारः सन्ततं हित्वा
त्रयास्ते विषमज्वराः” (खरनादः) इति वदन्ति, तन्मते तु विवादं सर्वस्वरं, (१)
तन्नाव लिखितं विस्तरभयात् यतस्तत्रोक्तज्ज्ञातव्यमेव । आगन्तुकाऽप्येकः, स च
तथोदशविधो भिन्नहेतुत्वात् ; तद्यथा—चयोऽभिचारादिजनितः, चत्वार
आघातजा, षडभिषङ्गजायेति । अभिचारादीनामापि व्याख्या लिख्यते, यथा—
अभिचारो मन्त्रादिभिरारण्ययोगः । यद्वावेशो दृष्ट्यद्वावेशः, भुतादीनाञ्च मन्त्रेणा-
वेशो वा । शापो ब्राह्मणशुक्रव्रद्धसिद्धानामनिष्टाभिषेचनम् । अम इति—शरीराश्रम
जननव्यापारलक्ष्यं कर्म, तत् व्यायामशब्देन वाच्यम् । केदोऽस्त्रप्रभृतिभिः । क्षतः
प्रहारः, स च लोष्टश्चस्त्रजगुडादिजनितः । दाहोऽग्न्यादिसम्भवः । कानोऽभिलाषः,
स चाभिमतकामिन्याद्यप्राप्तिनिमित्तः । भौतिर्भयं, सा च प्रभृतिनिमित्तादिका । शुक्र
शोकः, स च धनवन्धुनाशादिनिमित्तः । रोषः क्रीधः, स तु पराभिद्रोहादिलक्षणः ।
विषं व्यावरज्जमादिरूपं, तज्जनित इत्यर्थः । औषधिगन्धत इति—तौत्रोषधिगन्ध-

षडतीसाराणां विवरणम् ।—

पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोकादामाङ्गयादपि ।

अतीसारः सप्तधा स्यात्—”

॥७॥

प्राणादिति भावः । एवमिति—एनेन प्रकारेण, ज्वरविनिश्चयः कथितः ज्वराणां विनिश्चयो ज्ञानं, ज्वरसङ्ख्यायामेव ज्ञानमित्यर्थः, यतः सङ्ख्याविकल्पेत्यादिना । ननु कथमादौ ज्वर एव प्रोक्तो नाम्ने रोगाः ? सत्यं, ज्वरस्तु सर्वेषां प्रधानतमः ; तदुक्तं—“देहेन्द्रियमनक्लापो सर्वरोगाद्यग्रां बली । ज्वरः प्रधानं रोगाचामुक्तो भगवता पुरा ॥” (अ० चि० ज्वर०) इति ॥ २—६ ॥

इदानीमतीसारादीनां रोगाणां भेदान् दर्शयन्नाह, पृथगिति ।—अतीव सरतीत्यतीमारो गुटेन, स च सप्तप्रकारो भवति ; तद्वयथा, पृथक् टीषैरित्यादि—पृथक् टीषैरित्यनेन वातेन पित्तेन कफेन त्रयः । समस्तैरिति—संमिश्रितदोषत्रयेणैव । शोकादिति—इष्टादिविधयोगनिमित्तात् । आमाटपरिपक्वमान, आमाजीर्णादा, अजीर्णमपक्वञ्च वर्षादिना । भयाद्भेदेः । ननु माधवेन षड्विधोऽतीसारः निगदितः, यथा—“एकैकशः सर्वशस्यापि टीषैः शोकेनाम्यः षष्ठ आमेन प्रोक्तः” (सु० उ० ४० अ०) इति, ततः कथमत्र सप्तविध इति ? उच्यते, निदानानु नियतानियतभेदेन द्विविधं, शोकाजीर्णादिभ्योऽपि कदाचिदतीसार उत्पद्यते, भयनिदानेनाप्यावश्यकम् (?) अतीसारो * भवतीत्यदोषः ; यतो दृश्यते हि सभयपुरुषस्य तत्क्षणमेव द्रवसरणं

* “भयजनस्य सुश्रुते वातिक्रातिसारावरुद्धत्वात् षड्विधः, चरकमते भयजनस्य लिखितत्वात् अथ सप्तविधः कृतः, अती न दोषः” इति गू० टी० । “ननु चरकादौ दोषैरेकैकशस्तयः सन्निपातनैकः भयशोकजौ द्वौ एवं षड्विधः, अथ त्वन्यथा इति कोऽभिप्रायः ? उच्यते, चरके भयशोकजौ लक्षणभेदाज्जाकार्यभेदात् भिन्नावुक्तौ, आमजस्तु आम्राजीर्णकृपितद्विदोषजन्येन सन्निपातनावरुद्ध इति न सङ्ख्यातिरेकः । सुश्रुते तु हेतुप्रत्ययनौकचित्त्वार्थं शोकजामजौ पाठितौ वातजन्यसन्निपातजत्वाभेदोऽपि, यथा वातादिजत्वाभेदोऽपि सृत्तिकानः पाण्डुरोग इति । एवं भयशोकजावपि चरके हेतुप्रत्ययनौकचित्त्वार्थं पृथक् पाठितौ, सुश्रुते भयजनः केवलवातिके अवरुद्धः, मानसत्वाविशिवाहा शोकजो अवरुद्धः इति जेम्माह,” इति व्याख्यामधुकोषः । संहिताकारोऽयं चरकसुश्रुतयोरेकमर्थोरेव भूतमवलम्ब्य सप्तविधः अतीसार इति कृतवान् ।

पञ्चगव्योनां विवरणम् ।—

“—ग्रहणी पञ्चधा मता ।

पृथग्दोषैः सन्निपातात्तथा चामेन पञ्चमी ॥८॥

चतुर्विधप्रवाहिकाया विवरणम् ।—

प्रवाहिका चतुर्धा स्यात् पृथग्दोषैस्तथाऽस्रतः ॥९॥

चतुर्विधाजीर्णाया विवरणम् ।—

अजीर्णं त्रिविधं प्रोक्तं विष्टब्धं वायुना मतम् ।

पित्ताद्विदग्धं विज्ञेयं कफेनामं तदुच्यते ॥

विषाजोर्णं रसादेकं—”

॥१०॥

गृहेनेति । तस्मादत्र नियतहेतुको नाम सप्तमी भयात् प्रतिपादित इत्यर्थः । इति सप्तधा प्रतिपादितः ॥७॥

ग्रहणी पञ्चधा मतेत्यादि ।—ग्रहणी बह्निस्थानं, तदाग्निो दीप एव ग्रहणीशब्दवाच्यः, कुवचित् ग्रहणीदोष इत्युपदर्शनात् ; तदुक्तं—“बह्नी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता । पक्वामाशयमप्यस्यां ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ॥” (सु० सु० ४० अ०) इति । ग्रहणात् ग्रहणी मतेत्यपि, यतः,—“अग्न्यधिष्ठान-मग्नस्य ग्रहणाद्ग्रहणी मता” (च० वि० ग्रहणी०) इति । पञ्चधा पञ्चप्रकारा । तथा चामेन पञ्चमीति—चामेन चामवातेनेत्यर्थः ॥८॥

प्रवाहिका चतुर्धा स्यादित्यादि ।—अशब्दं कण्ठस्थलेन वायोऽपानमार्गेण बहि-निःसारणं प्रवाहिका । अस्याः पथ्याश्रयनामानि तन्मन्तरप्रतिपादितानि ; यथा—केचन विस्मस्येति नाम्ना कथयन्ति, एके चान्तर्गन्धिरांत, केऽपि निचार, निवाहिकामित्यपरे । चतुर्हेति—वातपित्तकफैः रक्तगन्धः । अस्त्र रुधिरम् । ननु प्रवाहिकाऽतीसारयोः को भेदः ? यस्याद्भ्रुसरणत्वेनामपक्वत्ववचयोगात् साधयेत् । उच्यते—नानाद्रवधातु-सरणमतीसारः, प्रवाहिकायान्तु केवलं कफसरणमिति भेदः ॥९॥

अजीर्णान्याह, अजीर्णमिति ।—अजीर्णं त्रिविधं प्रोक्तमिति—अजीर्णमित्य-परिपक्वान्नजनितं, विविधमिति वातादिभेदेन । एके “अजीर्णे त्रिविधं प्रोक्तम्” इत्यपि पठन्ति । तन्मतस्तु नाश्वेनेनां यथा—“आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः । अजीर्णे केचिद्विष्णन्ति चतुर्धे रसेशेषतः ॥” (सु० सु० ३६ अ०) “अजीर्णे पञ्चमं

त्रिविधालसकानां विवरणम् ।—

“—दोषैः स्यादलसस्त्रिधा ।

त्रिविधवितृचीनां विवरणम् ।—

वितृचो त्रिविधा प्रोक्ता दोषैः सा स्यात् पृथक् पृथक् ॥११॥

केचिद्विदोषं दिनपात्रि च । वदन्ति षष्ठ्याजीर्णं प्राक्तनं प्रतिवासरम् ॥” (री० वि० अग्रिमान्दादि०) इति । यत् रसादेकमजीर्णं तत् विषाजीर्णमत्र प्रतिपादितं, विषवन्धारणात्मकत्वात्, रोगसङ्करकरमित्ये । ननु आमामीर्णादिभ्यो रसशेषस्य को भेदः ? उच्यते—आमादितयमन्नजं रसशेषस्तु चाहाररसजः ॥१०॥

दोषैः स्यादलसस्त्रिधा इति ।—दोषैर्वातादिभिः, अलस इति—विष्टव्या-
जीर्णाद्भवति, * तस्य च दोषश्चिरत्वनिमित्तादलसकसंज्ञा ; यदुक्तं—“प्रयाति
नोष्ठं नाधस्तादाहारी न विपच्यते । आमामयेऽलसोभृतस्तेन चालसकः स्मृतः ॥”
(वा० सु० ८ अ०) इति । ननु विष्टव्याजीर्णादलसकोत्पत्तिः ; यदुक्तं—“अजीर्ण-
सामं विष्टव्यं विदग्धञ्च यदीरितम् । वितृच्यलसकौ तज्जाड्वेद्यापि विलम्बिका ॥”
(सु० ८० ५६ अ०) इति ; विष्टव्यस्तु वातेनेव सम्भवति, कथमलसको
वातादिभिस्तन्निर्दोषैः स्यात् ? नैव दोषः, दाषकार्यं दोषान्तरप्रकोप एव,
यथा सामान्यज्वरप्रकोपात् आसाद्यपद्रवाः, अथवा—“एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेक
प्रकोपयेत्” इत्यादिवचनात् । वितृची त्रिविधा प्रोक्तेति ।—दोषैर्वातपित्तकफैः,
पृथक्पृथगिति—व्यक्तानां दोषाणां तयो भेदा इत्यभिप्रायः । सा वितृची त्वामामीर्णा-
द्भवति † । विशेषेण सूचीभिरिव ममांघ्रि पीडयति इति वितृची ; तदुक्तं—“सूचीभिरिव
मात्राणि तुदन् सन्निष्ठतऽनिलः । यस्याजीर्णेन सा वैदीर्वितृचीति निमगते ॥”
(सु० ८० ५६ अ०) इति ॥११॥

* मतमिदं मधुकोषविकृष्टं, तथा च—“आमविष्टव्यविदग्धेषु वितृच्यलसक-
विलम्बिका यथासङ्गं भवन्तीति कार्तिककुण्डः । तस्मैति वज्रुलकरः,
यथासङ्गे हि सति विदग्धं विलम्बिकां प्राप्नोति, तासु कफवाताभ्यां पठिष्यति,
तज्जात् त्रिविधादजीर्णात् यथासम्भवं वितृच्यादीनामुत्पाद इति युक्तम्, उक्तं
हि—“अजीर्णात् पचनादीनां विषमो बलवान् भवेत्” इति विकरयस्मिन् ।

† एषाऽप्याहुः मधुकोषविकृष्टा ।

एकविधदण्डकालसकस्य विवरणम् ।—

दण्डकालसकस्यैवः—”

एकविधविलम्बिकाया विवरणम् ।—

“—एकैव स्याद्विलम्बिका ॥१२॥

षड्विधा विवरणम् ।—

अर्शसि षड्विधान्याहुर्वीतपित्तकफास्रतः ।

सन्निपाताच्च संसर्गात्तेषां भेदो द्विधा मतः ॥

सहजोत्तरजन्मभ्यां तथा शुष्काद्रभेदतः ॥ १३ ॥

एको दण्डकालसक इति ।—स चालम्बकभेदः, भिन्नलक्षणत्वेन पृथग्दर्शितः ; तद्वयम्—“तिर्य्यग्गताक्षरं दोषा दण्डवत् लभ्यन्ति ये । स दण्डकालसकस्यान्यः शीघ्रं देहविनाशकम् ॥” इति । विलम्बिकाऽप्यका, सा विदग्धानीर्णप्रभवा कथिता, * इयमपि विदग्धजनितेत्युक्तत्वात् ; यथा—“दष्टन्तु भुक्तं कफमाकृताभ्यां प्रवर्तते नोर्हमधश्च यस्य । विलम्बिकां ता भृशद्विक्लियामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः ॥” (सु० उ० ५६ अ०) इति । ननु विलम्बिकालम्बकयोरापि वातकफप्रबलयो-
रुद्दीर्घोऽप्रवर्तनशीलयोस्तुल्यवान् को भेदः ? उच्यते—लम्बकं तौत्राः शुल्कादयो भवन्ति, विलम्बिकायां न भवतीति भेदः ॥ १२॥

अर्शमीति ।—परिवत् प्राणान् शयानि हिंमान् इत्यर्शसि अपाने मांसाङ्कुर-
रूपाणीत्यर्थः । षड्विधानीति—दोषभेदेन, तत्रासतो रक्षरात् । यद्यपि तन्नाम्नरे
इन्द्रजानि प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वात् पृथक् न गण्यतां तथाऽपि दोषद्वयस्य निदान-
मेलने लक्षणमेलने च इन्द्रजालानि इन्द्रजानि प्रतिपादितानि, तदुक्तं—“हेतुलक्षण-
संसर्गात् विद्याइन्द्रजालानि च । सर्वे हेतुस्त्रिंशोपायां सहजैर्लक्षणेः समम् ॥” (च०
चि० अर्थः ०) इति । इन्द्रजालमित्यनेन सर्वामर्शसा विदोषजन्यत्वमधिकेन तु व्यपदेश
इति दर्शितम् ; यदाह चरकः,—“अर्शसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः ।
दोषेर्दोषविशेषात् विशेषः कथ्यतेऽर्शसाम् ॥” (च० चि० अर्थः ०) इति । इन्द्रजाना-

* इदमपि मतं पूर्वपूर्ववत् विरुद्धम् । किञ्च “इयमपि विदोषजनिता”
इत्युक्तिरपि समनन्तरमेव प्रमाणत्वेन प्रदर्शितश्लोके “कफमाकृताभ्याम्” इत्युक्त्या
विरुध्यते इति विद्वद्भिर्द्रष्टव्यम् ।

त्रिविधचर्मकौलानां विवरणम् ।—

त्रिधैव चर्मकौलानि वातात् पित्तात् कफादपि ॥ १४ ॥

सर्वेकभेदो जात्येकवचनत्वात् । तेषां भेदो द्विधा मत इति—तेषां षड्विधानां, हिधेति—सहजोत्तरजग्न्याभ्यां सूचितः, सह शरीरेण जातानि गुदबल्यारम्भकबोध्य-भागस्य दोषदूषितत्वात्, कुलजनानामित्यर्थः (१) * । उत्तरजग्न्येति—ग्न्योत्तरसम्बन्धो-न्यशांसि मिथ्याऽऽहारविहाराभ्यामुद्भूतैर्दोषैर्भवन्तीत्युत्तरजग्न्यानीत्यर्थः । माघवेन तु सहजार्शः षड्विधसङ्काशां पठितमेव ; यदाह—“पृथग्दोषैः समसैश्च शोणितात् सहजानि च । अर्शांस षट्प्रकाराणि विद्याद्गदबलिवये ॥” (रो० वि० अ० ३०) इति । सहजार्शोभिन्नलक्षणोक्तत्वात् प्रसङ्गतोऽपि सहजार्शसां लक्षणायाह सुश्रुतः,—“दर्दशंनानि पुरुषाणि पाण्डूनि दारुणान्यन्तर्मुखाणि च । तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् शिरामन्तगावोऽल्पप्रजः क्षीणरेताः क्षामम्बरः क्रीधनोऽल्पाग्निर्ग्राणिशिरोऽलिश्ववध-योगवान् सततमन्त्रकुजाटोपहृदयोपलेपावोचकप्रभृतिभिः पीड्यते” (सु० नि० २ अ०) इति सहजानां लक्षणम् । शोषाणि तूत्तरजग्न्यशब्दाद्यानि । न केवलं सहजोत्तरजग्न्या द्विधा, किन्तु शुक्लार्द्रभेदतोऽपि द्विधा भवन्ति, तेन तु गुदादुरा एके शुष्काः स्वावरहिता भवन्ति अल्पनिलत्वात्, एके षाट्पाः स्वावयुक्ताः पित्तरक्तातिप्रकोपत्वात् ॥११॥

त्रिधैव चर्मकौलानीति ।—गुदौष्ठं परित्यज्य कौलमदृशमशः कुर्यात्, तत् कौलक-मिति, तद्वार्शसामेवासम्भवत्वादसौ भेदः (१) ; तदुक्तं—“व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं कर्षीत्यश्लेषो वहिः । कौलोपमं स्थिरखरं चर्मकौलान्तु तदिदु ॥” (वा० नि० ७ अ०) इत्यत्रापि त्वचो वहिरित्यनेन गुदौष्ठं व्यज्यते इति व्याख्यानयन्ति । स च गुदौष्ठः कथमपरिमाणः इति विवक्षायां सुश्रुतः,—“पृष्ठपञ्चाङ्गुलपरिमाणं गुदमिति, तस्यावयवभूताभिलक्षो बलयः सप्तर्ष्युपरि व्यवस्थिताः शङ्कावर्तनिभाः प्रवाहणी विमज्जनी संवरणी चेति । तत्र गुदौष्ठः षड्जाङ्गुलः सार्द्धयवः, एकाङ्गुलीप्रमाणा प्रथमा बालः, द्वितीया सार्द्धैकाङ्गुली तृतीयाऽपि सार्द्धैकाङ्गुली, एवमष्टपञ्चाङ्गुल-मिति । भोजेऽप्युक्तं—“रोमान्तेभ्यो यवाङ्गुलं गुदौष्ठं परिचक्षते । गुदौष्ठादङ्गुलं चैव प्रथमां ता बलिं विदुः ॥ सार्द्धैकाङ्गुलमानेन अन्ये च परिकीर्तिते ॥” इति ॥१४॥

* कुलजानीत्यर्थः इति पाठः कथञ्चित् सङ्गच्छते, परन्तु सहजानि इत्यस्य कुलजानि इत्यर्थः न समीचीनः ।

+ नायं ग्रन्थो यथायथं सुश्रुते परिदृश्यते, दृश्यते च मधुकोषे ।

एकविंशतिक्रिमीणां विवरणम् ।—

एकविंशतिभेदेन क्रमयः स्युर्द्विधा च ते ।

वाच्यास्तथाऽऽभ्यन्तराः स्युस्तेषु यूका वहिश्चराः ॥ १५ ॥

लिख्याश्चान्येऽन्तरचराः कफान्ते हृदयादकाः ।

अन्नादा उदरावेष्टाश्चरवश्च महागुदाः ॥ १६ ॥

सुगन्धा दर्भकुसुमास्तथा रक्ताश्च मातरः ।

सौरसा लोमविध्वंसा रोमहोपा उडुम्बराः ॥ १७ ॥

केशादाश्च तथैवान्ये शक्लज्जाता मकेरुकाः ।

लेलिह्याश्च सशूलाश्च सौसुरादाः ककेरुकाः ॥ १८ ॥

एकविंशतिभेदेनेति ।—क्रमयस्तु एकविंशतिभेदेन विख्याताः, ते तु वाच्या-
भ्यन्तरभेदेन द्विधा भवन्ति । तेषु यूका वहिश्चरा इति—तेषु क्रमिसमूहेषु
यूका लिख्याश्च वहिश्चरा वाच्या वहिःशरीरे जाताः । अन्ये अवशिष्टान्तु अन्तरचराः,
जातव्या इति शेषः । अन्तरे कोष्ठे चरन्तीति । ते चाष्टादशप्रकारा भवन्ति ;
तद्यथा—हृदयादकादिदर्भकुसुमान्ताः सप्त । कफादिति—कफपायदोषजाः । एतेषां
स्वरूपमपि तन्नामरे चोक्तं—“पृथुव्रधनिभाः कीचत कैषिङ्गखूपदोषजाः । हृदयाद्या-
क्षुराकारास्तनुदीर्घाक्षयाऽणवः ॥ श्वेतास्ताम्बावभासाश्च नामतः सप्तधा तु ते ॥” (वा०
नि० १४ अ०) इति । तथा रक्ताश्चेति—षट् क्रमयो भवन्ति, ते च मातरप्रभृतिकेशाद-
पथ्यन्ताः । आकारादप्येते यथा—“रक्तवाहिशिरास्थानरक्तजा जन्तवाऽणवः ।
अपादा वृत्तताम्बाश्च सौस्त्रागत कैषिददर्शनाः ॥” (वा० नि० १४ अ०) इति । एते
षड्भेदाः कुष्ठेककारका विज्ञेयाः । तथाऽन्ये पञ्च क्रमयः शक्लज्जाता भवन्ति,
शक्लत पुरोषम् ; तदुक्तं—“पक्ताशये पुरोषोत्था जायन्तेऽधो विसर्पिणः” (वा० नि०
१४ अ०) इति । ते तु मकेरुकादिककेरुकान्ताः पञ्च । स्वरूपतो यथा—
“पृथुव्रततनुशूलाः श्यावपीतसितामिताः” (वा० नि० १४ अ०) इति । इत्येव-
मेकविंशतिक्रमयो व्याख्याताः * । ननु नाधवेन विंशतिक्रमिभेदा दर्शिताः,

* एकविंशतिः क्रमयः इति टीकाकर्तृव्याख्या सर्वतन्त्रविरुद्धा, स्वस्यैव विवृति-
विरुद्धा च, चक्रसंस्तुतादिषु सर्वतन्त्रेष्वेव विंशतिविधा एव क्रमयः इति पाठः ।
टीकाकारोऽयमपि “तेषु यूकाः” इत्यादिना “मकेरुकादि-ककेरुकान्ताः पञ्च” इत्यन्तेन
यद्विवरणं कृतं, तेनापि विंशतिमङ्गैश्च लभ्यते, न तु एकविंशतिरिति सुधोभिर्दृष्टव्यम् ।]

Printed by

. Palikrishna Press, Madras

तथाऽन्यः कफरक्ताभ्यां मञ्जातः स्नायुकः स्मृतः ।

व्रणस्य क्रमयसान्ये विषमा वाह्ययोनयः ॥ १८ ॥

पञ्चपाण्डुराणां विवरणम् ।—

पाण्डुरोगाश्च पञ्च स्युर्वातपित्तकफैस्त्रिधा ।

त्रिदोषैर्मृत्तिकाभिश्च—”

॥ २० ॥

“नामतो विंशतिविधाः” (वा० नि० १४ अ०) इत्यादिवचनात्, ततः कथमत्रैक-
विंशतिर्भिगद्यते ? उच्यते—साधवेन तु वाह्यगताः क्रमशो द्विभेदाः कथिताः ; तदयथा
—“तिलप्रमाणसंख्यानवर्णाः केशाश्वराश्रयाः । बह्वपादाश्च मृत्पादाश्च युक्ता लिख्याश्च
नामतः ॥ द्विधा ते कीटपिडकाकण्डगण्डान् पकुर्वन्ते ॥” (वा० नि० १४ अ०)
इति । अत्र तु विंश इति संज्ञावर्गभेदात् प्यागभेदाश्च पृथक् न गणिता (१) इति न
दोषः । अन्यः स्नायुकमंजः क्रमिरेव, स तु कफरक्ताभ्यां मञ्जातः । ननु यद्येवं तर्हि
त्रिविंशतिक्रमयः कथं न गणिताः ? सत्यम्—अयमपि कफजेषु सप्तसु क्रमिषु
ये दीर्घाक्षेष्वां भेद एव, अत एव “कफरक्ताभ्यां मञ्जातः” इत्युक्तम् ; यतः
“कफादामाशये जाता इडाः सर्पन्ति सर्वतः” (वा० नि० १४ अ०)
इत्यादिवचनात् । स्नायुकदृष्टित्वेनात्र भिन्नचिकित्सायुधदर्शनाच्च पृथक् गणितो न
दोषः ॥ १५—१८ ॥

पाण्डुरोगाश्चेति ।—पाण्डुरवर्णत्वमीपलब्धितो रोगः पाण्डुरोग इति उच्यते । पञ्च
स्युरिति—पञ्च प्रकारा भवन्ति । ते के ? वातपित्तकफैः कृत्वा व्यत्यास्यथी भेदाः ।
त्रिदोषैरिति—मिलितदोषव्ययेनैको भेदः । मृत्तिकाभिः इति—मृद्वणणेनैकः, एवं
पञ्च प्रकाराः पाण्डुरोगभेदा बोद्धव्याः । मृत्तिकाभिः इति बहुवचनत्वेन बहुभ्यो
मृत्तिका दोषप्रकीर्णविशेषेण दर्शिताः ; तथा हि—“मृत्तिकाऽदनश्रीलस्य कप्यत्यन्य-
तमो मलः । कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम ॥ कीपयेन्मृदुसादींश्च
रौत्याङ्गनाश्च रुचयेत् ॥” (अ० चि० पाण्डु०) इति । प्रसङ्गतश्च तत्स्वरूपं
सुसुतोक्तमाह—“या पीतवर्णा मधुरा कषाया कृष्णा मधुसारगुणोपपन्ना ।
रक्ता च तिलता कटुता च नीला सिता च माधुर्यगुणा सदा स्यात् ॥” *
इत्युक्तत्वात् ॥ २० ॥

* सुदृष्टिसुसुतपथेषु श्लोकोऽयं न दृश्यते, चरकबाम्भट्टहारीतेष्वपि तथा ।

एकैककौमला कुम्भकामला-इलीमकानां विवरणम् ।—

“—तथैका कामला मता ।

स्यात् कुम्भ-कामला चैका तथैकश्च हलीमकम् ॥२१॥

त्रिविधरक्तपित्तानां विवरणम् ।—

रक्तपित्तं त्रिधा प्रोक्तमूह्रुगं कफमश्ववम् ।

अधोगं माकृतात् ज्ञेयं तद्वयेन द्विमार्गम् ॥२२॥

पञ्चकासानां विवरणम् ।—

कासाः पञ्च समुद्दिष्टास्ते त्रयस्तु त्रिभिर्मलैः ।

उरःक्षताच्चतुर्थः स्यात् क्षयाद्वातोश्च पञ्चमः ॥२३॥

तथैका कामला मतेति ।—उपेक्षितः पाण्डुरोग एव कामलायै भवति ; तदुक्तं—“पाण्डुरोगी च योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते । तस्य पित्तमसृष्टांशं देग्ना रोगाय कल्पते ॥” (च० चि० पाण्डु०) इति । रोगाय कामलास्यरूपायेत्यभिप्रायः । स्यात् कुम्भकामला चैकेति—कुम्भकामलाऽपि एका भवति ; कामलायां अवस्थान्तरं कुम्भकामलेत्युच्यते ; यतः,—“कालान्तरात् खरीभृता कृच्छा स्यात् कुम्भकामला” (च० चि० पाण्डु०) इत्यादिवचनात् । एकश्च हलीमकमिति—तदपि पाण्डुरोगावस्थायामेव भवति ; तदुक्तं—“यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्वरितः श्यावपीतकः । बलीक्याह्वयसन्दा मन्दाग्रित्वं सदुत्तरः ॥ स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च दाहस्तृणाऽरुचिर्भ्रमः । हलीमर्कं तदा तस्य विद्यादर्शनलपिततः ॥” (च० चि० पाण्डु०) इति ॥ २१ ॥

रक्तपित्तमिति ।—रक्तञ्च पित्तञ्चेति सुश्रुतः । चरके तु—रागप्राप्तं पित्तं रक्तपित्तमित्युच्यते ; यदुक्तं—“रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः” (च० चि० रक्तपि०) इति । उभयत्रापि न काश्चिद्दोषः । ऊर्हगमिति—नासायां कर्णाक्षि-रन्ध्रेषु । अधोगमिति—सेद्वीनिगुदमार्गेषु । तद्वयेन द्विमार्गमिति—तद्वयेन कफ-बाताभ्यां, द्विमार्गमित्युद्धीधः प्रवृत्तिपरम् । एके “तद्वयेन विमार्गमम्” इति पठन्ति, तत्र—रौमकूपेभ्योऽपि तत् प्रवर्तते इति व्याख्यानयन्ति ; तदुक्तं—“कुपितं रौमकूपेभ्यः समक्षेणैव प्रवर्तते” (बा० नि० २ अ०) इति ॥ २२ ॥

कासा इति ।—कसनं कासः ; “भिन्नस्वरः कालति शुक्लमेव” (रौ० चि० कास०) इति सुश्रुतवचनात् । तथा हि—“प्राणो ह्यदानानुगतः प्रदुष्टः सन्निभकं सख्यम-

पञ्चशोषाणां विवरणम् ।—

अथाः पञ्चैव विज्ञेयास्त्रिभिर्दोषैस्त्रयञ्च तै ।

चतुर्थः सन्निपातैर्न पञ्चमः स्यादुरक्षतात् ॥२४॥

षट्शोषाणां विवरणम् ।—

शोषाः स्युः षट्प्रकारेण स्त्रीप्रसङ्गाच्छुचौ व्रणात् ।

अध्वश्चमाश्च श्यायामात् वार्धक्यादपि जायते ॥ २५ ॥

१. । निरति वक्तात् सङ्घा सदाषो मनीषामः कास इति प्रदिष्टः ॥”
(श्री० वि० कास०) इति ।* पञ्चेति—पञ्च प्रकाराः । ते के प्रकाराः ? इत्यत आह,
ते यद्यस्तु विभिन्नैरेति—ते कासाः विभिन्नैर्लोस्त्रिभिर्दोषैस्त्रय एव कथिताः ।
उरःक्षताचतुर्थः स्यादिति—उरसि प्रहार इव वेदनाविशेषादुरक्षताकाससंज्ञा ;
तथा श्मक्तम्—“अतिव्यवायभाराध्वयुहाश्चग्नविघटेः । कसस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा
कासमावहति ॥ स पूर्वं कासते शुष्कं ततः सौवंत् सशोषितम् । कस्तेन कजताऽप्यर्थं
विभिन्नेव चोरसा ॥” (सु० उ० ५२ अ०) इति । अथाक्षाताश्च पञ्चम इति—
क्षातवो रसाद्याः, तेषां अथाग्राशात् । एके क्षातीरित्येकवचनत्वेन शुक्लक्षयादिति
व्याख्यानयन्ति, तत् प्रतिलोमानुलोमेन धातुश्च उक्तः न दीर्घः ; तदुक्तम्—
“अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतश्चनन्तराः । क्षीयन्ते क्षातवः सर्वे ततः शुष्यति
मागवः ॥” (सु० उ० ४१ अ०) इत्यादिदर्शनात् ॥ २३ ॥

अथा इति ।—उपेक्षितकासात् अथो भवतीति एके, “कासात् सञ्जायते अथः”
(अ० नि० ५५ अ०) इत्युक्तत्वात् कदाचित् अथत्वे, न तु नियतमेव । अथोऽपि
राजयक्ष्मसंज्ञः कथ्यते ; तदुक्तं—“राजयक्ष्मसो यस्माद्भूदेवः क्लिप्तमयः । तस्मात्
राजयक्ष्मति केचिदाहुर्मनीषणः ॥” (सु० उ० ४१ अ०) इति । पञ्चमः स्यादुर-
क्षतादिति—उरःक्षतो रोगावशेषः सर्वत्र प्रतिपादतत्वात् ॥ २४ ॥

शोषाः स्युः षट्प्रकारेणेति ।—“शोषोऽपि अथभेदः स्यात्” इति वचनान् ; यतः,
—“शोषश्चाथ रसादीनां शोष इत्युच्यते कुष्ठैः । क्रियाअयकरत्वाच्च अथ इत्यभिधीयते ॥”
इति । षट्प्रकारा वया, स्त्रीप्रसङ्गादिति—स्त्रीनिवेचनात्, अयं व्यवयशोषी
कथितः । शुषः शोकात्, अयं शोक्शोषी । व्रणादिति—शरीराऽऽगन्तुव्रणविशेषात् ;
यतः,—“रक्तक्षयादेदनाभिलाषैवाहारयन्मणात् । श्रवितस्य भवेच्छोषः स चासाध्यतनो

* “भिन्नस्वरः” इत्यादि श्लोकाश्च तथा “प्राणो हि” इत्यादि श्लोकाश्च सुश्रुते
क्षरपती न दृश्यते, दृश्यते च माधवनिदाने ।

पञ्चशासनां विवरणम् ।—

श्वासाश्च पञ्च विज्ञेयाः शुद्धः स्वात्तमकस्तथा ।

कर्हृश्वासी महाश्वासश्चिद्वशासश्च पञ्चमः ॥ २६ ॥

पञ्चदिकानां विवरणम् ।—

कथिताः पञ्च दिकास्तु तास्तु शुद्धाऽन्नजा तथा ।

गन्धोरा यमला चैव महतो पञ्चस्यै स्मृता ॥ २७ ॥

मतः ॥” (सु० उ० ४१ अ०) अध्वशमादिति—अतिमार्गेगमनजनितश्चमाश्च, अयमध्वशोषी । व्याशमादिति—शरीरायामजननकर्मस्वरूपात् । ननु व्यायामाध्व-
शमयोरायामजननसाधन्योत् को भेदः ? उच्यते—व्यायामो यदा अकस्मादेवातिक्रियते
तदैव भवति, मार्गेगमनशीलत्वादेवाध्वशोषः स्यात् ; तदुक्तम्—“अध्वशोषी च
स्वकाङ्गः सम्भटपरुषच्छतिः” (सु० उ० ४१ अ०) इत्यदोषः । वार्हक्यादिति—
जराभिव्याप्तशरीरत्वात्, अयं जराशोषी कथितः ; तदुक्तं—“जराशोषी जशो
मन्दबोध्युद्धिवलेन्द्रियः” (सु० उ० ४१ अ०) इत्यादि ॥ २५ ॥

श्वासाधेति ।—श्वास इति—वेगवद्गृहंवातत्वम् ; यतः,—“श्वासश्च भस्त्रिकाश्चान-
समवार्ताहं गानिता” इति । पञ्चेति—पञ्चप्रकाराः । ते के प्रकाराः ? इत्याह, शुद्ध
इत्यादि ।—दुःखेनाङ्गप्रबाधकोऽल्पवातजनितः शुद्धश्वाससंज्ञः । प्रतिशोमेन वायुना
योवां शिरश्च सङ्गृह्य तौव्रवंगं करोति, स च तमसि निमग्न इव तिष्ठति, तेन
द्रुमकश्वास इति संज्ञा । यो दीर्घे श्वासति ऊर्हृद्विष्टं करोति इतस्ततो
विभ्रान्तनेत्रः स ऊर्हृश्वासार्द्रितः कथितः । यः शब्दान् दुःखितः उच्चैः श्वासति
मनोज्ञानविज्ञानो विज्ञीणवाक् स महाश्वासपीडितोऽभिहितः । यो विच्छिन्नं
श्वासति सर्वप्राणेषु पीडित आनाद्वस्त्रमूर्च्छितः स क्षिप्रश्वासार्द्रित इति ॥ २६ ॥

दिकामाह, कथिता इति ।—त्वरितं प्राणहरत्वेन दिकाः कथिताः ; तदुक्तं—
“कामं प्राणहरा रोगा वडो न तु ते तथा । यथा श्वासश्च दिका च हरतः प्राणमाशु
च ॥” (अ० चि० दिकाश्वा०) इति । दिकारूपपन्तु घोषवत्त्वेन प्रतिपादितम् ;
यतः,—“मुहुर्मुहुर्वायुवदति सस्वनो यत्क्रौञ्चोद्वाण्य मुखादिवाचपन् । स
घोषवानाशु हिनस्यपून् यतः ततस्तु दिकेत्याभिधीयते बुधैः ॥” (सु० उ० ५० अ०)
इति । पञ्चेति—पञ्चप्रकाराः । तान् प्रकारान् आह, शुद्धेति—या मन्दवेगेः कृत्वा
कङ्कमुलादेव प्रधावति सा शुद्धा नाम दिका कथिता । योऽतिप्रयुक्तपानान्ने पीडितो

चतुर्विधाग्निविकाराणां विवरणम् ।—

चत्वारोऽग्नेर्विकाराः स्युर्विषमो वातसम्भवः ।

तीक्ष्णः पित्तात् कफान्मन्दो भस्मको वातपित्तयोः ॥ २८ ॥

पञ्चारोचकानां विवरणम् ।—

पञ्चैवारोचका ज्ञेया वातपित्तकफैस्त्रिधा ।

सन्निपातान्मनस्तापात्—”

॥ २९ ॥

वायुर्दृढमागत्य दिक्रियति तामस्रजां विद्यात् । या क्षीरा गन्धौरनादिनी नामिप्रभवा सा गन्धौरा ज्ञेया । या चिरेण यमलैर्बैभैः कृत्वा प्रवर्त्तते शिरी यौवाञ्च कल्पयति सा यमला नाम कथिता । या सततं प्रवर्त्तते ममांशुप्योडयन्तीव सर्वगात्रप्रकम्पिणी च सा मङ्गती नाम दिक्रा कथिता ॥ २७ ॥

चत्वार इति ।—अग्निश्चात्र जठराग्निः, तज्जनितो विकारश्चात्र कुपितदोषवाच्यः ; अत एव समाग्नियद्वयं नात्र कृतं दोषसाम्यत्वात् ; यतः,—“समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते” (री० वि० अग्निमा०) इति वचनात् । के ते चत्वारः ? इत्याह, विषम इत्यादि—यो भुक्तमन्नं कटाचित्रं पचति कटाचिटाश्चैव पचति स विषमः । यो माषाति-मात्रमप्यन्नं मुखं पचति स तीक्ष्णः । यः खल्वप्यन्नं न पचति स मन्द इति । भस्मकस्तु तीव्राग्निसंज्ञः, स च वातपित्तजनितः ; तदुक्तम्—“अतिप्रवृद्धः पवनात्त्वतोऽग्निः क्षणादसं शोषयति प्रसह्य । भुक्तं क्षणादस्य करोति यस्मात्तस्मादयं भस्मकसंज्ञकस्तु ॥” इति ॥ २८ ॥

पञ्चैवेति ।—परोचकस्तु पर्यायनामभिरेव विधा कथितः, तद्वयथा—सत्यानपि बुभुक्षायामभ्यवहारासामर्थ्यमित्यरुचिः, अभिलषितमप्यन्नं दीयमानं नाभ्यवहर-लोत्थनघ्नाभिनन्दनम्, अन्नस्य श्वषणकारणदर्शनगन्धस्पर्शनैर्यदोद्दिजते स भक्तद्वेषः ; एवं विविधाऽपि रोगहरकसुश्रुताभ्यामरोचकगण्डेन सङ्गृहीतः । ब्रह्मभोजेन संज्ञान्तराण्यापि दर्शितानि, कानि तानि ? आह—“प्रक्षिप्रन्तु मुखे चान्नं जलान्नं स्वदते मुहुः । अरोचकः स विज्ञेयो भक्तद्वेषमतः शृणु ॥ चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वा च भोजनम् । द्वेषमायाति यो जन्तुर्भक्तद्वेषः स उच्यते ॥ यस्य नास्ते भवन्तु श्रद्धा सोऽभक्तश्चन्द उच्यते । कुपितस्तु भयार्त्तस्तु यस्य भक्तनिराधनः ॥” इति ॥ २९ ॥

सप्तस्कदीनां विवरणम् ।—

“—कृदयः समधा मताः ।

त्रिभिर्दोषैः पृथक् तिस्रः कृमिभिः सन्निपाततः ॥

पृथया च तथा स्त्रीणां गर्भाधानाच्च जायते ॥ ३०॥

षट्स्वरभेदानां विवरणम् ।—

स्वरभेदाः षडेव स्युर्वातपित्तकफैस्त्रयः ।

मेदसा सन्निपातेन क्षयात् षष्ठः प्रकीर्तितः ॥ ३१॥

षट्दृष्टानां विवरणम् ।—

दृष्ट्या च षड्विधा प्रोक्ता वातात् पित्तात् कफादपि ।

त्रिदोषैरूपसंर्गेण क्षयाद्वातोश्च षष्ठिका ॥ ३२॥

कृदिमाह, कृदय इति ।—कृद्वर्त्मनविशेषः । वेगैः कृत्वा आननं कृदयतीति कृदिः ; तदुक्तं—“कृदयन्नाननं वेगैरदयन्नङ्गमङ्गनेः । निरुच्यत कृदिर्गति दोषो वक्तुं प्रधातुः ॥” (सु० उ० ४८ अ०) इति । कृमिभिरिति—कृमिरोगजनिता ; तथा चोक्तं—“शूलहृल्लासबहुला कृमिजा च विशेषतः । कृमिहृद्गोतल्येन लक्षणेन च लक्षिता ॥” (सु० उ० ४८ अ०) इति । सन्निपातत इति—मिलितदोषत्रयात् । पृथया चेति—पृथया कृत्वा कृदिर्भवतीत्यभिप्रायः ; पृथा च पूत्यमंश्यादिगत्यास्वाद-नैरुपपद्यते । पृथया चेति अकारात् बीभत्साद्यबलीकनाच्च भवतीति केचित् ; तदुक्तं—“बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैर्दुतमुत्क्रोशतो बलात्” (सु० उ० ४८ अ०) इति । तथा स्त्रीणां गर्भाधानाच्च जायते इति—गृहोतगर्भायाः स्त्रियास्कृदिर्भवतीति ; यतः,—“नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्रतः” (सु० उ० ४८ अ०) इत्यादिवचनात् ॥ ३०॥

स्वरभेदा इति ।—प्रकृतिरूपस्य स्वरस्यान्यथाभावः स्वरभेदः ; स च षड्विधो भवति, वातादिभिः व्यक्तास्त्रयो भेदाः, मेदसा मेदीदृष्टेयैको भेदः, सन्निपातेन मिलितदोषत्रयेण चैकः, क्षयात् क्षयरोगादेकः, धातुक्षयाच्चेति केचित् ॥ ३१॥

दृष्टेति ।—दृष्ट्या पानौघस्याभिखावः ; तदुक्तं—“सततं यः पिबेद्द्वारि न दृष्टि-मधिगच्छति । पुनः काङ्क्षति यद्योयं तं दृष्ट्यादितमादिशति ॥” (सु० उ० ४८ अ०) इति । त्रिदोषैरिति—मिलितदोषत्रयेण । उपसर्गधातुकेः, स च क्षतादिशब्दवाच्येन जनिता उपसर्गिका । क्षयाद्वातीरिति—रसादिधातुक्षयात् । अकारात् सप्तमी तु भक्तोद्भवा इति मन्यन्ते केचित् ; यदुक्तं—“स्निग्धं तथास्त्रं लवणञ्च मुक्तं गुर्वन्नमेवाशु

चतुर्विधमूर्च्छाणां विवरणम् ।—

मूर्च्छा चतुर्विधा ज्ञेया वातपित्तकफैः पृथक् ।

चतुर्थी सन्निपातेन—”

॥ ३३ ॥

एकैकधन-निद्रा-तन्द्रा-सञ्चास-ग्लानीनां विवरणम् ।—

“—तथैकस्य भ्रमः स्मृतः ।

निद्रा तन्द्रा च सञ्चासो ग्लानिश्चैकैकशः स्मृतः ॥ ३४ ॥

लषा करोति” (सु० उ० ४८ अ०) । अपरे त्वामसम्भवां वदन्ति, सा दोषजान्तर्गतेति
भन्त्यमानेन शार्ङ्गधरेण नात्र स्वीकृता इति ॥ ३२ ॥

मूर्च्छेति ।—मूर्च्छा मोहमञ्जा विख्याता ; यतः,—“मोहो मूर्च्छेति तामाहुः”
(सु० उ० ४६ अ०) इत्यादि वचनात् । सा चतुर्विधा चतुःप्रकारा दोषभेदेन भवति ।
एको धनः स्रुत इति—धनस्तु रजःपित्तानिलाहवति, स तु चक्राददस्येवार्थसंविद्धिः ।
निद्रादथयत्वार एकैकगणिताः । निद्रेति—स्वपनम् ; तथा हि—“यदा तु मनसि
क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्त्वताः । विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥” (च०
सु० अष्टौनान्तर्तीय०) इति । तन्द्रापि निद्राभेदः, कथं भिन्नत्वेन पठ्यते ?
उच्यते ; निद्रायाभिन्दिधमनोमोहः, तन्द्रायाभिन्दिधमोह इत्यत्र भेदः ; तदुक्तम्—
“इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः । निद्रात्तस्यैव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनि-
र्दिशेत् ॥” (सु० शा० ४ अ०) इति । सञ्चास इति—मूर्च्छादिभ्यो भिन्न एव ;
यतः,—“वाग्देहमनसां चेष्टामाविष्यातिवला मलाः । सञ्चास्यन्त्यबलं जलं प्राणा-
यतनमाश्रिताः ॥ स ना सञ्चाससञ्चलः काष्ठोभूता सतोपमः । प्राणैर्विमुच्यते शीघ्रं
मुक्ता सद्यःफलां क्रियाम् ॥” (च० सु० विषिशोणितोय०) इति । ग्लानिरिति—
* क्लमापरपर्यायसंज्ञः ; यदुक्तं—“वक्त्रे मधुरता तन्द्रा हृदयोद्वेष्टन धनः । न चासमभि-
काङ्क्षेत ग्लानिं तस्य विनिर्दिशेत् ॥” (सु० शा० ४ अ०) इति । स च हेतु-
चतुष्टयाहवति, “ग्लानिरिज.सञ्चासःखादशोषीश्च श्रमाहवेत्” इत्यादिवचनात् । अतु
भाधवेन मूर्च्छा षड्विधा स्वीकृता ; यथा—“वातादिभिः शोणितेन मयेन च
विषेण च । षट्स्रव्यतासु पित्तस्य प्रभुत्वेनावतिष्ठते ॥” (सु० उ० ४६ अ०) इति ;

* क्लम इति नामान्तरं ग्लानिरायुर्वेदाप्रसिद्धं, ग्लानिक्लमयोर्भिन्नलक्षणत्वात्,
लक्षणस्य तयोः सौश्रुतशारीरे षड्विध्यायै द्रष्टव्यम् । ग्लानिर्दृष्टाभावः इति तु
टीकाकाराः ।

सप्तमदानां विवरणम् ।—

मदाः सप्त समाख्याता वात-पित्त-कफैस्त्रयः ।

त्रिदोषैरसृजो मद्यात् विषादपि च सप्तमः ॥३५॥

चतुर्विधमदाख्यानं विवरणम् ।—

मदाख्ययश्चतुर्धा स्यात् वातात् पित्तात् कफादपि ।

त्रिदोषैरपि विज्ञेयः—” ॥३६॥

एकैकपरमद-पानाजोर्ण-पानविभ्रम-पानाख्यानं विवरणम् ।—

“—एकः परमदस्तथा ।

पानाजोर्णं तथा चैकं तथैकः पानविभ्रमः ॥

पानाख्यस्तथा चैको—” ॥३७॥

तत्र कथमत्र चतुर्विधा ? सत्यम् ; * पित्तप्रभुत्वेन शोणितस्य पित्तकार्यत्वात् मद्य-
विषयोश्च पित्तकोपत्वाच्च पित्तसम्भवायामत्र शोणितादीनां मूर्च्छा ज्ञातव्येति न दोषः ;
यतः,—“मूर्च्छा पित्ततमःपाथा” (सु० शा० ४ अ०) इत्यादिप्रचक्षणात् ॥३३॥३४॥

मदा इति ।—चित्तविच्छृतिरूपणी मदः, यथा पृग्दृष्टकोटवभक्षणादौ चित्तजनव-
स्थितिः, तदत्र स्थिरादिति । त्रिदोषैर्निमित्तदोषवयैः । असृजः अतिरुधिरकोपान,
कोपोऽस्य पित्तवत् । एकै असृजः असृग्दृग्दृष्टि व्याख्यानयन्ति ; यतः,—“असृग्दो
भवेत् सर्वः साङ्गमटः सवेदनः । तस्यातिवृत्तौ दोर्बल्यं भनो मूर्च्छा मदस्तथा ॥” (सु०
शा० २ अ०) इति । मद्यादिति—मद्यपानात्, आसवारिष्टादीनां पानेन मद्याभि-
सृजो मद इत्यभिप्रायः । विषादिति—विषभक्षणात्, सर्पादिविषाकालादित्यपि ॥३५॥

मदाख्यय इत्यादि ।—यद्योक्तविधिविपर्ययेण सैन्यमानं मद्यं विकाराय भवति,
स विकारो मदाख्यशब्देन वाच्यः ; यतः,—“ये विषस्य गुणाः प्रोक्तास्ते मद्येऽपि
प्रतिप्रिताः । तेन मिथ्योपयुक्तेन भवत्युपो मदाख्ययः ॥” इति । त्रिदोषैरिति—
निमित्तदोषवयेण ॥३६॥

एकः परमदस्तथेति ।—परमदादयश्चत्वारो मदाख्यभेदा उक्ता भिन्नलक्षणत्वात् ।
तथेति यद्वयेन दोषवशाभेदभिन्ना (?) पतेऽपि बोद्धव्याः । लक्षणान्यपि यथा—

* “पित्तप्रभुत्वेन—” इत्यादियस्यस्थले पित्तस्य प्रभुत्वेन शोणितकोपस्य
पित्तकार्यत्वात् मद्यविषयोश्च पित्तप्रकोपकत्वेन पित्तसम्भवायां शोणितादिजन्या
इत्यादि पाठः सङ्गतः ।

सप्तदाहानां विवरणम् ।—

“—दाहाः सप्त मतास्तथा ।

रक्त-पित्तात्तथा रक्तात्तृणायाः पित्ततस्तथा ॥

धातुक्षयान्मर्मघाताद्रक्तपूर्णोदरादपि ॥ ३८ ॥

षडुन्मादानां विवरणम् ।—

उन्मादाः षट् समाख्यातास्त्रिभिर्दोषैस्त्रयश्च ते ।

मन्त्रिपातादिषात् त्रयः षष्ठो दुःखेन चेतसः ॥ ३९ ॥

“श्लेष्माच्छयोऽङ्गुवता विरसास्यता च विष्णुसक्तरथ तन्दिररोचकश्च । लिङ्गं परञ्च तु मदस्य वदन्ति तज्ज्ञास्त्रिणा रुजा शिरसि सन्निधु चापि भेदः ॥ आधानमुद्यमय चोद्गरं विदाहः पाने त्वगीर्णमुपगच्छति लक्षणानि । षड्भावतोद-
क्तफसंस्वकण्डधूमा-मूर्च्छाभिमज्जरशिरोरुजनप्रदाहाः । तेषः सुराश्विक्तेषु च तेषु तेषु तं पानविषममुश्रन्त्यखिलेन धीराः । ह्रीनोरुजमतिशीतमसन्ददाहं तैल-
प्रभाव्यमतिपानकृतं लज्जेतु ॥” (रा० वि० मदाध्या०) इति ॥ ३९ ॥

दाहा इति ।—दहते इति दाहः ; यतः, —“लघं प्राप्तः स पानीया पित्तरक्ताभि-
मूर्च्छितः । दाहं प्रकुर्वते घोरं पित्तवत्तम भेषजम् ॥” (सु० उ० ४७ अ०) इति ।
तथा रक्तादिति—उदररक्तोष्णतात् । तृणाया इति—तृणानिरोधादभ्यातो क्षीणे सति
तेजः समुद्धतं भवतीत्यर्थः । पित्तत इति—विकृतपित्तात् पित्तज्वरसमो दाहो भवतीति ।
धातुक्षयादिति—रसादिधातूनां क्षीणत्वादतीव दाहो भवति । मर्मघातादिति—
मर्मभिघातजनितोऽपि दाहो भवति । रक्तपूर्णोदरादिति—रक्तेन * उदरपूर्णत्वा-
द्दाहो भवति । + दाहेन पीडितः जिह्वां निष्कृष्य वेपते इति लक्षणोक्तत्वात् ॥ ३८ ॥

उन्मादा इति ।—धीविषमसंज्ञी वातादिना जनितः उन्माद इति प्रसिद्धः ;
तदुक्तं—“मदयन्त्युद्गता दोषा यस्मादुन्मार्गमास्थिताः । मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद
इति कौर्त्तितः ॥” (सु० उ० ६२ अ०) इति । विषादिति—विषाभिन्व्याप्तशरीरत्वात् ;

* उदरशब्देनात्र कोष्ठोऽभिप्रेतः, संस्तुतादौ “असृजा पूर्णकोष्ठस्य दाहोऽस्यः
स्यात् सुदुश्चरः” इत्युक्तेः ।

+ लक्षणमिदं तृणानिरोधजदाहस्य, न तु रक्तपूर्णोदरजदाहस्य ; तथा च
—“तृणानिरोधादभ्यातो क्षीणे तेजः समुद्धतम् । सवाह्याभ्यन्तरं देहं प्रदहेन्मन्-
चेतसः ॥ संशुक्लकृतास्त्रिणो जिह्वां निष्कृष्य वेपते ॥” (सु० उ० ४७ अ०) इति ।

विंशतिभूतोन्मादानां विवरणम् ।—

भूतोन्मादा विंशतिः स्युस्ते देवादानवादपि ।

गन्धर्वात् किन्नरात् यक्षात् पित्रभ्यो गुरुशपतः ॥४०॥

प्रेताश्च गुह्यकाद्बृडात् सिद्धाद्भूतात् पिशाचतः ।

जलाधिदेवतायाश्च नागाश्च ब्रह्मराक्षसात् ॥

राक्षसादपि कुष्माण्डात् कल्या-वेतालयोरपि ॥४१॥

चतुर्विधापस्माराणां विवरणम् ।—

अपस्मारश्चतुर्धा स्यात् समोरात् पित्ततस्तथा ।

श्लेष्मणोऽपि तृतीयः स्याच्चतुर्थः सन्निपाततः ॥४२॥

षष्ठो दुःखेन चेतस इति—दुःखं चिद्विधम्, आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधि-
दैविकमिति । ननु तदुःखसंशया व्याधय इत्युच्यते, तत् कथं भूतोन्मादाः
कथिताः ? दुःखेनेवेति प्रामाथ्यत्वात् ; सत्यम् ; दुःखजनका अन्येऽपि भावाः, ज्ञानि,
यथा धनवत्सनाद्यादयः ; यदुक्तं—“चौरैर्नरेन्द्रपुरुषैरारभितथाऽन्येर्विवासितश्च
धनवान्धनमह्ययादा । गार्दं क्षते मनसि च प्रियया रिंसीर्जायेत चोत्कटतरो
मनसो विकारः ॥” (सु० उ० ६२ अ०) इति ; एतदभिप्रायेण स्याददोषः ॥३६॥

भूतोन्मादा विंशतिरिति ।—तद्विंशतेर्विवरणमाह, ते देवादानवादपीत्यादि ।—

देवाः देवगणाः, तेन गणमात्रादयोऽपि याज्ञाः । दानवा असुराः, पापबुद्धयो
देवशत्रव इत्यर्थः । गन्धर्वा देवगायकाः । किन्नरास्तद्देवा विख्याताः । यक्षाः
धनदादयः । पितरः अग्निजातादयः । गुरुवो ब्राह्मणाः बृडादयश्च । प्रेताः प्रसिद्धाः ।
गुह्यका दीश्वरानयः । सिद्धाः सगकादयः । भूता विख्याताः । पिशाचाः पिशिता-
श्चनाः । जलाधिदेवताः प्रतीताः । नागाः शेषनागप्रभृतयः । ब्रह्मराक्षसा
राक्षसभेदाः । राक्षसा रावणादयः । कुष्माण्डा अपि राक्षसभेदाः । कल्याः प्रसिद्धाः,
ताश्च मन्त्रादिमात्रणात्मकरूपाः । वेतालाश्च देवयोनयः इति । एते यस्मात् यदा
शरीरं प्राविशन्ति तदा भूतोन्मादा इति सञ्ज्ञाऽभिहितता भूतचेष्टाकरत्वेनादृष्टत्वात् ;
तदुक्तं—“दर्पणादीन् यथा च्छाया शीतोष्णं प्राणनो यथा । स्वमणिं भाक्तश्चाश्चिद्य
यथा देहश्च देहधृक् । विजन्ति च न दृश्यन्ते यदास्तदृच्छरीरिणम् ॥”
(सु० उ० ६ अ०) इति ॥४०॥४१॥

अपस्मार इति ।—इतच्छ्रुतेः पुरुषस्य तमःप्रवेश इव तथा संरम्भश्च अपस्मार
इत्यभिहितः ; तथा चांक्तं—“तमःप्रवेशः संरम्भा दीपाद्रेकइतच्छ्रुतेः । अपस्मार

चतुर्विधामवातानां विवरणम् ।—

चत्वारशामवाताः स्युर्वात-पित्त-कफैस्त्रिधा ।

चतुर्थः सन्निपातेन—”

॥४३॥

अष्टशूलानां विवरणम् ।—

“—शूलान्यष्टौ बुधा जगुः ।

पृथग्दोषैस्त्रिधा हन्व-भेदेन त्रिविधान्यपि ॥

आमेन सप्तमं प्रोक्तं सन्निपातेन चाष्टमम् ॥ ४४ ॥

अष्टपरिणामशूलानां विवरणम् ।—

परिणामभवं शूलमष्टधा परिकीर्तितम् ।

मलैर्यैः शूलसङ्ख्या स्यात्तैरेव परिणामजम् ॥ ४५ ॥

इति क्रोधो गदो घोरश्चतुर्विधः ॥” (री० वि० अपध्या०) इति । चतुर्धा स्यादिति—
अत्र समीरादिति अनिलकोपात् । सन्निपातेन इति—मिलितदोषवशात् ॥४३॥

चत्वारशामवाता इति ।—आमेन दुष्टो वात आमवातः, यद्वा—आमसम्पृक्तो दुष्टो वात आमवातः इति, तद्वयमसङ्गतं कारणत्वात् (१) किन्तु दुष्टामवातयोः संयोग-
आमवात इति कथितः ; यदुक्तं—“युगपत् कृपितावन्तः त्रिकसन्धिप्रवेशकौ ।
सन्धौ वा कुरुतो गावसामवातः स उच्यते ॥” (री० वि० आमवात०) इति । एके
हन्वभेदान् कथयन्ति ; यतः,—“एकदोषानुमः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते ।
सर्वदोषचरः शोथः स कृच्छ्रः सान्निपातिकः ॥” (री० वि० आमवात०)
इत्यादिवचनात् ॥४३॥

शूलानीति ।—शूलनिखातवत् वेदनाजनकत्वात् शूलसंज्ञा ; यतः,—“शङ्कु-
स्कोटनवत् तस्य यस्मात् तीव्राश्च वेदनाः । शूलासक्तस्य लक्ष्यन्ते तस्माच्छूलमिहोच्यते ॥”
(सु० उ० ४२ अ०) । इति । हन्वभेदेन द्विदोषजनितेनात्र तयो भेदाः । आमना-
परिपक्वरसेन वातकारणत्वात् ; यतः,—“सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः
प्रभुः” (री० वि० शूल०) इति ॥४४॥

परिणामभवं शूलमिति ।—परिणामकालसम्बन्धि परिणामशूलं, तत्रोक्तशूल-
सङ्ख्याकैरेव बोद्धव्यम् । संज्ञान्तरैरप्येतच्च दर्शितम् ; तद्वयथा—“भुक्ते जीर्यन्ति
यच्छूलं तदेव परिणामजम् । केचिदन्नद्रवं प्राकुरन्ते तत् पित्तदोषजम् ॥
शूलिशूलं वदन्येके केचिदन्नविदाहजम् ॥” इति ॥४५॥

एकैकाग्रद्रव-जरत्पित्तशूलशोर्विवरणम् ।—

अन्नद्रवभवं शूलं जरत्पित्तभवं तथा ।

एकैकं गणितं सुप्तैः—”

॥४६॥

तथोदशोदावर्त्तानां विवरणम् ।—

“—उदावर्त्तास्त्रयोदश ।

एकः क्षुब्धग्रहात् प्रोक्तस्तृणारोधाद्वितीयकः ॥ ४७ ॥

निद्राघातात्तृतीयः स्याच्चतुर्थः श्वाभनिग्रहात् ।

हृदिरोधात् पञ्चमः स्यात् षष्ठः क्षवथुनिग्रहात् ॥४८॥

जृम्भारोधात् सप्तमः स्यादुद्गारग्रहतोऽष्टमः ।

नवमः स्यादश्वरोधादशमः शुक्रधारणात् ॥४९॥

मूत्ररोधान्मलस्यापि रोधात् वातविनिग्रहात् ।

उदावर्त्तास्त्रयश्चेते घोरोपद्रवकारकाः ॥५०॥

एवञ्चाग्रद्रवभवं शूलमत्र पृथक् गणितं लक्षणात्तरबलात् ; तदन्ते—“जीर्णं कौश्लिकजीर्णं वा यच्छूलमुपजायते । पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च ॥ न ज्ञमं याति नियमात् सोऽन्नद्रव उदाहृतः ॥” (री० वि० शूल०) इति । पिटाकृति-
द्रवकरो यो मूत्रमार्गेण सवेत् सोऽन्नद्रवमंज इति केचित्, तन्न सर्वमतम् । जरत्पित्त-
भवं शूलमिति—जरत्पित्तमस्त्रपित्तम्, अस्त्रशूलमित्यन्ते ॥४६॥

उदावर्त्ता इति ।—उद्धृतेन वेगविधारणेनावृतस्य वायोर्चर्चनमित्युदावर्त्तः, अथवा
—वायोर्हर्षमावर्त्तो गमनमित्युदावर्त्तः, यतः सर्वेषु वायुरेव कारणम् ; तदन्ते—
“सर्वेष्वेतेषु विधिवदुदावर्त्तेषु क्लृप्तम् । वायोः क्रिया विधातव्या अस्मागं प्रतिपत्तये ॥”
(सु० उ० ५५ अ०) इति । तथोदशविधानां विवरणमाह, एकः क्षुब्धग्रहादित्यादि ।—
क्षुब्ध भोजनेच्छा तस्या निग्रहो धारणमिति भावः । एवं तृण पानीयस्याभिलाषः ।
निद्रा स्वप्नेच्छा । श्वासः उच्छ्वासः । हृदिर्वेगमनम् । क्षवथुर्मुक्ता । जृम्भा जृम्भणं
प्रसिद्धम् । उद्गारो वातोद्गारणम् । अश्व वेदाश्वमंजम् । शुक्रं रेतः । मूत्रं प्रसिद्धम् ।
मलं पुरीषम् । वातविनिग्रहादिति—अघोवातरोधात् । एवं त्रयोदश व्याख्याताः ।
एतेषां मध्ये ये मूत्रविनिग्रहादयस्ते घोरोपद्रवकारका ज्ञातव्याः । घोरोपद्रवकारका
इत्यनेन सारणात्मककृपा इत्यभिप्रायः । ननु * चतुर्दशविधा उदावर्त्ता अन्यत्र प्रति-

* चतुर्दशविधा उदावर्त्ताः चरकादौ कुदापि नीक्ताः, सर्वेष्वेव तन्त्रेषु

द्विविधानाहस्य विवरणम् ।—

आनाहो द्विविधो ज्ञेय एकः पक्वाशयोद्धवः ।

आमाशयोद्धवश्चान्यः प्रत्यानाहः स कथ्यते ॥५१॥

एकविधोऽशयोद्धस्य विवरणम् ।—

उरोग्रहस्तथा चैको—”

पञ्चहृद्रोगाणां विवरणम् ।—

“—हृद्रोगाः पञ्च कीर्त्तिताः ।

पादिताः ; तथा हि—“वेगात्तु धारयेद्वातविष्णुचक्षुवदटुक्षुधाम् । निद्राकासश्चम-
श्वासजृम्भाशुच्छिर्दिरेतसाम् ॥” (वा० सू० ४ अ०) इत्यादिना, तत् कथमत्र त्रयोदश
भेदाः ? उच्यते ; अस्मिन् आस उत्पद्यते तस्य धारणमिति व्याख्यायाः आसालङ्गीतः
एव अमभेदोऽत्र दर्शितः । उद्गारस्थाने कास इति केचित् वातकारण-
त्वादिति ॥४७—५०॥

आनाह इति ।—* आनाह उदरपूरणलक्षणः, स च वातोत्कटदोषैर्जनितः,
आमाशयोद्धवत्वात् न स्वतन्त्रेण वायुना, अन्यथा प्रत्यानाहे तृणाप्रतिश्यायशिरो-
विदाहादयः कथं सम्भवन्ति ? तथा चोक्तं—“तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु तृणा-
प्रतिश्यायशिरोविदाहाः । आमाशये शूलमथो गुरुत्वं हृत्क्षम्भ उद्गारविघातनञ्च ॥”
(सु० उ० ५६ अ०) इति वदन्ति । “एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्”
इत्यभिप्रायेण वातकोपेन पित्तकफावपि प्रकुपितौ भवतः इति ॥५१॥

उरोग्रह इति ।—उरो गृहीतमिव मन्यते, तत् कफमारुताहवति ; तथा हि—
“सासं सासं यत्तदग्नीहोः सद्यो वृद्धं यदा गतम् । उरोग्रहं तदा कुक्षौ कुरुतः
कफमारुतौ ॥” इति । हृद्रोगाः पञ्च कीर्त्तिता इति ।—हृदि रोगो हृद्रोगः, हृदि

त्रयोदशविधा उक्ताः, टोकाकारस्थेयमाशङ्का सर्वदैव भित्तिहीना, “अमश्वास” इति
वाग्मटीयवाक्यस्य एकविधर्तुत्वेन गणनात् ।

* आनाहोऽत्र आधानार्थक इति मन्ये, शास्त्रे प्रत्यानाहाख्यरोगादर्शनात्,
वातव्याधिविवरणे आधानशब्दादर्शनाच्च, न तु “आमं शङ्कहा” इत्यादिलक्षणकः
आनाहः ; एवञ्च “तृणाप्रतिश्याय” इत्यादि टोकाकारोक्तिः न सङ्गच्छते इति ;
किञ्च एष एव आनाहः “आमं शङ्कहा निर्वितं क्षमेण” इत्याद्युक्तलक्षणक आनाहः
अन्यकर्तुरभिप्रेतयेत् शङ्कज्जलैव आनाहसंज्ञता केवलात्तद्व्यत्ययत्वात् तथा आमणस्य

वातादिभिस्त्रयः प्रोक्तास्तुतः सन्निपाततः ॥

पञ्चमः क्रिमिसञ्ज्ञातः—”

॥५२॥

अष्टोदराणां विवरणम् ।—

“—तथाऽष्टावुदराणि च ।

वातात् पित्तात् कफाक्षोणि त्रिदोषेभ्यो जलादपि ॥

श्लोक्रः क्षतात् बह्वगुदादष्टमं परिकीर्तितम् ॥५३॥

वाधेल्ये; यदुक्तं—“दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः । हृदि बाधां प्रकुर्वन्ति हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥” (सु० उ० ४३ अ०) इति । पञ्चमः क्रिमिसञ्ज्ञात इति—क्रिमिरीगात् पञ्चमी हृद्रोगो भवतीत्यर्थः, ततोक्तत्वात्; तद्वशा—“ज्वरी विवर्णता शूलं हृद्रोगः सटन भ्रमः । भक्तदोषोऽतिसारश्च सञ्ज्ञातक्रिमि-लक्षणम् ॥” (सु० उ० ५४ अ०) इति ॥५२॥

तथाष्टावुदराणि चेति ।—अष्टोदरस्यो रोगोऽप्युदरशब्देन वाच्यकृत्तत्वात्; यतः,—“तात्स्थानात्तन्मताध्यासान् तत्समीपतयाऽपि च । तस्माच्चर्ष्याच्छब्दानां ह्निचिरेषा चतुर्विधा ॥” इति । तत्र वातादीनां पृथक् त्रयो भेदाः, तेन वातोदरं पित्तोदरं श्लेष्मोदरश्च । त्रिदोषेभ्य इति—मिलितदोषतयास्तुतः, अस्य सन्निपातोदरस्य दूष्योदरं नामान्तरं बदन्त्येके; तदुक्तं—“स्त्रियोऽन्नपानं नखरोममूत्रावडाक्षैर्वैद्यैः क्त-मसाधुव्रताः । यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गर्शश्च दृष्टास्तूष्णीविवर्णवनाहा ॥ तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः कुर्युः सुघोरं जठरं त्रिलिङ्गम् । तच्छीतवाते भृशदर्दिने च विगेषतः कुप्यति दहते च ॥ स चातुरो मृच्छति हि प्रसक्तं पाण्डुः क्रशः शुष्यति दृषाया च । दूष्योदरं कौर्त्तितमेतदेव—” (सु० नि० ७ अ०) इति । जलादपि जलपानात्, अग्रजलजलपानादित्यभिप्रायः । अस्यापि दकोदरभंजां प्रवर्तन्ति; यदुक्तं—“शः स्नेहपीतोऽप्यनृणामितो वा बालो विरिक्तोऽप्यथवा निहटः । पिबेज्जलं श्रोतलमाशु तस्य श्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि ॥ स्नेहोपलिप्तेष्वथवापि तेषु दकोदरं पूर्ववद-स्यपेति ॥” (सु० नि० ७ अ०) इति । श्लोक्र इति श्लोचवृत्तेः श्लोकोदरभंजा, श्लोका “मनहवा” शब्दवाच्यः । अस्य भेदो यकृद्वायुदरमः तथा च—“विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य

प्रत्यानाहसंज्ञता कफवातजलस्य युज्यते; एवञ्च, “आनाह उदरपूरणलक्षणः, स च अल्कटवातेन जनितः, प्रत्यानाहश्च आमाशयोद्भवत्वात् न स्वतन्त्रेण वायुना, अन्यथा नूनं दृष्यामतिशयाय—” इत्यादिरूपपाठकल्पनं सङ्गतम् इति सुधीर्भाविर्वैचेत्यम् ।

अष्टगुण्यानी विवरणम् ।—

गुल्मास्त्वष्टौ समाख्याता वात-पित्त-कफैस्त्रयः ।

हृन्मभेदास्त्रयः प्रोक्ताः सप्तमः सन्निपाततः ॥

रक्तादष्टमकः ख्यातो—”

॥५४॥

जन्तोः प्रदुष्टमर्थमसृक् कफश्च । ग्रीवाभिगृहिं कुक्षतः प्रवृद्धौ ग्रीहोत्थमेतव्यडरं
वदन्ति ॥ तद्वामपार्श्वे परिगृह्णमेति विशेषतः सोदति चातुरोऽव । मन्दज्वरापिः कफ-
पित्तलिङ्गेरुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः ॥ सव्यान्यपार्श्वं यकृति प्रवृद्धे ज्ञेयं यकृद्वाल्गु-
दरं तदेव ॥” (रो० वि० उदर०) इति । अतादिति—प्रकाररुपादन्नादिषु, ततः
परिस्त्राव्युदरमिति संज्ञा ; यदुक्तं—“शल्यं तथाऽग्नौपिहितं यदन्नं भुक्तं भिनत्त्यागतमन्यथा
वा । तस्मात् सृताऽन्नात् सलिलप्रकाशः स्यावः सवेवे गुदतस्तु भूयः ॥ नाभेरधश्चोदर-
गृह्णमेति निस्तृयते दाह्यति चातिमात्रम् । एतत् परिस्त्राव्युदरं प्रदिष्टं दक्षोदरं
क्षीणं यतो निवाधः ॥” (रो० वि० उदर०) इति । बहुगुदादिति—अष्टमगुदरश्च
बहुदरसंज्ञमिति ; बहुगुदोदरमित्युच्ये ; यतः,—“यस्यान्तमग्रेरुपलेपिभिर्वा बालाश्म-
भिर्वा पिहितं यथावत् । सञ्चोयते तस्य मलः सदीपः शनैः शनैः सङ्करवश्च
नाद्याम् ॥ निरुच्यते तस्य गुदे पुरोधं निरेति कच्छादपि चात्समल्पम् । हृन्नाभिमध्यं
परिगृह्णमेति तस्योदरं बहुगुदं वदन्ति ॥” (रो० वि० उदर०) इति ॥५३॥

गुल्मास्त्विति ।—कीडान्तर्गम्यरूपिणं गुटिकाकारं गोलमिति प्रसिद्धम् ; यदुक्तं—
“हृन्नाभ्योरन्तरे गम्यः सञ्चारो यदि वाऽप्यलः । वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति
कौत्सितः ॥” (सु० उ० ४२ अ०) इति । ते तु वातादिभेदेन पृथक् तथो गण्यताः ।
हृन्मभेदादिति—क्षीणजनितत्वात्त्रयः । सप्तमः सन्निपातत इति—सप्तमो गुल्मो मिलित-
दोषश्चाद्भवति । रक्तादष्टमक इति—दुष्टरुधिरादष्टमो गुल्मो भवतीत्यर्थः, स
च प्रायशः स्त्रीणाञ्च प्रसूयनन्तरं भवति ; तदुक्तं—“नवप्रमृताऽहितभोजना या या
चामगर्भे विस्तेज्जितौ वा । वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं करोति गुल्मं स्रजं
सदाहम् ॥” (सु० उ० ४२ अ०) इति । ननु माधवेन पञ्चधा गुल्मो लिखितः,
तत् कथमष्टविधः ? सत्यम् ; माधवेन तु * पञ्चस्थानविशेषेण पञ्चधा

* पञ्चस्थानविशेषेण पञ्चधा कथितः इति तु न सम्यक्, “स व्यस्तेर्जायते
क्षोभेः समक्षोरपि चोच्छ्रितैः । पुरुषाणां तथा स्त्रीणां ज्ञेयो रक्तेन चापरः ॥” (रो०
वि० बुद्ध०) इत्यनन्तरोक्तेः वातपित्तकफसन्निपातरक्तगर्भभेदेन पञ्चविधो गुल्मः माधवेन
निर्दिष्ट इति ।

तयोदशमूत्राघातानां विवरणम् ।—

“—मूत्राघातास्त्रयोदश ।

वातकुण्डलिका पूर्वी वाताष्टौला ततः परः ॥५५॥

वातवांस्त्रितीयः स्यान्मूत्रातीतश्चतुर्थकः ।

पञ्चमो मूत्रजठरं षष्ठो मूत्रक्षयः स्मृतः ॥ ५६ ॥

मूत्रोत्सङ्गः सप्तमः स्यात् मूत्रग्रन्थिस्तथाऽष्टमः ।

मूत्रशुक्रन्तु नवमो विड्घातो दशमः स्मृतः ॥५७॥

मूत्रसादृश्येणवातो वस्त्रिकुण्डलिका तथा ।

तयोऽप्येतं मूत्राघाताः पृथक् घोराः प्रकीर्त्तिताः ॥५८॥

कथितः, तथा हि—“दुष्टा वातादयोऽत्यर्थं भिष्याऽऽहारविहारतः । कुर्वन्ति पञ्चधा गुणं कीष्टान्नयोनिरूपणम् ॥ तस्य पञ्चविधं स्थानं पाञ्चदन्त्राभिवक्ष्यः ॥” (रो० वि० गुण०) इति । अत्र तु चिकित्सायं इन्द्रभेदास्त्रयो गण्यता इत्येतावत् ; यतः,—निमित्तलिङ्गान्यपलभ्य गुण्ये द्विदोषजे दोषबलावलम्बे । व्यामिश्रलिङ्गानपरांश्च गुण्यास्त्रिमादिदोषचकल्पनार्थम् ॥” (च० चि० गुण०) इति ॥५४॥

मूत्राघाता इति ।—मूत्रस्याभिघातो मूत्राघातः । आघातो वेदनाविशेषवान् मूत्रानिरोध इत्यपरं । स च वातादिदोषजनितः । तयोदश इत्यस्य विवरणमाह, वातकुण्डलिका पूर्वं इत्यादि ।—पूर्वः प्रथमः वातकुण्डलिका कथिता, तद्वया—यत्र सवेदनी वायुर्लक्षो मूत्रमाविश्य कुण्डलीवत् विगुणो भूत्वा सञ्चरति सा वात-कुण्डलिका ज्ञेया । वाताष्टौला ततः पर इति—ततः परः द्वितीयः, यवानिलः पाषाणग्रन्थिवत् वस्त्रो वृत्तमुन्नतं मूत्रविस्मार्गरोधिना व्याधि कुर्यात् सोऽष्टौलाशब्दवाच्यः । अथन्तु वातरोगे पठिताष्टौलायाः वस्त्रिगतत्वाद्भेदः । वस्त्रिकुक्षिनिपीडितो यत्र मूत्रसङ्गो भवेत् स वातवस्त्रिः । यत्र मूत्रं चिरं तिष्ठति शीघ्रं न प्रवर्त्तते मन्दं वा प्रवर्त्तते स मूत्रातीतः । यत्र नाभेरधस्तात् तोत्रवेदनमाधानं भवति तन्मूत्र-जठरं ज्ञेयम् । यत्र वस्त्रिणी पित्तमारुतो मरुग्दाहं मूत्रक्षयं कुरुतः स मूत्रक्षयो ज्ञेयः । यत्र जनैरल्पमल्यं मरुजं नीरुजं वा मूत्रं सवेत् स मूत्रोत्सङ्गः । यवान्तर्वस्त्रि-मुखे स्थिरोऽल्यो वृत्तो यन्निः, अत्र तु अश्वरीतुल्यरुग्भवति स मूत्रग्रन्थिः, अश्वरी तु भिन्नदोषदूषितत्वात् (?) । यत्र भस्मोदकप्रतीकाशं स्थानाच्चातं यत्नं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वा प्रवर्त्तते तन्मूत्रशुक्रमित्युच्यते । यत्र तु विट्संस्तुटं विड्गन्धं

अष्टमूत्रकक्षाणां विवरणम् ।—

मूत्रकक्षाणि चाष्टौ स्युर्वात-पित्त-कफैस्त्रिधा ।

सन्निपाताच्चतुर्थः स्याच्छुक्र-कच्छञ्च पञ्चमम् ॥५८॥

विट्कच्छं षष्ठमाख्यातं घातकच्छञ्च सप्तमम् ।

अष्टमञ्चाश्मरीकच्छं—”

॥६०॥

चतुर्विधाश्मरीणां विवरणम् ।—

“—चतुर्धा चाश्मरी मता ।

वातात् पित्तात् कफाच्छुक्रात्—”

॥६१॥

कक्षान्मूत्रयेत् स विट्घात इति । यत्र सदाहं रीचनाशङ्कचूर्णवर्णं समस्तवर्णं वा मूत्रयेत् स मूत्रसादः । यत्र कक्षात् पुनः पुनः हारिद्रमथवा रक्तं मूत्रं मूत्रयेत् स शोणवातः । यः शूलक्षन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं मूत्रयेत् पोडितस्तु धारां सवेत् तस्य बलिकण्डलिका कथिता । तयोऽप्येते मूत्राघाता इति—अथस्तु मूत्रसादादयः प्रत्याख्येयाः, ते तु घोरा बहुदुःखकरा इत्यर्थः ॥५५—५८॥

मूत्रकक्षाणीति ।—मूत्रस्य कक्षेण मद्धता दःखिन प्रवृत्तिर्भवकृच्छ्रम् ; तच्चाष्टविधं भवति, वातादिभिः पृथक् तथैव भेदाः । सन्निपाताच्चतुर्थः । यत्र तु बलमेहनशूलं भवति सशुक्रं मूत्रयेत् तत् शुक्रकृच्छ्रम् । यत्र पुरीषाघातात् विगुणतां गतो वायुराधानशूलं करोति तत् विट्कृच्छ्रम् । यत्र शूल्येन मूत्रवाहिस्रोतःस्वभिद्वेषे सक्तु अशं दाहयं मूत्रकृच्छ्रं भवति तत् वातकृच्छ्रं ज्ञेयम् । अश्मरीवदश्मरीकृच्छ्रं, तत् बलि-मेहनशूलान्वितं भवति । अश्मरीभेदोऽपि शर्करति केचित् ; यतः,—“अश्मरी शर्करा चैव तुल्यसम्भवलक्षणे । विशेषं शर्करायाश्च शृणु कीर्तयतो मम ॥ प्रत्यमानाऽश्मरी पित्तात् शोथमाणा च वायुना । विमुक्तकफसन्धाना क्षरन्ती शर्करा मता ॥” (रो० बि० मूत्रकृच्छ्र०) इति । ननु मूत्रकृच्छ्रमूत्राघातयोर्वैलक्षण्यदोषसाधस्यात् कीं भेदः ? उच्यते ; मूत्रकृच्छ्रे कृच्छ्रत्वमधिकं विवक्ष्यताम् ; मूत्राघाते तु विवक्ष्यो बलवान् कृच्छ्रत्वमल्पमेति भेदः ॥५८-६०॥

चतुर्धा चाश्मरी मतेति ।—या बलिगता पाषाणगटिकावद्भवति सा अश्मरी-शब्दाख्या ; तदुक्तं—“विशेषयद्बलिगतं सशुक्रं मूत्रं सपिंसं पवनः कफ वा । यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रीचना गीः ॥” (अ० बि० विमर्श०) इति । क्रमोऽत्र प्रसङ्गतोऽपि लिख्यते ; यथा—“असु स्वच्छास्वपि यथा निषिक्तासु

विंशतिभेदेषु दशश्लेषभेदानां विवरणम् ।—

“—तथा मेहाश्च विंशतिः ।

इक्षु-मेहः सुरा-मेहः पिष्ट-मेहश्च सान्द्रकः ॥६२॥

शुक-मेहोदकाख्यौ च लाला-मेहश्च शीतकः ।

सिकताख्यः शनैर्महो दशैते कफ-सम्भवाः ॥ ६३ ॥

तत्र षट्पिण्डभेदानां विवरणम् ।—

मञ्जिष्ठाख्या हरिद्राख्या नील-मेहश्च रक्तकः ।

कृष्ण-मेहः क्षार मेहः षुडेते पित्त-सम्भवाः ॥६४॥

अथ षट् । कात्यायनेन षट्ः स्यादश्लरीसम्भवाद्या ॥” (सु० नि० ३ अ०) इति । सा
अश्लरी चतुःप्रकारां भवति, बातापतकफात् शुकादिति । बातादीनां पृथक् द्वयो
भेदाः । बातपित्तकफादित्यनेन त्रिदोषसम्भवंत्यपरं ; यतः,—“मेकदोषाद्याः
सर्वाः” (रौ० वि० अ० १००) इत्यादिबचनात् । शुकादिति—शुक्लधारणात्
शुकाश्लरी भवतीत्युच्यते, “शुकाश्लरी तु महता जायते शुक्लधारणात् । खाना-
ज्जातममुक्तं हि मुखगारन्तरेऽनिलः ॥ श्लेषयत्युपसङ्गच्छ शुक्लं तत् शुक्लमश्लरी ॥”
(बा० नि० ८ अ०) इति ॥६१॥

तथा मेहाश्च विंशतिरित्यादि ।—तथेति—वक्षिगतदोषत्वाद्ब्रूयम् । मेहः
प्रमेहः, प्रकर्षणं मन्त्रावाचकोदादि मेहतोति प्रमेहः ; तदुक्तं—“मेदश्च मांसश्च
शरीरञ्च क्लेदं कफां वक्षिगतः प्रदूष्य । करोति मेहान् समुदीर्घमुष्णानेष पित्रं
परिदूष्य चापि ॥ जोष्मेषु दोषेष्ववकृष्य धातून् सन्दूष्य मेहान् कुरुतेऽनिलश्च ॥” (च०
वि० प्रमेह०) इति । विंशतिरिति—विंशतिभेदाः, तदयथा—इक्षुरसतुल्यम् इक्षुमेहः,
तुल्यता मूलस्यभिप्रायः । सुरा मदिराविश्रेयः, तत्तुल्य सुरामेहः । पिष्टं तण्डुलकल्कः,
तद्रसतुल्यं पिष्टमेहः । सान्द्रं घनम् आविलम् सान्द्रमेहः । शुकतुल्यं शुकमेहः ।
अतवणमुदकसदृशमुदकमेहः । तन्नुवहमिव पिच्छिलं लालामेहः । बहुवाग्व्यधुर-
मतिशीतलं शीतमेहः । सान्द्रं सिकताकणं सिकतानेहः । शनैः शनैः सकफं कृच्छं
शनैर्मेहः, एते दश भेदाः कफजा ज्ञेयाः । अथ पित्तजानाह—मञ्जिष्ठासखिलोपमं
विषस्य मञ्जिष्ठामेहः । सदाहं हरिद्रासखिभश्च हरिद्रामेहः । सफेनमच्छं नीलवर्णं
नीलमेहः । विषसुणश्च श्लेषितप्रकाशं रक्तमेहः । मवीनिभं कृष्णमेहः । क्षुतक्षार-
प्रतिभं क्षारमेहः, क्षारतायसदृशमित्यर्थः ; तदुक्तं—“गन्धवर्णरसस्यैः क्षारिण

तत्र चतुर्विधवातमेढाणां विवरणम् ।—

हस्ति-मेहो वसा-मेहो मज्ज-मेहो मधुप्रभः ।

चत्वारो वातजा मेहा इति मेहाश्च विंशतिः ॥६५॥

एकसोमरोगस्तस्य विवरणम् ।—

सोमरोगस्तथा चैकः—”

दशप्रमेहपिडकानां विवरणम् ।—

“—प्रमेहपिडका दश ।

शराविका कच्छपिका जालिनौ विन्ताऽलजी ॥६६॥

आरतीयवन” (वा० नि० १० अ०), इति षट् पित्तजाः । इदानीं वात-
जानाह, इक्षिमैह इत्यादि ।—सप्तमातङ्गवदशस्य प्रवृद्ध इक्षिमैह । वसाप्रकाश
वसामिश्रं वा वसामैहः । मज्जाभं मज्जामिश्रं वा मज्जमैहः । मधु खीरं, तस्य तुल्यं
तद्वर्णं वा मधुमैहः, इति चत्वारो वातजा ज्ञेयाः । इति मेहाश्च विंशतिरिति—इति
पूर्वोक्तप्रकारेण विंशतिमेहाः साध्या याप्या असाध्याः । ते चानेन प्रतिपादिताः ;
तदुक्तं—“साध्याः कफोत्था दश पित्तजाः षट् याप्याश्चतुष्कः पवनादसाध्याः । सम-
क्रियत्वादिषमक्रियत्वाग्रहात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते ॥” (च० त्रि० प्रमेह०) । * ननु
मधुमैहोऽन्यत्र पृथक् एकाविंशतिकी गणितः, तत् कथमत्र वातजेषु पठितः ? सत्यम् ;
विकल्पार्थं तु पृथगन्यथास्य यद्वर्णं कृतम्, अवासाध्यत्वेन वातजेषु प्रमेहेष्वेवात्मभूतो
दर्शितः दाहदूष्यरसवर्णसाधस्यात्, यतः,—“सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्राप्तकारिणः ।
मधुमैहत्वमाद्यान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥” (सु० नि० ६ अ०) इति ॥६२—६५॥

सोमरोग इति ।—एकः सोमरोगः, स च मूत्रमार्गेण स्रवति ; तथा हि—
“आपः सर्वशरीरव्याः क्षुत्थान्ति प्रस्रवन्ति च । मूत्रमार्गेण विमलाः सोमरोग इति
कृतः ॥” अस्य विद्वमप्यतोऽत्र वक्तव्यमित्येवोपलक्षितम् ; तदुक्तं—“शरीरधारणा-
च्चापि सोम इत्यभिशाब्दतः । तस्मात् सामान्यशब्देनो निश्चेष्टस्य भवेत् सदा ॥” इति ।

* अरकमुशुतवाक्काटादिषु केचपि तन्त्रेषु मधुमैहः प्रमेहेषु एकविंशतित्वेन
न गणितः, वातिकमधुमैहः विंशत्यन्तर्गत एव, अपरस्य प्रमेहोपेक्षाजनितः मधुमैहः
प्रमेहावस्थाविशेष एव, तेन च न सङ्ख्यातिरिक्तः ; यतः “अन्यत्र पृथक् एकविंशतिकी
गणितः” इति टीकाकारोक्तिः चित्या ।

मसूरिका सर्षपिका पुच्छिणी च विदारिका ।

विद्रधिष दधैताः स्युः पिडका मेह-सम्भवाः ॥६७॥

मूवातीसारीऽव्य मेहं इति मन्वन्ते कौचित् द्रवदोषमाधर्ष्यात् ; यतः,—“मूवाती-
सारमतिमैद्युनतः प्रसृतं रुक्तोदतापपरिजितमन्वमन्वम् । शङ्काविहीनमपि भोम-
भेदस्य तस्य भेदं वदन्ति भिज्ज मकं नामयज्ञाः ॥” इति । प्रमेहपिडका दधैति ।
—अप्रतिक्रियमाणान् प्रमेहान् पिडकाश्चात्ययन्ते । पिडकां नागाकारा द्रवसंज्ञा
एव ; तथा ज्ञातं—“सन्धिममंसु जायन्ते भान्तिषु च घाससु” (वा० नि० १० अ०)
“तावच्चैता न खल्यन्ते यावदास्त्यग्निरिच्छा” (अ० सू० क्रियन्तः शिरसीय०) इति ।
वास्तु त्रयाधिष्ठानम् । कटाचदन्यैर्वा ; यतः,—“विना प्रमेहमप्यता जायन्ते
कुष्ठमेदसः” (अ० सू० क्रियन्तः शिरसीय०) इत्यपि । ताना स्वेदपं कणाश्चिञ्चाप-
नाथं लिख्यते । तत्र शराविका यथा—“सर्तोन्नता तु तदूया निम्नमध्या
शराविका” (री० वि० प्रमेह०) इति । कच्छपकामाह—“मटाहा कूर्ममंथ्याना
ज्येष्ठा कच्छपिका बृने” (सु० नि० ६ अ०) इति । जालिनीमाह—“जालनी
तीव्रदाहं तु मांसनाशनमावता” (सु० नि० ६ अ०) इति । तन्नाम्नरेऽपि
“परस्परामिसन्ध्यापिडका चैकदेश्याः । पिताल्काटा टाडवती मृगशक् जालिनी
मता ॥” इति । विनतान्नलणमाह—“अवगाढरुजा लोटा पृष्ठे वायुदग्देऽपि वा ।
भहतो पिडका मौला विनता नाम सा क्षुना ॥” (री० वि० प्रमेह०) इति ।
अलजीमाह—“रक्ताऽमिता स्नाटविना विजया त्वनजी भवेत्” (री० वि०
प्रमेह०) इति । मसूरिकामाह—“मसूराजतिमंथ्याना विज्ञेया तु मसूरिका”
(सु० नि० ६ अ०) इति । सर्षपिकामाह—“गौरसर्षपमंथ्याना तन्म्राणा
च सर्षपो” (सु० नि० ६ अ०) इति । पुच्छिणीमाह—“मह्यव्यधिता ज्येष्ठा
पिडका नाऽपि पुच्छिणी” (सु० नि० ६ अ०) इति । विदारिकामाह—
“विदारिकन्वत्तं त्रया कठिना च विदारिका” (सु० नि० ६ अ०) तथा (वा० नि०
१० अ०) इति । विद्रधिमाह—“विद्रधिलेषणैर्युक्ता ज्येष्ठा विद्रधिका तु मा”
(सु० नि० ६ अ०) । विद्रधिलेषणयुक्तैर्युक्ता विद्रधेः पक्षा अभेदो बोद्धव्यः ।
पिडकानान्तराश्वानप्यह कश्चित्—“ये शम्भवाः क्षुना मेहाक्षेपामेतास्तु तन्म्राणाः”
(सु० नि० ६ अ०) इत्यादि । पिडकाः प्रायेणापुःकायै भवन्ति, दोषदूष्याचामधः-
प्रक्षालात् रसावलीर्णा दोषत्वाच्च ॥६६॥७॥

एकमेदोरोगस्य विवरणम् ।—

मेदो-दोषस्तथा चेकः—

नवशोषाणां विवरणम् ।—

“—शोथरोगा नव स्मृताः ।

दोषैः पृथक् द्वयैः सर्वैरभिघातात् विष्काटपि ॥६८॥

मेदोदोष इति—मेदोर्नाशनमिति दोषो मेदोदोषः, यदा—मेदः एव दोषः, कारणं कार्यापचारात् । इत्युच्यते—“अन्धकारमदिवाद्यप्र-श्लेषनाकारसंनिगः । मधुरोऽन्नरसः प्रायः स्नेहान्मेदो विवर्तयेत् ॥” (री० वि० मेदो०) इति । तत् प्रायेण सदरस्थितं भवति ; यदुक्तं—“मेदस्तु सर्वभूतानामुदरस्थिस्थानु स्थितम् । अत एवादरे हृदिः प्रथो मेदश्चिर्ना भवेत् ॥” (री० वि० मेदो०) इति । ननु मेद एव दोषः कथम् । तदुच्यते—“मेदसाऽऽवतमार्गवात् पृथग्यस्य न ज्ञातवः । मेदस्तु चौयते तस्मादशक्तः सर्वकर्मसु । सुदृक् सद्यो मोह-स्वप्नकथनसादमेः । युक्तः चुरभ्येदोर्गन्धेरस्य-प्रायोऽप्यनेधुनः ॥” (री० वि० मेदो०) इति । शोथरोगा इति—शोथरोगा नव स्मृता इति—दोषभेदेन । शोथ एक रोगः शोथरोगः । अथमपि त्रणशोषाद्विन्न एव केवलत्वस्यासमर्थत्वात् ; यतः,—“रक्तपित्तकफान् वायुर्दुष्टो दृष्टान् कङ्कः शिराः । मोत्वा दहगतिकोर्द्धि कुर्यात्त्वर्षामसंशयम् ॥ उत्प्रेषं मंजुतं शोथं तमाहु-र्निचयादतः ॥” (वा० नि० १३ अ०) इति । अत एव शोथस्य त्वर्षामसंशय संशयः त्रणस्य त्वष्टो बालूनि, यदुक्तं—“त्वष्टोमशिरास्त्रायुष्यिर्नास्वकोप्रमर्माथोत्पष्टो त्रणवाक्कान” (सु० सू० २२ अ०), अष्टसु त्रणवास्तुषु त्रणशोथस्य सम्भवत्वात् । नव स्मृता इति—शोथरोगस्य नव भेदाः । दोषैः पृथगाति—दोषैर्वातादिभिर्योस्तेष्वपि भेदाः । द्वयेति—मिश्रितदोषद्वयेनापि तथा भेदाः । सर्वैरिति—मिश्रितदोषत्रयाणामप्यस्य एको भेदः, सन्निपातनेत्यर्थः । अभिघातादिति—अभिघातः शस्त्रादिना छेदभेद-अतप्रभृतिकालेन प्रसरणशोषोर्धापि सन् प्रकृतशोथो भवति ; यदुक्तम्—“अभि-घातन शस्त्रादिच्छेदभेदज्वादिभः । हिमानिर्लोदप्यनिर्धेर्भज्जातकपिकच्छुभ्रेः ॥ रसेः शक्ये संश्रयाच्छुभ्रेः व्यदिसर्पवान् । अग्राया क्वाडिनाभासः प्रायशः पित्तकषणः ॥” (वा० नि० १३ अ०) इति । विघादिति—प्लावरलङ्घनात्मकविषमभावात् ; यदुक्तं—“विषजः सविषप्राणि-परिसंपन्नमुपचात् । दंष्ट्रादन्तनखाघात, दाविषमपिणामवि ॥ विष्णुवयुकोपहत-मलसहस्रसङ्कपत् । विषजवानिलस्यशान्त् गरयोमावचूर्णनात् । सुदुष्योऽवस्थो य मोघा दाहवनाकारः ॥” (वा० नि० १३ अ०) इति ॥६८॥

सप्तहोत्रो विवरणम् ।—

हृदयः सप्त गदिता वातात् पित्तात् कफेन च ।

रक्तेन मेदसा मूत्रादन्वर्हति सप्तमो ॥ ६८ ॥

एकविधाण्डहृदोः विवरणम् ।—

अण्डहृदिस्तथा चैका—”

एकगण्डमालिना विवरणम् ।—

“—तथैका गण्डमालिका ।

एकगण्डालज्या विवरणम् ।—

गण्डालजो तु चैका स्यात्—”

॥ ७० ॥

हृदय इति ।—प्रहिस्तु शीघ्रोपलक्षितत्वात् शीघ्रमेव एव ; ० तथा हि—“क्रुद्धो-
ऽनर्दगातवायुः शीघ्रशूलकरश्चरन् । मुक्तो बद्धगतः प्राप्य फलकोषाभिवाहिनोः ॥
प्रपीड्य धमनोर्वाहं करात् फलकोषयोः । दाषासमेदांमूत्रान्ते स हृदिः सप्तधा गतः ॥”
(वा० १० ११ ५०) इति । सप्त सप्तप्रकारा भवान् ; तद्वत्तथा—वातपूर्णहृदिस्पर्शो
वातवृद्धिः, पण्डित्वात्सदाशः पित्तवृद्धिः, कण्डूमान् काठिनाऽल्पवृद्धिः इत्यादिना श्लेष्म-
वृद्धिः । रक्तेनत्यादि—दुष्टरक्तेन रक्तकणस्थायः भवति पित्तवृद्धिर्लक्ष्य । गदसात
—कफाद्वृद्धत्वात्फलोपमस्य । मूत्रादिति—मूत्रधारणशोथस्य पानीयपूर्णहृदि—हृदयति
सन्त्यधो मृदुस्य मूत्रवृद्धिः । अन्तर्हतिस्तु चूटान्तावश्यं यदा पवनो विगुणोक्तस्य
स्थानात् पथो नयेत्, तदा बद्धवसन्त्यो गन्त्याभः श्वयम्भवेत्, उपेक्षणाच्च कालान्तरं
आशानादियुता मुक्तावृद्धिरिति ; यदुक्तम्—“अन्तं विगुणमादाय जन्तोर्नर्थात् बद्धवसम् ।
बद्धवत् तदुनायुक्तं फलकोषं प्रपद्यते ॥” (भा० ७०) इति । अत एवाथ आपरो
भेदो ब्रह्म इति कायते ॥ ६८ ॥

अण्डहृदिस्तथा चैका इति ।—एका अण्डहृदिस्तथा एव भेदः, यत उक्तम्—

* “उपेक्षणास्य च मुक्तावृद्धिनाशानवृत्तवर्तो स वायुः” (वा० १० ११ ५०)

* लक्षणाभिदमन्त्रहृदोः वाष्पटिग माधवेन च कथितं, न त्वण्डहृदोः । किञ्च,
“अण्डहृदिस्तथा चैका” इति पाठ एव । अन्त्यः, हाद्वयः अण्डहादवाचक एव,
सप्तविधवृद्धातिरिक्ताण्डहृदोः का सुश्रुतवाष्पटिगाधवाटोनां कणाप मोक्षा । अन्ये,
या खलु वृद्धिः कालप्रकर्षात् वातजादसमावधवृद्धावस्थामतिक्रम्य अतोव प्रवृद्धा
वर्तन्ते सेवास अण्डहृदिलेन गृहीता इति । परन्तु “अण्डहृदिस्तथा चैका” इत्यत्र
“गण्डगण्डस्तथा चैका” इति पाठकल्पनं सर्वथैव मनोरममिति ।

नवग्रहयोगां विवरणम् ।—

“—ग्रन्थयो नवधा मताः ।

त्रिभिर्दोषैस्त्रयो रक्ताच्छिराभिर्मेदसो व्रणात् ॥

अस्या मांसेन नवमः—”

॥७१॥

हृत्पादिना कुरण्डकशब्दवाच्यत्वेन, विकित्वाद्ये तु पृथग्भिधानमात्रमस्य न दोषः ।
तथैका गण्डमालिका इति ।—गण्डमाला जातिश्च (?) एका स्यात् । गले गण्डक-
रूपा व्रणा एव गण्डमालादयो (?) ज्ञेयाः, मालातुल्यगण्डयोगात् गण्डमाला गल-
गण्डादिना ; यदुक्तं—“कर्कशुकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवङ्गेषु । मेदः-
क्षफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद्गण्डमाला बहुभिन्न गण्डैः ॥” (री० वि० गलगण्ड०)
इति । अस्या एव भेदाऽपचौति वदन्ति केचित् तुल्यग्रन्थसाधस्यात् (?) ; यतः,—“ते
ग्रन्थयः केचिद्वामपाकाः सवन्ति गण्डानि भवन्ति चान्ये । कालानुबन्धं चिरमादधाति
सैवापचौति वदन्ति तज्ज्ञाः ॥” (री० वि० गलगण्ड०) इति । ननु कथं कण्ठव्यान-
प्रविष्टत्वाद्गण्डमालाऽपचौ च वङ्गेषु प्रतीता ? सत्यम् ; दीवगतिविशेषाद्गण्डमन्यावपि
गण्डमाला भवतीति न दोषः ; यदाह भोजः,—“वातपित्तक्षफा इत्या मेदस्यापि
समाचितम् । अङ्गयोः कण्ठरां प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून् ॥ कुर्वन्ति यक्षितान्क्षेभ्यः
धुनः प्रकुप्यतीडन्ति । तान् दीवान्पूर्वगो वक्षःकक्षमन्यागलाश्रितः ॥ नानाप्रकारान्
कुर्वते ग्रन्थान् सा त्वपचौ मता । अपचौ कण्ठमन्यासु कक्षावङ्गेषुमन्त्रिषु ।
गण्डमालां विजानीयादपचौतुल्यलक्षणम् ॥” इति । गण्डालजो तु चेका स्यादिति ।
—गण्डालजो चाव गलगण्डस्यैव नामान्तरं, यतो गण्डमालया भिन्नो गलगण्ड
एव मान्यतु ; अत एवाह माधव,—“वातः क्षफस्यापि गले प्रदृष्टो मन्त्रे च संश्लिष्य
तथैव मेदः । कुर्वन्ति गण्डं कमशः स्खलिङ्गैः समन्वितं तं गलगण्डमाहः ॥” (सु०
नि० ११ अ०) इति । भोजेनाप्युक्तं—“महान्तं शोषमस्यं वा हनुमन्यागलाश्रयम् ।
लम्बन्तं मुक्कवदृष्टं गलगण्डं विनिर्दिशेत् ॥” इति । यथा—गण्डालजोत्यमालजो
+ चूदरीगपठिता बोद्धव्या । एकै गण्डालजोभ्याने गण्डापचौति पठन्ति, तन्मते
तु एकी गण्डः एका अपचौ चेति । अथमपि पाठो मनाङ्करो न दोषः ॥७०॥

ग्रन्थयो नवधा मता इति ।—ग्रन्थस्तु शीफसमुत्थानो प्रथमभेदः, लोके “वतीगुदी”
इति शब्दवाच्यत्वेन प्रतीयते ; तदग्रथा—“वातादयो मांसमसृक् प्रदृष्टाः सन्दूष

+ सुसुते चूदरीमे चक्षुजो नास्ति, वाय्वटे एका चक्षुजो या दृश्यते सुसुते सा
चक्षुजो, रोगविज्ञाने चक्षुजो इति नाम्ना पच्यते, सा च अक्षिपि ग्रन्थे

वर्षुदानां विवरणम् ।—

“—षड्विधं स्यात्तथाऽर्बुदम् ।

वातात् पित्तात् कफाद्रक्तात् मांसादपि च मेदसः ॥७२॥

त्रिविधश्लोपदानां विवरणम् ।—

श्लोपदश्च त्रिधा प्रोक्तं वातात् पित्तात् कफादपि ॥७३॥

मेदस्य तथा शिरासः । इत्युक्तं विवक्षितञ्च श्लोचं कुर्वन्त्यतो यत्थिरिति प्रदिष्टः ॥” (री० वि० गलगण्ड०) इति । नवप्रकारमाह, त्रिविधेति ।—अथ मेदाः, तेन व्यस्येन वातेन, पित्तेन, कफेनेत्यर्थः । रक्ताद्रुशिरास्तुर्थः । शिराभिरिति—शिरा-यस्यः पञ्चमः । मेदसा इति—दुष्टमेदसा जनिताः षष्ठः । त्रयादिति—त्रयजनितः सप्तमः । अष्टेति—दोषदूषितास्थिजनितोऽष्टमः । मांसेनेति—मांसजनितो नवम इति । अथ मासवेन पञ्चभेदा यत्थयोऽभिहिताः, वातादिदोषेषु त्रयः मेदः-शिराभ्याश्च द्वाविति ; ततः कथमन्य नवभेदा दर्शिताः ? उच्यते ; यद्यपि मासास्तृणावन् दूष्यभेदो-दाहतो, तथाऽपि यस्याश्रयत्वेन स्थानविशिष्टान्मेदशिरावन् तत्स्थानवस्थान एवोक्ती ; यदुक्तं भोजे—“मेदो वायुयंटा मांसे त्राक्षपेदश्च वा त्वचि । तत्र मेदोभवयस्यः श्लाघो भवति पाण्डुरः ॥” इत्यादिना । चिकित्सायै तु पृथगभिधानम् अन्यत्रापि दृश्यते ; यदुक्तं—“यस्यो मांसोऽथैव योज्या ह्ययमेव क्रियापथः । शिरायास्य परित्यज्य श्लेष्मं यत्नेन साधयेत् ॥” इत्यादिभिरदोषः ॥७१॥

षड्विधमिति ।—अर्बुदमपि त्रयभेदो त्रयाकारत्वात् ; यतः,—“मात्रप्रदेशे कश्चिदेष दोषाः सन्मुक्ताः मांसमसृक् पदूष्य । इतः स्थिरं मन्दरजं सङ्घातमनल्पमूलं शिरःश्लोपाकम् ॥ कुर्वन्ति मांसोच्छ्रमस्यगाधं तदुर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति ॥” (री० वि० गलगण्ड०) इति । षड्विधत्वं सुगमम् । मांसादपि चेति चकार-यदृष्टादयः द्विर्बुदमपि याज्ञम्, अर्बुदमपि केचित् ; तथा हि—“यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते श्लेष्मं तदुर्बुदमर्बुदश्लेष्मैः । यदुर्बुदं युगपत् क्रमादां द्विर्बुदं तस्य भवेदसाध्यम् ॥” (सु० नि० ११ अ०) इति ॥७२॥

श्लोपदश्चेति ।—चरण्याः श्लोपावदुक्तं श्लोपदशब्दवाच्यः । तथेति यदृष्टात् करकणादिषु च भवतीति केचिदाहुः ; यदुक्तं—“यः सज्वरो बहुव्रजो भृशार्तिः श्लेष्मो मृष्टा पाटनतः कमेव । ततः श्लोपदं स्यात् करकर्णनेत्रश्लेष्मोऽहमासास्त्रि-पुद्गरोमे चलि । चरके श्लोपाधिकारे यत्थेरनन्तरमेका अलङ्गी षड्विधा । किञ्च, गण्डालङ्गी गण्डगण्डस्य नामान्तरमिति तु न मनोरमम् ।

षड्विधोनां विवरणम् ।—

विद्रधिः षड्विधः ख्यातो वातपित्तकफोत्पन्नः ।

रक्तात् क्षतात् त्रिदोषैश्च—”

॥७४॥

पञ्चदशब्रणानां विवरणम् ।—

“—ब्रणाः पञ्चदशोदिताः ।

तेषां चतुर्धा भेदाः स्युरागन्तुर्देहजस्तथा ॥७५॥

केचिदाहुः ॥” (री० १७० श्लोपद०) इति । वातापत्तरुफादित्यनेन व्यक्तसमस्तेन कृत्वा * चत्वारो भेदाः, तेन वातेन पित्तेन श्लेष्मणा चैवभिप्रायः । एके तु त्रय एव भेदाः श्लोपदस्येति वदन्ति, यतः तत्र कफव्याव्यभिचारेण प्राधान्यम् ; तदुक्तं—“दीर्घप्लेतानि जानीयात् श्लोपदानि कफोच्छ्रयात् । गुक्तस्य सङ्क्षेपस्य यज्जानाति विना कफात् ॥” (सु० नि० १२ अ०) इति ॥७३॥

विद्रधिरिति ।—विद्रधिरपि त्रयभेद एव ; यदुक्तं—“त्वयत्तमांसमंदांसि प्रदूष्यास्थि-
समाश्रिताः । दोषाः शोथं शनैर्घोरं जनयन्मुक्ता भूयन् ॥ सङ्क्षामूखं हज्जान्तं वृत्तं
वाऽप्यथवाऽऽयतम् । स विद्रधिरिति ख्यातो विज्ञेयः षड्विधश्च सः ॥” (सु० नि०
८ अ०) इति । चरके तु विद्राहमक्षर्षाविद्रधि-श्चा ; यदुक्तं—“सं वै शीघ्रविद्राहि-
त्वात् विद्रधोऽव्यभिधीयते” (अ० सू० कियन्तः शिरसोऽयं) इति । स च बाह्याभ्यन्तरे
भवति, चत्वारो तु गुणसादृश्यम् ; यतः,—“तुल्यदोषममुल्यानात् विद्रधेरुत्पत्तिश्च”
(सु० नि० ८ अ०) इति । ननु तुल्यत्वात् कथं विद्रधेः पाकः गच्छत्य न पाकः ?
सच्यते ; “न निवन्धोऽस्ति गुल्यानां विद्रधिः सान्निवन्धन । गुल्याकाराः स्वयं दोषा
विद्रधिमोसशोष्यते ॥ विवरानुचरो यन्मिरस्ते बुद्धको यथा । एवमकारो गुल्यस्तु
तस्मात् पाकं न गच्छति ॥” (सु० नि० ८ अ०) इति । तथाऽप्यत्रापि—“मांस-
शोषितत्राहुल्यात् पाकं गच्छति विद्राधः । मांसशोषितज्ञोनत्वात् गुल्यं पाकं न
गच्छति ॥” (सु० नि० ८ अ०) इति । षड्विधोऽत्र सुगमः, तत्र तु क्षतादिति—काष्ठ-
सङ्घटपाषाणादिप्रहरात् । विद्रोवेरिति—मिलितदोषवशेण, सन्निपातेनेत्यर्थः ॥७४॥

ब्रणा इति ।—ब्रणस्तु शोथममुल्यानं कश्चित् शोथोपलब्धितमित्यर्थः ; अत एवाह
कश्चित् पूर्ववत्पत्तेन यथा—“एकदेशोत्थितः शोथो ब्रणानां पूर्ववत्त्वम्” (री० वि०

* सुश्रुतवाक्येभ्यः रोगनिमित्तमेव च विविधमेव श्लोपदमुक्तं, न तु चतुर्विधम् ।
अनेन टीकाकारेणापि चत्वारो भेदाः द्रव्यज्ञा विवरणे पुनः त्रैविध्यमेव प्रदर्शितम्
इति सुधीर्भद्रदण्ड्यम् ।

शुद्धो दुष्टश्च विज्ञेयस्तत्सङ्ख्या कथ्यते पृथक् ।

वातत्रयः पित्तजश्च कफजो रक्तजो त्रयः ॥७६॥

वात-पित्तभवसान्यो वात-श्लेष्मभवस्तथा ।

तथा पित्त-कफाभ्याश्च सर्वापातेन चाष्टमः ॥७७॥

मवमां वात-रक्तेन दशमौ रक्त-पित्ततः ।

श्लेष्म-रक्तभवसान्यो वात-पित्तासृगुद्भवः ॥७८॥

वात-श्लेष्मासृगुत्पन्नः पित्त-श्लेष्मास्रसम्भवः ।

सर्वापातासृगुद्भूत इति पञ्चदश त्रयाः ॥७९॥

त्रयश्रीध०) इत्यादि । स च शीघ्रो विज्ञेयश्च ; उन्नतः पृष्ठः राधितः समो विषमो वा त्वस्त्रास्रान्यो दोषमहानः शरीरेकदेशोत्पन्न इत्युच्यते । तेषां चतुर्दश भेदः स्यादिति—नवा त्रयाणां चतुर्दश भेद इति । यत्र चतुःप्रकारभवेत्तेन सङ्गारेणः सामान्यो दर्शितः, आगन्तुर्वेदजः शुद्धो दुष्टश्चेति । आगन्तुरिति—सङ्घातबलप्रवृत्तः, शब्दव्याप्तादुक्त इत्यर्थः । वेदजः इति—दोषबलप्रवृत्तशरीरसञ्चः ; यदुक्तं—‘‘इह त्रयः स विज्ञेय शरीरागन्तुभेदतः । दोषैराद्यलयांश्च शब्दादित्तमन्वयः ॥’’ (शी० वि० शरीरत्रय०) इति । शुद्ध इति—शुद्धत्रयः ; यदुक्तं—‘‘अज्ञातलाभी-ऽतिशुद्धः अण्डः । अण्डोऽल्पवेदनः । सुखवर्णो निरासावः शुद्धो त्रय इति स्मृतः ॥’’ (शी० वि० शरीरत्रय०) इति । दुष्ट इति—दुष्टो त्रयः ; यदुक्तं—‘‘पृतिः पृथार्ति-दुष्टासृक्सायुसङ्घो विरच्यति । दुष्टत्रयोऽतगन्धादिः शुद्धलिङ्गविपर्ययः ॥’’ (शी० वि० शरीरत्रय०) इति । केचित्तु शुद्धदुष्टशब्दौ साध्याभावात्तेन व्याख्यानयन्ति ; तन्न सर्वमतम् । तत्सङ्ख्या कथ्यते पृथगाति—तद्वत्तत्तत् सङ्ख्या गणनानयनः पृथक् भिन्नत्वेनात्र कथ्यते, ना तु पञ्चदशप्रकारा रज्यमात्रा वाङ्मया । यद्यपि बहुविधोऽन्वयः त्रयः प्रातपादितलकाऽप्यत्र दोषाणां प्रसरणेन पञ्चदशप्रकारा दर्शितः ; तदुक्तं सुसुनि—‘‘कदाचिदंशजो इहश्च समर्थाः शोषितसेडिता वा चनेकधा प्रसरन्ति’’ (सु० सू० २१ च०) इति ; तेन पञ्चदशप्रकारा ज्ञेयानि ; यतः विभिन्नेषु वातादिकैः शोषितचतुर्थैः शरीरनिदं चाप्येते इति द्वितीयदर्शनात् ; यदुक्तं—‘‘कालान्तरेणाभ्यदितं तु पित्तं कृत्वा वर्यं वातकफो प्रसज्य । पचन्त्यतः शोषितमेव पाका मती-ऽपरेषां विदुषां द्वितीयः ॥’’ (सु० सू० १० च०) इति । पञ्चदशसङ्ख्या सुबोधा इति ॥७५—७९॥

अष्टसद्योत्रयोगा विवरणम् ।—

सद्यो-व्रणस्त्वष्टधा स्यात् * अवर्कूलम-विंलम्बितौ
छिन्न-भिन्न-प्रचलित-घुंष्ट-विद्व-निपातिताः ॥८०॥

सद्योव्रण इति ।—ग्रन्थादिपठारमिति आगम्यं वसंज्ञ, स चानेकाकृतिरित्येकै
भाषन्ते ; यदुक्तं—“नामाधारमुखैः शस्त्रेर्नामव्यापानपातैः । भवन्ति नामाकृतयो
श्रवासांनान्मिवाध मे ॥” (री० वि० सद्योव्रण०) इति । तेषां भेदमाह, अवर्कूलमिति
—अपकर्तनम् । विनाश्वती खल्वनशीलः, मांसावलम्बनेनैव्यभिप्रायः । छिन्नमिति—
तिथ्यं कृत्वा त्रुणां छिन्नमवयवादिषु, ग्राह्य पातनमिति भावः । भिन्नमिति—कोष्ठे
बहुधा शक्तिरूपावृत्तयविषयाणादिभिर्भेदकम् ; यदुक्तं—“शक्तिरूपावृत्तयविषया-
राशयो हतः । यत् शिञ्चित् प्रसवेत् ताञ्च भिन्नमवयवमुच्यते ॥” (री० वि० सद्योव्रण०)
इति । चाग्रशोऽव ध्यानं, तत् कोष्ठशब्देनोपदर्शितम् ; तद्वयथा—“व्यामन्यामाग्र-
पक्षाणां मूलस्य बाधस्य च । हृदयशुक्रः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधायने ॥” (सु० वि०
२ च०) इति । अत उवाग्रशरदिनेऽन्यदशे व्यध एव वचनात् । प्रचलितमिति—प्रकर्षण
शक्तितं मांसादिकमिति भावः । तन्मान्तरं पिञ्चितामिति नामान्तरम्, यतः,—“प्रकार-
शोऽन्यान्तु यदङ्गं पृथगा गतम् । साध्यं तत् पिञ्चितं विद्यान्मज्जरत्तपरिहृतम् ॥”
(सु० वि० २ च०) इति । † अथवा प्रचलितमिथ्यनेन यद्व्रणं यद्व्रणस्य तथा
सद्योव्रणस्य च चिकित्साविषयं, तेन भग्राधिकारे प्रातर्पादिताऽपि तस्यवानावमरी न
दीवः मज्जरत्तपरिहृतत्वेन व्रणभावेत्वात् । घुंष्टमिति—घर्षितम् ; तद्वयथा—“घर्षणा-
दिभिश्चाताहा यदङ्गं विगतत्वचम् । उवासावान्वितं तत् घुंष्टमव्यामयीयते ॥”
(री० वि० सद्योव्रण०) इति । विद्वमिव विद्वम् ; यथा—“तृष्णाव्यग्रत्याभिहतं

* वाक्ये अवर्कूलम इत्यत्र अवर्कण तथा प्रचलित इत्यत्र विद्वलित इति
नामद्वयं मङ्गलार्थं कम्, अवर्कूलमप्रचलितमाम्बोकारे टोकाकारकृतव्याख्यानामङ्गलैः ।
एवञ्च टोकाशमपि अवर्कूलमिति अत्र अवर्कणं तथा प्रचलितमित्यत्र विद्वलितमिति
नामद्वयं युज्यते, ततश्च अवर्कणविद्वलितयोः तन्मान्तराक्तं अतं पिञ्चितञ्च इति
नामान्तरमपि मङ्गलकृते ।

† “अथवा” इत्यारभ्य “न दीवः” इत्यन्तः शब्दैः अश्वेवङ्गतिविरहितः दुष्टः ।
“मज्जरत्तपरिहृतमित्यनेन व्रणभावात् मज्जरत्तागमं दर्शयति, तेन यत् व्रणं पिञ्चितं
तत् भग्रा सद्योव्रणस्य च चिकित्साविषयम्” इति मधुकोषविरहितरत्न द्रष्टव्या ।

द्विविधकोष्ठभेदस्य विवरणम् ।—

कोष्ठभेदो द्विधा प्रोक्तः क्षिप्रान्तो निःसृतान्तकः ॥८१॥

अष्टाध्यायिकानां विवरणम् ।—

अस्थिभङ्गोऽष्टधा प्रोक्तो भग्नः पिष्ट-विदारितौ ।

यदुक्तं त्वाग्न्यादिना । अतुष्टुत्तं निर्गतं वा तद्विडमिति निर्दिशेत् ॥” (सु० वि० २ अ०) इति । निपातित इति—विशेषेण पातितोऽवयवान् या अत्र स तथा । * एके अवस्थितविलम्बितां विवक्षितामिति तावदा एकमेव भेदं प्रतिपादयन्ति ; तद्वत्तथा—“नार्तिच्छिन्नं नार्तिभिरनुभयोर्लक्षणात्त्वत्तम् । विषमं वृत्तमत्र यत् तत् क्षतं त्वमिति निर्दिशेत् ॥” (सु० वि० २ अ०) इति । अमाकृतिविषयत्वादष्टविधो निश्चितो न दोषः ॥८०॥

कोष्ठभेदो द्विधा प्रोक्त इति ।—एकः क्षिप्रान्तः अपरो निःसृतान्तक इति । अत्र कोष्ठगद्वेदीदरमात्रमेव गृह्यते न तु पक्षमाशयादिसंज्ञः ॥८१॥

अस्थिभङ्ग इति ।—अस्थिभङ्गपर्यायवाचको भग्न इत्यत्र कश्चित्, न तु भग्नशब्दोऽष्टसङ्ख्यायामिह गणितः, ते तु पिष्टविदारितादयोऽष्टौ गणिताः । अग्रिमेषु तु भग्न द्विविधं काण्डमन्त्रिभेदात् ; यदुक्तं—“भग्नं समानात् विवक्षितं इति । काण्डे च सत्त्वावपि तत्र सन्त्यौ । चाप्यष्टविधविधित्वेति तस्य तिर्यग्गतं चित्रमधश्च पृष्ठं च ॥” (री० वि० भग्न०) । अत्र तु + यद्विदारितोर्हंगो द्वौ भेदावधिकौ लिखितौ तद्व्यापारसंवादात् न दोषः, यतः अधःक्षितवदूर्ध्वक्षितभ्याम्यभिधाने प्राप्तेऽनुक्तमनोर्ध्वक्षिमाभिधानं, तेनानोर्ध्वः पृथक् दर्शितः ; यदुक्तम्—“अधःक्षितोर्ध्वगावेतौ

* एके अवकृष्टप्रविलम्बितयोः इयोरिव क्षतमिति तावदा इत्यादि पाठकल्पनं कथञ्चित् सङ्गच्छते । अत्रेदं बोद्धव्यं—सौश्रुतचतस्रणो यथा वाम्भटेन अवकृष्टप्रविलम्बित इति नामद्वयेन पठितः, तथा क्षिप्रवर्णोऽपि क्षिप्रनिपातित इति नामभ्यां पठितः, “गात्रस्य पातनं तद्वि । कृष्णमित्यभिधीयते” इति क्षिप्रलक्षणात् ; एवञ्च षड्विधः सद्योत्रण इति सुश्रुतान्त्या अष्टविधः सद्योत्रण इति वाम्भटवचनस्य ऐक्यं सम्पद्यते । वाम्भटीकं क्षिप्रवर्णयोः प्रत्येकं भेदद्वयं सामान्यविशेषभावेन समर्थनीयं, सुश्रुतेन तु सामान्यत एकेक एव भेदो गृहीत इति ।

+ विदारितोर्हंगो द्वौ अधिकौ इति यत् टीकाकारेणोक्तं, तत्र ह्ययम्, उभयोरेव सुश्रुतेन भिन्नताया गृहीतत्वात् । तेन हि विदारितः काण्डभग्नो पातितताया पठितः । रोगविनिश्चयेऽपि “क्षिप्रं द्विधा” इति काण्डभग्नोक्तस्य

विवर्तितस्य विश्विष्टस्थित्यैकस्मिन्स्वधोगतः ॥

ऊर्ध्वगः सन्निभग्नश्च—”

॥८२॥

तुल्यवचनमत्रो” इत्यादि । विदारितो नाम भग्नस्थित्यभङ्गेनायं प्रतिपादितत्वात्
अत्रापि न्यायः । * सुश्रुतेनाप्ययमेव संज्ञान्तरेण कथितः , यदुक्तं—“तद्व्याख्योनि
नम्यन् भज्यते नमस्कारं च । कपाद्यासि विभिन्नेन स्फुटनि कथकानि च ॥”
(सु० नि० १५ अ०) इति । अत्र अकारवद्व्याख्येनापि स्फुटानि इत्याभिप्रायः ;
यतोऽख्योनि पञ्चविधातु भवन्ति तद्वचनलक्षकवचनकपाद्यकथकभेदात् ; अत एव
स्फुटितमिति भग्न सुश्रुतेनोक्तम् । अर्थात्तुपिष्टविदारितादोनामपि विवरणमाह—
सन्निभमयतः शोधो वेदवादिष्वपि पितृमन्त्रः । विदारित इति—+ इथाः सम्यस्थीरति-
क्रान्ता वेदना च । विवर्तित इति—एकमन्त्रे पात्राप्रगमवान् विषमाकृता वेदना
च । विश्विष्ट इति—मनाक् सन्निविष्टैः निषिञ्जतामात्रं पात्रकृताशोधो च । त्र्येक्-
क्षिप्त इति—एकं मन्त्रस्थि सन्निष्ठानं व्यक्ता त्र्येक् धातु तथा तीव्रपीडाः स्युः ।
अधंगत इति—वक्ष्यमाणोर्ध्वगस्तथा, तस्मिन्निधंगमनमिति विशेषः । ऊर्ध्वग इति—
विषमा दृगव्यस्थीरतिचित्तत्वात्, तेन एकास्थिविक्रियया उभयास्थिविक्रियया वा
टीकायां शीकण्डदशेन “छिन्न द्विवृति एकमस्याविदीपं बहुविदीपमन्यतु, एकं
विदीपे संलग्नम् अपरं विदीपे द्विधाभूतम् ; अपरस्तु विपुलैकविद्वरणमित्याह ।
सुश्रुते एतत् पाटवमत्रम्” इत्यनेनोक्तम् । ऊर्ध्वगश्च सुश्रुतमाधवाभ्याम् अति-
क्षिप्तनाम्ना अभिहितः । अत्र मधुकोषविज्ञातः,—“अध्वक्षिप्तवत् ऊर्ध्वे क्षिप्तस्यापि
क्षिप्तधाने प्राप्ते अर्थात्तुपिष्टविदारितात्” इति ।

* विदारितभग्न साधयितुं “सुश्रुतेनाप्ययमेव” इत्यादिना यदुक्तं तद्वि न
मनोरमं, यतः तद्व्याख्येन पञ्चविधानामस्यां नमनादिरूपं भग्नविशेषं दर्शयितुं
सुश्रुतेन स्मार्तोऽयं नवद्वयः । विदारितस्य साधनायम् उक्तश्लोकः प्रमाणत्वेन
नमनादकस्यापि अस्थिभङ्गसङ्ख्याया गणनमुचितम् । किञ्च विदारितस्य संज्ञान्तर-
मपि उक्तश्लोके किमपि नास्ति । विदारितस्तु हादशविधास्थिभग्नान्तर्गतः पाटवः
इति प्रागेव प्रदर्शितम् इति ।

+ लक्षणमेतत् सुश्रुतेन अतिक्षिप्तस्यैव उक्तम् । अपरञ्च टीकाकारेणानेन
“विदारितो नाम भग्नश्च अस्थिभङ्गेन” इत्यादिना प्रागेव अस्थिभङ्गाकर्मत एव
विदारित इति प्रतिपादितम्, अत्र पुनः सन्निभग्रे विदारित उक्त इति सुधीभि-
र्विचार्यम् ।

चतुर्विधाग्निदग्धव्रणानां विवरणम् ।—

“—वर्जितदग्धश्चतुर्विधः ।

पुष्टोऽतिदग्धो दुर्दग्धः सम्यग्दग्धः प्रकीर्तितः ॥८३॥

पञ्चनाडीव्रणानां विवरणम् ।—

नाड्यः पञ्च समाख्याता वात-पित्त-कफैस्त्रिधा ।

त्रिदोषैरपि शब्देन—”

॥८४॥

द्वयोऽप्यस्थीः परस्परगतिक्रमणा दूरगमनं वेत्यर्थः । * सन्धिभग्न इति—द्वयोः अस्थीः सन्धानं सन्धिः, सन्धेस्तु विशेषः सन्धिभग्नः कथितः । ननु कथं सन्धिसुक्तं भग्नमुच्यते ? अस्था हि भङ्गी युक्तः ; उच्यते—आस्थाविशेषोऽत्र भग्नोऽभिप्रेतः, यतः आस्थि-सन्ध्याः प्रथग्भावात्, तेन काण्डभग्नं सन्धिभग्नश्चाग्निवेशं पूर्वं द्विधा प्रतिपादितम् ; यदुक्तं—“षडान्यष्टादशमेतेन सन्धिविशेष उच्यते । काण्डभग्नो दादशभिर्भेदैः कर्कटकादिभिः ॥” इत्यादि । अत्र काण्डभग्नोऽस्थिभग्नः, तस्य दादशभेदाः सन्धि-भग्नान्भेदा वाड्व्या इति न दोषः ॥८२॥

वर्जितदग्ध इति ।—अग्निदग्धश्चतुर्विधश्चतुःप्रकारः ; ते के प्रकारा इत्याह, पुष्ट इत्यादि ।—यो विवरणमात्रमात्रं पूर्यते स पुष्टः । यत्र मासावलम्बनं ग्राहविशेषः त्रिरात्राद्युसस्यस्थित्यापादनं ज्वरदाहपपासामूर्च्छाद्योपद्रवा भवन्ति सोऽतिदग्धः । यत्रोतिष्ठति स्फोटकोव्रदाहवेदनायिराक्षोपशम्यान्त स दुर्दग्धः । सम्यक् दग्ध इति—अनवगाहं तालवणं सुसंस्थित इति ॥८३॥

अथ नाडीमङ्गला, नाड्य इति ।—नाड्येति—गभीरगतिः, पुष्ट्यातिदूरप्रवेशनात् गतिरिष्यते, नाडाव यदुक्तिं सा नाडी इत्युच्यते, अन्तःपुष्टिरं नालं नाडी, तेन लोके “सरङ्गा”शब्दवाच्यो व्रणविशेषः, तथा हि—“शीफ न पक्वमिति पक्व-

* भग्नस्तु सामान्यतो द्विविधः, काण्डभग्नः सन्धिभग्नश्च, तत्र काण्डभग्नः आस्थि-भग्नः, स च दादशविधः, सन्धिभग्नश्च पिष्टादिरूपः षड्विधः, न तु सन्धिभग्नः षड्विधात्तर्गतभग्नविशेषः सुश्रुतेनोक्तः, एवञ्च सन्धिभग्न इत्यस्य आस्थिभग्नभेदे नञ्चनं नोचितम् । आस्थिभग्नः भग्नः अष्टधा प्रोक्तः, सन्धिभग्ननामा भग्नश्च पिष्टादिरूपः, एवमन्वये कृते कथयितुं सङ्गतिः स्यात्, परन्तु विटारितस्य सन्धिभग्नभेदे अन्त-र्भावात् सप्तविधश्च सन्धिभग्नो भवति ; अपरञ्च आस्थिभग्नः दादशधा सुश्रुते, अत्र तु अष्टधा एतत् वैषम्यद्वयमायाति इति ।

अष्टभगन्दराणां विवरणम् ।—

“—तथाऽष्टौ स्युर्भगन्दराः ।

शतपोनस्तु पञ्चनादुष्ट्रयीवश्च पित्ततः ॥८५॥

परिस्रावी कफाज्ज्ञेयः ऋजुर्वात-कफोद्भवः ।

परिचेषी मरुत्पित्तादर्शजः कफ-पित्ततः ॥

आगन्तुजातस्योन्मार्गी शङ्कावर्त्तस्त्रिदोषजः ॥८६॥

मुपैचते यो यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः । अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदाय्य तस्य स्थानानि पूर्वविद्धतानि ततः स पूयः ॥ तस्यातिमात्रगमनाद्वातरिष्यते तु नाडोव यद्वदति तेन मता तु नाडो ॥” (सु० नि० १० अ०) इति । पञ्च समाख्यातात— पञ्चप्रकाराः । वातपित्तकफैस्त्रिधा त्रिदोषैरपि शल्येनति—वातेन पित्तेन कफेन चयो भेदाः । त्रिदोषैरिति—मिलितदोषवयेण चतुर्थः । शल्येनति—आगन्तुर्गमितः पञ्चभो भेदः इति । शल्यनिमित्तलक्षणञ्च यथा—“नष्टं कश्चिदनुमार्गमुदीरितेषु स्थानेषु शल्यमचिरं गतिं करोति । सा फेनिलं मथितमुष्णमसृग्बिनिशं स्नावं करोति सदृसा सदृजा च नित्यम् ॥” (रो० वि० नाडोव्रण०) इति ॥ ८४ ॥

तथाऽष्टौविति ।—गुदवस्तिभगदेशदारणात् भगन्दरः, भगशब्दो गुदाद्युपलक्षणम् ; भाजिऽयुक्तं—“भगं परि समन्ताच्च गुदं वस्ति तथैव च । भगवद्द्वारयेत् यस्मात्तस्मान् ज्ञेयो भगन्दरः ॥” इति । अष्टौविति—अष्टौशङ्काः स्युः, तास्तु शतपोनश्च-प्रभृतयः । शतपोनकतुल्यत्वात् शतपोनकः, स तु वातप्रायः, शतपोनश्चाल्लिका इति लोके, मरुत्संधारा इत्यन्ये । उष्ट्रयीव इति—पिडकावस्थागतगलवक्त्रेनादुष्ट्रयीवा-कारत्वं, तेनोष्ट्रयीवमंशा, अथत्वात् पित्तबहुलः । परिस्रावयोगात् परिस्रावी कण्डुमान् भवति, स च कफप्रायः । ऋजुर्वातकफोद्भव इति—वातकफलक्षणाभ्यां युक्तः ऋजुः । परिचेषी मरुत्पित्तादिति—वातपित्तलक्षणाभ्यां युक्तः ; परिचेषीति—गुदं परि समन्तात् प्रसरणशैलः प्रायेण इति भावः । अर्शजमाह, अर्शजः कफपित्ततः इति—कफपित्तचिह्नाभ्यां मिलितः । अर्शज इति—अर्शभगन्दरः इति, तत यथा—“कफपित्ते तु पूर्वलिं दुर्गामाप्रश्च कृष्यतः । अर्शमूले ततः शोथः कण्डूडाहादिमान् भवेत् ॥ स शीघ्रं पक्वभिन्नोऽयं क्रोदयन् मुञ्चमर्शसः । स्त्रवणजसं गतिभिरथमर्शभगन्दरः ॥” (बा० उ० २८अ०) इति । आगन्तुजातस्योन्मार्गीति—आगन्तुजः प्रहारादिजनितो भगन्दर उन्मार्गिसंज्ञो भवति, उन्मार्गेण क्रमिकृतमार्गेण

पञ्चापदंशानां विवरणम् ।

मेद्रे पञ्चोपदंशः स्युर्वात-पित्त-कफैस्त्रिधा ।

सन्निपाताच्च रक्ताच्च—”

॥८७॥

पुरीषादिगमनात् । शङ्कावर्त्त इति—शङ्कावर्त्तो नाम भगन्दरस्त्रिदोषजानतो ज्ञेयः शम्बूकावर्त्तवत् त्रयविशेषः, पूर्णनद्याः “शम्बूकावर्त्तवत् आवर्त्तेन वेदना दोषगति-विशेषाद्भवति ; तथा च भोगः,—“नदीनां परिपूर्णानां शम्बूकावर्त्तका यथा । समुत्तिष्ठन्ति वेगेन तोयवेगममोरिताः ॥” इति । ननु साधवेन भगन्दरः पञ्चविध उक्तः ; तथा हि—“गुदस्य द्वाङ्गुली क्षेपे पार्श्वतः पिडकाऽर्त्तकृत । भिन्ना भगन्दरी त्रयः स च पञ्चविधो मतः ॥” (री० वि० भगन्दर०) इति ; तत कथमष्टविधः ? उच्यते, साधवानदाने तु त्रयः संसर्गभेदाः शतपानकादौना दाषलक्षणदंशनात् तत्त्वैवान्तर्भाव्याः, अन्यत्र प्रतिपादितमिन्नलक्षणत्वात् त्रिचकत्वात् पृथक् दार्शनी न दोषः, यथाऽर्गोभगन्दरं प्रतिपादितत्वात् (?) ॥ ८५८६ ॥

मेद्रे पञ्चापदंशः स्युरिति—उपदंशमंश कटा बाहुन्या त्रयविशेषत्वेन, मेद्रे लिङ्गे पञ्चप्रकारो भवति, यदुक्तमन्यथापि—“इत्थाभिघातात्तद्वदन्तपातादघातना-दल्पपसेवनाद्वा । योनिप्रदोषाच्च भवन्ति त्रिमे पञ्चोपदंश विविधापचारैः ॥” (री० वि० उपदंश०) इति । पञ्चप्रकारा अन्य सुगमाः । चकारात् लिङ्गे लिङ्ग-वर्त्तिरिति भेदोऽत्र ज्ञातव्यः ; यदुक्तम्—“चक्षुरेतिव सङ्घातेरुपर्युपरिसंस्थितेः । क्रमेण लायते वर्त्तित्वात्तद्वृद्धिशिखोपमा ॥ कोवस्याभ्यन्तरे सन्धौ सर्वसन्धिगताऽपि वा । लिङ्ग-वर्त्तिरिति ख्याता लङ्कार्थ इति आपरे ॥” (री० वि० उपदंश०) । अत्राचार्येणायमाप-वन्त्यमाणशूकदोषेषु पाठितो न दोषः, एकस्थानगतसाधव्यात् । यद्यपि अभिघातयते मेद्रेने उपदंशः आगन्तुः षष्ठः सन्धौ, तथाऽपि तस्य * दोषलिङ्गव्युत्क्रान्ततया दोषजेष्वन्तर्भावः ; अत एवाह कश्चित्—“वेगनिघट्टदीर्घातिखुरस्पर्शविघट्टनैः । दीषा दृष्टा गता गुह्यं तथोर्विशितिरामयान् ॥” (बा० उ० ३३५०) इत्यादि । तथोर्विशिति-रित्यनेन पञ्चापदंश दश चाष्टौ च शूकजा इत्यर्थः । गुह्यशब्देनात्र स्त्रीषामुपदंश-सम्भवः क्विदिति ; यतः—“रुजादाहार्त्तिवह्नाष्टपातोदसमन्विताः । स्त्रीषां पुंसाञ्च जाग्रते उपदंशाः सुदारुणाः ॥” इति पाठः प्रायेण अनार्थ आहुः ॥८७॥

* “दोषत्रिगुणतया” इति मधुकोषपाठः शुक्तः, व्युत्क्रान्तशब्देन अतिक्रान्त-विपरीताद्यर्थकत्वात् पाठोऽयमसङ्गतः ।

चतुर्विंशत्युक्तदोषाणां विवरणम् ।—

“—मद्रे शूकामयास्तथा ।

चतुर्विंशतिराख्याता लिङ्गाश्या ग्रथितं तथा ॥८८॥

निवृत्तमत्रमन्यश्च मृदितं शतपोनकः ।

अष्टौलिका सर्षपिका त्वक्पाकश्चावपाटिका ॥८९॥

मद्रे शूकामयास्तयेति ।—तथेति—लिङ्गसमानव्यानत्वात् शूकामयाः शूकजाः व्याधयः कथिताः । शूको जलशूकः, स तु सविषः जलजन्तुः जलनलोद्भूतो जीवविशेष इत्यर्थः, तत्प्रधानो रोग इति । यदा—लिङ्गवद्भौ वात्यायनादिशास्त्रोक्तो योगः शूक उच्यते, तस्य व्यानत्वात् लिङ्गवद्भौ अन्यऽपि यागाः शूकाः कथ्यन्ते, तेषां यो विकारस्तस्य शूककारणत्वात् शूकदोषजा व्याधय इत्यामन्त्रावः । चतुर्विंशतिराख्याता इति—तत्र लिङ्गाशं इत्येको भेदः उपदंशेषु दाशतः । अष्टादशभेदा माधवेन लिखिताः ; तद्वयथा—“अक्रमान्कफसो ब्रह्म योऽभवाच्छ्रुतं मूढवी । व्याधयस्तस्य जायन्ते दश चाष्टौ च शूकजाः ॥” (री० वि० शूकदोष०) इति । अवशेषाः पञ्चान्यत्र सुद्रोर्गेषु पाठिताः । ते के ? निवृत्तावपाटिका निरुद्धमणि-निरुद्धप्रकाश परिवर्तकाश्चेति, मद्रस्थानसम्भवत्वादत्रापि लिखिता न दोषाः । एवं चतुर्विंशतः शूकदोषाः कथिताः । एतषां विवरणं केषाञ्चित् ज्ञापनार्थं लिख्यते, यथा—अत्र लिङ्गाशंसी लक्षणमुपदंशेषु दर्शितमेव । यथितमिति—“शूकेयंत् पूरितं शस्त्रं यथितं नाम तत् कफात्” (री० वि० शूकदोष०) । निवृत्तमिति—उपस्थवर्मपरिवर्तनादियुक्तं निवृत्तम्, यदुक्तं—“विमर्दनादिदृष्टेन वायुना चर्म मद्रजम् । निवर्तते सरुगदाहं कश्चित् पाकश्च गच्छति ॥ पिण्डितं यथितं चर्म तत्र प्रजम्बमधी मण्डे । निवृत्तसंज्ञं शूकफं कण्डूकाठित्यवत् तत ॥” (का० उ० ३३ अ०) इति । अवमन्य इति—“दोर्वा बह्मश्च पिठका दीर्यन्ते मध्यतस्तु याः । सोऽवमन्यः कफासृग्भां वेदनारोम-हर्षकृत् ॥” (सु० नि० १४ अ०) । मृदितमिति—“मृदितं पीडितं यत् संरज्य वात-कोपतः” (सु० नि० १४ अ०) । शतपोनक इति—“छिद्रेरणमुखैलिङ्गं चितं यस्य समन्ततः । वातशीघ्रतजो व्याधिः स ज्ञेयः शतपोनकः ॥” (री० वि० शूकदोष०) इति । अष्टौलिकेति—“काठना विषमैर्भुषेर्वायुनाऽष्टौलिका भवेत्” (री० वि० शूकदोष०) इति । सर्षपिकेति—“गौरसर्षपसंस्थाना शूकदुर्भुषहेतुका । पटका * शसवाताया ज्ञेया सर्षपिका तु सा ॥” (री० वि० शूकदोष०) । त्वक्पाक

* सुसुतवाग्भट्टयाः “कफरक्ताभ्याम्” इति पाठः ।

मांसपाकः स्पृशेद्दानि निरुद्धमणिरुत्तमा ।

मांसार्बुदं पुष्करिका सम्मूढपिडकाऽलजी ॥८०॥

इति—* “वातपित्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको व्वरदाहवान्” (री० वि० शूकदोष०) । अव-
पाटिकेति—“यस्यावपाट्यते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम् । + सकण्डुः कठिना वाऽपि
सैव श्लेष्मसमुत्थिता ॥” (सु० नि० १३५०) । मांसपाक इति—“श्रीयन्ते यस्य मांसानि
यस्य सशोश्च वेदनाः । विद्यात्तं मांसपाकान्तु सर्वदोषकृतं भिषक् ॥” (सु० नि०
१४५०) । स्पृशेद्दानि रिति—“स्पृशेद्दानिं तु जगयेच्छोणितं शुकदूषितम्” (री० वि०
शूकदोष०) । निरुद्धमणिरिति—अल्पमृद्वच्छिद्रत्वेन निरुद्धमणीति ; यदुक्तं—“वातेन
दूषत चर्म मणौ सक्तं रुण्डि चत् । स्तोता मृतं ततोऽभ्यात मन्दधारमवेदनम् ॥
भर्षाविकाशरोधश्च सानिरुद्धमणिर्गदः ॥” (बा० उ० ३३५०) इति । उत्तमेति—“मुद्ग-
माषोपमा रक्ता रक्तापिपाडाश्च च या । व्याधिरर्षोत्तमा नाम शूकाजार्णनिमित्ततः ॥”
(री० वि० शूकदोष०) इति । मांसार्बुदमिति—“मांसदोषेण जानीयादर्बुदं मांस-
सम्भवम्” (सु० नि० १४५०) । पुष्करिकेति—“पिडका पिडकाभ्यासा पित्तशोणित-
सम्भवा । पद्मशर्णिकेनंभ्याना ज्ञेया पुष्करिकेति सा ॥” (री० वि० शूकदोष०) ।
सम्मूढपिडकेति—“पाण्णभ्यां भृगुसम्मूढे सम्मूढपिडका भवेत्” (सु० नि० १४५०) ।
अलजीति—“तुल्यजां तुल्यजीं विद्यात् यथाभोक्तां विचक्षणः” (री० वि० शूकदोष०) ।

* सुश्रुतवाग्भटयोः “पित्तरक्तकृतः” इति पाठः ।

+ “सकण्डुः कठिना—”इत्यादि यस्य सुश्रुतमाधवाभ्या परिवर्त्तिकायाः
लक्षणत्वेन पठितत्वात् पाठोऽयं भ्रान्तः ; तथा च—“मर्दनात् पीडनात् वाऽपि
तथैवाऽप्यभिघाततः । मेदृचर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरः ॥ तदा वातोपसृष्टन्तु चर्म
प्रतिनिवर्त्तते । मणेरधक्षात् कोषश्च यन्मिरूपेण लम्बते ॥ सर्वेदनः सदाहश्च पाकश्च
व्रजति क्वचित् । मासतागन्तुसम्भूता विद्यात्ता परिवर्त्तिका ॥ सकण्डुः कठिना
चैव सैव श्लेष्मसमुत्थिता ॥” (सु० नि० १३५०) इति । अवपाटिकायाः लक्षणन्तु
—“अल्पीयस्त्रा यदा हृषीत बलात् गच्छेत् स्थिरं नरः । हृषाभिघाता-
दथवा चर्मयद्दर्भिते बलात् ॥ मर्दनात् पीडनात् वाऽपि शुकवेगविघातवः ।
यस्यावपाट्यते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम् ॥” (सु० नि० १३५०) इति
द्रष्टव्यम् ।

रक्तावटं विदधिष कुम्भोका तिलकालकः ।

निरुद्धप्रकशः प्रोक्तस्तथैव परिवर्त्तिका ॥८१॥

अष्टादशकुष्ठानां विवरणम् ।--

कुष्ठान्यष्टादशोक्तानि वातात् कापालिकं भवेत् ।

पित्तेनौडुम्बरं प्रोक्तं कफान्मण्डलचर्चिके ॥

रक्तावटमिति—“कृष्णैः स्फोटैः * सरक्ताभिः पिडकाभिर्निर्णीतम् । यस्य वक्त्रिद्वय-
शोथं ज्ञेयं तच्छोणितार्वदम् ॥” (री० वि० शूकटा०) इति । विदधिरिति—“विदधिं
साग्रपातेन यद्योक्तमभिर्नादंशत्” (सु० नि० १४अ०) इति । कृष्णिकेति—“कृष्णिका
रक्तपित्ताद्यां जाल्पवाप्यागमाऽशुभा” (सु० नि० १४अ०) । तिलकालक इति—
“कृष्णानां चवाप्यथवा शूकानां सविषाणं च । पाततानि पचन्त्याशु मेदुं निरव-
शेषतः ॥ कालानि भूत्वा मानानां शोथ्यन्ते यस्य देहिनः । सग्रिपातसमुत्थास्तु तान्
विद्यात्तिलकालकान् ॥” (री० वि० शूकटा०) । निरुद्धप्रकश इति—“वातोपसृष्टं
मेदुं वै चर्मं संश्रुते मणिम् । मणिरभोऽयनइस्तु मूत्रस्त्रोता कण्डि च ॥ निरुद्धप्रकशं
तस्मिन् मन्दधारमवेदनम् । मृतं प्रवर्त्तते जलोर्मणिर्विजयते न च ॥ निरुद्धप्रकशं विद्यात्
सहजं वातसम्भवम् ॥” (री० वि० शूकटा०) । परिवर्त्तिकेति—“मणिरधस्तात् कोषश्च
यन्मिरुपेण लभ्यते । परिवर्त्तिका तु ता विद्यात् सहजा वातसम्भवाम् ॥” इति ॥८८—८१॥
कुष्ठानोल्यादः—कुष्ठमिति काठः सदा रोगविशेषत्वात्, तान्यष्टादशमन्द-

* “कृष्णैः स्फोटैः सरक्ताभिः” इत्यनेन सुश्रुते “सरागेरामतेः स्फोटैः” इत्यनेन
च वाग्भटे रक्तशब्दः स्फोटविशेषणत्वेन पाठितः न तु पिडकायाः ।

+ सुश्रुते एवं पाठः,—“मटेनान् पोडनाच्चापि तथैवाऽप्यभिघाततः । मद्रुचर्मं
यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरः ॥ तदा वातोपसृष्टत्वं चर्मं प्रातानवर्त्तते । मणिरधस्तात्
कोषश्च यान्मिरुपेण लभ्यते ॥ सर्वेदनः सदाद्वयपाकश्च व्रजति कृषित् । भारता-
गन्तुसम्भूतां विद्यात्तां परिवर्त्तिकाम् ॥” (“सहजा वातसम्भूता तां विद्यात् परिवर्त्ति-
काम्” इति रोगविनिश्चये पाठः) दृश्यते । अस्मिन् शूकामयविवरणे आचार्य-
णानेन निवृत्त-परिवर्त्तिकयोः निरुद्धमणि-निरुद्धप्रकशयोश्च पृथक् पृथक् गणनं कृतं,
किन्तु सुश्रुते या परिवर्त्तिका, वाग्भटे नैव निवृत्तः, सुश्रुते यः निरुद्धप्रकशः, वाग्भटे
स एव निरुद्धमणिनाम्ना पठितः । कथमाचार्य्यणानेन एवमभिन्नरूपयोर्द्वयोः पृथक्
यद्वयं कृतं तत् विचार्य्यमिति ।

मर्त्यत्तादृश्यजिह्व श्लेष्मवातादिपादिका ।

तथा मिधैककुष्ठञ्च किटिमञ्चालसं तथा ॥८३॥

कफपित्तात् पुनर्दद्रुः पामा विस्फोटकं तथा ।

महाकुष्ठं चर्मदलं पुण्डरीकं शतारुकम् ॥

त्रिदोषैः काकणं ज्ञेयम्—

॥८४॥

भिन्नानि ; तथा हि—“वातादयस्त्रयो दृष्टास्त्वयं मांसमन्व च । दूषयन्ति स
कुष्ठानां समर्का द्रव्यसङ्गृहः ॥ अतः कुष्ठानां जायन्ते सम चैकादशैव च ॥”
(च० चि० कुष्ठ०) इत्यादि । अष्टादशसङ्ख्या यथा—तत्र कृष्णारुणकपालाभं
कापालिकम् । लङ्घ्यरफलमदृशसौङ्ग्यरम् । मज्जनं श्वेतवर्तमृत्प्रमण्डलं मण्डल-
मिति । कण्डूदाह्यादयुक्तं विचर्चिकेति । कृष्णो गोलघ्नः, गवयः रुधिरात् प्रसिद्धः,
ताज्जहाकारभय्यागह्नामात । विपादिकेति—वैपादिकं, तत्र पाथिपादस्फटनं
तीव्रवेदना च । असममिति—श्वेतलोहितभमलावुकुसुमोपमं पृष्ठाद्रजो सुखतीति ।
किटिममिति—श्यावारुणं खरस्वर्गं कण्डूमञ्जात । अलसमिति—कण्डूभिः
मरागैर्गण्डैश्चितं, स्फोटचितमिष्यर्थः । दद्रुः च * शुभमण्डला पिडका सकण्डूरिति ।
पामेति—सावयुक्ताः पिडकाः कण्डूमयः सदाहायेति पामाः कथ्यन्ते । तन्त्वचः
+ तीव्रदाहैरुपेताः पाथौ कचं स्निग्धं च क्रोटकरा इति विस्फोटाः ।
महाकुष्ठाभात—शीघ्रमृत्तरीतरघात्वगाहन-बहुदोषजन्यत्व-क्रियाभ्युत्थयोगान्महा-
कुष्ठमभ्युत्थन । चर्मदलाभात—‡ मस्यशकलोपमं बहलं क्षीणचर्मवादत्यर्थः ।

* सुसुत दद्रुः अतसोऽकुसुमवर्णा ताम्रा वा, बाम्भट अतसोऽकुसुमवर्णा, तथा
चरकं रागवती इतिमावसुक्तम् । मधुकाष्ठं असिता असितेतरा च दद्रुरात्
दृश्यते । केवलं उद्गमेन सिता असिता च इति द्विवधा दद्रुवक्ता । चरकादपि दद्रोः
शुभमण्डलत्वं न निर्दिष्टम् इति ।

+ चरकबाम्भटमाधवेः श्यावारुणत्वं तनुल्लङ्घ्य विस्फोटस्य लक्षणेन निर्दिष्टम् ;
तीव्रदाहोपेतादिलक्षणान्तु कच्छा एव ; यदुक्तं—“सेव स्फोटेऽक्षीत्रदाहैरुपेता ज्ञेयाः
पाथ्याः कच्छूक्या स्निग्धौ ॥” इति ।

‡ लक्षणांसेतत् एककुष्ठस्य चर्मकुष्ठस्य च, न तु चर्मदलस्य ; तथा च—
“अस्वेदनं महावास्तु यन्मस्यशकलोपमम् । तदेककुष्ठं, चर्मस्थं बहलं हृत्तिचर्मवत् ॥
रक्तं सकण्डू सस्फोटं सवक् दलति चापि यत् । तच्चर्मदलं पाथ्यात् संस्पृशंसह-
मुच्यते ॥” (च० चि० कुष्ठ०) इति ।

त्रिविधाश्ववाणां विवरणम् ।—

“—तथाऽन्यत् श्वित्रसंज्ञकम् ।

तच्च वातेन पित्तेन श्लेष्मणा च त्रिधा भवेत् ॥८५॥

षष्टिचुद्ररोगाणां विवरणम् ।—

चुद्ररोगाः षष्टिसङ्ख्यास्तेष्व्वादौ शर्करावुदम् ।

इन्द्रहृद्वा पनसिका विहृताऽन्धालजौ तथा ॥८६॥

* पुण्डरीकमिति—श्वेतकमलपत्रोपममध्यं पर्यन्तरक्तं सोमेषमित्यर्थः । शतारुक्-
मिति—“रक्तं श्लेष्मं मदाहतिः शतारुः स्याद्वद्व्रणम्” (च० वि० कृ०)
इति । काकणमिति—काकणत्तिकामवर्णत्वेन मध्ये कणमन्ते रक्तम् + अपाकं तीव्र-
वेदनमिति ॥ ८२—८४ ॥

तथाऽन्यादात् ।—अश्वसंज्ञकमिति—श्वेतकुष्ठम्, अजितवर्णमिति लोके, तच्च
वाताददोषत्रयभेदेन विधा भवति ; यदुक्तं—“वातादृदारुणं पित्तात्तामं कमल
पत्रवत् । सदाहं रोमाविध्वास कफाच्छ्रुतं घनं गुरु ॥” (वा० नि० १४ अ०)
इति । तन्त्रान्तराश्वभेदः किलास इति प्रसिद्धः, “कुष्ठैकसम्भवं श्वित्रं किलासं
वाऽरुणं भवेत् । नादंष्टमपरिस्त्रावि विधातूद्भवसम्यग् ॥” (री० वि० कृ०)
इति । अपरं तु किलासमेव धात्वन्तराश्वितं सन्नान्तरं लभते इति वदन्ति ; यतः,
—‘अरुणं तप्तु विज्ञेय मासधातुसमाश्रितम् । मदाश्रितं भवेच्छ्रुतं दारुणं
रक्तसम्यग् ॥” (भाजुकि०) इति । तत् अश्व इति धामन्याचक्षते, व्रणजं दोषत्रय ;
यदुक्तं भोजे—“अश्वं तु द्विषधं विद्याद्वोषजं व्रणजं तथा । तव मिथ्योपचाराद्भि
व्रणस्य व्रणजं व्युत्तम् ॥ दोषजं हविर्धे प्राक्तेमात्मजं परजं तथा । परमस्कारसंस्पर्शात्
यत्तत् परजमव्यते ॥ तदात्मजं व्रणानोयात् यद्देहेष्वानलादिजम् ॥” इति ॥८५॥

चुद्ररोगा इत्यादि ।—चुद्रहेतुलक्षणचिकित्साना रोगाणां पारिशीष्यात् चुद्ररोगाः
कथिताः । ननु यदि चुद्रत्वमेषां हेतु लक्षण-चिकित्साऽन्यत्वेन, तर्हि रोगाणामाग्र-
रोहिणीप्रभृतीनां विदोषजत्वेन हेत्वादिबाहुल्यात् कथं चुद्रत्वम् ? नैवं, बाहुल्येन
तावत् कृत्स्नो गच्छन्तीतिवत् । किंवा अवान्तरभेदविरहत्वे चुद्रत्वं, येनात्र वक्तव्या-
नामजगलकादीनां न दोषदृष्ट्यादिजतभूरिसङ्ख्याभेदेन व्रणज्वादिबन्निर्देशः, किन्तु
प्रत्येकं काकसङ्ख्यायाऽभिधानं तेषामिति । अन्यत्वाद्—चुद्रशब्दोऽप्येवौ द्वे च वर्तते,

* पुण्डरीकं रक्तपद्मान्ति मधुकोषः ।

+ ‘सपाकम्’ इति कश्चित् पाठः ।

वराहदंष्ट्रो बल्लोक्तं कच्छपो तिलकालकः ।

गर्दभौ रकमा चैव यवप्रख्या विदारिका ॥८७॥

तेन यथाशयं सर्वत्र व्यवस्था दृश्यते । रौद्रे क्षुद्रग्रहो यथा—“क्षुद्रा मृगा यव
शान्ताश्चेकुरन्त्यैः समं मृगैः” इति । केचिन् क्षुद्राणां बालानां प्रायेण रोगाः
क्षुद्ररोगाः इति व्याख्यानयन्ति, एवमपि अजगज्जिह्वाऽद्विप्तनादीनामेव परिगृही
त लक्ष्येषाम् । षष्टिसङ्ख्या यथा—तच्च शर्करावृद्धादयो राजिकान्ताश्चतुस्त्रिंशत्,
अवारो व्यङ्गाः, अष्टौ विस्फोटाः, अतर्दशभेदा मसुरिका इति षष्टिसङ्ख्याः क्षुद्र-
रोगाः पृथ्यन्त । शर्करावृद्धाभिति—अथ वृद्धाः ; (१)—“दुर्गन्धि क्लिन्नमन्थं नानावर्णं
ततः शिराः । स्रवन्ति स्रवसा रक्तं तं विद्याच्छर्करावृद्धम् ॥” (१० वि० क्षुद्र०)
इति । अथच शर्करा भिन्नपठितत्वात् पृथग्गृहीता , यदुक्तं—“प्राप्य भासशिरास्त्रायुः
श्रेष्ठा मेदक्षयाऽनिलः । यस्य कुर्वन्त्यमौ भिन्नौ मधुसर्पिवंसानिभम् ॥ स्रवत्यास्त्राव-
भनिलः तव त्रिंशं गतः पुनः । मास विशीष्य यथिता शर्करां जनयेत् ततः ॥”
(१० वि० क्षुद्र०) इति ; अथ शर्करावृद्धश्च शर्करावस्थैव इत्येक एवायं
विकारः, तेन न सङ्ख्यातिरेकः । भोजेऽप्युक्तं—“तमेव भिन्नं दुर्गन्धं घृतमेदोनिभं
शिराः । स्रवन्ति स्रावमनिभं तदा व्याच्छर्करावृद्धम् ॥” इति । इन्द्रवृद्धात—मन्थं
पुष्करवत् पिडकाभिः समाचितेन्द्रवृद्धा कथिता । पनसिकेति—कर्णस्थान्तरं
शालूकवदुग्रकुत्रणविशेषः । भोजे कर्णस्थ समन्तत इति, तेन कर्णस्थ बहिराप
भवतोत्थाचक्षते ; यदुक्तं—“कफवातो प्रकुपितौ मासमाश्रित्य कर्णयोः । समन्ततः
परिप्लव्णं कुरुतः पिडका स्थिराम् ॥ विषमा दाहसंयुक्तां विद्यात् पनसिकान्
ताम् ॥” (भोजः) इति । विवृतेति—पित्तेनाधिकपाकाद्विहतमुखतया विवृतेति
संज्ञा , यदुक्तं—“विवृतास्या महादाहा पक्वाडुम्बरसन्निभाम् । सुमण्डला पित्तकृतां
विवृतानामिका विटः ॥” इति । अन्धालजौति—अन्धालजौ बह्विधैकराजता अन्तर्मुखो
स्त्रायुश्रिता च ; यदुक्तं—“कफानिलौ श्रितौ स्त्रायुं पिडकां परिमण्डलाम् । दुष्टौ
जनयताऽवक्ता मत्पूयामकण्डराम् । आमाडुम्बरसङ्काशा विद्यादन्धालजौ त ताम् ॥”
(भोजः) इति । वराहदंष्ट्र इति—शूकरदंष्ट्राकारत्वेन वराहदंष्ट्रो त्रयाविशेषः, स च
विस्फेलिङ्ग इति केचित् ; उक्तं—“सदाहो रक्तपथ्यस्त्वक्पाको तौत्रवेदनः । कण्डूमान्
स्वरकारी च न त्यात् शूकरदंष्ट्रकः ॥” (१० वि० क्षुद्र०) इति । बल्लोक्तमिति—
बल्लोक्तो त्रयाविशेषः, तेन बल्लोक्तवत् प्रचुराग्रखरत्वमुच्छ्रितत्वं दूरावगादमूलत्वञ्च प्रति-
पद्यते , तथा हि—“शोवासकक्षाकरपाददेशे सन्धौ गले वा त्रिभिरेव दोषैः । रात्र्यः
स बल्लोक्तवदक्रियाणां जातः क्रमेणैव गतः प्रवर्द्धम् ॥ सुखैरनेकैः स्मृतितीदवज्ञिर्विस्पर्-

कदरो मषकश्चैव नौलिका जालगर्दभः ।

इरिवेक्षी जतुमणिर्गुदभ्रंशोऽग्नरोहिणी ॥८८॥

अन सर्पति चोन्नतायै । बज्जोकमाहुर्भिषजो विकारं निष्पृथगीकं चिरज विशेषात् ॥”
 (१०० वि० चुद्र०) इति । कच्छपीति—मध्ये उन्नतत्वेन पर्यन्ते निम्नतया च
 कच्छापकारंशः ; यदुक्तं—“यन्यथः पञ्च वा षड् वा दारुणाः कच्छपीप्रताः ।
 कफानिलाभ्या पिङ्का श्रेया कच्छपिका बुधैः ॥” इति । तिलकालक इति—
 मोरुजानि । तिलसदृशानि तानि तिलकालकशब्दवाच्यानि कफस्य शोषणात् ; यदुक्तं—
 “कृष्णानि तिलमावाणि मोरुजानि समानि च । वातपित्तकफोद्रेकात्तान् विद्यात्
 तिलकालकान् ॥” (सु० नि० १३ अ०) इति । तन्नाम्नरे रक्तोद्रेकादपि सम्भवति ;
 यतः,—“माकृतः पित्तमादाय कफरक्तसमाश्रितः । चिनोति तिलमावाणि त्वचि
 ते तिलकालकाः ॥” इति । गर्दभीति—वर्तुलाकारत्वेनोन्नतत्वेन च पिङ्काविशेषो
 गर्दभीशब्दवाच्यः ; तथा हि—“मण्डल इत्यनुक्तं सरक्तं पिङ्कार्कचितम् । रुजाकरो
 गर्दभिका ता । वद्यादातापतजाम् ॥” (१०० वि० चुद्र०) इति । रक्तसा चेति—
 रक्तसा तु चान्न कुष्ठभेदेषु दर्शिता, चुद्रत्वादत्रापि लिखिता न दोषः ; तदयथा—
 “कृष्णान्ता या पिङ्का शरीरे संखावहोना रक्तसांशते सा” (सु० नि० ५५०) ।
 यवप्रस्थिति—यववन्मध्यं स्थूला अन्ते गन्धा पिङ्का यवप्रस्थेति कथिता ; यदुक्तं—
 “यवाकारा सुकठिना राशिता मांससञ्चिता । पिङ्का श्लेष्मावाभ्या यवप्रस्थेति सा
 मता ॥” (सु० नि० १३ अ०) इति । विदारिकेति—विदारिकान्दवहता वर्तुलाकारा
 या पिङ्का सा विदारिकाशब्दवाच्या, यदुक्तं—“विदारिकान्दवहता कक्षावहृष-
 सन्निधु । विदारिका भवेद्रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणा ॥” (१०० वि० चुद्र०) इति । कदर
 इति—कदरो बदरफलवदुन्नतः पादयोः पिङ्काविशेषः ; तथा हि—“शर्करोन्माश्रिते
 पादे चते वा कण्टकादिभिः । यन्यः कालवदुन्नतो जायते कदरं हि तत् ॥” (बा०
 उ० ११ अ०) इति । कदरं हलेऽपि भवति भोजेन पठितत्वात् ; यतः,—“हलयोः
 पादयोवापि गन्धोराजुगतं खरम् । मासकीलं जनयतः कुपितौ कफमाकृतौ ॥
 सशल्यानिष तं दंष्ट्रं मन्थते तेन पीडितः । शर्कराकदरं केचिन्मन्थन्ते वातकण्टकम् ॥”
 (भोजः) इति । मषक इति—माषकदुन्नतं कृष्ण यडवति स मषकसंज्ञ इति ;
 यदुक्तम्—“अवेदन स्थिरश्चैव यावन् गन्धे प्रहृश्यते । माषकत् कृष्णमुक्तं वातामषक-
 मादमेति ॥” (१०० वि० चुद्र०) इति । माषकमिति नामान्तरमलम् । भोजे
 न्मांसवि पाठात् कीमलं कथितम् ; यतः,—“वातेरिते त्वचि यदा दूष्यते कफमेदसौ ।

सन्निवृद्धगुदः कोठः कुनखोऽनुग्रयो तथा ।

पद्मिनोकण्टकश्चिप्यमलसो मुखद्रुषिका ॥८८॥

अच्छं गृहं सर्वं च कुर्वतो भवकं वदेत् ॥” (भोजः) इति । नीलकेति—यतिनील-
त्वान्नीलिका, तेन कृष्णा नीला च कथिता ; यदुक्तं—“कृष्णमेवंगुणं गात्रे नीलिकां तां
विनिर्दिशेत्” (भोज०) इति ; अतः एवान्वय पठितात् न्यच्छाद्विषा, न्यच्छोऽन
व्यङ्गमेदोऽवगतव्यः, तेनेतेषां स्थानवर्णाकृतिविलक्षणत्वाद्वा एव भेदः ; तद्वशा—
“श्यावं व्यङ्गो मुखान्वितः” इत्यादि । “गात्रे कृष्णा तु नीलिका” इत्यादि । “रक्त-
पित्तान्वितो वायुस्त्वक्प्रदेशाश्रितो यदा । जनयन्मण्डलं कृष्णं श्यावं वा न्यच्छ-
मादिशेत् ॥” इति भोजवचनेन च परस्परभेदो दार्शितः । आलस्यगर्दभ इति—यः शोथो
विसर्पवत् सर्पति स आलस्यगर्दभश्च्यवाच्यः ; यतः,—“विसर्पवत् सर्पति यः शोथस्तनु-
पाकवान् । दाहज्वरकरः पित्तात् स ज्ञेयो आलस्यगर्दभः ॥” (री० वि० चूट०)
इति । दाहज्वरकारकत्वेन ज्वानागर्दभ इति नामान्तरम् । भोजोऽपि विसर्प
एवेति नामाव्ययः ; यदुक्तं—“पित्तात्कटास्त्रयो दोषा जनयन्ति त्वगाश्रिताः । श्यावं रक्तं
तनुं शोथमपाकं बहुवेदनम् ॥ विसर्पिण सुदाहश्च तृणाज्वरसमन्वितम् । विसर्पमाहस्यं
व्याधिमपरं आलस्यगर्दभम् ॥” (भोज०) इति । इरिवेज्ज्ञोति—अशरोभागगता
वत्तलाकारा या पिङ्गिका सा इरिवेज्ज्ञोतिश्च्यवाच्यः ; यदुक्तं—“पिङ्गिकासूतमाह्व्या
वतामुग्रजज्वराम् । सर्वात्मिका सर्वालङ्का जानीयादिरवेज्ज्ञिकाम् ॥” (री० वि०
चूट०) इति । अतुमणिरिति—अहजं रक्तं लक्ष्मोदयमण्डलश्च स हजत्वेन अतुमणिं
प्राहः ; तथा हि—“सममुखप्रनरज मण्डलं कफरक्तगम । स हजं लक्ष्मं चैकेषा
लक्ष्यो अतुमणिस्तु सः ॥” (री० वि० चूट०) इति । गुदभ्रम इति—यस्य गुदस्य
वाङ्निर्गमो भवति स गुदभ्रमश्च्यवाच्यः ; यदुक्तं—“प्रवाह्मणातिसाराभ्या निगच्छति
गुदं वाहः । रुच्यदुर्वेनदेहस्य तं गुदभ्रममादधेत् ॥” (सु० नि० १३५०) इति ।
अग्रिरोद्दिष्योति—कक्षभागेषु प्रदोषाङ्गारमग्निभाः स्फोटोः अग्रिरोद्दिष्योश्च्यवाच्यः ;
तथाक्तं—“पित्तरक्तोत्फटा दोषाः प्रदोषाङ्गारमग्निभाः । कक्षभागेषु कुर्वन्ति तीव्र-
दाहजज्वरान् ॥ सामावदारणान् स्फोटान् ये हन्युरनुपक्रमात् । पश्चाद्ग्राह्यादश्विवा
सा ज्ञेया वाङ्गोद्दिष्यो ॥” इति । सन्निवृद्धगुद इति—शूलदोषोक्तानिरुद्धमणि-निवृद्ध-
प्रकाशवदभावि चर्मसङ्कोचात् सन्निवृद्धगुदोऽभिहितः ; यदुक्तं—“वेगसम्भारणाशय-
विहितो गुदमश्रितः । निवृद्धमिह सङ्गोत्तः सूक्ष्माङ्गं करोति च ॥ मार्गस्थ सौक्ष्मात्
कृच्छ्रेण पुरीषं लक्ष्य गच्छति । सन्निवृद्धगुदं व्याधिर्मेमं विद्यात् सुदारणम् ॥” (सु०

तत्र चतुर्विधव्यङ्गानां विवरणम् ।—

“—तथा व्यङ्ग्यतुर्हा परिकीर्तितः ।

वातात् पित्तात् कफाद्रक्तादित्युक्तं व्यङ्ग्यलक्षणम् ॥१०१॥

प्रादुर्दृश्यकच्छूतां श्लेष्मरक्तप्रकोपणाम् ॥” (सु० नि० १३५०) इति । एषा च स्त्रीलोकादननीनतादुपनिदानविशेषात् प्रायो हृषणभावात्वाद्दृष्टिः कक्षोपयोगित्वाच्च कुष्ठोक्तकच्छूदीषाद्ग्राह्यम् । गन्ध इति ।—कक्षोक्तस्फोटसदृशा एकेव पिडका भवति स गन्ध इति प्रसिद्धः, यदुक्तम्—“एकामेतादृशीं दृष्ट्वा पिडकां स्फोटमग्निभाम् । त्वगतां पित्तकोपेन गन्धनः स्त्रा प्रचक्षते ॥” इति । पाषाणगर्दभ इति—इनुमन्विगती यः कठिनशीथः स पाषाणगर्दभश्चाद्यः ; तथा हि—“वातश्लेष्मसमुद्भूतः श्वश्रु-हनुमन्विजः । स्थिरो मन्दरुजः स्निग्धो ज्ञेयः पाषाणगर्दभः ॥” (रो० वि० लृट०) इति । राजिकेति—राजिकाकारपिडकानां सम्भवत्वेन राजिकाशब्दाच्चा, एषा * समूरिकाभेदाद्व्यैरन्यत्र प्रतिपादिता, तत्र कौद्रव इति नाम्ना प्रसिद्धा ; यथा—“कफवातादिसम्भूतः कौद्रवी नाम नामतः । लोको वदति पक्कावः (?) स च पाकं न गच्छति ॥” इत्यादि ॥ ८६—१०० ॥

तथेति ।—व्यङ्ग इति—मुखे प्रज्ञावं मण्डलाकारं यद्वति तत्र व्यङ्ग्यशब्दाच्च, मुखच्छाया इति लोके प्रसिद्धम् ; यदुक्तं—“कोषायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः । मुखमागत्य सङ्गमा मण्डलं विसृजत्यतः ॥ गौरुज तनुकं ग्रावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत् ॥” (सु० नि० १३५०) इति । अथ सरक्तेन वातादिदोषेण चतुःप्रकारो व्यङ्गः कथितः । यद्यपि सपित्तेन वायुना व्यङ्गं निर्दिष्टकथाऽप्यत्र कफरक्तावनुबन्धो द्रष्टव्यौ, यतः गौरुजत्वं कफेन विना न सम्भवति, श्लावन्वच + युक्तानुविद्धरक्तवणे, तेन सरक्तदोषकारण, तेन सर्वदोषोद्भवो व्यङ्ग इति तात्पर्यार्थः ॥ १०१ ॥

* राजिका योष्मपिडका इति ख्यात “चामाचि” इति लोके ; तथा च बाल्मटः,—“घ्नमस्वेदपरोत्तङ्गे पिडकाः सरुजो घनाः । राजिकावर्णसंख्याग-प्रमाणाः राजिकाङ्गयाः ॥” (बा० उ० ३१५०) इति । राजिका समूरिकाभेदः इति तु कुत्रापि तन्त्रे न दृश्यते इति ।

+ “श्लावः युक्तानुविद्धः कृष्णो वर्णः” इति मधुकोष-तत्त्वचन्द्रिकादिकाराः । “तेन सरक्तदोषकारणम्” इति पाठः न सङ्गतार्थकः ।

तत्र अष्टविस्फोटानां विवरणम् ।—

विस्फोटाः क्षुद्ररोगेषु तऽष्टधा परिकीर्त्तिताः ।

पृथक् दोषैस्त्रयो द्वन्द्वैस्त्रिविधः सममोऽसृजः ॥

अष्टमः सन्निपातेन—”

॥१०२॥

तत्र चतुर्दशमसूरिकाणां विवरणम् ।—

“—क्षुद्ररुक्षु मसूरिका ।

चतुर्दशप्रकारेण त्रिभिर्दोषैस्त्रिधा च सा ॥१०३॥

विस्फोटाः क्षुद्ररोगेष्वित्यादि ।—क्षुद्ररोगगणनाया व्यङ्गविस्फोटा अपि लिखिताः, प्रथमत्वे चिकित्सायैत्यात् ; तद्वयथा—“अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्तजा । कृच्छित् सर्वं वा देहे विस्फोटा इति ते स्मृताः ॥” (री० वि० विस्फोट०) इति सकलविस्फोटेषु रक्तपित्तयोरव्यभिचारित्वं सूचितम्, यदुक्तं भोजेन—“यदा रक्तञ्च पित्तञ्च बानेनानुगतं त्वच्च । अग्निदग्धनिभान् स्फोटान् कुरुतः सर्वदृग्गान् ॥” इति । अत एव माधवेभोक्तं यथा—“त्वचमाश्लिष्य ते रक्त-मांसास्थीनि पश्य च । घोरान् कुर्वन्ति विस्फोटान् सर्वान् ज्वरपुरसरान् ॥” (री० वि० विस्फोट०) इति, तत्राव विस्फोटा अष्टधा कथिताः, अष्टप्रकारत्वाच्च सुबोधम् ॥ १०२ ॥

क्षुद्ररुक्षु मसूरिकेत्यादि ।—क्षुद्ररोगाणां मसूराद्याकारत्वादत्रापि मसूरिका लिखिता, अथवा चिकित्सायै निमित्तं प्रतिपादिता न दोषः । मसूराकृतिः पिडका मसूरिका, लोके “शीतला” शब्दवाच्या ; यतः,—“मसूरकुसुमानाञ्च तुल्या तत्फलकोपमा । गात्रेषु बटने वाऽपि पितावज्ज्ञेया मसूरिका ॥” इति । पितावज्ज्ञेयत्वं रक्तपित्ताधिक्यं दर्शयति, तेन सर्वदोषप्रकोपत्वं ज्ञेयम्, यदुक्तं—“कटुस्रवणचार-त्रिकट्वाभ्यशनाग्नेः । दृष्टमिष्यावशाकाद्यैः प्रदृष्टैः पर्वणोदकेः ॥ क्रूरग्रहेष्वपि देशे दोषाः समुद्भवाः । अनयान् शरीरेऽस्मिन् दुष्टरक्तेन सङ्गताः ॥ मसूराकृतिसंस्थानाः पिडका स्युर्मसूरिकाः ॥” (री० वि० मसू०) इति । * मसूरोपलक्षितत्वादोषदृष्ट्याणां सम्मुख्येनाभिप्रेत्य तासां वर्णाकारान्तराण्युपलक्ष्यन्ति, यदुक्तं तत्रान्तरे—“पित्तं ज्ञायतमसृष्टं यदा दृश्यति त्वचम् । तदा करोति पिडकाः सर्वगात्रेषु देहिनाम् ॥ मसूरमुद्गमाणां तुल्याः कीचोपमाः कृच्छित् । प्रबालमदृशाः काश्चित् काश्चिज्जलू-फलोपमाः ॥ लोडनालनिभाः काश्चिदतसीफलसर्पत्रिभाः । मसूरिकास्तु ता ज्ञेयाः

* मसूरस्य उपलक्षणत्वात् इति पाठवत्त्वं सङ्गतम् ।

इन्द्रजा त्रिविधा प्रोक्ता सन्निपातेन सप्तमी ।

अष्टमी त्वग्गता ज्ञेया नवमी रक्तजा मता ॥ १०४ ॥

दशमी मांसजा ख्याता चतस्रोऽन्याश्च दुस्तराः ।

भेदोऽस्थिमज्जशुक्रस्थाः क्षुद्ररोगा इतोरिताः ॥ १०५ ॥

नवविंसर्पिणी विवरणम् ।—

विसर्परोगो नवधा वातपित्तकफैस्त्रिधा ।

त्रिधा स इन्द्रभेदेन सन्निपातेन सप्तमः ॥

अष्टमी वज्रिदाहेन नवमस्याभिघातजः ॥ १०६ ॥

पित्तरक्ताधिका वृधेः ॥” इति । तस्याश्चतुर्दशभेदानाङ्कः, चतुर्दशप्रकारिणेत्यादि ।—तत्र ढोषैः पृथक् द्वयो भेदाः, मिलितदोषद्वयेनापि त्रयः, सन्निपातेनैकः, सप्तधातुगतत्वेन सप्त भेदाः, एवं चतुर्दश भवन्ति । अष्टमी त्वग्गतेत्यत्र त्वक्शब्देन रसोऽभिधीयते, धातुगतप्रसावात् ; अत एवाङ्कः कश्चित्—“त्वयुक्तमांसभेदासि” इत्यादि । श्रद्धं सुगमम् । एवं षष्टिसङ्ख्याः क्षुद्ररोगाः ईरिताः कथिताः ॥ १०३—१०५ ॥

विसर्पेति ।—विसर्पण्यादिसर्पः, तेषां सर्वतो विविध वा विसर्पण्यादिति भावः ; यदुक्तं चरके—“विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः । परिसर्पोऽथवा नास्ती सर्वतः परिसर्पण्यात् ॥” (च० चि० वीसर्प०) इति । नवधेति—नवप्रकारः, ज्वेन वातजः, पित्तजः, कफजः, वातपित्तजः, वातश्लेष्मजः, श्लेष्मपित्तजः, सन्निपातजः, अग्निदाहजः, आघातज इति । ननु माधवेन सप्तविधो विसर्प उक्तः ; यथा—“खवद्यास्त्रकटूणादि-रुसेवादोषकोपतः । विसर्पः सप्तधा ज्ञेयः सर्वतः परिसर्पण्यात् ॥” (रो० वि० विसर्प०) इत्यादिना, ततः कश्चन नवधा प्रोक्तः ? उच्यते—माधवेन तु दोषकारणत्वात् चतस्रो विसर्पः पित्तजो दर्शितः ; तद्वदथा—“वायुहेतोः चतात क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन् । वीसर्पं सारुतः कुर्यात् कुलस्यसदृशेषितम् ॥ स्फोटैः शोफज्वररुजा-दाह्यान् व्यावशोषितम् ॥” (वा० नि० १३५०) इति । भोजोऽप्युक्तं—“शस्त्रप्रहारैस्तेभ्यस्तु व्याकटननखैरपि । अतो वाऽप्यथवा भग्नं बहुदोषस्य टेडिनः ॥ रक्तं पित्तञ्च कृपितं व्रणमाशु प्रपद्यते । कुरुतस्ते समेते तु व्रणशोघं सुदारुणम् ॥ आशितं तनुविस्फोटैः कण्ठैः पीतकसन्निभैः । पित्तविसर्पवज्रिङ्गं तस्य श्रद्धं विनिर्दिशेत् ॥” इति । तथा चरके त्वस्य अन्तर्जवाङ्ग-भेदेन प्रतिपादितत्वाच्च ; तथा हि—“मर्मोपघातात् सन्धोडादयानां विघटनान् । दृष्टान्तिशोभात् वेगानां विषमाणां प्रवर्तनात् ॥ विद्यात् विसर्पमन्तर्जमाशु चाप्रिवच-

एकैकोददंशोतपित्तयोः विवरणम् ।—

तथैकः श्लेष्मपित्ताभ्यामुददः परिकीर्तितः ।

वातपित्तेन चैकसु शोतपित्तामयः स्मृतः ॥ १०७ ॥

त्रिविधास्त्रपित्तानां विवरणम् ।—

अस्त्रपित्तं त्रिधा प्रोक्तं वातेन श्लेष्मणा तथा ।

तृतीयं श्लेष्मवाताभ्यां—

॥ १०८ ॥

अथान् । अतो विपर्ययात् बाह्यमन्यैर्विद्यात् स्वकक्षयोः ॥” (अ० वि० विसर्प०) इति । अग्निदाहोऽपि दोषकोपपञ्चगत्यादन्तर्गत एव ; यतः,—“अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जलोः प्रकृष्यति । ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याप्युदीर्यते ॥” (सु० सू० १२५०) इत्यादिनाऽत्र पित्तविसर्पान्तर्गतोऽग्निदाहविसर्पो बोध्यः । अथ तु गणनासङ्गत्वेन पृथक् दर्शिताविति न दोषः । तन्नाम्नरं हन्तृगविसर्पाणां नामान्तराणि प्रवदन्ति ; तद्वद्व्या—“वातपित्ताग्निरोसर्पः कश्चित् यन्निर्गच्छकः । कफवातात् पित्तकफत् कर्दमाख्यो भिन्नरश्मिः ॥” इति ॥ १०६ ॥

तथेति ।—तद्येथनेन दोषत्रयजन्यत्वमुक्तमनयोः ; यदुक्तं—“शोतमाकृतसंस्पृशान् प्रदृष्टौ कफनाकृतौ । पित्तं सङ्गं सम्भृगुं वहिरन्तर्विसर्पतः ॥” (रो० वि० शोतपित्त०) इत्यादिना ; अथ तु पित्तानुबन्धयोः कफवातयोराधिकाविशेषेण दर्शितो न दोषः ; यतः,—“वाताधिकं शोतपित्तमुददंस्तु कफाधिकः” (रो० वि० शोतपित्त०) इत्यादि । उददं एव शोतपित्तामयः प्रतिपादितः ; अनावाय्यं च गणनामात्रेणापि पृथक् लिखितः ; यदुक्तं—“वरटोददसंख्यानः शोषः सञ्जायते वहिः । सकण्डूकोदबहुलः कूर्दिज्वरविदाहवान् ॥ उददंभिति तं विद्याच्छोतपित्तमद्यापरे ॥” (रो० वि० शोतपित्त०) इति ॥ १०७ ॥

अस्त्रपित्तमिति ।—विदाहाद्यस्त्रगुणीदृक्तं पित्तमस्त्रपित्तमित्युच्यते, यतः विदाहाद्यस्त्रगुणं पित्तमस्त्रपित्तं, विदग्धमस्त्रासुपेतोऽद्यादिना तित्तास्त्रात्वात्वाच्च ; अत एवास्त्रपित्तं प्रथमं वातकफाद्यव्यदानुगती गौरवोद्धारकमोदित्वा ज्ञेयौ ; तथा हि—“अविपाककर्मोक्तेश्च तित्तास्त्रीङ्गारगौरवैः । हृत्कण्डशङ्कावर्षाभिश्चास्त्रपित्तं वदेद्विषक् ॥” (रो० वि० अस्त्र०) इति । केचिदस्त्रपित्तं मिलितं कफपित्ते सामान्य कर्तृत्वं व्यतिनित्याहुः ; “करपरचदाहमौर्ण्यं महतीमर्वाणि ज्वरेण कफपित्तम् । जगयति कण्डूमण्डपिक्वाग्रतनिचितमात्ररीगनिषयम् ॥” (रो० वि० अस्त्र०) इति

अष्टविधवातरक्तानां विवरणम् ।—

“—वातरक्तं तथाऽष्टधा ।

वाताधिक्येन पित्ताच्च कफाद्दोषत्रयेण च ॥

रक्ताधिक्येन दोषाणां द्वन्द्वेन त्रिविधः स्मृतः ॥ १०८ ॥

अश्लीतिवातरोगाणां विवरणम् ।—

अश्लीतिर्वातजा रोगाः कथ्यन्ते मुनिभाषिताः ।

श्लेष्मिन्मस्र प्रसिद्धम् । एके “यस्त्रपितं दिधा प्रोक्तमूर्धाधोभेदतत्तथा” इति पठन्ति व्याख्यायन्ति च ; तत्र “प्रयात्यधो वा विविधप्रकारम्” इत्यादिना कृतार्थत्वात् “वानं हरित्पीतकनीलकण्ठम्” इत्यादिवाक्श्लेषोक्तम् इति ॥ १०८ ॥

वातरक्तमिति ।—कूपितो वातः रक्तञ्च कूपितं वातरक्तमित्युच्यते, वातस्य प्राबल्यात् प्राधान्याच्च वातरक्तव्यपदेशः, न तु रक्तवातः ; यतः, एकैर्नैव स्वहेतुवृद्धेन वातेन विमानस्थं रक्तं दूषितम्, एवं रक्तं स्वहेतुवृद्धं असमानस्थं वातदूषितं न (?) । अरकेऽप्युक्तं—“वायुः प्रवृद्धा वृद्धेन रक्तमभिवर्ततः पांशुः । क्रुद्धः सन्दूषयेत् रक्तं तद्वज्रेण वातशोषितम् ॥” (अ० चि० वातरक्त०) इति । करपादगं रोगं न वातरक्तमाहुरेके, यतः,—“पादयोर्मूलमाध्याय कदाचिद्वक्ष्योरपि । आखोर्विषांश्च क्रुद्धं तद्देहमुपसर्पति ॥” (अ० चि० वातरक्त०) इति । तत् वातरक्तं अरकेण द्विविधमुक्तम् उत्तानगम्भीरभेदात् ; तदुक्तम्—“उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं वातशोषितम् । त्वङ्मासाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम् ॥” (अ० चि० वातरक्त०) इति । अष्टधा अष्टप्रकारः, तद्वयथा—वाताधिक्येनैको भेदः, आधिक्यमत्र रक्तदोषात् । पित्ताधिक्यात् द्वितीयः । कफादिति—कफाधिक्यात् तृतीयः । दोषत्रयेण चतुर्थः, सन्निपातेनेत्यर्थः । रक्ताधिक्येन पञ्चमः, एतच्चारम्भकरक्तादन्तान्तरं बोद्धव्यं, यतो रक्तमपि रक्तान्तरदूषकम् ; यदुक्तं टुटरक्तलक्षणे—“पित्तवदक्तेनातिदुष्टञ्च” (सु० नृ० १४७०) इति न्यायाच्चरितार्थः । दोषाणां द्वन्द्वेनेति—दोषाणां वातपित्तकफाणां द्वन्द्वेन द्विदोषमिलितेन नवो भेदा इत्यष्टधा पृथ्येते ॥ १०८ ॥

अश्लीतिर्वातजा रोगा इत्यादि ।—वातेन जनिता वातजा रोगाः ; यद्येवं तर्हि ज्वरादिषु व्याभचारः ; अन्यथा वात एव रोगः इति चेत्तर्हि स्वस्यापि प्रसङ्गः ; तथात् वातरोगाः किमिति प्रतिपादिताः ? उच्यते, अरके द्विविधा रोगा उक्ताः, आमान्वाजा नानात्मजाश्च ; तत्र सामान्यजा वातादिभिः समस्यैः व्यक्तेषां जन्ये, यथा

आक्षेपको हनुस्तम्भ ऊरुस्तम्भः शिरोग्रहः ॥ ११० ॥

वाङ्मायामोऽन्तरायामः पार्श्वशूलं कटिग्रहः ।

ज्वरादयः ; नागात्मना यं निश्चयैकदोषजनिताः , यथा आक्षेपकादयः , ये वातेनैव जन्वन्ते न स्वतन्त्रेण पित्तेन कफेन वा , तथा शोषशोषादयः पित्तेनैव जन्वन्ते, न कफेन न वातेन वा ; तथा तन्द्राट्प्रादयः कफेनैव जन्वन्ते, न वातेन न पित्तेनेति । यथा बल्यमाद्यवातविकारादीनां स्वऽपमेयान्यक्तं पूर्वकृपं, न तु ज्वरादिवत् विशिष्ट-
भयत् ; तदुक्तम्—“अन्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वकृपमिति स्मृतम् । आत्मकृपन्तु यत्
अन्यक्तमप्यो लज्जुना पुनः ॥” (अ० वि० वातव्याधि०) इत्यादिना ; एवमत्रापि न
दोषः । अशीतिसङ्ख्याया विवरणमाह, आक्षेपक इत्यादि—आक्षेपमात्राः क्षणा-
दाक्षेयः गावश्चालनम् इत्यर्थः स च हृदये कटस्थे गात्रे आक्षेपयतीत्यभिप्रायः ; यदुक्तं
—“यदा तु धमनी सर्वां, कृपितोऽभ्येति साकनः । तदाऽऽक्षेपव्याशु मुहुर्मुहुर्देहं
मुहुररः । मुहुर्मुहुर्लटाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतम् ॥” (सु० नि० १५०) इति ।
हनुस्तम्भः हनुग्रहः कायतः, स द्विविधः, विहतास्य, संहतास्यश्च इति ; यदुक्तं
—“कृपितो हनुमूलस्थः संसयित्वाऽनलो हनुः । करोति विहतास्यत्वमथवा
संहतास्यताम् ॥” (वा० नि० १५५०) इत्यादि । ऊरुस्तम्भ इति—कृपितो वात
ऊरुस्तम्भं करोतीत्युक्तम्भः कथितः ; तथा हि—“तदा कश्चाति तेनीह सस्यौ
शीलावचेतनौ । परकीयाविव गुरु स्यातामतिभृशश्चौ ॥” (वा० नि० १५५०)
इति । सुश्रुतेन वातस्य प्राधान्याद्वातवातव्याधौ पठितस्तेनावापि सङ्ग्रहः, अन्यत्र
विक्रमार्थेन पृथक् लिखितम् । शिरोग्रहः इति—शिरः सस्यमिव भवतीति
शिरोग्रहः । माधवेन तु रक्ताग्निवायुना शिरोग्रहः प्रतिपादितः ; यदाह—
* “रक्तमाग्निश्च पवन, कुर्यान्मूर्धधराः शिराः । रुधाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः
स्याच्छिरोग्रहः ॥” (वा० नि० १५५०) इति । एके शिरोग्रहस्याने + शिरःकुण्डल-
मिति पठन्ति ; तत्र कुण्डलमतःपवेद्यो वक्रश्च वा, धातूनामनेकार्थत्वात् ; तथा
हि—“शिरोनासास्त्रिजवृणा योशयाश्चापि कुण्डलम्” इति वचनात् । शिराग्रह
इत्यरे त्वाह, स तु शिराणां पूरणमियमे बल्यमाद्यत्वादवापि पुनरुक्तभयेन
जात्याभिः स्वीकृतः । वाङ्मायामोऽन्तरायाम इति—आशामो धनुर्वेदानमनम् ; यदुक्तं

* लक्षणमेतत् माधवेन शिराग्रहस्य लिखितं न तु शिरोग्रहस्य ।

+ “कुण्डलम्” इत्यत्र “कुण्डलम्” इति चरकादिसम्मतः पाठः ।

दण्डापतानकः खल्वी जिह्वास्तम्भस्तथाऽर्दितम् ॥१११॥

पक्षाघातः क्रीटुशीर्षो मन्वास्तम्भश्च पङ्कता ।

—“वाङ्माद्युपतानक्यो वाङ्माद्यमं करोति च । अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवम् । तदाऽप्याभ्यन्तराद्यमं कुर्वते मारुतो बली ॥” (सु० नि० १५०) इति । वाङ्माद्यमे पृष्ठेन नतम् अभ्यन्तराद्यमे क्रीडेन नतमिति । पार्श्वशूलमिति —कोटाश्रितवातः पार्श्वशूलं करोतीति “हेतुव्यानविशेषाच्च भवेद्रीगविशेषकत्” (च० चि० वातव्याधि०) इत्यादिश्रवणात् ; तथा हि—“तच्च क्रीडाश्रिते दृष्टे निगडो मृदवर्षलोः । ब्रह्मद्वेगगुल्फाश्रयः पार्श्वशूलश्च मारुते ॥” (च० चि० वातव्याधि०) इति । कटिशूल इति—कटौक्तम्भत्वेन वेदनाविशेषः, अर्थाप “हेतुव्यानविशेषाच्च भवेद्रीगविशेषकत्” (च० चि० वातव्याधि०) इत्यादिना श्रेयः । दण्डापतानक इति —यो दण्डवत् गात्रं क्षम्यते स च दण्डापतानकः, यदुक्तं चरके—“पार्श्वपादाग्रः-पृष्ठशीर्षोः क्षम्यति मारुतः । दण्डवत् क्षम्यगारम्व दण्डकः संऽनुपक्रमः ॥” (च० चि० वातव्याधि०) इति । क्षम्यगारम्वदण्डकः संऽनुपक्रमः । खल्वीति—पादगङ्गाप्रभृतिषु शूलं परिवर्तनता च भवतः सा खल्वीशब्दवाच्या ; यतः—“खल्वी तु पादगङ्गाद्विकरमूलारमोदनी” (च० चि० वातव्याधि०) इत्यादि । जिह्वास्तम्भ इति—यो वाग्वाङ्मोशिरामंस्थोऽन्नपानवाक्येष्वनौशता करोति तत्र जिह्वास्तम्भ इति संज्ञा, यदुक्तं—“वाग्वाङ्मोशिरामस्थो जिह्वास्तम्भयतेऽनिलः । जिह्वास्तम्भः स तेनान्नपानवाक्येष्वनौशता ॥” (वा० नि० १५५०) इति । अर्दित इति—मुख्याङ्गवत्त्वंनोपलक्षितोऽर्दित इति प्रसिद्धः ; तथा हि—“अर्दयत्यनिलो वक्रमर्दितं जनयत्यतः । वक्रोभवति वक्राङ्गं यीवा चाप्यपवर्तते ॥” (सु० नि० १५०) इत्यादि । पक्षाघात इति—पक्षाघात एकाङ्गविकारः, एकपक्षविघातमित्युक्तत्वात् ; यतः—“गृहोत्वाङ्गं तमोर्वायुः शिराः स्नायुर्विशेष्य च । पक्षनन्यतरं हन्ति सन्धिवन्धान् विमोचयन् ॥ कृत्स्नोऽङ्गाग्रस्तस्य व्यादकर्मण्यो विचेतनः । एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः ॥” (वा० नि० १५५०) इति । क्रीटुशीर्ष इति—ऊरुगङ्गयोः सन्धिः स्थूल्येन कृत्वा श्रगालमस्तकवत् शोथान्वितो भवति तेन क्रीटुशीर्ष इति संज्ञा, लोके “गैरुव” शब्दवाच्यः ; तदुक्तं—“वातशोथितनः शोथो जानुमध्ये महाहनः । श्रेयः क्रीटुकशीर्षस्तु स्थूलः क्रीटुकशीर्षवत् ॥” (वा० नि० १५५०) इति । वातशोथिताभ्यां जातो वात-

कलायखञ्जता तूष्णीं प्रतितूष्णीं च खञ्जता ॥ ११२ ॥

पादद्वर्षी गृध्रसी च विश्वाची चापवाहुकः ।

श्रीचिंतनः, * न पुनर्वातरक्तेन व्याधिना कर्मित इत्यभिप्रायः । सन्धासन्ध इति—
यीवामुभयतो हे मन्त्रे मर्मणी, तयोः सन्धा निश्चलत्वम् ; यतः,—“दिवास्वप्रासम-
स्थानविहतीहानरीक्षणात् । सन्धाकर्म प्रकृते स एव श्लेषाणाऽऽहतः ॥” (सु० नि०
१५०) इति । पङ्कतेति—पङ्कता खञ्जभेदः, तेन इयोः सक्थ्योर्बधात् पङ्कः
एकसक्थिवधात् खञ्ज इति ; वधश्चात्र गमनादिक्रियानाशः ; तद्वशा—“वायुः
कव्याश्रितः सक्थुः कण्ठरानाश्रिपेत यदा । खञ्जसटा भवंज्यतुः पङ्कः सक्थ्यो-
र्हयोर्बधात् ॥” (सु० नि० १५०) इति । कलायखञ्जतेति—यः पादविधिपं कवं
पृथ्वः कल्पायमानः खञ्जप्रिव गच्छति स कलायखञ्ज इति शास्त्रे वृद्धिसंज्ञा ; यदन्तं
—“प्रक्षानम् वेपते यस्तु खञ्जप्रिव च गच्छति । कलायखञ्जं तं विद्याम्भक्तसन्धि-
प्रवन्धनम् ॥” (सु० नि० १५०) इति । तूष्णीं प्रतितूष्णीं चेति—स्त्रीपुंसोर्गुह्यस्थान-
मधिकवेदनाविशेषेण भिन्दन्तीव तूष्णीशब्दवाच्या, सैव प्रतिलोमेन प्रधावनात्
प्रतितूष्णीं न कथिता ; तथा हि—“बधो या वेदना याति वर्चोमुदाश्रयोत्थिता ।
भिन्दन्तीव गदोपस्थं सा तूष्णी नाम नामतः ॥” (सु० नि० १५०) इति । प्रतितूष्णीं
यथा—“गदोपस्थोत्थिता या तु पतिलोमं प्रधावति । वेगेः पक्षाग्रं याति प्रतितूष्णींति
सोच्यते ॥” (सु० नि० १५०) इति । खञ्जतेति—खञ्जता पङ्कविशेषे पूर्वे दार्शता ।
पादद्वर्ष इति—यत्र रोमाञ्चप्रायोऽतिसुप्तता स्तिम्बिम्बिषिवेदनाविशेषः स पादद्वर्षः
इति ; यदन्तं—“वृष्येते चरणौ यस्य भवेताद्यापि सुप्तकौ । पादद्वर्षः स विशेषः
कफवातप्रकोपतः ॥” (रो० वि० वातव्याधि०) इति । गृध्रसी चेति—गृध्रसीति
प्रसिद्धा, लोके राधिनाशब्दवाच्या इति केचित् ; तद्वशा—“स्मिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरु-
जानुजङ्घापदं कमात् । गृध्रसी सन्धकृत्तौर्गृह्णाति स्यन्दते मुहुः ॥” (अ०
चि० वातव्याधि०) इति । गृध्रसीद्वयमाहरेके, एका केवलवातजनिता, अपरा
वातकफलक्षणाद्युक्तेति ; अत एव “वाताहातकफात् तन्दा गौरवारोचकान्विता”
(अ० चि० वातव्याधि०) इत्यादिवचनात् । विश्वाची चापवाहुक इति—विश्वाची च
वाहुगता गृध्रसीवत् ; तथा हि—“तलं प्रत्यङ्मुखीनां या कण्ठरा बाहुपृष्ठतः ।
बाह्वोः कर्मन्धयकरी विश्वाचीति निगद्यते ॥” (सु० नि० १५०) इति । बाह्वो-

* “वातश्रीचिंतन इति वातरक्ताख्यविकारजः चिकित्साभेदाद्ये पृथक् पाठितः
इति गवदासः । वातश्रीचिन्ताभ्यां जात इति जैज्जङ्गः” इति मधुकौषः ।

अपतानो ब्रणायामो वातकण्टोऽपतन्मकः ॥ ११३ ॥

हिंस्रचनं सामान्यापेक्षया कटावित् एकस्मिन्नपि बाहो भवतीति । सुगन्धाप-
कार्यत्वात् * अवबाहुक इति, + असंशोष इति वा बाहुः ; तदुक्तम्—“अस-
देश्यितो बाहुः शोषयित्वाऽसंशोषः । शिराश्चाकृष्टा तवस्थो जनयत्यवबाहुकम् ॥”
(सु० नि० १५०) इति । † केवलं वातजनितोऽसंशोषः कफवातजनितोऽवबाहुक
इति सुसुप्तवचनाद्भिन्नत्वमनयोः । अपतान इति—आक्षेपस्यावस्थाविशेषोऽपतानको
भवति ; “साऽपतानकमंज्ञा यः पातयत्यन्तरान्तरा” (सु० नि० १५०) इत्यादि-
वचनात्, य आक्षेपकोऽन्तरा अन्तरा पातयति सोऽपतानक इति तात्पर्यार्थं, सुसुप्ते
विकिस्यार्थे पृथक् उपात्तत्वात् ; अरके तु बहुरुपत्वाद्भिन्न एव ; यतः,—“हृदि
संलभ्य संज्ञासंज्ञत्वा कण्ठेन कृति । हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति कीदृशं इति
पुनः ॥ बाहुना दाहणं पाहुरेके तदपतानकम् ॥” (च० अस० विमर्शोऽर्थ०) इति ।
ब्रणायामोऽपि आक्षेपकभेदः आघातजत्वात् । यतः,—“कफपित्तान्वितो बाहुर्बाहुरेव
च केवलः । कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम् ॥” (सु० नि० १५०) इति ।
अरकेण आक्षेपक एव दृष्टापतानकोऽध्यन्तरांशामो बहिर्गन्धाम आगन्तुक इति
च पूर्वोक्तः । तेनाभिघातेन ब्रणकरत्वादव ब्रणायामः कथितः । वातकण्टक
इति—विषमपादन्यः सेन कृपितो बाहुर्गन्धके वेदनां जनयति तं वातकण्टकमाहः ;
तदुक्तं—“कक् पाटे विषमन्यसे अमाहा जायते यदा । वातेन गुल्फमाश्रित्य
तमाहुर्वातकण्टकम् ॥” (सु० नि० १५०) इति । अयमेवायम् “खुडुकावात”
इत्युक्तः । अपतन्मक इति—अपतन्मकोऽप्याक्षेपावस्था एव, स्वैरित्यादिना कृद्धी बाहुः
स्थानादूर्ध्वं गत्वाऽपतन्मक करोति इति सम्बन्धः ; तथा च दृढवज्रः,—“क्रुद्धः स्वैः

* सुसुप्तादिषु अवबाहुक इति पाठः ।

† असंशोषः अवबाहुकात् भिन्नः इति सुसुप्तमाधवाभ्यां पठितः ; मधुकोष-
कारिणापि तथैव व्याख्यातः, तथा च—“असंशोषः केवलवातज सस्यते । असंशोष-
कारकः श्लेष्मा असंशोषः । एतदनन्तरम् असंशोषं जनयेदिति शेषः इति कार्त्तिकः ।
शिराश्चेत्यादिना अवबाहुकः । तत्रस्थः असंशोषः । अयच्च वातकफजः, अन्ये तु मिलित्वा
अवबाहुकत्ववशाद्बाहुः, तत्र ; यतः सुसुप्तेर्गोक्तम्—असंशोषावबाहुक्योर्बाहुमध्ये
शिरास्थि च इति ।”

‡ सुसुप्ते ईदृशार्थकः कश्चित् पन्थो न दृश्यते । असंशोषे श्लेष्माशोषत्वात् श्लेष्म-
सम्बन्धो दृश्यते, न तु अवबाहुके । मधुकोषकारिण तु असंशोषः केवलवातजः
अवबाहुकः वातकफजः इति पठितम् ।

अङ्गभेदोऽङ्गशेषश्च मिश्रितत्वश्च कृजता ।

प्रत्यष्टोलाऽष्टोलिका च वामनत्वश्च कुजता ॥ ११४ ॥

कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते । पीडयन् हृदयं गत्वा शिरः शङ्खो च पीडयन् ॥
धनुर्वज्रमयेकावाह्याऽपि न्योदयेत्तदा । स कृच्छ्रादङ्कुसेश्चापि क्षत्वाऽष्टोऽथ निमीलकः ॥
कपोत इव कुजेश निःसंशः सोऽपतन्वकः ॥” (अ० चि० विमर्मी०) इति ।
अङ्गभेद इति—अङ्गभेदो वेदनाविशेषत्वेन दर्शितः ; यतः,—“हेतुस्थानविशेषाश्च
भवेद्भागविशेषकतः” (अ० चि० वातव्याधि०) इत्यादिवचनात् ; यथा कुक्षियुल्लं
नानानुरूपः कौलनिष्ठातवत् वेदनाविशेषस्याप्ययत्नं, तथा तादभेदादिभिरपि पीडा-
विशेष एव गम्यते ; तदुक्तं,—“स्थाननामानुरूपेण लिङ्गैः शेषान् विनिर्दिशेत्”
(अ० चि० वातव्याधि०) इत्यादि । अङ्गशेष इति—अङ्गादीनां बाहुमुखादीनां
शेषः अङ्गशेषः । मिश्रितत्वम् इति—मिश्रितः सामानाधिक्यवचनः । कृजनेति
—कृजताऽत्र गद्गदवचनत्वेन प्रतिपादिता, तत्र क्षुप्तपटव्यञ्जनाद्यभिधायिनी कृजता-
शब्दवाच्या । वक्ष्यमाणं मूकत्वमपि तद्विध एव । एतच्च जिह्वागतशब्दवाङ्मनोनां
धमनोनां कायेभ्यः ; तथा हि—“चातव्य वायुः सकफो धमनोः शब्दवाङ्मनोः ।
नरान् करोत्यक्रियकान् मूकमिन्धनगद्गदान् ॥” (सु० नि० १५०) इति ।
प्रत्यष्टोलाष्टोलिका चेति—नाभेरधस्ताद्दोर्ध्ववर्तुलपाषाणवत् यो रोगः सांष्टोलाशब्द-
वाच्यः, बाताष्टोलैव्यव रुदिः, तथा चोक्तं—“नाभेरधस्तात् सञ्जातः सञ्चारो याद
वाऽचलः । अष्टोलावत् घनो यन्त्रिर्हृन्मायत उन्नतः ॥ बाताष्टोलां विजानीयाद्द-
र्भांमांवरोधिनीम् ॥ एतामेव रुजायुक्ता वातविष्णुवरोधिनीम् । प्रत्यष्टोलाभिति
वदेज्जठरे तिर्य्यगुत्थिताम् ॥” (सु० नि० १५०) इति । वामनत्वमिति—दृष्टशका-
रव्यत्वाद्गर्भावत् यथा युगलैकाङ्गुलीबहुङ्गुल्यादिकं भवति तथाऽयमपि वामनयोगः ।
कुजनेति—* कुजवच्च शिरागतवातविश्रिष्टत्वात्, केचिदायामान्तरगद (?) इत्याहुः,
पृष्ठादिगतत्वात् ; “कुप्यात् शिरागतः शूलं शिराकुञ्चनपूरणम्” (सु० नि० १५०)

* कुजत्वञ्च शिरागतवातविशेषत्वात् केचित् चन्तरायामवहिरायामान्तर्गतमित्याहुः
कांठादिगतत्वात् इति पाठकल्पनं सङ्गतम्, “चन्तरायामवहिरायामाभ्यां तन्वान्तरोक्त-
कुजव्यावराधः” इति मधुकोषदर्शनात् । अरके कुजता सायुगतवायुकायेमित्युक्तं,
तथा च—“सर्वाङ्गैकाङ्गरोमाश्च कुप्यात् सायुगतीनिहः । बाह्याभ्यन्तरमायाम्
खलौ कुजत्वमेव च ॥” (अ० चि० वातव्याधि०) इति ।

- १ अङ्गपीडाङ्गशूलश्च सङ्कोचस्तन्मरुचताः ।
 अङ्गमङ्कोऽङ्गविभ्रंशो विङ्ग्रही बहुविट्कता ॥ ११५ ॥
 मूकत्वमतिजृम्भा स्यादत्युद्गारोऽन्वकूजनम् ।
 वातप्रवृत्तिः स्फुरणं शिराणां पूरणं तथा ॥ ११६ ॥
 कम्पः काश्यं श्यावता च प्रलापः क्षिप्रमूत्रता ।
 निद्रानाशः स्वेदनाशो दुर्बलत्वं बलक्षयः ॥ ११७ ॥

“वास्याभ्यन्तरमायामं खल्वी कुञ्जत्वमेव च ॥” (च० चि० वातव्याधि०) इति ।
 अङ्गपीडाङ्गविभ्रंशानामयभेदा हेतुस्थानविशेषत्वेन तदगुह्यता बोद्धव्याः ।
 अन्तरायामं खल्वी कुञ्जत्वमेव मन्वन्ति (१) । अङ्गपीडाङ्गविभ्रंशम् (१) । तस्य
 मयभेदाः स्थानविशेषत्वेन त्वगुह्यता बोद्धव्याः । तदाङ्गसङ्कोचः कम्पोऽङ्गस्य रुचता ।
 रुचतापीडाङ्गशूलादीनामपि परस्परं भेदोऽस्तीत्यत्रावगन्तव्यम् । विङ्ग्रही बहुविट्कता
 चेति—विङ्ग्रहः पुरीषस्थानिर्गमः । बहुविट्कता पुरीषस्य कर्कशता, पक्काशय-
 कुपितवातगुणत्वात् ; यतः,—“यङ्गो विष्णुमन्वातानां शूलाभ्यानांश्मशंकरा” (च०
 चि० वातव्याधि०) इत्यादि । मूकत्वमिति—मूकत्वञ्च निम्नित्वे दर्शितम् ।
 २. अतिजृम्भता च वातदुष्टत्वात्, “जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्” (सु० उ० ३८ अ०)
 इत्यादिना । अत्युद्गारोऽपि वातविकारजनितत्वादत्र लिखितः ; आमाशयस्थः कुपितो
 वातोऽत्युद्गारं करोतीत्यर्थः ; “कक् पाशोर्दरदृष्टाभेष्टयोर्द्वारविस्फुटिकाः । * करोति
 कण्ठाख्यशोषं वातआमाशये स्थितः ॥” इति । अन्वकूजनमिति—पक्काशयगतवायुना
 भवति “पक्काशयस्थोऽन्वकूजनम्” (सु० नि० १५०) इत्यादिबचनात् । वातप्रवृत्ति-
 रिति—गुदेन वातव्याप्तिनिर्गमः । स्फुरणमिति—अङ्गस्फुरणम्, अङ्गस्पन्दनमित्यर्थः ।
 शिराणां पूरणमिति—शिरागता वायुः शिराणां पूरणं करोति ; “कुप्याच्छिरागतः
 शूलं शिराकुञ्चनपूरणम्” (सु० नि० १५०) इति वचनात्, पूरणं स्थूलत्वम् ;
 यदुक्तं तन्नान्तरं—“सुप्तकान्ध्या मङ्ग्यो वा शिरा वाते शिरागते” (च० चि० वात-
 व्याधि०) इति । कम्प इति—सर्वाङ्गस्य शिरसश्च कम्पत्वेन वेपथुसंज्ञः ; यदुक्तं—

* “करोति कण्ठाख्यशोषं वातआमाशये स्थितः” इत्यत्र “कासः
 कण्ठाख्यशोषश्च आसआमाशये स्थितः” इति माधवनिदानधृतः अरकसम्मतः
 मातः ।

चत्वारिंशत्पित्तरोगाणां विवरणम् ।—

अथ पित्तभवा रोगाश्चत्वारिंशद्विहोदिताः ।

धूमोद्गारो विदाहः स्यादुष्णाङ्गत्वं मतिभ्रमः ॥ १२० ॥

कान्तिहानिः कण्ठशोषो मुखशोषोऽल्पशुक्रता ।

तिक्तास्यताऽम्नवक्त्रत्वं स्नेहस्रावोऽङ्गपाकता ॥ १२१ ॥

अथ पित्तभवा रोगा इति ।—खट्वेतुदुष्टेन स्तब्धत्वेन पित्तेन जनिता इत्यर्थः, यथा
 क्षत्रघोषादयः । चत्वारिंशदित्यस्य विवरणमाह—तत्र धूमोद्गारो धूमायनं, “ध्वाइघो”
 इति शब्दवाच्यः, मुखान् धूमोद्गणानव भवति, शरीराशोषमुखतालुस्यः धूमस्य
 उद्गिरणं निःसरणम् । विदाहो विशेषादुष्णो दाहः, अतः विदाहशब्देन उष्णादि-
 दाहः, तेषां यस्यां यद्वर्णं कार्यं पित्तजन्यत्वात् । उष्णादिदाहलक्षणञ्च—“दाहः
 सर्वाङ्गमन्तापः उष्णः सखेटताऽरतिः । यः कापि देहावयवे शोषः स्यादग्निर्नैव सः ॥
 पाणिपादासमूर्त्तौ विदाहो विविधो मतः । दाहस्तु मुखताल्वोष्ठ दन्तशृङ्गारादिषु ॥
 कान्तिदाहोऽन्तर्दाहः स्याद्दृढदाह उष्णो मतः ॥” इति । सर्वेऽपि पित्तोपाजाः ; उक्तञ्च—
 “ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्यूष्मणा बिभा । तस्मात् पित्तावृक्षहानि व्यजत
 पित्ताधिकेऽधिकम् ॥” (बा० च० १५०) इति, अतः एव उष्णाङ्गत्वं पित्तजन्यं,
 अतः सङ्गः पित्तविकारिषु । पित्तविकाराः पुनः शोषशोषदाहदन्तविदाह-
 सदाहाः त्वग्दाहोऽन्तर्दाह इत्युक्तम् । तथा मतिभ्रमोऽपि पित्तभव एव, न तु
 वातमद्यादिजः बुद्धिनाशः । ननु “पित्तं पत्यूषदर्शनेः । सुतृष्णुचिप्रभामेषा-धौश्रीख्य-
 तनूमादिवैः ॥” (बा० सू० ११५०) इत्यादना शरीरोपाकरणदाधिक्यात् वृद्धेराधिक्यं
 स्यादिति चेन्न, “ऊष्मणा जन्मना यस्य तत एव स सोदति । उपघातस्तु तेनैव
 तथा नेदस्य तेजसः ॥” इति न्यायात् पित्ताधिक्यात् बुद्धिनाश इति स्थितम् ।
 कान्तिहानिः पित्तदग्ध्रशरीरेत्यात्, न तु वातादिवत् काश्यादि । कण्ठशोषो मुख-
 शोषश्च तयोः शुष्कत्वं तद्रूपतः शुष्कद्रवत्वम् । अल्पशुक्रता पित्तादेव । तिक्तास्यता
 अम्नवक्त्रवर्माति—तिक्तो निम्बादि तद्वदास्यं, * तथा अम्नास्यता अम्नमुखता । ननु
 वाग्मटे—“कटुकान्धो रसो वर्णः पाण्डुरावर्णवर्जितः” (बा० सू० १२५०) इत्युक्तम्,
 प्रह तु तिक्त इति विरोधः, मैवं, वाग्मटीक्तस्य “कटुः स्यात् कटुतिक्तयोः”
 इति वचनात् तिक्त एवायः ; “कषायतिक्तमधुरं वातादिषु मुखं क्रमात्” (बा०

* तिक्तरसवदास्यमित्यर्थः ।

क्षमो हरितवर्णत्वमदक्षिः पीतगात्रता ।

रक्तस्रावोऽङ्गदरणं लोहगन्धास्यता तथा ॥ १२२ ॥

दौर्गन्ध्यं पीतमूत्रत्वमरतिः पीतविट्कता ।

पीतावलोकनं पीत-नेत्रता पीतदन्तता ॥ १२३ ॥

शीतेच्छा पीतनखता तेजोद्वेषोऽल्पनिद्रता ।

कोपश्च गात्रसादश्च भिन्नविट्कत्वमन्धता ॥ १२४ ॥

उष्णोच्छ्वासत्वमुष्णत्वं मूत्रस्य च मलस्य च ।

तमसो दर्शनं पीत-मण्डलानाञ्च दर्शनम् ॥

निःसहत्वञ्च पित्तस्य चत्वारिंशदुजः स्मृताः ॥ १२५ ॥

नि० ५५०) इति । स्वेदो घर्मस्तस्य स्रावः स्फुटिः । अङ्गपाकता अङ्गपाकत्वम् ।
क्षम इति—“थोऽनायासः यमो दंष्ट्रे प्रवृद्धः श्वासवार्जतः । क्षमः स इति
१५३ इन्द्रियाद्येन बाधकः ॥” (सु० शा० ४५०) इति । हरितवर्णत्वं हरितवर्णता,
“दृढा हरितहारिद्रः” इति वचनात् । अट्टाक्षः हस्तिनं भवति । पीतगात्रता पीत-
शरीरत्वम् । रक्तस्रावः रक्तस्य स्रवणम् । अङ्गस्य दरणं विदरणम् । लोहगन्धा-
स्यता लोहं * कालायमं, तदनुगन्धगन्धो भवति । दौर्गन्ध्यम् अङ्गानाम् । पीतमूत्र-
हरिद्राभमूत्रत्वम् । अरतिः सर्वव्याप्रीतिः । पीतविट्कता पीतपुरीषता । पीता-
वलोकनं पीततादर्शनं वस्तुषु, नेत्रादिषु च पीतता । पीतदन्तता दन्तेषु पीत-
शीतेच्छा शीतवस्तुनाऽभिलाषः । पीतनखता पीतनखत्वम् । तेजोद्वेषः तेजस-
वस्तुद्वेषः । अल्पनिद्रता अल्पानद्रत्वम् । † कोपश्च पित्तस्यैव, रक्तकोपता रक्तजीवृक्त-
त्वात् । गात्रसादो गात्रसादनम् । भिन्नविट्कत्वं भिन्नपुरीषता । अन्धता नेत्रस्यैव ।
उष्णोच्छ्वासत्वमिति—उष्णश्वासत्वम् । उष्णत्वं मूत्रस्य च मलस्य चैति—इयोरपि औष्ण्यं
पित्तमवत्वान् । तथा तमसो दर्शनम् अन्धकारदर्शनम् । तथा पीतमण्डलानाञ्च

* लोहं रक्तमित्यर्थो युक्तः, लोहं गन्धाभावात्, रक्तपित्ते “लोहगन्धित्वं रक्त-
गन्धित्वम्” इत्यर्थदर्शनाच्च ।

† “कोपश्च पित्तस्यैव” इत्यत्र “कोपः क्रोधाधिक्यम्” इत्यर्थो युक्तः, क्रोधस्य
पित्तकायत्वात्, तथा धूमोद्गारादौगा सर्वेषामेव पित्तकोपजन्यत्वेन “कोपः पित्तस्यैव”
इत्यस्य पुनरुल्लेखोपपन्नत्वाच्च ।

विंशतिकफरोगार्था विवरणम् ।—

कफस्य विंशतिः प्रोक्ता रोगास्तन्द्राऽतिनिद्रता ।

गौरवं मुखमाधुर्यं मुखलेपः प्रसेकता ॥ १२६ ॥

श्वेतावलोकनं श्वेत-विट्कत्वं श्वेतमूत्रता ।

श्वेताङ्गवर्णता शैत्यमुष्णेच्छा तिक्तकामिता ॥ १२७ ॥

मलाधिक्यञ्च शुकस्य बाहुल्यं बहुमूत्रता ।

आलस्यं मन्दबुद्धित्वं तृप्तिर्घर्घरवाक्यता ॥

अचैतन्यञ्च गदिता विंशतिः श्लेष्मजा गदाः ॥ १२८ ॥

दर्शनं पीतानि यानि मण्डलानि तेषां दृष्टिः । निःसङ्गत्वञ्च पित्तस्येति—
निःसङ्गत्वं * निःसङ्गता । इति चत्वारिंशत् पित्तरुजः पित्तजनिता रोगा
इत्यर्थः ॥ १२०—१२५ ॥

पित्तजानुक्ता कफजानाह, कफस्येति ।—कफस्य श्लेष्मणः स्वहेतुदृष्टस्य जनिता
रोगा विंशतिः प्रोक्ता इत्यर्थः । तेषां विवरणमाह, अतिनिद्रतेति—निद्रालक्षणम्—
+ 'यदा तु मनसि क्लान्तिः कर्मात्मा च क्लमान्वितः । आलस्यं मन्दबुद्धित्वं तृप्तिर्घर्घर-
वाक्यता ॥ विषयेभ्यो निवर्त्तते तस्य निद्रा विनिर्दिशेत् ॥' अति अत्यन्तं निद्रा अति-
निद्रता । गौरवमिति—तल्लक्षणम्—“बाट्टं चर्मावगुहं हि यो गात्रमभिमन्यते ।
तथा गुरुशिरोऽप्यर्थे गौरवं तद्विनिर्दिशेत् ॥” (सु० शा० ४५०) । मुखमाधुर्यं
मधुरास्यता । मुखलेपः कफेन लिपता । प्रसेकता खालासावता । श्वेतावलोकनं
श्वेतस्य वस्तुनो दर्शनम् । तथा श्वेतविट्कत्वं शुभपरीषता । श्वेतमूत्रता शुभमूत्रता ।
श्वेताङ्गवर्णता श्वेतत्वमङ्गलम् । शैत्यम् अङ्गशीतता । उष्णेच्छा उष्णवस्तुनोऽभिलाषः ।
तिक्तकामिता तिक्तस्य कटुवस्तुनः काङ्क्षा अभिलाषः । मलाधिक्यं मलव्याधिक्यता ।
शुकस्य बाहुल्यम् अतिशुक्लता । बहुमूत्रता मूत्रस्य बहुप्रवृत्तिः । आलस्यमिति—
तल्लक्षणम्—“समथस्याप्यनुत्साहः कर्मखालस्यमुच्यते” (सु० शा० ४५०) इति ।
मन्दबुद्धित्वं बुद्धेर्मन्दता । तृप्तिर्भोगानभिलाषः । घर्घरवाक्यता घर्घरशब्दत्वम् ।

* सङ्गशक्तेरभावः, घेय्याभाव इत्यर्थः ।

+ लक्षणमिदं न समीचीनं “यदा” “तस्य” इति सर्वनामद्वयस्य सङ्गतिविरोधात्
कर्तृपदक्षिपादयोः दूरान्त्वप्रदोपाच्च, तथा चरके “यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः
क्लमान्विताः । विषयेभ्यो निवर्त्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥” इति पाठदर्शनाच्च ।

दशरक्तरोगाणां विवरणम् ।—

रक्तस्य च दश प्रोक्ता व्याधयस्तेषु गौरवम् ।

रक्तमण्डलता रक्तनेत्रत्वं रक्तमूत्रता ॥ १२८ ॥

रक्तनिष्ठोवनं रक्तपिडकानाञ्च दर्शनम् ।

औष्ण्यञ्च पूतिगन्धत्व पोड़ा पाकश्च जायते ॥ १३० ॥

चतुःसप्ततिमुखरोगाणां विवरणम् ।—

चतुःसप्ततिमङ्ग्राका मुखरोगास्तयोदिताः ॥ १३१ ॥

सत्र एकादशोष्ठरोगाणां विवरणम् ।—

तेष्कोष्ठरोगा गणिता एकादशमिता बुधैः ।

वातपित्तकफैस्तेषां त्रिदोषैरसृजा तथा ॥ १३२ ॥

अचेतनं चेतनं ज्ञानं तद्वद्वितत्वं जडता, * कफरुद्धस्रोतसां रोधात् । इति
श्रेष्ठरोगा विंशतिर्व्याख्याताः ॥ १२६—१२८ ॥

अथ रक्तजानां रोगाणां विवरणमाह, रक्तस्येत्यादि ।—रक्तस्य रुधिरस्य व्याधयः
मुनिभिर्देश प्रोक्ताः । तेषु व्याधिषु गौरवं कफजनिव रक्तस्यानुदपतया भवति । तथा
रक्तमण्डलता आरक्तमण्डलोत्पत्तिः । तथा रक्तनेत्रत्वम् आरक्तलोचनता । तथा रक्त-
मूत्रता रक्तमूत्रत्वं, तस्य रक्तगन्धत्वात् । रक्तनिष्ठोवनं रक्तानिष्ठितनिष्ठोवनं रक्तस्यैव वा
निष्ठोवनम् । तथा रक्तपिडकानाञ्च दर्शनं रक्तजा आरक्ता वा पिडकाः क्षुद्र-
स्फोटः तासां दर्शनम् । औष्ण्यम् उष्णत्वं, रक्तस्यापि तेजसत्वात् । पूतिगन्धत्वं
दुर्गन्धता, सा तु रक्तजैवाव याज्या न त्वन्यथा । तद्वत् पोडाऽपि । तथा पाकश्च
मांसादीनां रक्तस्य वा । इति दश रक्तजा रोगा व्याख्याता ॥ १२९।१३० ॥

उद्देशकमेवैव मुखरोगाणां विवरणमाह, चतुःसप्ततीति ।—मुखरोगा इति—
मुखे भवा रोगा मुखरोगाः । आद्यतनममुदायस्य तद्विहितत्वान्मुखस्याव यद्वचनम् ;
यतः,—“मुखरोगाः समाख्याताः समखाद्यतनेषु च” इति । आद्यतनानि स्थानानि,
यथा—दन्तोष्ठदन्तमूर्ताङ्गकाकण्ठगालसर्वगतानीति ॥ १३१ ॥

मुखरोगेषु प्रथमत आश्रयानाह, तेष्विति ।—एकादशेत्यादि—वातपित्तकफैः

* कफरुद्धमनोवृद्धस्रोतोरोधात् कफरुद्धचेतनवृद्धस्रोतोरोधात् वा इति
पाठश्चर्यं सङ्गतम् ।

मांसार्वुदच्चैव खण्डोष्ठश्च जलार्बुदम् ।

दोऽर्बुदच्चार्बुदश्च रोगा एकादश स्मृताः ॥ १२३ ॥

तत्र दशदन्तरोगानां विवरणम् ।—

दन्तरोगा दग्धाख्याता दालनः क्षमिदन्तकः ।

कृत्वा यथो भेदाः ; तद्वशा—“कक्षस्थो पक्ष्मो लक्ष्मो सम्प्राप्तानलवेदनो । दाल्यते परिपाद्यते षोडशो मासतत्पतः ॥ चौर्यत पिङ्गकान्ध सङ्ग्राभिः समन्ततः । सदाहपाकापङ्क्तौ पोतामासौ च पित्ततः ॥ सवर्णामित्तु चौर्यत पिङ्गकान्धवेदनो । भवतस्तु कक्षादोष्ठो पक्वित्तौ शीतलो गुरुः ॥” (१० वि० षोडश०) इति । विदोषैरेति—मिथुनदोषवयेण चतुर्थी भेदः ; यदुक्तं—“सक्तं कृष्णो सक्तं पीतो सक्तं श्वेतो तथैव च । मात्रेयात्तेन विज्ञेयात्तेन कृषिज्जातिनो ॥” (सु० नि० १६५०) इति । अस्त्रा रक्तेन पञ्चमो भेदः, रक्तापस्त्रत्वात् ; यतः,—“खर्जूरफलवर्णाभिः पिङ्गकान्धनिर्गोडितो । रक्तापस्त्रो खाद्यं स्रवतः श्लाघ्यतमप्रभो ॥” (सु० नि० १६५०) इति । क्षताभास—भामवातजम् ; तेन कथम्भूता ? यथा—“षोडशं पथ्यव-
दोष्यते पाथ्यते चामवाततः” (१० वि० षोडश०) इति । ननु क्षतादेव दाघप्रकापः स्यात्, तेन दाघानगते एव क्षात्री भेदः, किमिति न पठितः ? यतो भोज-
नोक्तत्वात् “क्षताभिहतौ वाऽपि रक्तावोष्ठौ सवेदनौ । भवतः सपरिस्रावौ कफ-
रक्तप्रदूषितौ ॥” इति । उच्यते, बातादिकः कषलः स्वकारणकृपितः, अथ तु
अभिवातात् क्षुब्धते, तेनाभिघातनिदानत्वात् द्वयोर्भेद इत्यदोषः । मांसार्वुदमिति—
अर्बुदाकारत्वात्मांसापङ्क्तवदुद्गताषोष्ठौ भवतः इति ; यदुक्तं—“गु० स्थूलौ मांसदुष्टौ
मांसापङ्क्तवदुद्गता । जलवश्चात्र मुच्छान्तं नरस्याभयतां मुखात् ॥” (१० वि०
षोडश०) इति । खण्डोष्ठ इति—“खण्डोष्ठः क्षतभेदः स्यात्” इत्यादिना च खण्ड-
तोष्ठेकदेशत्वाद्भ्रमः कदापिदोषजग्न्याविकांतभावाद्वा भिन्नः ; “तत्र खण्डोष्ठ इत्युक्तो
वातेनोष्ठो हिंसा कृतः” (वा० उ० २१५०) । जलार्बुदमिति—जलबुद्बुदाकारं
जलार्बुदम् ; यदुक्तं—“जलबुद्बुदवत् वात-कफादोष्ठे जलार्बुदम्” (वा० उ० २१५०)
इति । अर्बुदवयवार्बुदवत् ज्ञातव्यम् । तत्र मेदोऽर्बुदो यथा—“सर्पिमण्डप्रतीकाशो
मेदसा कण्डुरो गुरुः । अक्षं स्फटिकसङ्काशमास्त्रावं स्रवती भृशम् ॥ तथोत्रेणो न
संरोहिण्यदुलक्ष न गच्छति ॥” (१० वि० षोडश०) इति ॥ १२३ ॥ १२३ ॥

अथ दन्तरोगानाञ्च, दन्तरोगा दग्धेत्यादि ।—तत्र दालन इति—दाल्यमानेष्विव
॥ कृशा भवति इति दालनः ; यदुक्तं—“दीयनाद्यैव कृशा यस्तु दन्तेषु जायते ।

दन्तहर्षः करालश्च दन्तवालश्च शर्करा ॥

अधिदन्तः श्यावदन्ता दन्तभेदः कपालिका ॥ १

दालनां नाम स व्याधिः सदागतिर्निमित्तकः ॥” (री० वि० दन्त०) इति ।
 कानदन्तक इति—कमिकृतिच्छिद्रत्वेन वेदनाविशेषा यत्र भवति स कमिदन्तकः ,
 यदुक्तं—“कृणाच्छिद्रश्चलः स्यात् समरक्षा मङ्गरुजः । अनिमित्तकश्च वातात्
 त्रिजयः कमिदन्तकः ॥” (सु० नि० १६ अ०) इति । दन्तहर्ष इति—दन्तहर्षः
 स्वनामतः प्रमिदः , तथा हि—“शीतकृत्प्रवातास्त्र-स्पर्शानाममङ्गा हिजाः । पित्त-
 मारुतकोपेन दन्तहर्षः स नामतः ॥” (री० वि० दन्त०) इति । कराल इति
 —करालो विषमदन्तकः , विषमदृशदन्त इत्यर्थः ; यदुक्तं—“शनैः शनैः प्रकुर्वते
 बाधुर्दन्तममायितः । करालान् त्रिकटान् दन्तान् करालो न स सिध्यति ॥” (री०
 वि० दन्त०) इति । दन्तवाल इति—दन्तानां चालनः । * माधवेन तु हनुमोच्च
 इति पाठतः , तद्वयथा—“वातेन तैस्तेभ्यो हनुसन्धिविभक्तः । हनुमोच्च इति
 त्रयो व्यावर्तितलक्षणः ॥” (सु० नि० १६ अ०) इति । विभक्त इति—
 हनुसन्धिव्यः किञ्चिन्नितः ; अत एव सुश्रुते दन्तदेशनाभौष्यादन्तपोडनाच्चाय
 पठितः । शर्करा इति—शर्करा बालुका तद्वद्दन्तगोमी भवति , यतः,—“मत्तो दन्तगता
 यस्तु कफमारुतशोषितः । शर्करैव खरस्पर्शा सा ज्ञाया दन्तशर्करा ॥” (री० वि०
 दन्त०) इति । एकं “दन्तानां गृणहारो च” इति पठितः । अधिदन्त इति—
 अधिदन्तः अधिदन्तः , खलिवर्द्धन इति संज्ञान्तरम् , यदुक्तं—“मारुतेनाधिको दन्तो
 जायते तोत्रवदनः । खलिवर्द्धनसंज्ञाऽसौ जाते रुक् च प्रशस्यते ॥” (री० वि०
 दन्त०) इति । श्यावदन्त इति—नीलदन्त इति वा , यथोक्तम्—“अस्त्राद्यधेयं पित्तम
 दग्धं दन्तस्त्वशेषतः । श्यावता नीलता वाऽपि गतः स श्यावदन्तकः ॥” (सु० नि०

* माधवनिदाने हनुमोच्चलक्षणं न कुत्रापि दृश्यते , दृश्यते च वातव्याधौ हनु
 मूललक्षणमिति । लक्षणमिदं सुश्रुतस्य । उक्तञ्च मधुकोषकारेण—“अवावकाशे हनु
 मोच्चः सुश्रुते दन्तदेशनाभौष्यात् दन्तपोडनादपि पठितः , स इह सङ्ग्रहकारेण
 सुखदन्तगतत्वाभावात् न पठितः , पठितस्तु हनुमद्वसंज्ञया वातव्याधौ भोजवचनात् ,
 यदुक्तं—वाताभिघातात् जन्तोश्च हनुसन्धिविभक्त्यते । निरसजिह्वः कर्कशे भाषितं
 तत्र गच्छति ॥ इत्युक्तं तस्मादव्याधिं हनुमोच्चं विनिर्दिशत् ॥” इति ।

तत्र त्रयोदशदन्तमूलरोगाणां विवरणम् ।—

‘त्रयोदशमिता दन्तमूलामयाः स्मृताः ।

अर्वादापकुशौ द्वौ तु दन्तविद्रधिपुष्पटौ ॥ १३५ ॥

अधिसांसो विदर्भश्च महाशुषिरशोषिरौ ।

१६५०) इति । दन्तभेद इति—दन्तभेदो भक्षणकसंज्ञान्तरं, तीव्ररुजाकरत्वात् ; यतः,
—“वक्त्रं वक्त्रं भवेदुग्रस्मिन् दन्तभङ्गश्च तीव्ररुक् । कफवातकृतौ व्याधिः स भक्षणक-
संज्ञितः ॥” (सु० नि० १६५०) इति । कपालिकेति—* मूलसङ्घितदन्तावयवेषु
काठिन्यात् कपालतुल्येषु दोष्यत्सु दन्तमूलेष्वेव शर्करैव कपालिका काष्ठता ; तथा
हि—“कपालांश्वेव दाह्यत्सु दन्तानां सेव शर्करा । कपालिकात विज्ञेया सदा
दन्तविनाशिनौ ॥” (रा० वि० दन्त०) इति ॥ १३४ ॥

तद्वति ।—मुखरोगाधिष्ठितत्वात् दन्तमूलगतरोगास्त्रयोदशसङ्ख्याया प्रोक्ताः । तत्र
श्रीतादापकुशविना ।—श्रीताद इति—अभिघातादिनिमित्तं विना दन्तमांस-
श्रीर्गतादिभावेनापलब्धतः ; तथा हि—“श्रीणितं दन्तवेष्टेभ्यो गम्याकस्मान् प्रवर्त्तते ।
दग्गस्मिन् सकृच्छान् प्रकटौन भट्टान् च ॥ दन्तमांसानि शीथ्यन्ते पचन्ति च
परस्परम् । श्रीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसम्भवः ॥” (सु० नि० १६५०)
इति । उपकुश इति—उपकुशा दाहपाकयुक्तेष्टः ; यथा—“वटेषु दाहः पाकश्च
ताभ्या दन्तायलान् च । यास्मिन् सापकुशा नाम पित्तरक्तकृतौ गदः ॥” (रा० वि०
दन्तवेष्ट०) इति । दन्तविद्रधिरिति—“दन्तमांसं मलेः सार्वबोह्यान्तः श्वयष्टुर्गदः ।
सदाहरकस्त्रिंशद्भ्यः पूयासं दन्तविद्रधिः ॥” (वा० उ० २१५०) इति । पुष्पट
इति—दन्तपुष्पटमंजः, यतः,—“दन्तयोस्त्रिषु वा यस्य श्वयष्टुर्गद्यते मृद्वान् ।
दन्तपुष्पटको नाम स व्याधिः कफरक्तशः ॥” (रा० वि० दन्त०) इति । अधिसांस
इति—“हान्ये पश्चिमं दन्तं मृद्वान् शोथो मृद्वरुजः । लालास्रावो कफकृतो
विज्ञेयः शोऽधिसांसकः ॥” (सु० नि० १६५०) इति । विदर्भ इति—विदर्भो-
ऽभिघातश इत्युक्तत्वात् “घृष्टेषु दन्तमांसेषु संस्था आयते मृद्वान् । भवन्ति च चला
दन्ताः स वेदर्भोऽभिघातशः ॥” (सु० नि० १६५०) इति । महाशुषिर इति—
मृद्वान्शुषिर इति संज्ञान्तरम्, यथा—“दन्तायलानि वेष्टेत्यलान् चाप्यवदोयेत ।

* “मूलसङ्घित” इत्यादि “दन्तमूलेष्वेव” इत्यन्तस्थले “दन्तमूल एव काठिने
कपालप्राये दोष्यत्वात् दन्तशर्करैव” इति पाठकल्पनं सङ्गतम् ।

तेष्वेव गतयः पञ्च वातात् पित्तात् कफादपि ॥

सन्निपातादतिशयान्या रक्तनाडो च पञ्चमौ ॥

तत्र षट्जिह्वाभोगाणां विवरणम् ।—

तथा जिह्वाभयाः षट् स्युर्वातपित्तकफैस्त्रिधा ।

अलासश्च चतुर्थः स्यादधिजिह्वा च पञ्चमौ ॥

षष्ठी चैवोपजिह्वा स्यात्—

॥ १३७ ॥

याज्जन् स सर्वज्ञो व्याधमहाशोषरसज्ञकः ॥” (री० वि० दन्तवेष्ट०) इति । सर्वज्ञ इति—विदोषनत्वेन सारणात्मको ज्ञेयः, यदुक्तं भाजे—“मदाहो दन्तमूलेषु शोषः पित्तकफानिलात् । जातः उपपत्ति कफं क्षीणे तस्मिन्तु शोणितम् ॥ प्रवृद्धमनिशं दन्ताकान्त्वोद्गमपि दारयेत् । मङ्गशोषिर इत्येष सप्रवादाभिदन्त्यमृज ॥” इति । शोषिर इति प्रसिद्धः, यथा—“श्वयथुर्दन्तमूलेषु कजावान् कफरक्तम् । खालासावौ स विज्ञेयः शोषिरी नाम नामतः ॥” (री० वि० दन्तवेष्ट०) इति । तेषु त्रयादशविधेषु दन्तमूल-गतेषु पञ्च गतयः पञ्च नाड्यो दोषादिभेदेन ज्ञातव्याः, यदुक्तं—“दन्तमूलगतः नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिताः” (सु० नि० १६५०) इति । नाडीत्रयनिदानोक्तलक्षणैः दन्त-गतनाड्यः ज्ञेयाः । अत्र वातापत्तकफसन्निपातानान्तु निमित्ताः । आगन्तुरभिघातजः तेनापि रक्तस्य प्रादुर्भावादत्र रक्तनाडौ गणिता इति न दोषः ॥ १३५।१३६ ॥

तथा जिह्वाभयाः षट् स्युरित्यादि—तत्र वातात् शार्ङ्गच्छदनप्रकाशा भवति, पित्तात् पीता च भवति, कफात् शुक्ली भवतीति; तथा हि—“जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच्च शार्ङ्गच्छदनप्रकाशा । पित्तेन पीता परिटह्यते च चिता सरत्तैरपि कण्ठकैश्च ॥ कफेन शर्क्वी बहुला चिता च मांभोच्छ्रयेः शार्ङ्गालि-कण्ठकाभेः ॥” (सु० नि० १६५०) इति । अलासः जिह्वागतशोथेनोपलक्षित इति; यदुक्तं—“जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः । जिह्वां स तु भ्रमयति प्रवृद्धा मूले च जिह्वा भ्रममेतं पाकम् ॥” (सु० नि० १६५०) इति । अधिजिह्वेति—जिह्वोपरि जाता यः श्वयथुस्तेनाधिजिह्वा कथिता; यतः,—“जिह्वाग्रद्वयः श्वयथुः कफात् जिह्वोपरिष्ठादपि रक्तमिश्रम् । ज्योऽधिजिह्वः खलु रोग एष विवर्जयेदागतपाकमेवम् ॥” (री० वि० कण्ठ०) इति । उपजिह्वा चेति—जिह्वाया अग्रसदृशो जिह्वागलजातो यः शोथस्तेनोपलक्षितोपजिह्वा चेति; यदुक्तं—“जिह्वाग्रद्वयः श्वयथुर्हि जिह्वासुप्रम्य जातः कफरक्तमूलः । खालाकरः कण्ठयुतः सचोषः सा तुपजिह्वा पठिता भिषग्भिः ॥” (री० वि० कण्ठ०) इति ॥ १३७ ॥

तथाऽतालुरोगाणां विवरणम् ।—

“—तथाऽष्टौ तालुजा गदाः ।

अर्बुदं तालुपिडका कच्छपी तालुसंहतिः ॥

गलशुण्डी तालुशोषस्तालुपाकश्च पुष्पटः ॥ १३८ ॥

तथाऽष्टादशगन्धरोगाणां विवरणम् ।—

गलरोगास्तथाऽऽख्याता अष्टादशमिता वृधेः ।

तर्थात् ।—मुखरोगसङ्ख्याकरणत्वात् अष्टौ भेदा यथा अर्बुदमित्याद । अर्बुदमिति—ताल्वर्बुदसंज्ञा, तथा च—“पद्माकारं तालुमध्ये तु शोथं विद्यादन्तादुर्बुदं प्रोक्त-
लिङ्गम् ॥” (सु० नि० १६ अ०) इति । प्रोक्तलिङ्गमित्यत्र पूर्वोक्तादन्तादुर्बुदादत्यलक्षण-
मित्यर्थः । भोजे तत्र श्लेष्मरक्तोद्भवमिति ; तथा हि—“उपर्येव भवेन्नडो यथा पश्य-
कर्णिका । पार्श्वतश्चाङ्गुरेदोर्ध्वभासा चाप्यवसीदति ॥ श्लेष्मरक्तसमन्वयानं तत्ताल्वर्बुदसंज्ञि-
तम् ॥” इति । तालुपिडकां—तालुदेशे शोथकरत्वेन पिडका भवति । तन्नाम्नरे
अधुष इति नामान्तरम्, तद्वयथा—“शोथः सख्यो लोडिततालुदेशे रक्ताज्जेशः सोऽधुषो
हृग्व्वराख्यः ॥” (सु० नि० १६ अ०) इति । कच्छपीति—कच्छपीप्रतपिडका
तालुनि भवति, सा कच्छपीशब्दवाच्या ; यदुक्तं—“कूर्मोक्तोऽवेदोऽशौप्रजन्मा
रोगो जेशः कच्छः श्लेष्मणा च” (रो० वि० तालु०) इति । तालुसंहतिरिति—
तालुसंहतमांसमहातेन कथितः ; तथा हि—“दुष्टं मांसं नीरजं तालुमध्ये कफात्
स्थूलं मांसमहातमाहः ॥” इति । गलशुण्डीति—वातपूरितचर्मपुटकतुल्यशोषो
गलशुण्डीशब्दवाच्यः । गलशब्देन कण्ठशुण्डीति केचित् ; यदुक्तं—“श्लेष्मासृग्भ्या
तालुमूलं प्रवृद्धो दीर्घः शोषो ज्ञातवन्तिप्रकाशः । दण्णाकासश्चासृक्तं वदन्ति व्याधिं वेद्याः
कण्ठशुण्डीतं नाम्ना ॥” (रो० वि० तालु०) इति । तालुशोष इति—तालुशोषनामा
व्याधिः, तद्वयथा—“शोषोऽत्यर्थे दीर्घते चापि तालुः श्वासश्चोशतालुशोषोऽनिलाश्च”
(रो० वि० तालु०) इति । “गलशुण्डी तालुशोषः” इत्यत्र “तालुशोषस्तु पित्तात्”
इति केचित् पठन्ति, पित्तस्यापि शोषकत्वात् । किन्तु अयं भोजेऽपि वातादेव
पठितः ; यथा—“तालुशोषो भवेदातात् व्याधिर्यः सत्कथ्यते” इति । तालुपाक-
इति—तालुनि पित्तमेवात्यर्थे पाकं करोति ; यदुक्तं—“पित्तं कुष्यीत पाकमत्यर्थेघोरं
तालुमेवं तालुपाकं वदन्ति” (सु० नि० १६ अ०) इति । पुष्पट इति—तालुपुष्पटः
कथितः ; तालुशब्दात् लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः ; यदुक्तं—“नीरक् स्थायो कोलभातः
अक्षपात् सान्निदोयुक्तात् पुष्पटतालुदेशे ॥” (सु० नि० १६ अ०) इति ॥ १३८ ॥

वातरोहिणिका पूर्वं द्वितीया पित्तरोहिणी ॥ १३९ ॥

कफरोहिणिका प्रोक्ता त्रिदोषैरपि रोहिणी ।

मेदोरोहिणिका हृन्दो गलौघो गलविद्रधिः ॥ १४० ॥

गलरोगा इत्यादि ।—गलोपलब्धतत्त्वं कण्ठरोगप्रतीतिः । तत्र पञ्चानां रोहिण्योना सामान्यलक्षणं कण्ठाधः पलादुराः सम्भवन्तीत्यादिना दर्शितम् ; यथा—
 “गलऽनिनलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ प्रदूष्य मांसञ्च तथैव शोणितम् । प्रकुर्वते कण्ठद्वयः पलादुरान् निहन्त्यमूनं व्याधिरियं हि रोहिणी ॥” इति । यद्यपि सर्वा रोहिण्यो मन्निपातजा तथाऽप्युत्कर्षादिभेदेन वातजादिव्यपदेशः, व्यसलक्षणत्वाच्च ; तद्वयथा—“जिह्वां मसनादृशवेदना ये मांमादुराः कण्ठनिरोधिनः स्युः । तां रोहिणीं वातकृतां वदन्ति वातात्मकीपद्रवगाढजुष्टाम् ॥” (सु० नि० १६ अ०) इति । पित्तरोहिणीति—पित्तनाता रोहिणी श्रोत्रोष्ठान्त्येन दर्शिता ; यतः,—“क्षिप्रोद्धमा क्षिप्रविदाहपाका तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजान् त” (रो० वि० कण्ठ०) इति । कफरोहिणिकेति—कण्ठादिरोधकत्वाच्चरपाका कफ-रोहिणीति ; यदुक्तं—“स्रोतोनिरोधित्वपि मन्दपाका गुर्वी स्थिरा सा कफसम्भवा च” (सु० नि० १६ अ०) इति । त्रिदोषैरपि रोहिणीति—मिलितदोषवयेण भवति मन्निपातजन्यः ; उक्तं हि—“गम्भीरपाकित्यनिवार्यवौर्यां त्रिदोषलिङ्गा त्रितयोत्थिता च” (रो० वि० कण्ठ०) इति । मेदोरोहिणिकेति—दृष्टमेदोजनित-रोहिणीति । एके भेदःस्थाने रक्ता रोहिणिकेति पठन्ति सर्वत्र प्रतिपादितत्वात् ; तथा हि—“स्फीटैश्चिता पित्तसमानलिङ्गा साध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिका तु” (रो० वि० कण्ठ०) इति । इतररोहिण्यपेक्षयाऽस्याः सुखसाध्यत्वमुक्तम् । हृन्द इति—घ्नः समुन्नतः शोथकरः यः कण्ठे हृन्दरोगः कथितः ; तथा हि—“समुन्नतं हृतममन्दः ङं तीव्रज्वर हृन्दमुदाहरन्ति । तत्रापि पित्तज्वरप्रकोपाज्ज्ञेयं सतोदं पवनात्मकञ्च ॥” (रो० वि० कण्ठ०) इति । गलौघ इति—कण्ठाधरोधात् गलौघसंज्ञः, स च शोथोऽन्नजलाधरोधी कथितः ; तथा हि—“शोथो मज्जान्नजलाधरोधी तीव्रज्वरो वायुगतेर्निहन्ता । कफेन जातो रुधिरान्वितेन गले गलौघः परिकीर्णितोऽसौ” (सु० नि० १६ अ०) इति । (वायुगतेर्निहन्ता इति—अतिमहत्त्वादुदानबाधोर्गति-निरोधक इत्यर्थः) । गलविद्रधिरिति—विद्रधिवत् गले शोथो गलविद्रधिश्चब्दवाच्यः ; यतः,—“सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः शोथो रुजो यत्र च सन्ति सर्वाः । स सर्वदोषो गलविद्रधिस्तु तस्यैव तस्यः खलु सर्वजल ॥” (सु० नि० १६ अ०)

खरहा तुण्डिकेरी च शतघ्नी तालुकोर्बुदम् ।

गिलायुर्वलयश्चापि वाताहण्डः कफात्तथा ॥

मेदोगण्डस्तथैव स्यादित्यष्टादश कण्डजाः ॥ १४१ ॥

इति । यद्यप्ययं स्थानप्रभावेण सन्निपातज एव, तथाऽपि चिकित्साभेदाद्ये नामान्तरेण पुनरत्र यद्वयं न दोषः । खरहेति—खरनाशकत्वेन खरहा नाम गलरोगः कथितः ; यदुक्तं—“यस्मात्प्रमाणः श्वसिति प्रसक्तं भिन्नस्वरः शुक्लविमुक्तकण्डः । कफोप दिग्धेष्वनिलायनेषु ज्ञेयः स रोगः श्वसनात् खरघ्नः ॥” (री० वि० कण्ड०) इति । (श्वसनादिति—वातात्) । तुण्डिकेरीति—तुण्डिकेरी वनकापासीफलं तत्फलशोधतया तुण्डिकेरी कथिता । तन्नाम्नरे * कण्डशालूकेति नाम्ना सा प्रतिपादिता ; यतः,— “कोलाश्लिमावः कफसम्बन्धो यो यन्निर्गले कण्टकशुकभूतः । खरः स्थिरः शस्त्र- निपातमाध्यन्तं कण्डशालूकमिति ब्रूवन्ति ॥” (सु० नि० १६ अ०) इति । शतघ्नी चेति—शतघ्नी पाषाणशिला, तत्तुल्या रोगः शतघ्नोऽशब्दवाच्यः, “अथ कण्टकसंस्कृष्टा शतघ्नी मूढती शिला” इत्यादिवचनात् ; तदाकारत्वात् अपि मांसप्ररोहोप- लक्षिता शतघ्नीति ; यदुक्तं—“वर्तिष्वना कण्डनिरोधिनी या चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः । नानाकजोक्तायकरी विदोषात् ज्ञेया शतघ्नीव शतघ्नासाध्या ॥” (सु० नि० १६ अ०) इति । † तालुक इति—तालुकोऽन्यत्र गलरोगे विदारिकेति नाम्ना पठितः, वदनसम्बन्धत्वात् तालुकव्यपदेशः, तद्वयथा—“मृदादन्तोदं श्वयष्टं खरक्त- मन्तर्गले पूतिविशीर्णमासम् । पित्तेन विद्यात् वदने विदारौ पार्श्वे विशेषात् स त् येन शेते ॥” (सु० नि० १६ अ०) इति । अर्बुदमिति—अर्बुदाकारपिडका गले भवति इत्यर्बुदरोगः ; अयमेव ‡ मांसतान इत्यन्यत्र प्रतिपादितः ; यतः,— “प्रतानवान् यः श्वयष्टुः सुकृष्टो गलीपरोधं कुरुते कमेण । स मांसतानः कथितोऽव- लम्बो प्राणप्रणुत् सर्वकतो विकारः ॥” (सु० नि० १६ अ०) इति । एकेर्बुदमेवेक- इत्येति नाम्ना प्रतिपादयन्ति अपाक्यमृदशोद्यत्वात् ; यतः,—“वृत्तीव्रतोऽन्तःश्वयष्टुः

* सुश्रुत भाष्याभ्यां तुण्डिकेरी तालगतमुखरोगाधिकारे कण्डशालूकश्च कण्ड गतमुखरोगाधिकारे पृथक् पृथक् लक्षणनिर्देशेन पाठितम् ।

† तालुक इत्यत्र शालूक इति यन्मूलरोगः पाठः समीचीनतया प्रतिभाति । शालूक-विदारिकयोर्लक्षणमपि सुश्रुतादिभिः भिन्नतया पठितम् ।

‡ बाम्भटे अर्बुदं कफजनमिति पठितम्, अत्र मांसतानञ्च विदोषज्ञः असाध्यश्च इति अर्बुद-मांसतानयोरेवेति चेत्त्या ।

तवाष्टमर्वसरमुखरोगाणां विवरणम् ।—

मुखान्तःसम्भवा रोगा अष्टौ ख्याता महर्षिभिः ।

मुखपाको भवेदातात् पित्तात्तद्वत् कफादपि ॥ १४२ ॥

रक्ताच्च सन्निपाताच्च पून्यास्योर्द्ध्वगुदावपि ।

अर्बुदञ्चेति मुखजायतुःसप्ततिरामयाः ॥ १४३ ॥

अटाहः सकण्डुरोऽपाक्यस्रदुर्गुणः । नास्तेकवन्द परिकीर्त्तितोऽसौ व्याधिर्बलाग्रतज-
प्रभूतः ॥” (री० वि० कण्ठ०) इति । गिलायुरिति—ग्रामलकास्थिमात्रो यो
गले यन्मिः स गिलायुश्चन्द्रवाच्यो रोगः ; तथा हि—यन्मिगले त्वामलकास्थिमात्रः
स्थिरोऽन्यदकं स्यात् कफरक्तमूर्तिः । संवत्यते सक्तमिवाशनस्य स ग्रन्थमाप्यन्तु
मिलायुमज्ञः ॥” (सु० नि० १६ अ०) इति । बलग्र इति—बलघो गलरोगविशेषः ;
यथा—“बलाग्र एवायत्तमुद्यतश्च शीघ्रं करोत्यश्नगात् निवाय्य । तं सर्वथेवाप्रतिवाय्य-
त्रोथो विवर्जनीयं बलयं वदन्ति ॥” (सु० नि० १६ अ०) इति । अथ गलरोगेषु
विधा गण्डानाह—एको वातगण्डः, कफात् तथेति—कफगण्डः, तथैव मेढ्रगण्ड इति ।
गलप्याजत्वादय गलगण्डव्यसृक्तम्, अन्यच्च गण्डमान्वाया गलगण्डः पठितः, तच्च
भिन्नचिकित्साविषयत्वात् ; शार्ङ्गधराचार्येण नाममङ्गुडाटवेव गृहीतः, न तु गण्ड-
क्रान्तागणनायाम इत्यदोषः । एतेषां रूपन्तु तत्त्वान्तरात् बोध्यम् इति ॥ १३८—१४१ ॥

मुखान्तःसम्भवा रोगा इति ।—यद्यपि मुखान्तर्भवोगा दन्तजिह्वादिगताः
कृतिताः, तथाऽपि मुखदन्तोष्ठादिसप्तस्थानानां युगपत् व्यापकतया मुखपाकमंज्ञो
रोगः प्रतीतः ; अत एव तत्त्वान्तरे सर्वसर इति संज्ञयाऽभिहितः । सर्वमुखेषु सरतीति
सर्वसरः, यदुक्तं—“स्फाटेः स्रोतोदेवदं समन्तात् यस्याचितं सर्वसरः स वातात् । रक्तेः
अटाहे तनभिः सप्तोत्थंस्याचितञ्चापि स पित्तोपातः ॥ अवेदनैः कण्डुयुतैः सबर्णैः
शंस्याचितं चापि स वै कफेन ॥” (री० वि० सर्वसर०) केचिद्विद्वेद्योक्तं रक्तजसर्वसर-
लक्षणं पठन्ति, यथा—“रक्तेन पित्तोदित एक एव कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकमंज्ञः”
(सु० नि० १६ अ०) इति । सन्निपाताञ्चेति—भिन्नितदोषत्रयेण पचसो मुख-
पाकभेदः ; पाकत्वे विकृतिवधमसमवायारम्भनिष्ठत्वात् स सन्निपातजा व्यपदेशः,
यतः,—“वातादृते नास्ति रक्षा न पाकः पित्तादृते नास्ति कफाच्च पृथः ।” (सु०
नि० १६ अ०) “तथाहि सर्वे परिपाककाले पचन्ति शोफास्त्रिभिरेव दोषैः ॥” (री०
वि० ब्रह्म०) इति । पून्यास्य इति—दुर्गन्ध्यास्यः प्रसिद्धः । * ऊर्ध्वगद इति—मुखरोग-

* वाग्मटे यस्यान्तरे च “ऊर्ध्वगदः” इति पाठः ; स एव साधुः ।

अष्टादशकर्णरोगाणां विवरणम् ।—

कर्णरोगाः समाख्याता अष्टादशमिता बुधैः ।

वातात् पित्तात् कफात् रक्तात् सन्निपाताच्च विद्रधिः ॥१४४॥

शोथोऽर्बुदं पूतिकर्णः कर्णाग्निः कर्णहृत्क्षिका ।

विशेषः, सर्ववाग्नीर्णमांसलेनाभ्यन्तरगुहाकारवत्, त्रेनीर्गुदाकारत्वेन सप्तमी भेदोऽव दर्शितो न दोषः, अन्यत्र पित्तजान्तर्गत एव । अर्बुदमिति—अर्बुदवत् रुखरोगः, अर्बुदस्य सर्वगतत्वादत्रैवान्तर्भवतीति न दोषः, तदाकारपिण्डकालेनात्मः प्रतिपादितः । तन्वान्तरे कफज्ज्वलनगतं दर्शितम् । इति कथितप्रकारेण मुखज्जा नामधाः रोगाः चतुःसप्ततिः कथिता इत्यर्थः, सप्तसु स्थानेष्विति शेषः ॥ १४२/१४३ ॥

कर्णरोगा इति ।—कर्णान्तरधिल्लक्ष्योत्पन्नाः, तेन कर्णशक्नुष्यर्वाच्छ्रमदृष्टोपगृहीतं श्रोत्रमुच्यते । तत्र यद्यप्येकदेशगतो रोगस्तथाऽप्यवयवेषु समुदायोपचारात् कर्णव्यपदेशः । अष्टादशमिता बुधैरिति ।—बुधैरिति—प्रबोधैः, येन सर्वतन्त्रेभ्यः संविचार्य सङ्गृहः कृतः ; अत एवात्र चरकोक्तकर्णरोगचतुष्टयं दोषभेदेन तेषां कथितम् ; तद्वयथा—“नादोऽतिरुक् कर्णमलस्य श्रोत्रः स्नावस्तनुश्याश्रवणञ्च वातात् । श्रोत्रः सरागो दरणं विदाहः सपीतपूतिस्रवणञ्च पिपात् ॥ वैशुल्यकण्डूस्थिरश्रोत्रशुक्ल-लिङ्गिभ्रष्टतिः श्लेष्मभवेऽप्यरुक् च । सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात् स्नावश्च तत्राधिक-दोषवर्णः ॥” (च० चि० त्रिमूर्तिय०) इति । रक्तजस्य पित्तज्ज्वलनभावः इति तन्वान्तरे ; अत्र तु गणनाक्तत्वात् पृथक् पठितः । विद्रधिरिति—कर्णविद्रधिः, स द्विविधः, एकोऽभिघातजः अपरो दोषजश्च ; यदुक्तं—“अताभिघातप्रभवस्तु विद्रधिर्भवेत् तथा दोषकृतोऽपरः पुनः । सरक्तपीतारुणमस्रमासवेत् प्रतोदधूमायनदाहशोषवान् ॥” (मु० सु० २० प्र०) इति । अत्र तु प्रागन्तुकेन दोषप्रकोपत्वादेक एव व्यपदेशः । श्रोत्र इति—कर्णश्रोत्रः । कर्णश्रोत्राबुंदाशंसं लक्षणं पूर्वोक्तलक्षणैर्जानीयात् ; यदुक्तं—“कर्णश्रोत्राबुंदाशंसं जानीयादुक्तलक्षणैः” (रो० बि० कर्ण०) इति । तत्र * कर्णश्रोत्राश्रितारः वातपित्तकफरक्तजत्वेन । एवं कर्णाग्निश्चतुर्विधं वातपित्तकफ-सन्निपातभेदेन । कर्णाबुंदाः सप्तधा वातपित्तकफमांसमदीरक्तसन्निपातभेदात् । शालाक्यसिङ्गान्तेन सन्निपातजनमधिकम् एवं सप्ताबुदम् ; यतः सुश्रुतीनां अष्टाव्यंशति-कर्णगतरीगास्तेनाव लिखिता न दोषाः । पूतिकर्ण इति—पूति पूयं स्रवतीति

* “कर्णश्रोत्राश्रितारः वातपित्तकफरक्तजत्वेन । एवमग्निश्चतुर्विधम् ; सङ्ग-

बाधिर्यं तन्त्रिका कण्डः शष्कली कामिकर्णकः ॥

पूतिकर्णकः ; यदुक्तं—“पूयं खवति यः पूति स ज्ञेयः पूतिकर्णकः” (री० वि० कर्ण०) इति । कर्णहृन्निकेति—कर्णप्रविष्टपतङ्गादिकौटत्वात् कथितः ; तद्वयथा—“पतङ्गाः श्रतपद्यथ कर्णस्रोतः प्रविश्य हि । अरतिं व्याकुलत्वस्य भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ॥ कर्णो निस्तुयते तस्य तथा फरफरायते । कौटे अरति रुक् त्रीना निषण्ठे मन्दवेदना ॥” (री० वि० कर्ण०) इति । बाधिर्यमिति—बधिरता प्रसिद्धा ; तद्वयथा—“यदा शब्दवद् स्रोती वायुराह्वय तिष्ठति । शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्ये तेन जायते ॥” (सु० नि० १५०) इति । * तन्त्रिकेति—तन्त्रिकाजन्मशब्दवद्वेगसन्त्रिकारोगः ; अन्यत्र कर्णस्वेड इति संशयाऽभिहितः ; यदुक्तं—“वायुः पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम । करोति कर्णयोः स्वेडं कर्णस्वेडः स लभ्यते ॥” (री० वि० कर्ण०) इति । कण्डुराति—कण्डुरव्यन्त्र + कर्ण-शब्दशब्दश्चाद्यः ; यतः,—“मारुतः कफसंयुक्तः कर्णकण्डूं करोति च” (री० वि० कर्ण०) “पित्तोष्णशोषतः श्लेष्मा जायते कर्णशून्यकः” इति । यद्यपि कण्डूः कर्णगूथस्य पथङ्गान्दिष्टः, तथाऽप्यत्र श्लेष्मशोषकत्वादपि कण्डूदोषां सम्भव इत्यदोषः (?) ।

मात्रपातजार्शसाः सन्निपातागन्तुजशोथयोश्चावासम्भूतराधारप्रभावात् । अर्बुदश्च सप्तविधं वातापित्तकफरक्तभामसंदेशरान्नित्तभेदात् । [शरान्नस्य वातजावरुड्व्याव पृथक् गणनं शालाक्यामज्ञानसमादादिति कार्त्तिकः । यथा सुश्रुत एव कर्ण-रोगानन्तरं, दोषोस्त्राभसौ, पृथगेकत्रय द्रव्यान्तयाऽर्शांसि तथैव शोथान् । शालाक्य-सिद्धान्तमवेक्ष्य चापि सर्वात्मकं सप्तममर्बुदन्तु ॥ इति नासारोगेऽभिधास्यति, तथा इहापि युज्यते, तेन रक्तजस्य पित्तसमानलिङ्गत्वात् पित्तजैऽन्तर्भावः, तथा आगन्तुजस्यापि रक्तपित्तलिङ्गत्वात् पित्तज एवान्तर्भावः, तेन शोथः सन्निपातशो-ऽप्यगणनीयः, एव सङ्ग-रक्तजयोः दोषज एवान्तर्भावात् सन्निपातजसंज्ञः अपृथक् गणनीयम् । अर्बुदश्च मात्रपातजं सप्तममिति, एवमेव सङ्काष्टावशातः सुश्रुतोक्ताः कर्णरोगा भवन्ति” इति सधुकीषि श्लोकतः ।

* तन्त्रिका वाष्पे पाक्षीगतरोगे उक्ता, तथा च—“क्षया इदा च तन्वीवत् पाली वातेन तन्त्रिका” (वा० उ० १७ अ०) ।

+ कर्णशून्यशून्यान्तरं न दृश्यते, सुश्रुते कर्णगूथकः चास्ति ; “पित्तोष्णशोषितः” इत्यादिज्ञानान्तु कर्णगूथकस्य साधनेन पाठतः, तत्र च “पित्तोष्णशोषितः श्लेष्मा कुर्वते कर्णगूथकम्” इति पाठः । कर्णकण्डूः कर्णगूथकात् भिन्नलक्षणा एवेति बोद्धव्यम् ।

कर्णनादः प्रतीनाह इत्यष्टादश कर्णजाः ॥ १४५ ॥

शकुलीति—* शकुली चावोपलक्षणं, तेन तद्वतविकृतदीप्तत्वात् कर्णस्रावत्वेन सर्वत्र कर्णस्राव इति संशयाऽभिहितः; तद्वदथा—“शिशोऽभिघातादथवा निमज्जती जलं प्रपाकादथवाऽपि विद्रवः। सवेदि पृथं श्वणोऽनिर्लार्दितः स कर्णसंस्त्राव इति प्रकीर्तितः ॥” (रो० वि० कर्ण०) इति। एकं शकुलीत्यनेन कर्णग्रथमेव मन्यन्ते, तत् पूर्वाचार्यैरुपादितत्वादध्याभिरपि न पाठितः। कृमिकर्णक इति—कर्ण-कृमिकटागः कृमिकर्णशब्दवाच्यः, यदुक्तं—“यदा तु मूर्च्छन्त्यथवाऽपि जन्तवः सृजन्यपत्न्यान्वथवाऽपि भाक्षकाः। तदा सृजनत्वाच्छ्रवणो न कुर्यात् भिर्वाभिराद्यैः कृमिकर्णको गदः ॥” (रो० वि० कर्ण०) इति। कृमिलक्षणत्वात् (?) अयं विकारस्त्रिदोषजो ज्ञेयः; तथा च—“श्रेष्ठापितजलोन्मिश्रे कोष्ठे शोषितमांसजे। जायन्ते जन्तवस्तत्र कृष्णासायाः सितारूपाः ॥ भक्षयन्तीव ते कर्णे कुर्वन्तो विविधा रुजः। कृमिकर्णे विजानीयात् सन्निपातप्रकोपजम् ॥” (निमि०) इति। कर्णनाद इति—यत्र विविधस्वनान् शृणोति स कर्णनादः इति गदविशेषः कथितः; यथा—“कर्णस्त्रोतःस्थिते वाते शृणोति विविधान् स्वनान्। भेरोमृदङ्गशङ्खानां कर्णनादः स उच्यते ॥” (रो० वि० कर्ण०) इति। न केवलं भेय्यादिस्वनम्, अन्येषामपि, अन्यत्र प्रतिपादितत्वात्; यदुक्तं विद्वे—“शिशोगतो यदा वायुः श्रोत्रयो प्रतिपद्यते। तदा तु विविधान् शब्दान् समोरयति कर्णयोः ॥ मृद्धार-क्रौञ्चनादं वा मण्डूककाकथोलथा। तन्लोमृदङ्गशब्दं वा सामन्त्यस्वनं तथा ॥ गीताध्ययनवंशानां निर्घोषं त्वेडमेव वा। अपानिव पतन्तीनां शकटस्येव गच्छतः ॥ असतामिव सर्पाणां सदृशः श्रूयते स्वनः ॥” इति। ननु कर्णनाद-कर्णस्त्रेडयोर्घोषजतरूपत्वात् को भेदः? उच्यते,—कर्णनादं केवलानिलज्जे माना-शब्दान् शृणोति, कर्णस्त्रेडे तु वणुशब्दमवेति नियमात् पितादिषंसृष्टवातजन्य-त्वाच्चेत्यदीवः। प्रतीनाह इति—यदा द्रवग्रूथो मुखप्राणविवरेषु प्रतिपद्यते, तेन आर्हावभेदको भवति, स कर्णप्रतीनाहसञ्जको रोगः कथितः; तथा हि—“स

* “शकुली चावोपलक्षणम्” इत्यादि यदुक्तं, तन्न दृढं, शकुलीशब्देन शकुली-गतत्वात् कर्णस्रावे लब्धे अन्येषामपि शकुलीगतरीगाणां लाभसम्भवात्। अन्ये शकुलीशब्देन वाय्वटोक्तविदारिका लभ्यते; तथा च—“सन्निपातात् विदारिका। सवर्णः सदृजः क्षम्यः श्रवणः स उपेक्षितः ॥ कटुतैलनिभं पक्कः सवेत् कच्छेण रोदति। सहोचयति रुदा च सा प्रुथं कर्णशकुलीम् ॥” (वा० उ० १७५०) इति।

सप्तकर्णपालीगतरीगाणां विवरणम् । —

कर्णपालीसमुद्भूता रीगाः सप्त इहोदिताः ।

उत्पातः पालिशोषश्च विदारो दुःखवर्द्धनः ॥

परिपोटश्च लेहो च पिप्पली चेति संस्मृता ॥ १४६ ॥

कर्णगृथो द्रवतां यदा गतो विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते । तदा स कर्णप्रतिनाड-
संशयो भवेद्विकारः शिरसोऽहमेदकृत् ॥” (री० वि० कर्ण०) इति । अयमेव
विदेहे दीषोत्कर्षादिभेदेन पठितः ; यदुक्तं—“कफाद्या मावताद्याऽपि सन्निपातेन
वा पुनः” इति ॥ १४४ । १४५ ॥

कर्णपालीति । — कर्णावयवत्वात् कर्णपाल्याः तदधिकृतरीगाः । कर्णपालीसमुद्भूता
इति—कर्णव्यवस्थानोद्भूता इत्यर्थः । ते उत्पातप्रभृतयः ; तद्वयथा—“गुर्वाभरण-
सयोगात्ताडनात् घर्षणादपि । शोथः पाल्यां भवेच्छावो दाहपाकवृजान्वितः ॥ रक्तो वा
रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः ॥” (री० वि० कर्ण०) इति । पालिशोषश्चेति—
कर्णपालीशोषणात् शोषः विकृतानिलत्वात् । * विदारोति—विदारोऽयं विदारो रोगः
पाल्यां भवति, स प्रसिद्ध एव । दुःखवर्द्धनत्वात् दुःखवर्द्धन इति ; तथा
हि—“संवर्द्धमाने दुर्विद्धे कण्डूदाहवृजान्वितः । शोथो भवति पाकश्च
विदारो दुःखवर्द्धनः ॥” (री० वि० कर्ण०) इति । परिपोटश्चेति—
परिपोटवत् + परिपोटः ; यदुक्तं—“सौकुमार्यादिरोक्पृष्टे सङ्घसातप्रवर्द्धिते ।
कर्णे शोथो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान् ॥ कृष्णार्कणमभः शम्भः स बातात्
परिपोटकः ॥” (री० वि० कर्ण०) इति । लेहो चेति—मांसलङ्घनाल्लेहो रोगः,
निर्मांसकारीत्यभिप्रायः ; अत एव तन्नाम्नरे परिलेहोऽशब्दवाच्यः ; यदुक्तं—
“कफासृक्कमयः क्रुद्धाः सर्षपाभा विसर्पिणः । कुर्वन्ति पिडक्ताः पाल्यां कण्डू-
दाहवृजान्विताः ॥ कफासृक्कमिसम्भूतः स विसर्पव्रतकतः । लिङ्गे सशङ्कुर्लो
पालीं परिलेहोति स स्मृतः ॥” (री० वि० कर्ण०) इति । पिप्पली चेति—पाल्यां
शोथः पिप्पलीशब्दवाच्यः । तन्नाम्नरे † अयमेवोन्मन्यर्हः ; तद्वयथा—“कर्णे

* विदारो वक्ष्यमाणा पिप्पली च बाम्बटे कर्णस्रोतोगतरीगत्वमेतौ ।

† परिपोटः मनाक् त्वगवदारणम् ।

‡ बाम्बटोक्तपिप्पल्या सङ्घ उन्मन्यकस्य किमपि साहस्यं नास्ति ; पिप्पली

पञ्चकर्णमूलगतरीगाणां विवरणम् ।—

कर्णमूलामयाः पञ्च वातात् पित्तात् कफादपि ।

सन्निपाताच्च रक्ताच्च—”

॥ १४७ ॥

अष्टादशनासारोगाणां विवरणम् ।—

..—“तथा नासाभवा गदाः ।

अष्टादश समाख्याताः प्रतिश्यायास्तु तेष्वपि ॥ १४८ ॥

वातात् पित्तात् कफाद्रक्तात् सन्निपातेन पञ्चधा ।

बलाद्धयतः पात्या वायुः प्रकुप्यति । कर्णं सङ्गृह्य कुरुते ग्राधे कञ्चमवेदनम् ॥

उन्मन्यकः सकण्डको विकारः कफवातजः ॥” (रो० वि० कर्ण०) इति ॥ १४६ ॥

कर्णमूलामयानाह, कर्णमूलामयाः पञ्चेत्यादि ।—कर्णमूलरोगः सन्निपातज्वरे उपद्रवरूपत्वेन दर्शितः, स च पिडकाकृतिः ; तद्वदथा—“सन्निपातज्वरस्यान्त कर्ण-
मूलं मुदाकणः । शोथं मञ्जयते तेन कश्चिदिव विमुच्यते ॥” (च० चि० ज्वर०) इति । वातादीनामुत्कर्षादिभेदेन पञ्च भेदा ज्ञेयाः । कर्णमूलसम्बन्धादत्र कर्ण-
रोगगणनाया पठितो न दोषः ॥ १४७ ॥

तथा नासाभवा गदा इत्यादि ।—तथेति—इन्द्रियाधिष्ठितरोगगणनासम्बन्धानां नासाभवा रोगा अष्टादश समाख्याताः । तेषां पञ्चधा प्रतिश्यायमाह, तदृक् चरके—“ग्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमिव वा । सारुताभ्यातांशरसो सारुतं श्लायते प्रति ॥” (च० चि० राजयक्ष्म०) इति । पञ्चमेति—पञ्चप्रकारः, स तु वातादिदोषभेदेन भवति । तेषां केषाञ्चित् ज्ञापनायै लक्षणान्याह ; यदुक्तम्—
“आनडा पिडिता नासा तमुक्तावप्रसंकिनी । गलताल्लोष्ठशोषश्च निस्तोदः शङ्खी-
रपि ॥ अथप्रतिरत्यर्थे यत्नैरप्यस्यैव च । भवेत् स्वरोपघातश्च प्रतिश्यायै-
ऽनिल्लात्सके ॥” (सु० उ० २४ अ०) इति । पित्तजमाह—“उष्णः सपीतकः स्वादो घ्राणात् स्ववति पेटिके । कृशोऽतिपाण्डुः सन्तप्तो भवेत्तृष्णाभिपीडितः ॥ सधूस-
मग्निं सङ्गसा वमतीव स मानवः ॥” (सु० उ० २४ अ०) इति । कफजमाह—
“ग्राणात् कफकृते शीतः कफः पाण्डुः स्ववेददुः । शुक्लावभासः शुक्लाश्चो भवेद्गुरुश्चिरा-
नरः ॥ कण्ठताल्लोष्ठशिरसां कण्डूभिरभिपीडितः ॥” (रो० वि० नासा०) इति ।

स्रोतोगतः रोगः, लक्षणमपि तस्या अन्वविधन ; तथा च—“इको नोरुगनेको वा गर्भे मांसाक्षुरः स्थिरः । पिप्पली पिप्पलीमानः ॥” (वा० उ० १७ अ०) इति ।

अपीनसः पूतिनामो नासाशो भ्रंशथुः क्षवः ॥ १४९ ॥

रक्तजमाङ्ग—‘रक्तजं तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्तते । तासाञ्च भवेज्जलुहरीघात-
प्रपीडितः ॥ दुर्गन्धोच्छ्वासोदना गन्धानपि न वेति सः ॥’ (सु० उ० २४ अ०)
इति । अत्र पित्तप्रतिश्यायलिङ्गान्यपि बोद्धव्यानि, तुल्यत्वात् पित्तरक्तयोः ;
यदुक्ते—‘पित्तप्रतिश्यायकृतेर्लिङ्गेष्वपि समान्वतः’ इति । सन्निपातजमाङ्ग—‘भूत्वा
भूत्वा प्रतिश्यायो यस्याः कस्मान्निरवर्तते । सम्पक्को वाऽप्यपक्वो वा स सर्वप्रभवः स्रुतः ॥’
(री० वि० नामा०) इति । अत्र यद्यपि दोषत्रयलिङ्गानि नोक्तानि तथाऽपि
सर्वप्रभवत्वात् ज्ञातव्यानि । असाध्यस्यैव दुष्टतां गतः सन्निति वदन्ति ; तस्मादत्र
दृष्टप्रतिश्यायलक्षणं पृथक् लिखितम् ; तद्वयथा—‘प्रकृियते पुनर्नामा पुनश्च
परिशुष्याति । पुनरानक्षते वाऽपि पुनर्विनिश्चयते तथा ॥ निश्चामो वाऽतिदुर्गन्धो नरो
गन्धं न वेति च । एवं दृष्टप्रतिश्यायं जानीयात् कच्छमाधनम् ॥’ (सु० उ० २४ अ०)
इति । अथच पक्षपानश्यायानामेवावस्थान्तरतया न षष्ठा गणनीयः, यतः
सर्वं प्रतिश्याया अर्थात्क्रियमाणा, कालान्तरेण दुष्टता यान्तीति वचनात् ; तथा हि
—‘सर्वं एव प्रतिश्याया नरस्यापत्तिकारिणः । दुष्टता यान्ति कालेन तदाऽसाध्या
भवन्ति हि ॥’ (री० वि० नामा०) इति । अपीनस इति—अपीनसो नासा-
रोगविशेषः प्रतिश्यायसमानलिङ्ग इति केचित् ; यदुक्तम्—‘आनक्षते यस्य
विशुष्यते च प्रकृियते धूयति चापि नासा । न वेति यो गन्धरसाश्च जन्तुर्जुष्टं
व्यवस्थेत्तमपीनसेन ॥’ (च० १७० विमर्शिनो०) ‘तस्मान्नल्लक्ष्येणैव अवकारं ब्रूयात्
प्रतिश्यायसमानलिङ्गम्’ (सु० उ० २२ अ०) इति । विदेहस्तु पित्तश्लेष्मजं
पठति, तद्वयथा—‘मस्तुलुङ्गोचितः श्लेष्मा यदा पित्ताद्विदह्यते । तदाऽसृक्
पिच्छिलं नासा बह्निङ्गानकं स्वयेन ॥ सकण्डूटाहपाकश्च तत्तु विद्यादपीनमम् ॥’
इति । यत्र पूतिबाधुर्वर्हति स पूतिनामसंज्ञो रोगः कथितः ; तथा हि
—‘दोषैर्बदध्वैर्गलतालुमुले सम्भूयते यस्य समीरणस्तु । निरति पूतिर्मख-
नासिकाभ्यां त पूतिनस्यं प्रवदन्ति रोगम् ॥’ (सु० उ० २२ अ०) इति । दोषै-
रिति—पित्तकफरक्तेः, रक्तस्यापि दाघतुल्यरूपत्वाद्दाघत्वं बहुवचननिर्देशाच्च ;
तथा विदेहस्युक्तं—‘कफपित्तमसृज्जिह्वं नञ्चितं मूर्ध्नि देहिनाम् । विदग्धमुष्मणा
गाढं रजः कल्पाऽविशङ्कशाम् ॥ ततः प्रत्यन्दते घ्राणात् सरक्ते पूति पीतकम् ।
पूतिनस्यत्वं तं विद्यात् घ्राणकण्डूज्वरप्रदम् ॥’ इति । नासाश इति—नासिकादि-
जातानामशसाच्चाधिमांसत्वं, सुश्रुतेन तु मांसादुरत्वसाधस्यात् शस्त्रचारादि-

नासानाहः पूतिरक्तमर्बुदं दुष्टपीनमम् ।

साध्यत्वाच्च तेष्वर्थः प्रयोगः कृतः ; यदुक्तं—“दोषास्त्वज्ञानममेदासि सन्दृश्य विविधा-
कृतीन् । नासाङ्गुरानपानादौ कुर्वन्त्यशांसि तान् जगुः ॥” (वा० नि० ७ अ०)
इति । अवादिशब्देन नासिकाग्रवत्पुच्छमर्बुदनाभिप्रभृतयो गृह्यन्ते । एषा क्षयवर्णानि
सुश्रुते पाठितानि ; अत एव सुश्रुतेन नासारोगा एकादंशत् सङ्गृहीताः ; तद्वयथा—
“अर्बुदं सप्तधा शोषाश्चत्वारोऽर्शश्चतुर्विधम् । चतुर्विधं रक्तापिचमुक्तं घ्राणोऽपि तद्दिदुः ॥”
(रो० वि० नासा०) इत्यादि । एतेषां विवरणं तत्रैव ज्ञातव्यम् । भंशधुरिति—यत्र
सघनो विदग्धः कफ एव निजं तत् भंशधुनाम रोगः कथितः , तथा हि—“भंशधुरिति
नासिकया तु यस्य सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु । प्राक् सञ्चितो मूर्ध्नि मूर्ध्य-
तमसं भंशधुं रोगमुदाहरन्ति ॥” (रो० वि० नासा०) इति । अत्र इति—अवाग्बुद्ध्या,
स तु दोषागन्तुजभेदेन त्रिविधो भवति ; तद्वयथा—“घ्राणाश्रिते मर्मणि सम्प्रदृष्टो
यस्यानिहो नासिकया निरति । कफानुयातो बहुशः सशब्दः स रोगमाहः
अवधुं विधत्ता ॥” (सु० उ० २२ अ०) इति । आगन्तुजमाह—“तीक्ष्णोप-
योगादभिजिघ्रती वा भावान् कटूनर्कानरीक्षणाद्वा । त्वादभिर्वा तरुणास्थिमम-
ण्डुद्वाटितेऽन्यः अवधुर्नरति ॥” (सु० उ० २२ अ०) इति दीवशागन्तुज
प्रभाव गणनीयः । नासानाह इति—आगच्छते इत्यानाहः नासाप्रतीनाह इत्यर्थः ;
यदुक्तम्—“उष्णसमागन्तु कफः सवातो बन्ध्यात् प्रतीनाहमुदाहरन्तम्” (च० चि०
त्रिसर्गोऽर्थ०) इति । विदहेऽप्युक्तं, यथा—“कफावतो यदा वायुर्यस्य
घ्राणे च तिष्ठति । वृणोतीव तदा घ्राणं स प्रतीनाह उच्यते ॥”
इति । पूतिरक्तमिति—पूथरक्तमिति पाठान्तरम् । दोषागन्तुजभेदात् प्रतिपादि-
तम् ; यदुक्तं—“दोषैर्विदग्धैरथवाऽपि जलोर्ललाटदंशेऽभिहतस्य तैस्ते । नासा
सञ्चेत् पूथमसृग्निमित्तं तं पूथरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥” (सु० उ० २२ अ०) इति ।
अर्बुदमिति—नासार्वुदं प्रसिद्धम् । सुश्रुते तु एकादंशत्सङ्ख्यापूरणाय सप्तधाऽर्बुदस्य
सङ्गृहः, तत्र वातपित्तकफरक्तमांसमेदोभयत्वेन षड्विधमर्बुदं शालाक्यप्रसिद्धं,
विदहेन सन्निपातजमधिकमुक्तम्, एवं सप्तविधमर्बुदं नासारोगेषु सुश्रुतेनोक्तम् ।
अत्र तु नाममात्रेणैव कृतार्थत्वात् । दुष्टपीनमिति—पीनसं नासारोगे
प्रसिद्धं, दुष्टत्वमत्र विज्ञातदोषारब्धत्वात् ; अत एव पक्तामभेदेन द्विविधमित्याचक्षते ;
तद्वयथा—“शिरोरुक्त्वमरुचिर्नासावस्तनुः स्वरः । ज्ञानः शीघ्रव्याधीक्षमाणपीनस-
लक्षणम् ॥” (रो० वि० नासा०) इति । पक्वत्वमाह—“आमविज्ञान्वितः

नासाशोषो घ्राणपाकः पूयस्त्रावश्च दीप्तकम् ॥ १५० ॥

दशशिरोरोगाणां विवरणम् ।—

तथा दश शिरोरोगा वातेनाह्वावभेदकः ।

श्लेष्मा घनः खेपु निमज्जातः । स्वरवर्णविशुद्धश्च परिपक्वस्य लक्षणम् ॥” (रो० वि० नासा०) इति । नासाशोष इति—नासायां शोषोऽत्र परिशोषः ; यदुक्तं—
“घ्राणाश्रिते स्त्रोतमि भारुतेन गाढं प्रतप्तं परिशोषितं च । कृच्छ्राच्छुसेर्दूर्ध्वमधश्च
जन्तुर्यस्मिन् स नासापरिशोष उक्तः ॥” (रो० वि० नासा०) । अत्र प्रतप्तं इत्यनेन
च रक्तपित्तेऽपि गम्यते विदेहितात्वात् ; यतः,—“वातपित्तं यदा घ्राणे कफरक्ते
विशोषयेत् । तदा कृच्छ्राच्छुसेज्जन्तुर्नासा शुष्का विदोष्यते ॥ स्ववत्कीर्णेषु चूर्णेन
नासाशोषन्तु तं विदुः ॥” इति । घ्राणपाक इति—घ्राणपाको नासापाकः ; स च
ब्रणैरुपलक्षित इत्यभिप्रायः ; यदुक्तं—“घ्राणाश्रितं पित्तमर्क्षे कुर्यात् यस्मिन् विकारं
बलबांश्च पाकः । तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद्विदेहकाथावचनाऽपि यत्र ॥” (सु०
उ० २२ अ०) इति । पूयस्त्राव इति—पूयस्त्रावो * नासास्त्रावः ; तद्व्यथा—
“घ्राणात् घनः पीतम्रितस्तनुर्वा दोषः सवेत् स्त्रावमुदाहरत् तम्” (अ०
चि० विमर्शो०) इति । विदेहिऽपि—“स्त्रातःशुद्धाटके श्लेष्मा पित्तः क्लेशित
ऊष्मणा । विशेषात् स्यादने रात्रौ नासास्त्रावन्तु तं विदुः ॥” इति । दीप्तक-
मिति—अत्र प्रज्वलितं नासा भवति ; तथा चोक्तं—“घ्राणे भृशं दाहसमन्विते
तु विनिःसरेद्भूम इवेह वायुः । नासा प्रदीप्तिव च यस्य जन्तोर्व्याधिन्तु तं
दीप्तमुदाहरन्ति ॥” (सु० उ० २२ अ०) इति । विदेहिऽपि यथा—“धूमायते यदा
नासा बलात् कृष्यति दह्यते । निःसरेत् तप्तं उच्छ्वासो व्याधिं तं दीप्तमादिशत् ॥”
इति ॥ १४८—१५० ॥

तथा दश शिरोरोगा इत्यादि ।—तथात—ऊर्ध्वगतगतरोगप्रस्तावात् दश शिरो-
रोगाः कथिताः । शिरोरोगशब्देन शिरोगतशूलरूपा रुजोऽभिधीयन्ते, अत एव

* पूयस्त्रावो नासास्त्राव इत्यर्थस्तु चिन्त्यः, नासास्त्रावे केवलं श्लेष्मणो जलस्य वा
स्त्रावः भवति, न तु पूयस्य ; तथा च श्रीकण्ठदत्तः,—“दोष इति कफः” । सुश्रुतेऽपि
—“अजस्रमच्छं सलिलप्रकाशं यस्याविवर्णं स्ववतीह नासा । रात्रौ विशेषेण हि तं
विकारं नासापरिस्त्रावमिति व्यवस्येत् ॥” इति । एवं वाग्भटेऽपि—“स्त्रावस्तु तत्संज्ञः
श्लेष्मसम्भवः । अक्को जलोपमोऽजस्रं विशेषान्निमि जायते ॥” इति ।

शिरस्तापश्च वातेन पित्तात् पीडा तृतीयका ॥ १५१ ॥

चतुर्थी कफजा पीडा रक्तजा सन्निपातजा ।

शिरोरोगा इत्युच्यन्ते । तेष्वर्थाभेदकमाह—अर्थाभेदकोऽर्थशिरिव्यथाहप इत्यर्थः ; तद्वद्वया—“केवलः सकफो वाऽर्द्धं गृह्यत्वा शिरसोऽनिलः । मन्वाभूशङ्ककणालि-
ल्लाटाङ्गोऽतिवेदनाम् ॥ शस्त्रारणिभिर्ना कुर्यात् तीव्रां सोऽर्थाभेदकः । नयनं
वाऽथवा श्रोत्रमतिहृष्टो विनाशयेत् ॥” (च० सि० विमर्शोऽर्थ०) इति । ननु सुसुते
त्वयं विदोषजः पठितः ; यथा—* “यस्योत्तमाङ्गं रुजतेऽर्द्धमात्रं सतोदभेद-
मममोदशूलैः । पश्चाद्दशाङ्गादथवाऽप्यकस्मात्तस्माद्धभेद इति यातव्यमस्येत् ॥” (सु०
उ० २५ अ०) इति ; तत् कथं वातेनैव दर्शितः ? उच्यते,—वातप्रकोपादत्र पित्तकफौ
तस्यानुबन्धौ बोद्धव्यौ ; यतः,—“एकः प्रकुपितो दोषः सर्वाण्येव प्रकोपयेत्”
इत्यादि, विजातिविषमसमवायारब्धत्वाद्भिर्देश इत्यदोषः ; तथा श्रुतं—“सर्वं एव
शिरोरोगाः सन्निपातसमुत्थिताः । औत्कल्याद्वापिनिर्गले कीर्तितास्तद्विदा दश ॥”
(शाला० त०) इति । शिरस्तापश्चेति—अथच वातेन भवति ; शिरस्तापः शिरो-
रुजा । तन्तान्तरं वातजोऽयं शिरोरोग इत्यर्थः ; यदुक्तं—“यस्यार्णमसत् शिरसो
रुजश्च भवति तीव्रा गीश चातिमाचम् । बन्धोपतापैश्च भवेद्दिश्वः शिरोऽभितापः
स समीरणम् ॥” (सु० उ० २५ अ०) इति । पित्तात् पीडिति—शिरःपीडा
पित्तप्रकोपादपि भवति, अयं तृतीयो भेदः ; तद्वद्वया—“यस्योत्तमाङ्गारचितं
यथैव भवेच्छिरो ध्रुवति चाचिनासम् । शीतेन रात्रौ च भवेद्दिश्वः शिरोऽभि-
तापः स तु पित्तकोपात् ॥” (रो० वि० शिरोरोग०) इति । चतुर्थी कफजा पीडिति
—शिरसि कफजा पीडा भवति, स चतुर्थो भेद इत्यभिप्रायः ; तद्वद्वया—“शिरो
भवेत् यस्य कफोपदिग्धं गुरुं प्रतिटम्बमती हिमश्च । शूलान्निक्कटं वदनश्च यस्य
शिरोऽभितापः स कफप्रकोपात् ॥” (रो० वि० शिरोरोग०) इति । रक्तजति—अत्र
रक्तजा पीडा कथिता ; “रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः स्वर्णसङ्घट्टं शिरसो भवेच्च”
(सु० उ० २५ अ०) इति । सन्निपातजिति—विदोषजनिता इत्यर्थः ; तद्वद्वया—
“शिरोऽभितापे त्रितयप्रभते सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवानि” (सु० उ० २५ अ०)

* मुद्रितसुसुतेषु “यस्योत्तमाङ्गम्” इत्यादिप्रथमाङ्गश्ले “यस्योत्तमाङ्गमममोदशूलैः
कफोः सम्भेदतोदभनश्चलुष्टम्” इति पाठो दृश्यते ।

सूर्यावर्त्ताच्छिरःपाकात् क्रिमिभिः शङ्कुकेन च ॥१५२॥

इति । सूर्यावर्त्तादिति—सूर्यावर्त्तादित्यनेन पीडा कथिता ; या च रुक् सूर्यप्रवृत्तौ भवति सूर्यापगमे विनिवर्त्तते, स सूर्यावर्त्तशब्दाच्चा रोगः ; तथा हि—“सूर्योदयं या प्रति मन्दमन्दमपि भवे रुक् समुपैति गाढम् । विवर्द्धते चाश्रुमता सदैव सूर्यापवृत्तौ विनिवर्त्तते च ॥ सर्वात्मकं कष्टतमं विकारं सूर्यापवर्त्ते तमुदाहरन्ति ॥” (१०० वि० शिरोरोग०) इति । * शिरःपाकादिति—शिरःपाकादेवासृग्वसादीनां सङ्गयेण शिरसि पीडा भवतीत्यभिप्रायः, अत एव सुश्रुते अयं विकार इति पठितः ; यतः,—† “असृग्वसाग्नेषसमीरणानां शिरोगतानामिह सङ्गयेण । अय-
प्रवृत्तः शिरसोऽभितापः कष्टो भवेद्यदुज्जाऽतिमात्रम् ॥ संस्तेदनच्छेदनधूमनस्यैव सृग्-
विमोक्षेयं विवर्द्धयति ॥” (१०० वि० शिरोरोग०) इति । अयं विद्वेहोऽपि पठ्यते—
“अस्मति लयते शयं शिरो विभ्रान्तयेयता । मूर्च्छा गाढावसादश्च शिरोरोगं अया-
त्मके ॥” इति । क्रिमिभिरात—शिरसि क्रामजा पीडा भवति इति, यदुक्तं—
“निस्तृयते यस्य शिरोऽतिमात्रं सञ्चल्यमाणं स्फुरतीव चान्तः । प्राणाश्च गच्छेत्
† रुधिरं सपूयं शिरोऽभितापः क्रिमिभिः स घोरः ॥” (सु० उ० २५ अ०) इति ।
तथेवाह चरकः,—“क्रमीणा दशमेन च” (च० सू० कियन्तःशिरसीय०) इति । शङ्कु-
केनात—शङ्कुदेशेष दुष्टाः दोषाः शोथत्वेन रुजा कुर्वन्तीत्यनेन शङ्कुकरोगो वाच्यः ;
तद्वयथा—“रक्तापित्तानिला दुष्टाः शङ्कुदेशे विमूर्च्छिताः । तीव्ररुदाहराणां वा शोथं
कुर्वन्ति टाकणम् ॥ स शिरो विषवद्वेगो निरुध्यागु गलं तथा । विरावाज्जीवितं हन्ति
शङ्कुको नामतः परम् ॥ वृद्धाज्जीवितं भेषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥” (१०० वि०
शिरोरोग०) इति । एवं च सुश्रुतोक्ता दश शिरोरोगाः प्रतिपादताः । माधव-
करेण तु त्रिसङ्कृद्भेदमन्तवातोऽधिकः पठितः, तन्वान्तरदर्शनात् ; तद्वयथा—“दोषास्तु

* “शिरःपाकात्” इत्यत्र “शिरःकम्पात्” इति पाठान्तरं चरकवामट-
संवादि ।

† मुद्रितसुश्रुतस्थेष “असृग्वसाग्नेषसमीरणानाम्” इत्यत्र “वसावलासवत-
सञ्चलानाम्” इति पाठवैषम्यं दृश्यते ।

‡ “रुधिरं सपूयम्” इत्यत्र सुश्रुते “सलिलं सरक्तं” तथा रुग्बिग्नस्थे “सलिलं
सपूयम्” इति पाठान्तरम् ।

¶ मुद्रितसुश्रुते एकादश शिरोरोगाः अनन्तवातश्च इत्युक्तिर्दृश्यते ।

नवकपालरोगाणां निवरणम् ।—

तथा कपालरोगाः स्युर्नव तेषूपशीर्षकम् ।

अरुषिका विद्रधिश्च दारुणं पिडकाऽर्बुदम् ॥

इन्द्रलुप्तश्च खलतिः पलितश्चेति ते नव ॥ १५३ ॥

दुष्टास्त्रय एव मन्वा सम्योद्य घाटासु रुजां सुतीव्राम् । कुर्वन्ति योऽपि भवि शङ्कदेशे स्थितिं करोत्याशु विशेषतश्च ॥ गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं इत्युचं लोचनजांश्च रोगान् । अनन्तवाते तमुदाहरन्ति दोषप्रयोक्तृ शिरसो विकारम् ॥” (सु० उ० २५ अ०) इति । सर्वत्र सर्वजेषु प्रतिपादितत्वात् अत्रापि न गणितः ॥ १५१।१५२ ॥

तथा कपालरोगाः स्युर्नव तेषूपशीर्षकमित्यादि ।—शीर्षकसमीपे शीर्षकवत् यः शीघ्रः स उपशीर्षकशब्दवाच्यः, नीरुक्शाफल्वादुपशीर्षकः, यदुक्तं—“कपाले पवने दुष्टे गर्भस्थस्यापि जायते । सर्वर्षो नीरुक्शः शोफकं विद्यादुपशीर्षकम् ॥” (वा० उ० २३अ०) इति । अरुषिकोक्तं—अरुषीति व्रणानि कथितानि, तान्यपि शिरसि भवन्ति ; तद्व्यथा—“अरुष बहुवक्त्राणि बहुकेदीनि मूर्धनि । कफासृक्कृमिकोपेन नृणां विद्यादरुषिकाम् ॥” (सु० नि० १३अ०) इति । विद्राधश्चेति—विद्रधिः प्रसिद्धः, स तु मूर्धस्थि भवति वरिर्गतमर्माश्रितत्वात् । अथ लक्षणं विद्रधनिदाने ज्ञातव्यम् । दारुणमिति—दारुणं केशभूमौ भवति, लोकेऽपि “फ्याम” शब्दवाच्यो रोगविशेषः ; तदुक्तं—“दारुणा कण्डूरा रुक्षा केशभूमिः प्रजायते । कफवात-प्रकोपेण विद्याद्दारुणकम्पं तम् ॥” (सु० नि० १३अ०) इति । यद्यपि कफवात-प्रकोपेणेत्युक्तं, तथाऽपि अथ पितरक्तानुबन्धा द्रष्टव्यः ; यदुक्तं विद्वेष्टे—“यद्वक्ष्यते मटलाभासं सरजस्कं शिरस्त्विवि । पारुष्यं जायते अन्तोन्मथ रूपं विशेषतः ॥ तोदोः समन्वितं वातात् सकण्डू गौरवं कफात् । सुपिपासं सदाहार्तिरागं पित्तास्रजं तथा ॥” इति । पिडकेति—शिरसि याः पिडका भवन्ति ताः पिडकाः रोगाः कथिताः, अथमेव क्षुद्ररोगेषु इरिवेक्षिकाशब्दवाच्यः, तथा हि—“पिडकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुत्तमाङ्गज्वराम् । सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गा जानीयादरिवेक्षिकाम् ॥” (गो० वि० क्षुद्र०) इति । अथ तु शिरःस्थितत्वात् लिखितान् दोषाः । अर्बुदमिति—अर्बुद-वदर्बुदं वृणविशेषः, “गात्रप्रदेशे कश्चिद्देव” (सु० नि० ११अ०) इत्यानयमाङ्कुरस्यपि भवति । तल्लक्षणं तदेव बोद्धव्यम् । इन्द्रलुप्तमिति—इन्द्रलुप्तं “वादिपुरा” शब्द-वाच्यो रोगविशेषः, अस्यैव पर्यायकथनं खलित्वं कथ्यते ; तथा श्लोक—“रोम-कूपानुगं पित्तं वातेन स्रष्टुं मूर्च्छितम् । प्रपञ्चावयति रोमांश्च ततः श्लेष्मा समीशितः ॥

चतुर्नवतिनेत्ररोगाणां विवरणम् ।—

तथा नेत्रभवाः ख्याताश्चतुर्नवतिरामयाः ।

इच्छा रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसम्भवः । तदिन्द्रलुप्तं खालित्वं * इत्येति च विभाव्यते ॥” (सु० नि० १३ अ०) इति । अत्र तु इन्द्रलुप्तखालित्वयोः पृथग्गृह्यं चार्त्तिकार्थवचनात् ; तस्मै तु इन्द्रलुप्तं उग्रशुषि भवति, खालित्वं शिरस्त्रेष्ठ, अत एव विदेहवचनादिन्द्रलुप्तं स्त्रीणां न भवति ; यदुक्तम्—“अन्यन्तमुकुमाराज्ञो रजो दुष्टं स्ववन्ति च । अन्यायामरता यस्यात् + नेन्द्रलुप्तं ततः स्त्रियाः ॥” इति । एवमिन्द्रलुप्तं खलति च पृथगच निरूपितम् । पलितमिति—केशानां शुक्लभावेन पलितमित्युच्यते ; तद्वयथा—“क्रीधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः । पित्तञ्च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥” (सु० नि० १३ अ०) इति । तत् पलितं द्विविधं भवति, अकालजनितं कालजनितञ्च, अन्यत्रोक्तत्वात् ; यतः क्रीधादि-कृतेन शरीरोष्मा शिरोगतेन वैकृतं, पित्तेन पुनः प्राकृतं पलितमिति, अन्यथा पित्तोष्मणोरभेदात् पुनरुक्तिदोषः स्यात् ; एतेन वैकृतमकालजं, वयःकृतस्तु पित्ते-नेत्यर्थः । केषिदेतच्चाकालजलक्षणं मन्यन्ते । अन्ये विभिरेव दोषैः स्यादिति कथयन्ति ; तत्र शोकश्रमाभ्यां जनितवातेन शरीरोष्मणो विसृष्टिपाच्छिरोगतत्वं, तेनानिखोऽपि लभ्यते, पित्तञ्च साक्षादुपात्तं, अकारेण श्लेष्माऽपि केशशुक्लताकरो गृह्यते ; एतेन दोषत्रयसहितः शरीरोष्मा पलितहेतुरिति वाक्यार्थः ; यदुक्तं चरके—“तेजोऽनिखायोः सङ्गो केशभूमिं दग्ध्वा तु कुर्व्यात् खलितं नरस्य । किञ्चित् दग्ध्वा पलितानि कुर्व्याद्विषयभलञ्च शिरोरुहाणाम् ॥” (च० चि० विमर्श०) इति ॥ १५३ ॥

तथेति ।—तथेत्यनेनेन्द्रियसाधर्म्यात् नासाग्रवणादीनामनन्तरं नेत्ररोगगणनारम्भ इत्यभिप्रायः । सा चतुर्नवतिसङ्ख्या केरामयेः प्रतिपादिता ; तद्वयथा—“नव रोगा नेत्रसंस्थौ चतुर्विंशति वर्त्मजाः । कृष्णभागगताः पञ्च शुक्लभागे त्रयोदश ॥ षट् काये षट् च तिमिरे षटो दृष्टिगता मताः । लिङ्गनाशस्तथा सप्त चत्वारस्याधिमन्यजाः । अभिष्यन्दाश्च चत्वारस्तथाऽष्टौ सर्वजाः स्यूताः ॥” इत्युवाचार्थेण सङ्कृष्टेताः । सुश्रुते तु स्थानविशेषादेव षट्प्रतिः कथिताः ; यतः,—“नव संस्थाग्रयास्तेषु वर्त्मजा-

* रोगविनिश्चये “इच्छा” वाक्ये च “इच्छा” इति पाठः ।

+ “तस्यात्र खलितः स्त्रियाः” इति मधुकोषे पाठः ।

तत्र चतुर्विंशतिनेत्रवर्त्मगतरोगाणां विवरणम् ।—

तेषु वर्त्मगदाः प्रोक्ताश्चतुर्विंशतिसंज्ञकाः ॥ १५४ ॥

स्वेकविंशतः । शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ॥ सर्वाश्रयाः समदश दृष्टिजा दादशैव तु । * द्वौ च बाह्याश्रयावन्धावनिमित्तानामसजौ ॥ षट्सप्ततिर्नेत्ररोगाः सङ्गृह्य प्रकीर्तिताः ॥” (सु० उ० १५०) इति । दोषभेदेनापि षट्सप्ततिरेव ; यदाह सुश्रुतः,—+ “तैस्त्रिभिस्त्रिंशदुक्तास्ते कफेनाभ्यधिकास्त्रयः । रक्तजा षोडश ज्ञेयाः सर्वजाः पञ्चविंशतिः ॥ बाह्यौ पुनर्द्वौ च तथा रोगाः षट्सप्ततिः स्मृताः ॥” इति । अत्र शार्ङ्गधराचार्येण यस्तुर्नवतिसङ्ख्यायुक्तं † तन्नेत्ररोगान्तर्गतनेत्ररोग-निदानतया (१) प्रतिपादितत्वात् । यथा सर्वनेत्रामयानां हेतुभूतोऽभिध्यन्द इति ; तदुक्तं—“वातात् पित्तात् कफाद्रक्तादभिध्यन्दश्चतुर्विधः । प्रायेण जायते घोरः सर्वनेत्रामयाकरः ॥” (री० वि० नेत्रसर्वगत०) इति । सुश्रुतेऽपि यथा— “प्रायेण सर्वे नयनामयास्ते भवन्त्याभिध्यन्दनिमित्तमूलाः” (सु० उ० ६५०) इति । अधिमन्यस्याप्यभिध्यन्दमन्त्रत्वम् ; यदुक्तं—“वृद्धैरेतैरभिध्यन्दैर्नराणां क्रियावताम् । तावन्तस्त्वधिमन्याः स्युर्नयने तोत्रवेदनाः ॥” (सु० उ० ६५०) इति । तथैव दृष्टिगत-रोगाणामपि तिमिरकाचलिङ्गनाशाय हेतुभूताः परम्परया व्यवस्थिताः ; तद्वद्व्या—“तिमिरं रागतां याति रागः काचत्वमेति च । काचात् सञ्जायते नीली तद्दाऽन्वी जायते नरः ॥” इत्यादिना । तेनात्र निदानभूतानां रोगाणामपि सङ्गृहः कृत इत्यदोषः । एतेषां लक्षणानि वक्ष्यमाणेषु नेत्रगटेषु दर्शयिष्यामः । अथ चतुर्नवतिनेत्ररोगाणां विवरणमाह, तेषु वर्त्मगदा इत्यादि ।—तेषु पूर्वोक्त-चतुर्नवतिसङ्ख्याकगटेषु वर्त्मगदाः ॥ पञ्चमूलगतरोगाः, ते चतुर्विंशतिभेदाः

* सुद्रितसुश्रुतेषु—“द्वौ च—” इत्यादिपाठस्थले “बाह्यौ द्वौ समाख्यातौ रोगौ परमदाहणौ । भुय एतान् प्रवक्ष्यामि सङ्ख्यारूपविनिश्चितैः ॥” इति पाठो दृश्यते ।

+ सुद्रितसुश्रुतेषु—“वाताद्दृश तथा पित्तात् कफाच्चैव त्रयोदश । रक्तात् षोडश विज्ञेयाः सर्वजाः पञ्चविंशतिः ॥ तथा बाह्यौ पुनर्द्वौ च रोगाः षट्सप्ततिः स्मृताः ॥” इति पाठः ।

† तन्नेत्ररोगान्तर्गतानां नेत्ररोगान्तराणां निदानार्थकराणामपि पृथक् पृथक् यद्व्यादिति पाठे कथाश्चदर्थसङ्गतिः जायते ।

॥ पञ्चमूलं वर्त्म इति तु न सम्यक् । “नयनगोलकावरकं निमेषीन्नेषाश्रयं पटलवचं वर्त्म उच्यते” इति श्रीकण्ठः ।

कक्कोन्मीलः पद्मशतः कफोत्क्लिष्टश्च लोहितः ।

अरुद्धिमेषः कथितो रक्तोत्क्लिष्टः कुकूपकः ॥ १५५ ॥

कक्कोन्मीलप्रभृतयः । तद्वयथा कक्कोन्मील इति—यत्र कक्केण मङ्गता कटेन उन्मीलन-
मुदाटनं भवति, अत एव तन्नामरे कृच्छ्रं नामेति कथयन्ति; यथा—“वाताद्या
वर्त्मसङ्कोचं जनयन्ति मन्त्रा यदा । तदा दष्टं न शक्नोति कृच्छ्रं नाम तद्विदुः ॥”
(री० वि० नेत्रवर्त्म०) इति । यत्र पद्मणां शतनं भवति स पद्मशत इति कथितः ।
तेनान्यत्र पद्मशतः प्रसिद्धः; यदुक्तं—“वर्त्मपद्माश्रयगतं पिच्छं रीमाणि शतयेत् ।
कण्डूदाहश्च कुरुते पद्मशतं तमादिशेत् ॥” (री० वि० नेत्रवर्त्म०) इति ।
कफोत्क्लिष्ट इति—कफस्योत्क्लिष्टत्वेन प्रक्षिन्नवर्त्मत्वम लुपान्ते, तेन प्रक्षिन्नवर्त्मेति
नाम्ना प्रसिद्धम्; तद्वयथा—“अरुजं बाह्यातः शुनं वर्त्म यस्य नरस्य हि । प्रक्षिन्नवर्त्म
तत्र विद्यात् क्षिन्नमन्यथेमन्ततः ॥” (री० वि० नेत्रवर्त्म०) इति । एतदेव
अक्षयेण पिक्वाख्य पठितम्; यथा—“भृशं प्रक्षिप्यते वर्त्म कण्डमन्यन्दवेदनम् ।
विद्यात् प्रक्षिन्नवर्त्मेति तत्र पिच्छं सन्निपातजम् ॥” इति । लोहित इति—
लोहिताकाराङ्गुरत्वेन यथाऽऽंशलयाऽयमपि, अत एवान्यत्र * शुक्लाशः कथितम्;
तद्वयथा—“दीर्घोऽङ्गुरः खरः अर्धो दारुणोऽभ्यन्तरोद्भवः । व्याधरेषोऽभिर्विख्यातः
शुक्लाशो नाम नामतः ॥” (री० वि० नेत्रवर्त्म०) इति । निमेष इति—निमेषसंज्ञया
प्रसिद्धः; यतः,—“निमेषिणीः शिरा वायुः प्रविष्टो वर्त्मरुग्रथाः । चालयत्यक्षिबर्त्मानि
निमेष इति तं विदुः ॥” (री० वि० नेत्रवर्त्म०) इति । अयमापि विदंष्ट्रे असाध्यः
कथितः; यदुक्तं—“निमेषिणीः शिरा वायुः प्रावश्य व्यावर्तयते । अत्यर्थं चालयेहर्त्म
निमेषः स न सिध्यति ॥” रक्तोत्क्लिष्ट इति—रक्तोत्क्लिष्टत्वात्, रक्ताशोऽन्यत्र
प्रातिपादितम्; यथा—“यः स्थितो वर्त्ममध्ये तु लोहितो सदुरङ्गुरः । तद्रक्तजं
शोणितार्शङ्कुं भिन्नं प्रवर्तते ॥” (री० वि० नेत्रवर्त्म०) इति । एतदसाध्यत्वेन
विदंष्ट्रेऽपि दर्शितम्; यथा—“वायुः शोणितमादाय शिराणां प्रमुखे स्थितः ।
जनयत्यङ्गुरं तासं वर्त्मान् स्थिन्नरोद्धमम् ॥ तच्छोणितार्शङ्कुमाध्यं व्याटक्तस्त्राव्यध
नीरुजम् ॥” इति । कुकूपकोऽन्यत्र बालरोगं पठितः, बालानामनौव सम्भवत्वात्;

* लोहिताकाराङ्गुरत्वेन शोणितार्शःसंज्ञकमत्र भवितुं युक्तं, न तु शुक्लाशः;
यतः,—“यः स्थितो वर्त्ममध्ये तु लोहितो सदुरङ्गुरः । तद्रक्तजं शोणितार्शङ्कुं
भिन्नं प्रवर्तते ॥” इत्युक्तत्वात् ।

पञ्चमार्शः पञ्चमरोधश्च पित्तोत्क्रिष्टश्च पोथकी ।

श्लिष्टवर्त्मा च बहलः पञ्चमाक्षङ्गस्तथाऽर्बुदम् ॥ १५६ ॥

अक्षिगतभागेनाव गणितो न दोषः ; तद्वयथा—“कक्षकः क्षीरदोषाच्छिशूनामक्षि-
वर्त्मनि । जायते तेन तन्नेत्रं कण्डूरश्च स्ववेन्मुहुः ॥ शिशुः कुर्व्याङ्गलाटाक्षि-कूटनासाव-
घर्षणम् । शक्तो नाकप्रभा द्रष्टुं न वर्त्मान्मोलनचमः ॥” (रो० वि० बाल०)
इति । पञ्चमार्श इति—यत्र ककटोवौजसदृशाः पिडका वर्त्मानाऽन्तर्धाः भवन्ति
तत् पञ्चमार्शः कथितम् ; तथा हि—“एवांरुवौजप्रतिभाः पिडका मन्दवेदनाः ।
श्लक्ष्णाः खराश्च वर्त्मप्यासदशोवर्त्मं कौर्त्त्यते ॥” (रो० वि० नेत्रवर्त्म०) इति ।
सन्निपातजमितम् ; तथा च विटेहः,—“नीरुजा कठिना वर्त्म-पञ्चान्तर्बाह्यतोऽपि
वा । पिडका सन्निपातेन तदशोवर्त्मं कौर्त्त्यते ॥” इति । पञ्चमरोध इति
—पञ्चमरोधो वर्त्मबन्धः कथितः, यत्र शोथयोगात् यथावन्नयनं पिडधाति वर्त्म
एव सन्निपातजः ; तथा हि—“कण्डूमताऽल्पतोद्रेण वर्त्मशोथेन यो मरः । न समं
ह्लादयेदक्षि भवेदन्धः स वर्त्मनः ॥” (सु० उ० ३ अ०) इति । पित्रोत्क्रिष्ट इति—
उत्क्रिष्ट पित्तं यत्र सः * पञ्चप्रकोप इति नास्ति प्रसिद्धः ; यदुक्तं—“प्रचालितानि
वातेन पञ्चाग्नयश्च विशन्ति हि । पृथग्व्यक्षि मुहुस्तानि संरम्भं जनयन्ति च ॥ असिते च
सिते भागे मूलकोषात् पतन्ति हि । पञ्चकोपः स बिभ्रेथो व्याधिः परमदारुणः ॥”
(रो० वि० नेत्रवर्त्म०) इति । अयमपि सन्निपातजो याप्य एव । पोथकीति
—यत्र सर्षपसदृशाः पिडका भवन्ति स पोथकीशब्दाच्च ; यथा—“साविण्यः
कण्डुरा गुर्वी रक्तसर्षपसन्निभाः । रुजावत्यश्च पिडकाः पोथक्य इति कौत्तिताः ॥”
(रो० वि० नेत्रवर्त्म०) इति । श्लिष्टवर्त्मेति—वर्त्मनः श्लिष्टत्वेन, + अक्षिन्नवर्त्म

* वाग्मटोक्तपित्तोत्क्रिष्टलक्षणेन सह पञ्चप्रकोपस्य जिनपि सादृश्यं नास्ति ;
तथा च—“सदाहृक्तेदनिक्षोटं रक्ताभं स्पर्शनाचमम् । पित्तेन जायते वर्त्मं पित्तोत्त-
क्रिष्टमुश्नति तत ॥” (बा० उ० ८ अ०) । एवञ्च अनयोरेक्य कदाऽपि न युज्यते
इति । पञ्चकोपो वातजः पित्तोत्क्रिष्टश्च पित्तजन्यमेव इत्यपि दृष्टव्यम् ।

+ अक्षिन्नवर्त्मना सह वाग्मटोक्तश्लिष्टवर्त्मनः वर्त्मशर्षं विना नाप्यत् सादृश्यं
परिदृश्यते ; तद्वयथा—“श्लिष्टाख्यवर्त्मनी श्लिष्टे कण्डूश्लेष्मरागिणी” (बा० उ०
८ अ०) इति । “एतत् (अक्षिन्नवर्त्मं) वाग्मटे पिङ्गाख्यं सम्बध्यते” इति
अमुकोषः ।

कुम्भीका मिकतावर्त्म लगणोऽञ्जननामिका ।

इति नामान्तरं, पञ्चणां संलग्नत्वात् ; तथा हि—“यस्य धोतान्धोतानि सन्नञ्जने पुनः पुनः । वर्त्मन्यपरिपञ्चानि विद्यादक्षिन्नवर्त्म तत् ॥” (री० वि० नेत्रवर्त्म०) इति । एकं श्लिष्टस्थाने क्लिष्टवर्त्मेति पठन्ति, तत्र क्लिष्टत्वं वेदनाऽप्ययोगादवगन्तव्यम् ; यतः,—“सदल्पवेदनं तावत् यद्वर्त्म सममेव च । चक्षुषा च भवेद्वक्तं क्लिष्टवर्त्मेति तद्विदः ॥” (सु० उ० ३ अ०) इति । बहल इति—यत्र त्वग्वर्णसदृशः पिङ्गका भवति तत् बहलवर्त्मेति संज्ञया कथितम् ; तथा हि—“वर्त्मोपचीयते यस्य पिङ्गकाभिः समन्ततः । सवर्णाभिः स्थिराभिर्य विद्यात् बहलवर्त्म तत् ॥” (री० वि० नेत्रवर्त्म०) इति । पञ्चीकृत इति—वर्त्मन एवाभ्यन्तरे * उपरि सोत्मेधा पिङ्गका जायते, तेनोत्सङ्गापिङ्गका अन्यत्र कथिता ; यथा—“अभ्यन्तरमुखो तास्या बाह्यतो वर्त्मनश्च या । सोत्सङ्गापिङ्गका सर्वजा स्थूलकण्डूरा ॥” (री० वि० नेत्रवर्त्म०) इति । इयमपि विदेहगदाधराभ्यां वर्त्मनि एव जाता दर्शिता ; यदाह तु,—“वर्त्मोत्सङ्गेऽधरे जन्तोः सन्निपातात् प्रजायते । अभ्यन्तरमुखो स्थूला बाह्यतयापि दृश्यते ॥ पिङ्गका पिङ्गकाभिर्य चिताऽन्याभिः समन्ततः । उत्सङ्गापिङ्गका नाम कठिना मन्दवेदना ॥ सा प्रभिन्ना सवेत स्वां कुकुटाण्डरसोपमम् ॥” इति । अर्बुदमिति—वर्त्मावर्बुदं, तच्च गन्धिरूपेण स्थितम् ; तद्वद्वया—“वर्त्मान्तरस्थं विषमं गन्धिभूतमवर्दनम् । आचक्षीतावर्बुदमिति सरक्तमविलम्बितम् ॥” (री० वि० नेत्रवर्त्म०) इति । कुम्भीकेति—कुम्भाण्डुलता, तद्वीजतन्त्रा कुम्भीका वाच्या । अन्ये—कुम्भीका कच्छदेशोद्भवा टाडिमाकारफला, तद्वीजतन्त्रापिङ्गका भिद्यमाना मृती भ्रममेव पूर्णोदरा भवति, यद्वक्तं—“वर्त्मान्ते पिङ्गका धाता भिद्यन्ते च सवन्ति च । कुम्भीकावीजसदृशाः कुम्भीकाः सन्निपातजाः ॥” (री० वि० नेत्रवर्त्म०) इति । मिकतावर्त्मेति—मिकता शर्करा, तत्सदृशाभिः पिङ्गकाभिर्य गृह्यते भवति तत् मिकतावर्त्मेति कथितम् ; तद्वद्वया—“पिङ्गकाभिः सुसूक्ष्माभिर्घनाभिरभिसंहता । पिङ्गका या खरा स्थूला सा ज्ञेया वर्त्मशर्करा ॥” (सु० उ० ३ अ०) इति । लगण इति

* सुशुक्ते अथोवर्त्मनि पिङ्गका जायते इत्युक्तं, तथा च—“पिङ्गकाऽभ्यन्तरमुखा बाह्याधोवर्त्मसंयथा । विज्ञेयोत्सङ्गिनी नाम तद्रूपपिङ्गकान्विता ॥” (सु० उ० ३ अ०) इति । मधुकोषकारेणापि—“ऊर्ध्वाधोवर्त्मद्वयमध्ये अधोवर्त्मनि या” इति व्याख्यातम् ।

कर्दमः श्याववर्त्मा च विसवर्त्मा तथाऽलजी ॥

उत्क्रिष्टवर्त्मेति गदाः प्रोक्ता वर्त्तसमुद्भवाः ॥ १५७ ॥

—यत्र वर्त्तमूले कोलप्रमाणी गम्यः स लगण इति रोगविशेषः कथितः ; तथा च—
 “अपाकी कठिनः स्थूलो गम्यवर्त्तमवोऽरुजः । सकण्डूः पक्वः कोल-प्रमाणी लगणस्तु
 सः ॥” (सु० उ० ३ अ०) इति । अञ्जननामिकेति—वर्त्तंजा कोमला या पिडका सा-
 ऽञ्जननामिकेति प्रसिद्धा ; यदुक्तं—“दाहतोदहती तासां पिडका वर्त्तसम्भवा । नदी
 मन्दरुजा सूच्या ज्ञेया साऽञ्जननामिका ॥” (सु० उ० ३ अ०) इति । कर्दम इति—
 प्रागुक्तक्रिष्टवर्त्तमेव यदा पिप्पलिलितं सत् शोणितं विदहेत् तदा क्रिष्टत्वमापन्नं
 वर्त्तं वर्त्तकर्दम इति कथितम् ; तथा हि—“क्रिष्टं पुनः पिप्पलितं शोणितं विदहेद्यदा ।
 ततः क्रिष्टत्वमापन्नमुच्यते वर्त्तकर्दमः ॥” (सु० उ० ३ अ०) इति । श्याववर्त्मेति—
 श्यावत्वमत्र वाताधिकत्वेन बोध्यम् ; अत एव वेदगान्धितमित्युक्तम् ; तथा हि—“यत्
 वर्त्तं वाय्वतोऽन्तश्च श्यावं शूनं सर्वदनम् । तटाहुः श्याववर्त्मेति वर्त्तरोगविशारदाः ॥”
 (रा० वि० नेत्रवर्त्त०) इति । अपिदग्धानिव श्यावत्वमित्येके ; तथा च निमिः,—
 “दुष्टेष्वा मरुत् पिप्पलं वर्त्तनोक्षीयते यदा । अपिदग्धानिव श्यावं श्याववर्त्मेति
 तादृहुः ॥” इति । विसवर्त्मेति—विषं मृणालं, तच्छिद्राकारच्छिद्रान्वितं शोथो
 वर्त्तमूले भवति तत् विसवर्त्मेति नाम कथितम् ; तदुक्तं—“वथी दोषाः वडिः
 शोथं कुर्युम्किद्राणि वर्त्तनोः । प्रस्रवन्त्यन्तरुदकं विसवदिसवर्त्तं तत् ॥” (रा० वि०
 नेत्रवर्त्त०) इति । अलजीति—यद्यप्यलजी वक्ष्यमाणसन्धिगतरोगेषु दर्शिता तथाऽप्यत्र
 प्रसङ्गात् प्रसिद्धं मतत्वात् * पक्षसन्धावाप भवतीत्यदोषः ; यदुक्तं—“वर्त्तुलाकार-
 पिडका सूच्या तासां च वर्त्तनि । सरुजा शोणितोत्क्रिष्टा दारुणा त्वलजी कृता ॥”
 इति । उत्क्रिष्टवर्त्मेति—उत्क्रिष्टो वातसेन व्याप्तं यद्वर्त्तं, अत एव तन्वा-
 न्तरे + वातहतवर्त्तं कथितम् ; यथा—“विमुक्तसन्धि निशेष्टं वर्त्तं यस्य निमील्यते ।

* वाग्भटे वर्त्तगतरोगविज्ञानीयेऽध्याये कनीनिकोपरि वर्त्तनो वाह्यतः एकविधा
 अलजी उक्ता, अपरा सन्धिगतरोगविज्ञानीये कनीनिकान्तः कृष्णश्लेष्मन्, न तु
 पक्षसन्धौ कुदापि ; तथा च—“कनीनिके वडिर्वर्त्तं कठिनो गम्यरुजतः । तासः
 पक्षोऽस्रपृथास्त्रदलज्याभायते रुद्रः ॥” (वा० उ० ८ अ०) । “कनीनिकान्तरलजी
 शोफो रुक्तोददाहवान्” (वा० उ० १० अ०) इति ।

+ वाग्भटोत्क्रिष्टवर्त्तना सह सौश्रुतवातहतवर्त्तनः किमपि सादृश्यं

नव नवनेत्रसन्धिगतरोगाणां विवरणम् ।—

नेत्रसन्धिसमुद्भूता नव रोगाः प्रकीर्त्तिताः ।

जलस्रावः कफस्रावो रक्तस्रावश्च पर्वणी ॥ १५८ ॥

एतद्वातघ्नं वर्त्म जानीयादक्षिपन्तिकः ॥” (री० वि० नेत्रवर्त्म०) इति । एवं वर्त्म-
रोगास्तुविंशतिः प्रोक्ताः ॥ १५४—१५७ ॥

इदानीं नेत्ररोगेष्वेव सन्धिगतान् नव भेदान् आह, नेत्रेति ।—पूर्वोक्तेषु चतुर्नवति-
नेत्ररोगेषु नव रोगा ये सन्धिगतास्तेषां विवरणं लिख्यते, यथा, जलस्राव इति—
जलस्रावोऽत्र पित्तादोद्भवः, जलाभस्रावदर्शनात् ; तद्वदथा—“हरिद्राभं गोलमुष्णं
जलाभं पित्तस्रावः संस्रवेत् सन्धिमध्यात्” (री० वि० नेत्रसन्धि०) इति । यत-
स्तन्वान्तरेऽपि चत्वार एव स्रावा उक्ताः ; यदुक्तं—“गत्वा सन्धीनश्रुमार्गेण दोषाः कुर्युः
स्रावान् लघ्वैः स्वरूपेभ्यः । तं हि स्रावं नेत्रनाडीमथैके तस्या लिङ्गं कीर्त्तयिष्ये
चतुर्धा ॥” (री० वि० नेत्रसन्धि०) इति ; तन्नाम जलस्राव इति कथितः । पुय-
स्रावश्च सन्निपातजः स्रावः कथितः । ननु वातजः स्रावः कुतो गीतः ? सत्यम् ; केवल-
वातेन स्रावाभावात्, यतो बिदेहेऽपि चत्वार एव प्रतिपादिताः ; तद्वदथा—
“सन्निपातात् कफात् रक्तात् पित्तात् स्रावोऽस्ति सन्धिषु” इति । कफस्राव
इति—कफेन स्रावा घनो भवति गौरुजश्च ; यदुक्तं—“श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं यः
स्रवेत्तु श्लेष्मस्रावो गौरुजः स प्रदिष्टः” (सु० उ० २ अ०) इति । रक्तस्राव इति—
“रक्तस्रावः शोणितोत्थः” इति यद्वदथात् अत्र सरक्तपूयं स्रवति ; यतः,—“रक्तस्रावः
शोणितोत्थो विकारः स्रवेद्दृष्टं तत्र रक्तं * सपूयम्” इति । पर्वणीति—
शुक्लकृष्णसन्धावेव पर्वणी भवति ; यदुक्तं—“तासां तन्वो दाहशूलोपपन्ना
श्रेया रक्तात् पर्वणी हतशोफा । जाता सन्धौ कृष्णशुक्लेऽलजी स्यात् तस्मिन्नेव
ख्यापिता पूर्वलिङ्गेः ॥” (सु० उ० २ अ०) इति । बन्ध्यमाणाऽलजी अपि

नास्ति ; तथा च—“यत् वर्त्मीक्षितमुत्क्षिप्तमकृच्छात् स्नानतामियात् । रक्तदोष-
वयोऽक्तेभ्यो बदन्युत्क्षिप्तवर्त्म तत्र ॥” (बा० उ० ८ अ०) इति ।

* सुश्रुतेन वाग्भटेन वा पुयस्रावो गीतः, तथा च—“रक्तस्रावः शोणितोत्थः सरक्तं
कीर्णं नात्वं संस्रवेन्नितिसान्द्रम्” (सु० उ० २ अ०) इति । “रक्तात् रक्तस्रवे तासं
बह्व्यं चासु संस्रवेत्” (बा० उ० १० अ०) । साधवेनापि—“रक्तस्रावः शोणितोत्थो
विकारः स्रवेद्दृष्टं तत्र रक्तं प्रभृतम्” इति पठितम् ।

पूयस्त्रावः क्षिमिश्रित्यरूपनाहस्तथाऽलजी ।

पूयालस इति प्रोक्ता रोगा नयनसन्धिजाः ॥ १५८ ॥

तस्मिन्नेव कृष्णशुक्लसन्धौ पूर्वलिङ्गैस्तासां तन्वीप्रभृतिभिः स्थापिता कथिता । भेद-
स्थानयोः,—तन्वी पर्वण्योका, स्थूला चलजीति वदति ; तथा च विदेहः,—“शुक्ल-
कृष्णानःसन्धौ तु चीयन्तेऽसृक्कफानिलाः । पर्वण्यो पिङ्गका तेस्तु जायते त्वङ्गुपोमा ॥
तासां सदाऽधीषोणपीतकाशुसमाकुला । कफपित्ते तु सङ्मुख्यं सङ्ग रक्तेन मारुतः ॥
शुक्लकृष्णानःसन्धौ तु जनश्रेङ्गोसनाकृतिम् । पिङ्गकामलग्नौ तान्नु विद्धि तोदाशु-
सङ्कुलाम् ॥” इति । पूयस्त्राव इति—यत्र सन्निपातेन पाकवान् शोथः संस्रवेण
न पूयस्त्रावः कथितः ; तथा हि—“पाकः सन्धौ संस्रवेण यस्तु पृथं
पूयस्त्रावो नैकरूपः प्रदिष्टः” (सु० उ० २ अ०) इति । क्षमिश्रित्यरिति—नाना-
रूपाः क्रमयो यान्यं वर्त्मपक्षसन्धावेव कुर्वन्ति, तेन क्षमिश्रित्यरिति प्रतीतः ; यतः,—
“क्षमिश्रित्यवर्त्मनः पक्षणश्च कण्डूं कुर्युः क्रमयः सन्धिजाताः । नानारूपा वर्त्म-
शुक्लान्तसन्धौ चरन्त्यन्तर्लोचनं दूषयन्तः ॥” (बी० वि० नेत्रसन्धि०) इति । विदेहे
तु पूयादिदर्शनात् सन्निपातजोऽयं विकारः ; तदुक्तं—*“ततस्ते पूयसंसृष्टाः पतन्ति
क्रमयस्थया । लक्ष्णैर्विधैर्युक्ताः सन्निपातसमुत्थिताः ॥ क्षमिश्रित्यं तु तं विद्या-
हेङ्गिनां नेत्रदूषणम् ॥” इति । उपनाह इति—तथा च—“यन्निर्गन्धो
दृष्टिसन्धावपाकौ कण्डूपायो गौरुजस्तुपनाहः” (सु० उ० २ अ०) इति ।
विदेहे तु वातश्लेष्मजन्मत्वेऽपि श्लेष्मोद्रेकात् श्लेष्मोपनाह इति व्यपदेशः ; यदुक्तं—
“वायुः श्लेष्माणमादाय दृष्टिमन्धौ व्यवस्थितः । चरुणं कटिनं यन्धिं
जनयेदल्पवेदनम् ॥ श्लेष्मोपनाहं तं विद्यात् सावान् वक्ष्याम्यतःपरम् ॥”
इति । चलजीति—पर्वण्योकाऽधिकारणे दर्शिता, सा तत्रैव ज्ञातव्येति ।
पूयालस इति—“पक्वः शोथः सन्धिजातः सतीदः पूयस्त्रावो सोऽव पूयालसाय्यः”
इति । सन्धिरव नासामनु नेचान्तःकनीनसन्धिरित्युच्यते ; तथा च निमिः,—“शोथ-
क्लेशसमाविष्टं तोदमेदसमाकुलम् । पूयालसन्तु तं विद्यात् सन्धौ कानीनिकै
नृणाम् ॥” इति । इति नयनसन्धिगतरोगा उक्ताः ॥ १५८-१५९ ॥

* “ततस्ते” इत्यस्य प्राक् “वर्त्मशुक्लस्य सन्धौ तु यन्धिः पित्तकफात्मकः ।
ऊष्मणा पच्यते गर्दं तत्र मूर्च्छन्ति जन्तवः ॥ सुसूक्ष्मातचरणा वर्त्मपक्षसमाश्रयाः ॥”
इति श्लोकावयवो मधुकोषे दृश्यते ।

तत्र त्रयोदशनेत्रशुक्लगतरोमाणां विवरणम् ।—

तथा शुक्लगता रोगा बुधेः प्रोक्तास्त्रयोदश ।

शिरोत्पातः शिराहर्षः शिराजालश्च शुक्तिकः ॥ १६० ॥

शुक्लार्म चाधिमांसार्म प्रस्तार्थ्यर्म च पिष्टकः ।

शिरायाश्चिपिटञ्चैव कफग्रथितकोऽर्जुनः ॥

इदानीं शुक्लभागतरोगान् बुधेः प्रोक्तानाह, तथा शुक्लगता इत्यादि ।—चतुर्नवति-
नेत्ररोगसङ्ख्याविवरणविषयात् शुक्लगतरोगा अत्र त्रयोदश कथिताः । शिरोत्पातशिराहर्षौ
हावव रोगौ कथितौ, तावेव माधवसङ्ग्रहे तु सर्वाङ्गिरोगान्तर्गतौ पठितौ, तस्मान्न तत्रैका-
दश शुक्लगा इत्यर्थः । अत्राप्याद्येण तु शुक्लभागे शिरागतदाघविकृतभावादुक्तावित्यदोषः,
यतः शिराणामुत्पातः उपद्रवः, स च दाघविशेषात् भवति इत्यभिप्रायः । शिरोत्पात-
वत् शिराहर्षोऽपि ; यदुक्तम्—“अवेदना वाऽपि सवेदना वा घस्याङ्गिराज्या हि
भवन्ति तास्याः । मुहुर्विरज्यन्ति च याः स तादृक् व्याधिः शिरोत्पात इति प्रदिष्टः ॥”
(सु० उ० ६५०) इति । शिराहर्षः प्रसिद्ध एव ; यतः,—“भीर्हार्च्छिरोत्पात उपेक्षितस्तु
जायत रोगस्तु शिराहर्षः । तास्याभमसं स्रवति प्रगाढं तथा न शक्नोत्यभि-
बोक्षितुश्च ॥” (सु० उ० ६५०) इति । शिराजाल इति—यवानुलोमविलोमस्थितानां
शिराणां निचयविरचितत्वेन जालस्येवाकृतिर्दृश्यते स शिराजालः कथितः ; तथा हि
—“आलाभः कठिनशिरो मृदान् सरक्तः सन्तानः स्यूत इह जालसंज्ञितस्तु”
(सु० उ० ४५०) इति । शुक्तिक इति—यत्र जलशुक्तिनिभा विन्दो भवन्ति तेन
शुक्तिक इति नेत्ररोगविशेषः ; तथा हि—“श्यावाः स्युः पिश्रितनिभाश्च विन्दो यं
शुक्त्याभाः मितनियताः स शुक्तिसंज्ञः” (रो० वि० नेत्रशुक्ल०) इति । शुक्लार्मेति
—सम्यक् श्वेतभाषत्वात् शुक्लार्मेति ; तद्वयथा—“सश्वेतं मृदु शुक्लार्म शुक्ले तद्वर्जते
चिरात्” (रो० वि० नेत्रशुक्ल०) इति । अधिमांसार्मेति—यत्र यत्ननिभमर्म
भवति ; यतः,—“पृथु मृदाधिमांसार्म वटलश्च यत्ननिभम्” (रो० वि०
नेत्रशुक्ल०) इति । प्रस्तार्थ्यर्मेति—प्रस्तारि प्रस्तरणशीलं यदार्मं भवति ; यदुक्तं—
“प्रस्तार्थ्यर्म तत्र कौण्यं श्यावं रक्तनिभं सिते” (रो० वि० नेत्रशुक्ल०) इति ।
पिष्टक इति—पिष्टवत् पिष्टकलेन धुल्यादिव्यामाददर्शतत्त्वमित्यर्थः ; तद्वयथा—
“श्लेष्मावृतकोपेन * यच्छुक्ते मांसमुन्नतम् । पिष्टवत् पिष्टकं विद्धि मलाज्जादर्श-
सन्निभम् ॥” इति । शिरायाश्चिपिटमिति—शुक्लभागस्थिताः पिष्टका यदा शिरावता

* “शुक्ले पिष्टं समुन्नतम्” इति पाठः माधवसङ्ग्रहे ।

स्नायुर्म शोणितार्म स्यादिति शुक्लगता गदाः ॥ १६१ ॥

तत पञ्चनेवक्रणगतरीगाणां विवरणम् ।—

तथा कृष्णसमुद्भूताः पञ्च रोगाः प्रकीर्त्तिताः ।

भवन्ति तदा शिराशिषिटं कथितम्, एतदेवान्वय शिराजाः पिङ्काः इति प्रति-
पादितम् ; यतः,—“शुक्लप्याः सितपिङ्काः शिराहता याता विद्यादांसतसमीपजाः
शिराजाः” (सु० उ० ४ च०) इति । एके “शिरायाशिषिटश्चैव” इत्यस्य स्थाने
“शिरायाः पिङ्काश्चैवम्” इति पठन्ति, तवापि स एवायः । कफयथितक इति
—यत्र नयनसिते वारिविन्दुसदृशमनागुच्छ्रुता भवति ; यदुक्तं—“कांस्याभो-
ऽसृदृथ वारिविन्दुकृत्यो विज्ञेयो नयनसिते बलाससंज्ञः” (री० वि० नेत्रशुक्ल०)
इति । बलाससंज्ञ इत्यत्र पदं कदेश्वात्तादृशलासयायतम् इत्यभिधानम् ; तथा च
विद्वेष्टः,—“मारुतोत्पीडितः श्लेष्मा शुक्लभागे व्यवस्थितः । जलविन्दुरिवोच्छ्रुतोऽसृदुः
शोफः समुद्भवेत् ॥ बलासयथितं नाम भीरुजं वृत्तमखलम् ॥” इति । अर्जुन
शतं—यत्र शुक्लभागे रक्तावन्दुरिवोच्छ्रुतोऽसृदुर्विन्दुरको भवति सोऽर्जुनसंज्ञः ; तदथथा
—“एको यः शशरुधिरोपमस्य विन्दुः शुक्लप्यो भवति तमर्जुनं वदन्ति” (सु० उ०
४ च०) इति । स्नायुर्मेति—इदञ्च प्रस्तायर्भोऽव भवति ; यतः,—“स्थिरं प्रस्तार
भांसाख्यं शुक्लं स्नायुर्म पञ्चमम्” (री० वि० नेत्रशुक्ल०) इति । विद्वेष्टेऽप्येवमेव ;
यथा—“प्रस्तारिणोऽर्मणः स्नावं निरुणाडि यदाऽनिलः । विना स्नावं विशुष्कं तत्
स्नायुर्मेति प्रकीर्त्तितम् ॥” इति । + अधिमांस इति—मांसस्थोपचयादवाधिमांससंज्ञः ।
तन्त्वान्तरे त्वयमेव रक्तजत्वात् रक्तामेति मज्जयाऽभिहितः । एकपटलस्थानगतत्वान्मांस-
रक्तयोः ; तथा हि—“पद्माभं सृदु रक्तार्म यस्यांसं चोयते सिते” (री० वि०
नेत्रशुक्ल०) इति । इति पूर्वोक्तप्रकारेण शुक्लगतरीगास्त्रयोदशसङ्ख्या उक्ता
इत्यर्थः ॥ १६०।१६१ ॥

तथेति ।—नेत्ररोगगणनाप्रस्तावं कृष्णभागगतरीगाः पञ्चसङ्ख्याका अधुना

* “मारुतोत्पीडितः श्लेष्मा शुक्लभागे व्यवस्थितः । जलविन्दुरिवोच्छ्रुतोऽसृदुः
कफसम्भवः ॥ बलासयथितं नाम तं शोथं वृत्तमादिशेत् ॥” इति मधुकोषधृत-
विद्वेष्टपाठः ।

+ “अधिमांस” इत्यत्र मूलोक्तः “शोणितार्म” इति पाठः सङ्गतः तन्त्वान्तर-
दर्शनात् अधिमांसार्मणः प्राक्पठितत्वाच्च ।

शुद्धशुक्लं शिराशुक्लं क्षतशुक्लं तथाऽजंका ॥

शिरासङ्गश्च सर्वेऽपि प्रोक्ता कृष्णगता गदाः ॥ १६२ ॥

प्रतिपाद्यन्ते, तथाटी शुद्धशुक्लमिति—शुक्लमत्र पुण्यशब्दवाच्य, “फुली” इति लोके । शुद्धत्व-
मत्र साध्यतमत्वादन्नणत्वाच्च, अतस्तत्त्वान्तरेऽन्नणशुक्लमित्युच्यते ; तद्वयथा—“स्यन्ता-
त्मकं कृष्णगतं सचोषं शङ्केन्दुकन्दपतिमावभासम् । वेद्ययसाभप्रतमुप्रकाशमथात्रणं
साध्यतमं वदन्ति ॥” (गी० वि० नेत्रकृष्ण०) इति । एतदंशं कच्छमाध्यमं असाध्यञ्च
भवति ; तद्वयथा—“गन्धीरजातं बहलञ्च शुक्लं चिरोत्थितञ्चापि वदन्ति कच्छम् ।
विच्छिन्नमध्यं पिशितावतं वा अक्षं शिरासूक्ष्ममट्टिकञ्च । द्वित्वगतं लोहितमनन्तस्य
चिरोत्थितञ्चापि विवर्जनीयम् ॥” (सु० उ० ५ अ०) इति । अन्यादृशमप्यसाध्यं प्रसङ्गतो
ल्लिख्यते ; यथा—“उष्णाशुपातः पिडका च कृष्णे यस्मिन् भवेन्मुद्गान्भक्ष्यं शुक्लम् ।
तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति कोचदन्त्यश्च यत् तित्तिरिपचतुल्यम् ॥” (सु० उ० ५ अ०) इति ।
शिराशुक्लान् माधर्वनामाध्यशुक्लावस्थार्यां पठितं, यतस्तत्र अक्षार एव कृष्णगतरोगाः
सङ्गृहीताः, अनेन चिकित्सापयोगवशात् पृथग्गणितं न दीष्टः । क्षतशुक्लमिति—
क्षतं प्रहारः, तथैव शुक्लं यत् दृश्यते, येन मूत्रयोगेव छिन्नाभं भवतीत्यभिप्रायः,
तस्मान्न तत्त्वान्तरे अन्नणशुक्लमिति संज्ञाः ; तथा हि—“निमग्नरूपञ्च भवेद्भि-
क्षुणे सूच्येव विडं प्रतिभाति यद्वै । स्वावं स्रवेदणमतीव यच्च तत् सन्नणं शुक्ल-
मृदाहरन्ति ॥” (गी० वि० नेत्रकृष्ण०) इति । विटं हि—“रक्तराजोनिभं कृष्णे
छिन्नाभं यच्च लस्यते । मूत्रयोगेव तच्छुक्लमृणाशुस्वावि सन्नणम् ॥” इति । अस्या-
साध्यत्वावस्थावशेनापि एतादृशान्यक्षरान्वितं साध्यमेव ; यदुक्तं—“दृष्टेः समीपे न
भवेत्, यच्च न चावगाढं न च संक्ष्वेद्यं । अवेदभं वा न च युग्मशुक्लं तत् सिद्धि-
मायाति कटाचदेव ॥” (गी० वि० नेत्रकृष्ण०) इति । अत्र केति—अजापुरीष-
सदृशं यद्वति ; तथा हि—“अजापुरीषप्रतिमो रजावान् मलोद्धितो लोहित-
पिच्छिलाक्षः । विगृह्य कृष्णं प्रषयोऽभ्युपैति तस्माज्जानातमिति व्यवस्थेत् ॥” (गी०
वि० नेत्रकृष्ण०) इति । अत्र तृतीयत्वगतत्वान्मोदसः प्रषयो बीडव्यः ; यदुक्तं
विटं हि—“कृष्णेऽणोर्यद्वेच्छुक्लं क्षामलोविट्समप्रभम् । सान्द्रपिच्छिन्नरज्जासं
द्वित्वगलनकेति सा ॥” इति । शिरासङ्गश्चेति—नेत्रगतशिराणां सङ्गीऽप्रवृत्तयश्च
* तेषां विपाकात्ययो भवति, तस्मादन्यत्राविपाकात्यय इति नाका प्रसिद्धः ;

* अविपाकात्ययेन सङ्ग वाग्मटीप्रशिरासङ्गश्च सादृश्यं किमपि न दृश्यते, तथा
च—“दाहसर्पवन्तः शिराहताः । कृष्णासन्नाः शिरासङ्गाः पिडिकाः सर्पपोपनाः ॥”

तत्र समविंशतिनेत्रदृष्टिगतरीगाणां विवरणम् ।—

काचन्तु षड्भिधं ज्ञेयं वातात् पित्तात् कफादपि ।

सन्निपाताच्च रक्ताच्च षष्ठं संसर्गसम्भवम् ॥ १६३ ॥

तिमिराणि षडेव स्युर्वातपित्तकफैस्त्रिधा ।

तथा हि—“शेतः समाक्रामति संवेतो हि दोषेण यस्यासितमण्डलन्तु । तमच्च-
पाकात्ययमक्षिरोगं सर्वात्मकं वर्जयितव्यमाहुः ॥” (री० वि० नेत्रकृष्ण०) इति ।
अक्षिपाकात्ययः पुरतो वक्ष्यमाणसर्वगतरीगे गणितः, तस्मात् शिरासङ्कोऽत्र
असाध्यकृष्णगतरीगविषयं द्रष्टव्य इति समीचीनः पक्षः । एवं पञ्च कृष्णगता रीगाः
प्रोक्ताः ॥ १६२ ॥

अथ षड्भिधं काचमाह, काचान्वति ।—काचन्तु लिङ्गनाशस्य भेद एवेत्येके ;
यतः,—“स एव लिङ्गनाशन्तु नीलिका-काचसञ्ज्ञितः” (सु० उ० ७ अ०) इति ।
नेत्राणां पटलभेदादपि तृतीयपटलगतं काचमित्युच्यते ; यतः,—“तृतीये पटले
काचं चतुर्थे नीलिकाह्वयम्” इत्यादि । एके तिमिरादीना निदानपरम्परयाऽवस्था
दर्शिता ; तथा हि—“तिमिरं रागता याति रागः काचत्वमेव च । काचात्
सञ्जायते नीलो तदाऽन्धो जायते नरः ॥” इति । अत एवाह माधवः,—
* “साध्यमप्राप्तरागं स्यात् तिमिरं हि क्रियावतः । थाप्यं सम्प्राप्य रागं व्याहृत्य पटलतां
गतम् ॥” इति । पटलानां कथनं दृष्टिगतरीगे दर्शयिष्यामः । षड्भिधत्वमस्य
दोषविशेषाद्भवति, यदाह विदेहः,—“यथास्वं रज्यते दृष्टिर्दोषैस्त्रपटलास्थितैः ।
अतुष्टपटलप्राप्तेर्मण्डलं रज्यते तु तैः ॥” इति । एकजातीयतया विचतुःपटलगतानां
रीगाणां तिमिरकाचनीलिकार्सञ्ज्ञितानां दोषभेदाः षट्सङ्ख्या एव बीडव्याः, तेषां
स्वरूपं वक्ष्यमाणतिमिरं दर्शयिष्यामः । रागोऽपि तन्वान्तरे षड्भिधः प्रतिपादितः
दोषविशेषभेदात् ; प्रसङ्गतोऽपि तानाह ; तथा हि—“रागाऽऽन्यां साकतजः
प्रादष्टा स्नाथी च नीलश्च तथैव पित्तात् । कफात् सितः शोणितजः सरक्तः समक-
दोषप्रभवो विचित्रः ॥” (री० वि० नेत्रदृष्टि०) इति । अत्रापि तिमिरसम्बन्धि
परिज्ञायि षष्ठं ज्ञातव्यम् । तिमिराणीति ।—तिमिरन्तु दृष्टिनाशस्य सूक्ष्ममिति

(वा० उ० १० अ०), किञ्च शिरासङ्का वाग्भटेन नेत्रशृङ्खलते पादितः, सौक्ष्ण्य-
अक्षिपाकात्ययस्तु कृष्णमण्डलगत इत्यापि सुधीर्मिदं द्रष्टव्यम् ।

* श्लोकोऽयं माधवसङ्गं कुमापि न दृश्यते ।

संसर्गेण च रक्तेन षष्ठं स्यात् सन्निपाततः ॥ १६४ ॥

प्रसिद्धम् ; यदुक्तं—“मूलं दृष्टिविनाशस्य तिमिरं समुदाहृतम् । ऋषिभिस्त्वरितं
तस्यात् तस्य कुर्याच्चिकित्सितम् ॥” इत्यादि । तस्यानदेव तिमिर पटलेषु
दीववर्णभेदेन रागकाचनीलकादिसंज्ञ भवति, तत् पूर्वं दर्शितमेव । तदेतच्च
नानाद्वयं भवति नानाकृतिरूपदर्शनात् ; “एकदेशं तु यो दीपो दृष्ट्वा तिष्ठति
पीडितः । यत्संख्यानः स भवति तादृशं तेन पश्यति ॥” इति । एकविंश-
चतुर्थपटलगतालङ्कानि माधवसङ्गृहे ज्ञातव्यानि, यद्यगौरवभयान्नाव लिखितानि ।
षाड्विंशत् रूपभेदो लिख्यते ; यथा—“तत्र वातेन रूपानि भ्रमणीय
च पश्यति । आविलान्यरूपाभावि व्याविडानीव मानवः ॥” (सु० उ० ७ अ०)
इति । पित्तेन रूपमाह—“पित्तेनादित्यखद्योतशक्रचापतडिदृष्टवान् । नृत्यतश्चैव
शिखिनः सर्वे नीलञ्च पश्यति ॥” (री० वि० नेत्रदृष्टि०) इति । कफेन रूपमाह—
“कफेन पश्येदूपाणि स्निग्धानि च सितानि च । पश्येदसूक्ष्माण्यत्यर्थं व्यभ्रमेवाभ्र-
सम्प्लवम् ॥ सालिलप्लावतानीव पारलाद्यानि मानवः ॥” (री० वि० नेत्रदृष्टि०)
इति । कौशदन्यथा कफलक्षणाणि पाठितानि ; यदुक्तं—“गौरचामरगौराणि श्वेताभ्र-
प्रमितानपि । यत्र पश्येदसूक्ष्माणि कफाश्चैवाभ्रसम्प्लवम् ॥” इति । संसर्गरूपमाह,
संसर्गादिव पितरक्तयोः कथितः ; तेन तन्वान्तरे परिस्त्रायिसंज्ञं तिमिरं संसर्गे-
शब्देनाह ; तथा चोक्तं—“पितं कुर्यात् परिस्त्रायि मूर्च्छितं रक्ततेजसा । पीता
दिशस्तु खद्योतान् भास्करश्चापि पश्यति ॥ विकीर्यमाणान् खद्योतेर्वास्तेकोभिरेव
च ॥” (री० वि० नेत्रदृष्टि०) इति । परिस्त्रायितिमिरं लक्षणांतरमप्याह—
* “अरुणं मण्डलं दृष्ट्वा स्थूलकाचारुणप्रभम् । परिस्त्रायिनि रोगे स्यात् स्त्रायि
नीलञ्च मण्डलम् ॥” (री० वि० नेत्रदृष्टि०) इति । मालतरक्तापत्ताभ्यामत्यक्तं,
यदुक्तं—“विदध्याति परिस्त्राय पितं रक्तेन सङ्गतम् । तेन पीता दिशः पश्येदुद्यन्त-
मिव भास्करम् ॥” इत्यादि । रक्तेन रूपमाह—“पश्येद्रक्ताणि रक्तेन विविधानि
तमासि च । हरितान्यथ कृष्णानि पीतान्यपि च मानवः ॥” इति । सान्नपातेन

* अरुणमित्यादि लक्षणं वार्तिकस्य रागस्य न तु परिस्त्रायिनः ; तथा च मधुकीवः,
—“उद्देशकमेण वार्तिकप्रैलिकरागस्यैव विंशष्टलक्षणमाह, अरुणं मण्डलमित्यादि ।
परिस्त्रायन इत्यादना परिस्त्रायिनो विंशष्टलक्षणम् । अत्र गदाधरस्तु ‘रक्तजं मण्डलं
दृष्ट्वा स्थूलकाचारुणप्रभम्’ इति पठित्वा एतदपि परिस्त्रायिलक्षणमाह—” इत्यादि ।

लिङ्गनाशः सप्तधा स्यात् बातात् पित्तात् कफेन च ।

त्रिदोषैरुपसर्गेण संसर्गेणासृजा तथा ॥ १६५ ॥

रूपमाह—“सन्निपातेन चित्राणि विप्रतानीव पश्यन्ति । बहुधा च द्विधा बाऽपि सर्वाण्येव समन्ततः ॥ हीनाधिकाङ्गान्यथवा ज्योतीष्यपि च मानवः ॥” (सु० उ० ७ अ०) इति । लिङ्गं इति ।—लिङ्ग्यते ज्ञायतेऽनेनेति लिङ्गशब्देन दृष्टिरुच्यते, तस्य नाशो लिङ्गनाशः ; यदुक्तं—“रूपाणां लिङ्गनाशाङ्गिर्ज्ञं तन्नाशो लिङ्गनाशकः” इत्यादि । नाशस्तु तिमिरैरेव दृष्टेः सर्वतोऽवरोधात् प्रतिपादितः ; तथा हि—“तिमिराख्यः स वै दीपश्चतुर्थे पटलं गतः । कणादि सर्वतो दृष्टि लिङ्गनाशमतः परम् ॥ अस्मिन्नपि तमोभूते नातिरुद्धे महागर्दे । अन्दादित्यौ सनखत्रावन्तरीक्षे च विद्युतः । निमंलानि च तज्जास भाजिष्णुनि च पश्यन्ति ॥” (सु० उ० ७ अ०) इति । बातादिदोषभेदाः षट् य एतमिरं दाशेतास्ते एवात्रापि ज्ञातव्या इत्येके, एकपटलगतदोषसाधर्म्यात् । अन्ये तु वक्ष्यमाणमण्डलगतलक्षणां न मन्यन्ते, तान्यस्यैवाये लिखितानि । सप्तमी भेदस्तु संसर्गः कथ्यत, स तु बाह्यगताभ्या निमित्तानिनिमित्तागन्तुकभेदाभ्या द्विधा भवति ; तदयथा—“वाच्यौ पुनर्द्वावच्च सम्प्रदिष्टौ निमित्ततथाप्यनिमित्ततथ” (सु० उ० ७ अ०) इत्यादि । तत्र निमित्ततो द्विधा, एकः शिरोऽभितापात् भवति, अपरो लगुडाढीनामभिघातनिमित्तः ; यतः,—“निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापातं ज्ञेयस्त्वभिभ्यन्दनदर्शनैश्च” (सु० उ० ७ अ०) इत्यादिवचनात् शिरोऽभि सर्वतस्तप्यते येन सः शिरोऽभितापः, स तु त्रिषकुभुमादगन्धर्वादिपवनस्पशेनादः, तेन मलकोपघाताद्भ्रमगत-रक्तप्रकोपः दृष्टिशक्तेरपि व्याघातः । अभिघातनिमित्तमग्राह—“विदोष्यते सौदति होयते वा नृषामभिघातकृता च दृष्टिः” (सु० उ० ७ अ०) इति । निमित्ततो यथा—“सुरभिगन्धर्वमहोरगाणां सन्दर्शनेनापि च भास्करस्य । इत्येत दृष्टिर्भूतजस्य यस्य स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसजः ॥ तस्याच्च विष्यष्टमिवावभाति वैदूष्यवर्णा विमला च दृष्टिः ॥” (सु० उ० ७ अ०) इति । ननु विमलेत्यनेन द्रावणनिर्गतिमिरराग-काचादिरहितः दृष्टर्भवति, तत् कथं भौतिकोन्द्रियस्यादुष्टस्यापि शक्तिनाशः ? उच्यते—देवादयो भौतिकेन्द्रियमदूषयन् एव शक्तिमुपघ्नन्, यदुक्तं चरके—“देवादयोऽष्टौ हि सज्जानुभावाः न दूषयन्तः पुरुषस्य देहम् । विजन्त्येष्ट्याक्षरसा यथैव ह्याद्या-तपो दर्पणसूर्यकान्तौ ॥” (च० वि० उन्माद०) इति । लिङ्गनाशेऽपि कालादिना

* रूपाणां ज्ञानजननात् रूपाणां ग्रहणादिति वा पाठः सङ्गतः, लिङ्गनाशात् लिङ्गम् इत्यस्य निरर्थकत्वात् ।

अष्टधा दृष्टिरोगाः स्युस्तेषु पित्तविदग्धकम् ।

अस्त्रपित्तविदग्धश्च तथैवोष्णविदग्धकम् ॥ १६६ ॥

वातादिदोषस्यैव ज्ञेयात् कदाचिद्दर्शनं भवतीत्याहुरेके ; यतः,—“दीर्घज्यात् कदाचित् स्यात् स्वयं तत्र च दर्शनम्” (सु० उ० ७५०) इति । अन्ये कर्मसंस्कारित (?)-वातादिदोषज्यादित्याहुः । तेषामेव मण्डलगतरागः केषाञ्चित् ज्ञापनार्थं लिख्यते ; यथा—“अदृश्यं मण्डलं वाताश्चक्षुः पश्यं तथा । पित्तात् मण्डलमानीलं कांक्षामं पीतमेव च ॥ श्लेष्मणा वक्षुः स्निग्धं शङ्कुकुन्देन्दुपाण्डुरम् । अल्पज्वरपलागस्थं शुक्ली बिन्दुरिवाश्रयः ॥ सङ्कुचस्यातपेऽत्यर्थं छायायां प्रमरत्यपि । मृदमाने च नयने मण्डलं तद्विस्मयति ॥” (सु० उ० ७५०) इति । रक्तजमाह—“प्रबालपद्मपद्मं मण्डलं गोणितान्त्रकम् । दृष्टिरागो भवेन्निबो लिङ्गनाशि विदोषजी ॥” (सु० उ० ७५०) इत्यादि । वेध्यविषयनिमित्तं कथ्यते ; “वेध्य एष कफात्मकः” इत्यादिबचनात् । अष्टधेति—दृष्टिमण्डलगताः रोगाः कथिताः । दृष्टिप्रमाणत्वं सुश्रुतेनोक्तम् ; तद्व्याख्या—“मसूरदलमावान् पद्मभृतपसादनाम्” (सु० उ० ७५०) इति । मसूरार्द्ध-दलमावानित्यभिप्रायः ; निमिरप्याह—“पद्मभृतात्मिका दृष्टिर्मसूरार्द्धदलोन्मिताः” इति । तस्यां ज्वरारि पटलानि सन्ति, रसरक्ताशयं बाह्यं, द्वितीयं मांसमंशयं, तृतीयं मेदःसंशयं, चतुर्थे कालकाष्ठिसंस्थितम् इति ; तदुक्तं सुश्रुते—“तेजोजलाश्रितं बाह्यं तैश्चैव पृथिताश्रितम् । मेदकृतोऽयं पटलमाश्रितं त्वष्टि चापरम् ॥” (सु० उ० १५०) इत्यादि । तेष्वादौ पित्तविदग्धमाह—दृष्टेन पित्तेन विदग्धदृष्टिर्भवति ; यदुक्तं—“पित्तेन दृष्टेन सदा तु दृष्टिः पीता भवेत् यस्य नरस्य किञ्चित् । पीतानि रूपानि च मन्यते यः स मानवः पित्तविदग्धदृष्टिः ॥” इति । अस्त्रपित्तविदग्धमिति—अस्त्रपित्ते वसनविषयत्वात् दृष्टेरभिघातः, वसनत्वं कर्फं विना न सम्भवति, तस्मात् अतस्मान्नरोक्ता श्लेष्मविदग्धदृष्टिरियम् । तदुक्तं—“तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टिस्तान्येव शुक्लानि च मन्यते सः” (सु० उ० ७५०) इति । अद्यापि ठाडशक्तिकत्वात् श्लेष्मणि कफास्त्रसंज्ञेति

* बाग्भटीनेनानेन अस्त्रपित्तविदग्धेन सङ्गं श्लेष्मविदग्धदृष्टेः लक्षणसाम्यं किमपि नास्ति, तच्च सरक्तविदोषजन्यं विक्रियाऽपि तस्य न वसनमाध्या ; तथा च—“भृश-मस्त्राशनाद्वापे साक्षेयां दृष्टिराश्रिता । सक्तेदकण्डूकलुषा विदग्धास्तेन सा सृता ॥” (बा० उ० १२५०) । “धूमराज्यास्त्रपिनीषविदाङ्गे जीर्णसर्पिणा । स्निग्धं विरेचयेत् प्रीतेः प्रीतेर्दिग्धाश्च सर्वतः ॥” (बा० उ० १३५०) इति ।

नकुलान्धं धूमरान्धं राज्ञान्धं ऋक्षदृष्टिकः ।

गम्भीरदृष्टिरिष्येते रोगा दृष्टिगता मताः ॥ १६७ ॥

व्याख्यानयन्ति (१) । उष्णविदग्धकामिति—* उष्णं चर्मादिकं, तेन विदग्धदृष्टिर्भवति, अथ एव तन्नाम्नरे दिवाऽन्धः कथितः ; “प्राप्ते तृतीयं पटलान् दोषे दिवा न पश्येन्नृशि बोधते च । रात्रौ स ग्रीवान्गृहीतदृष्टिः पित्ताल्पभावादपि तानि पश्येत् ॥” (सु० उ० ७५०) इति । नकुलान्धमिति—नकुलस्य दृष्टिः यथा प्रतिभासते वर्णेन तथा अस्येत्यर्थः ; तथा हि—“विद्योतते यस्य नरस्य दृष्टिर्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यवग । चित्वाणि रुपाणि दिवा स पश्येत् स वै विकारी नकुलान्धसंज्ञः ॥” (सु० उ० ७५०) इति । दिवा स पश्येदित्युक्तत्वात् रात्रौ न पश्यतीत्यवगन्तव्यम् । धूमरान्धं धूमदर्शी कथितः, यतो धूमाकुलान् सर्वभावान् पश्यति ; यदुक्तं—“शोक-ज्वरायासशिरोऽभितापैरभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः । धूमांस्तथा पश्यति सर्वभावान् स धूमदर्शीति नरः प्रदिष्टः ॥” (रो० वि० नेत्रदृष्टि०) इति । दिवा धूमान् पश्यति, न तु रात्रौ, पित्तस्य क्षीणत्वात् इति व्याख्यानयन्ति । † राज्ञान्धमिति—राज्ञान्धं प्रमिद्धम् ; तद्वयथा—“विषं स्थितोऽल्पः पटलेषु दोषो नक्तान्धस्यापाक्यति प्रसज्य । दिवा स सूर्यान्गृहीतदृष्टिः पश्येत् रुपाणि कफाल्पभावात् ॥” (सु० उ० ७५०) इति । ऋक्षदृष्टिक इति—ऋक्षरूपदर्शनात् ऋक्षदृष्टिकः ; यतः,—“यो ऋक्षजाद्यो दिवसेषु ऋक्षात् ऋक्षाणि रुपाणि च तेन पश्येत्” (रो० वि० नेत्रदृष्टि०) इति । अथ पीतो रागो दृष्टिमध्यगतः ; यदुक्तं—“दृष्टिमध्यस्थिते दोषे मण्डलस्य च पश्यति । रात्रौ पित्ताल्पभावात् तानि रुपाणि पश्यति ॥” इति । गम्भीरदृष्टिरिति—यदृष्टिरभ्यन्तरतः सङ्कुचं विरूपा भवति ; तद्वयथा—“दृष्टिर्विरूपा अमनोपसृष्टा सङ्कुचनेऽभ्यन्तरतश्च याति । रुजावगाढा च तमश्चरोगं गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥” (सु० उ० ७५०) इति । एते दृष्टिगता रोगा दर्शिताः ॥ १६३—१६७ ॥

* उष्णविदग्धस्य लक्षणं वाग्भटे यथा दृश्यते, तेन उष्णविदग्धदृष्टिर्निर्गन्धस्य एव भवति, न तु दिवाऽन्धः ; तथा च—“उष्णमस्य मण्डसा शीतवारिनिमज्जनात् । विदोष-रक्तसम्पृक्तो बाल्यश्रोत्रे ततोऽजिघी ॥ ढाढोषे मनिनं शुक्लमण्डल्याविलदर्जनम् । राज्ञा-चान्धश्च जायेत विदग्धोष्णेन सा क्षुण्ण ॥” (बा० उ० १२५०) इति । दिवाऽन्धः पित्त-विदग्धदृष्टेरेव अवस्थान्तरमात्रम्, एतस्य प्रमाणादिकं विचारभयादत्र न प्रदर्शितं, नेत्रदृष्टिगतरोगाधिकारे पित्तविदग्धदृष्ट्याख्याने मधुकोषो द्रष्टव्यः ।

† अस्त्रेय राज्ञान्धस्य अवस्थाविशेषः श्लेष्मविदग्धदृष्टिरिति मधुकोषनिबन्धसङ्गृही ।

तत्र बीजशनेन सर्वगतबीजाणां विवरणम् ।—

अभिष्यन्दाश्च चत्वारी रक्तादोषैस्त्रिभिस्त्रिधा ।

चत्वारश्चाधिमन्याः स्युर्वातपित्तकफास्रतः ॥ १६८ ॥

अभिष्यन्दा इति ।—सर्वनयनरोगहेतुत्वात् सर्वनयनगतोऽभिष्यन्द इति ; यतः सुश्रुते सर्वनयनताः समदश्च गदिताः ; तद्वयथा—चत्वारीऽभिष्यन्दाश्चत्वारीऽधिमन्याः नेत्रपाकादयो नव इति । अत्र चिकित्साविशेषदोषविशेषभेदाच्च पृथक् लिखितो न दोषः । संश्लेषपाकान्वितोऽभिष्यन्दरोगः, स चतुःप्रकारो भवति दोषभेदेन ; तेषु वाताभिष्यन्दमाह, वाताभिष्यन्ते नेत्रे ईदृशाणि लक्षणाणि भवन्ति ; तद्वयथा—“निकोदगलक्ष्मणरोगसङ्घर्षसङ्घर्षपाकव्यगिरोऽभिजापाः । विषयभावः शिशिराश्रुता च वाताभिष्यन्ते नयने भवन्ति ॥” (सु० उ० ६५०) इति । पित्तजमाह, तद्वयथा—“दाहप्रपाको शिशिराभिमन्दा धूमायर्न वाष्पसमुद्भयश्च । उष्णाश्रुता धीतकनेत्रता च पित्ताभिष्यन्ते नयने भवन्ति ॥” (सु० उ० ६५०) इति । कफजमाह,—“उष्णाभिमन्दा गुरुताऽपि शीथः कण्डूपदंदावतिशीतता च । स्वाधो मुहुः पिच्छिल एव चापि कफाभिष्यन्ते नयने भवन्ति ॥” (री० वि० नेत्रसर्व०) इति । रक्ताभिष्यन्दमाह—“ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च राज्यः समन्तादातलोहितता च । पित्तव्यलिङ्गानि च यानि तानि रक्ताभिष्यन्ते नयने भवन्ति ॥” (सु० उ० ६५०) इति । अप्रतिक्षयमाणात्वात् ब्रह्मेरभिष्यन्दैरेव चत्वारीऽधिमन्या जायन्ते ; तथा हि—“ब्रह्मेरतेरभिष्यन्दैर्नराणामाक्रियताम् । तावन्तस्त्वाधिमन्याः स्युर्नयने तीव्रवेदनाः ॥” (सु० उ० ६५०) इति । शिरसोऽर्द्धवेदनाजकत्वाच्चाभिष्यन्दतो भिन्नः सङ्गृहीतः ; यदुक्तम्—“उत्पाद्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मय्यते तथा । शिरसोऽर्द्धं च तं विद्यादधिमन्यं स्वलक्षणैः ॥” (सु० उ० ६५०) इति । न केवलं तीव्रवेदनादिकारित्वात् भिन्न एव, अपि तु दृष्टिनाशकत्वादिति ; तथा कृतं—“उत्पादार्द्धं श्लेष्मकः सप्तरात्रादधिमन्यो रक्तजः पञ्चरात्रात् । षड्रात्राद्वा वातिको वै निहन्त्याग्निप्याचारात् पौलकः सद्य एव ॥” (री० वि० नेत्रसर्व०) इति । कालावधिरव व्याधि-स्वभावाद्ब्रह्मणप्रलेपनाटिविधानार्थमस्त्रगादिनिषेधायञ्च । तन्नाशनेऽपि सामानिरामनेत्र-रोगविषयत्वाद्धेयोपादेयत्वं प्रतिपादितम् ; तद्वयथा—“स्लेदः प्रलेपलक्ष्मां धूमा दिग-चतुष्टयम् । लङ्घनश्चाक्षरोगाणामामानां पाचनानि षट् ॥ अन्नं सर्पिषः पानं कषायं गुरुभोजनम् । नेत्ररोगेषु सानेषु स्नानञ्च परिचर्कयेत् ॥” इति । सामानिरामलक्षणं प्रसङ्गतो लिख्यते ; यथा—“उदोऽर्द्धवेदं नेत्रं रागशोषसमन्वितम् । घर्षनिहोदयलासु-

सर्वाक्षिरोगाद्याश्रये स्युस्तेषु वातविपर्ययः ।

अल्पशोफोऽन्यतोवातस्तथा पाकात्त्वयः स्मृतः ॥ १६६ ॥

युक्तमानास्त्वितं विदुः ॥” (रो० वि० नेत्रसर्व०) इति । निरामलक्षणमाह—“मन्दवेदनता कण्डूः संरम्भाक्षुप्रशान्तता । प्रसक्तवर्णता चाखण्डोः सन्धकं दीवमादिशेत् ॥” (रो० वि० नेत्रसर्व०) इति । वातपित्तकफरक्तलक्षणां न्यत्राभिष्यन्दीकृताणि च बोद्धव्यानि । सर्वाक्षि-
व्यापकत्वात् सर्वाक्षियक्षणं, न चैकदेशसम्भवत्वात् । अक्षिप्रमाणन्तु सुसुतेनोक्तम् ; यथा—
“विद्याङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुलीदरसम्मितम् । दाङ्गुलं सर्वतः साक्षं भिषङ्गुलमुदम् ॥
सुवर्णं गोलनाकारं सर्वभूतगुणोद्भवम् ॥” (सु० उ० १ अ०) इत्यादि । अष्टाविति—
अष्टभेदाः । तेष्वष्टौ वातविपर्ययमाह, पर्यायेण क्रमेण कटाचिक्षुबोः कटाचिक्षीच-
नयोर्बायुक्षीघ्ररुजां यत्र करोति स वातविपर्ययः ; यदुक्तं—* “वारं वारं च पर्येति
भुवो नेत्रे च नाकतः । रुजश्च विविधास्तीव्राः ज्ञेया वातविपर्ययः ॥” (रो० वि०
नेत्रसर्व०) इति । अल्पशोफ इति—अल्पशोफो नेत्रपाकभेदः, स च शोथरहित इत्यर्थः ;
यतो नेत्रपाको द्विधा भवति, एकः शोथजः अपरस्त्वशोथज इति ; तथा चोक्तं—
“कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्षोऽन्वरसन्निभः । मंरम्भी पच्यते यस्तु नेत्रपाकः स शोथजः ॥
शोथक्षीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोथजे ॥” (सु० उ० ६ अ०) इति । अन्यतो-
वात इति—यथा—“यस्यावटुकर्णशरीरानुस्यो मन्वागतो वाऽप्यनिर्लोऽन्यतो वा ।
कुर्वाद्गुजं वै भुवि लोचने च तमन्यतोवातमुदाहरन्ति ॥” (सु० उ० ६ अ०) इति ।
अन्यतो वेत्यनेनोक्तप्रदेशादितरत्र पृष्ठे, अन्यत्र वातस्य कारणस्यावस्थानम्, अन्यत्र
लोचने भुवि च रुजां करोतीति अन्यतोवातः । विदंहेऽप्युक्तं—“मन्वानामन्तरं बाहु-
रुत्थितः पृष्ठतोऽपि वा । करोति भेदं निक्षीदं शङ्खे चाखण्डोर्भुवोक्षया ॥ तमाहुरन्यतोवातं
रोगं दृष्टिविदो जनाः ॥” इति । पाकात्त्वय इति—यद्यपि + सुसुतेऽक्षिपाकात्त्वयः

* वाग्भटे वातविपर्ययो दृश्यते, परन्तु सुसुताद्युक्त-वातपर्यायेण सह तस्य सर्वथा
लक्षणसाम्यं नास्ति, तथा च—“तद्वस्त्रेण भवेज्जिह्वामूनं वातविपर्यये” (वा उ० १५ अ०)
वाग्भटीकृतानेन लक्षणेन सह “वारं वारं च—” इत्यादि लक्षणस्य भूनेदयोः रुजाव्यतिरिक्तं
साम्यं नास्ति । वाग्भटीकृतस्य तद्वत् इत्यस्य अन्यतोवात इव इत्यर्थः । सुसुते वातपर्ययः
इति नाम । “ज्ञेयो वातविपर्ययः” इत्यत्र “स ज्ञेयो वातपर्ययः” इति साधवधृतपाठः ।

+ अथवाक्षिपाकात्त्वयो वाग्भटेनापि सर्वाक्षिरोगविज्ञाने पठितः ; अन्ये, सुसुतेनोक्त-
लक्षणमल्लगताक्षिपाकात्त्वयः अथवा सर्वगताक्षिपाकात्त्वयः नैकविधः, उभयोर्लक्षण-
वैकल्यात् ; तथा च—“पाकोऽन्यैर्लक्षणेक्षया । अक्षिपाकात्त्वये शोफः संरम्भः कण्डूः

तथा शुष्काक्षिपाकश्च शोफोऽध्युषित एव च ।

हताधिमन्य इत्येते रोगाः सर्वाक्षिसम्भवाः ॥ १७० ॥

कृष्णभागतरोगे पठितसद्याऽप्यत्र सर्वाक्षितमण्डलव्यापकत्वेन तीव्ररुजाकारत्वेन च शार्ङ्गधरेण सर्वाक्षितरोगे पठितो न दोषः ; तद्वद्व्या—“संख्यायते श्वेतनिभेन सर्व-
दोषेण यस्याक्षितमण्डलम् । तमक्षिपाकात्प्रथमक्षिप-समुत्थितं तीव्ररुजं वदन्ति ॥”
(सु० च० ५५०) इति । शुष्काक्षिपाक इति—शुष्काक्षिपाकेनोपहतमक्षि यव भवति ;
तथा हि—“यत् कूषितं दारुणरुचवत् सन्दृष्टे चाविलदर्शनं यत् । सुदारुणं यत्
प्रतिशोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥” (रो० बि० नेत्रसर्व०) इति । अयं
रोगः सरक्तवातजन्यः ; यदाह करालः,—“कूषितं खरवत्सोऽक्षि कृच्छ्रोन्मोला-
विलेखणम् । सदाहं साष्टतो वाताच्छुष्कापाकान्वितं वदन्ति ॥” इति । शोफ
इति—शोफः प्र पाकभेदः, सर्वाक्षिजनसंपाक इत्यर्थः, यत् । सुशुभ्रेऽपि हृदिशोऽक्षि-
पाकः ; तद्वद्व्या—“व्यन्दास्तु चत्वार इहोपदिष्टाऽनागत एवैह तथाऽधिमन्याः ।
शोफान्वितोऽशोफयुतश्च पाकावित्येवमेते दश सम्प्रदिष्टाः ॥” (सु० च० ६५०)
इत्यादि । अस्य लक्षणं कथितात्पश्याथे दर्शितम् । अध्युषित इति—अक्षिभोजनो-
त्पत्तिकत्वाद्वाध्युषित इति प्रसिद्धम् ; यदुक्तं—“प्रज्ञां लोहितपथ्यन्तं सर्वं चावि-
प्रपच्यते । सदाहशीथं साक्षावमन्त्राध्युषितमस्मृतः ॥” (रो० बि० नेत्रसर्व०) इति ।
हताधिमन्य इति—सकलनयनशोषकत्वाद्भताधिमन्यः ; यतः,—“उपेक्षणादक्षि
यदाधिमन्यो वातात्मकः सादयति प्रसृज्य । रुजाभिरुयाभिरमाप्य एव हताधिमन्यः
खलु नाम रोगः ॥” (रो० बि० नेत्रसर्व०) इति । अयं रोगो हृदिनिर्गमलक्षणी
विहित इति केचित् ; तद्वद्व्या—“अन्तर्मेतः शिराणान्तु यदा तिष्ठति मारुतः ।
स तदा नयनं प्राप्य शीघ्रं हृदि निरस्यति ॥ तस्यां निरस्यमानायां निमेषान्निव
कार्त्तते । नयनं निर्वमन्याशु शूलतोदाधिमन्यनैः ॥” इत्ययं हृदिनिर्गमलक्षणः ।
नैवं, सकलाक्षिशोषो मन्य इत्युक्तत्वात् सर्वाक्षिशोषे सर्वसम्प्रतत्वात् प्रतीतः ;
यदुक्तमन्यत्रापि—“अथवा शोषयेदक्षि क्षीणतेजोबलादयम् । तत् पद्ममिव संशुष्क
कवसोदति खोचनम् ॥ हताधिमन्य तं विद्यादसंख्य वातकोपतः ॥” इति ।
एवं चतुर्नवतिनेत्ररोगा एकादशस्थानविशेषेण व्याख्याताः ॥ १६८—१७० ॥

शुक्ता ॥ कफोपदिग्धगसितं सितं प्रकृष्टरागवत् । दाहो दर्शनसंरोधो वेदनाश्चानव-
स्थिताः ॥” (बा० उ० १५५०) इति । टीकाकारेणानेन यत् समाधानमुक्तं तत्र
हृदं चक्षुषैवस्य स्फुटतादिता ।

पञ्चविधकृत्यानां विवरणम् ।—

पुंस्त्वदोषास्तु पञ्चैव प्रोक्तास्तत्रैर्थकः स्मृतः ।

आसेक्यश्चैव कुम्भीकः सुगन्धी षण्डसंज्ञितः ॥१७१॥

पुंस्वेति ।—पुंस्त्वदोषो नपुंसकशब्दवाच्यः, स च पञ्चप्रकारो भवति । तद्वैर्थक-
माह—अन्वयवायं दृष्टा व्यवधेयं प्रवर्तते यः स ईर्ष्यकः ; यदुक्तं—“दृष्टा व्यवध-
मन्वेष्टा व्यवधेयः प्रवर्तते । ईर्ष्यकः स तु विज्ञेयः—॥” (सु० शा० २५०) इति ।
दृग्द्योनिरपीर्ष्यकापरपर्यायः । अद्यापि तन्नाम्नैरपठितो हेतुर्थमा—“ईर्ष्याभिमृता-
वपि मन्दहर्षावीर्यरतेरेव वदन्ति हेतुम्” (च० शा० अतुल्यगोवीथ०) इति । आसेक्य
इति—यः स्वभाष्याया शोभ्यादिकं स्पृष्टा सङ्कल्पपूर्वकं प्रवर्तते स आसेक्यः । सुसुते तु,
शुक्तं प्राश्र्य ध्वनटाख्यं लभते यः स आसेक्यः कथितः ; तदुक्तं—“पिप्पलीरन्वत्पनीयत्वा-
दासेक्यः पुरुषो भवेत् । स शुक्तं प्राश्र्य लभते ध्वनोच्छ्रायमसंशयम् ॥” (सु० शा०
२५०) इति । अत एवासेक्यनामाऽयं षण्डो सुखधीन्यपरपर्यायः कथितः ।
कुम्भीक इति—यः पुरुषः स्वकीयपाथो अन्यपुरुषपाथात् व्यवधेयं कारयित्वा पञ्चात्
स्त्रीषु विषये पुमानिव प्रवर्तते स कुम्भीकः ; सुसुते—“स्वै गुदेऽन्नन्नचर्यात् यः स्त्रीषु
पुंवत् प्रवर्तते । कुम्भीकः स तु विज्ञेयः—॥” (सु० शा० २५०) इति । गुद-
द्योनिरयं कुम्भीकापरपर्यायनाम्ना कथितः । अत्योत्पत्तिहेतुश्च तन्नाम्नैरवर्णितः ;
यथा—“मातृव्यवायप्रतिघेन वक्त्री स्याद्वीजदौर्बल्यतया पितुश्च” (च० शा० अतुल्य-
गोवीथ०) इत्यादि । गवदासस्तु कुम्भीकोत्पत्तिहेतो काश्यपोक्तं श्लोकमाह ; यथा
—“अरजस्कां यदा नारौ श्रेष्ठरेता व्रजिद्वतौ । अन्यसक्ता भवेत् प्रीतिर्जायते
कुम्भीककादा ॥” इति । सुगन्धीति—यो योन्यादिगन्धमाप्राप्य ध्वनबलं लभते स
सुगन्धीति नाम षण्डः कथितः ; यदुक्तं—“यः पूतिथोनो जायते स सौगन्धिक-
संज्ञितः । स योनिशेषसौगन्धमाप्राप्य लभते बलम् ॥” (सु० शा० २५०) इति ।
अयं सौगन्धिकोऽपि नासाधोन्वपरपर्यायः । षण्डसंज्ञित इति—यः पुमान् क्लृप्ताकृतिः
स्त्रीचेष्टितश्च स्त्रीवदधीभूतः स्वमेदुल्लिङ्गप्रदेशे अपरपुरुषात् बोध्यच्युतिं कारयति स
षण्डः, उत्पत्तिविषयत्वात् (?) ; यदुक्तं—“यो भार्यायावतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते ।
ततः स्त्रीचेष्टिताकारो जायते षण्डसंज्ञितः ॥” (सु० शा० २५०) इति । अयं
षण्डस्वरताः कथितः, ईर्ष्यकादयश्चत्वारः सरितश्च इत्युक्तत्वात् ; तथा हि—
“आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेत्यंशकाद्या । सरितश्चस्त्वमो त्रैधा अशक्तः षण्डः संज्ञितः ॥”
(सु० शा० २५०) इति ॥ १७१ ॥

अष्टविधशुक्रदोषाणां विवरणम् ।—

शुक्रदोषास्तथाऽष्टौ स्युर्वातात् पित्तात् कफेन च ।

कुण्ठपक्षास्रपित्ताभ्यां पूयाभं श्लेष्मपित्ततः ॥ १७१ ॥

क्षौण्णश्च वातपित्ताभ्यां ग्रन्थिलं श्लेष्मवाततः ।

मलाभं सन्निपातेन शुक्रदोषा इतोरिताः ॥ १७२ ॥

अष्टविधात्तद्वदोषाणां विवरणम् ।—

अथ स्त्रीरोगनामानि प्रोच्यन्ते पूर्वशास्त्रतः ।

शुक्रदोषा इति ।—दोषेर्दुष्टं शुक्रं शुक्रदोष इत्युच्यते, तद्वयुक्ताः पुरुषाः गर्भोत्पादने न क्षमा इति * प्रयोजनं सुश्रुतवचनात्, यतः,—“वातपित्तश्लेष्मकुण्ठपयन्यपूति-
पूयक्षौण्णमूलपुरीषरेतसः प्रणीत्पादने न समर्था भवन्ति” (सु० आ० २५०) इति ।
तत्र शुक्रं यद्वर्णकृष्णवर्णं भवति तोदनमेदनाविशेषान्वितञ्च भवति तत् वातदुष्टम् ।
पित्तदुष्टन्तु पीतनीलादिवर्णान्वितम् क्षौण्णक्षौण्णवेदनाविशेषयुक्तञ्च । श्लेष्मदुष्टञ्च श्वेतवर्णे
कण्डादिवेदनान्वितञ्च । कुण्ठपक्षास्रपित्ताभ्यामिति—कुण्ठपः श्वेतः, तस्यैव गन्धो यस्य
शुक्रस्य भवति, सार्धापि रक्तेन पिप्तेन भवति, अगन्धश्च भवति ; अकारात् शोणित-
वर्णं पित्तवेदनञ्च । सुश्रुते त्वयं रक्तजः ; यतः,—“कुण्ठपगन्धगन्धश्च रक्तेन”
(सु० आ० २५०) इति । अत्र रक्तेनेति व्यपदेशी हृततैलदग्धवत्, यतो रक्तस्यापि
दोषा एव दूषयितारः ; तेनावासापित्ताभ्यामिति यद्वचनं न दोषः । पूयाभं
श्लेष्मपित्तत इति—पित्तश्लेष्मभ्यां यत् दूषितं तत् पूयसदृशं शुक्रं भवति, वर्णवेदनायाव
मिलितश्लेष्मपित्तयोरेव बोद्धव्याः । क्षौण्णश्च वातपित्ताभ्यामात—कारणैः स्वमाना-
दल्पीभूतम् ; लक्षणञ्च यथा—“दौर्बल्यं मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदभं भ्रमः । क्लेशं
शुक्लादिसर्गश्च क्षौण्णशुक्रस्य लक्षणम् ॥” (च० सू० कियन्तःअरसौ०) इति ।
ग्रन्थिलं श्लेष्मवातत इति—ग्रन्थिसदृशं ग्रन्थिलं, तत् श्लेष्मवातजान्तं भवति । अवापि
द्विदोषवर्णवेदना बोद्धव्या । मलाभं सन्निपातेनेति—मलं मूलपुरीषं, तदाभं
तद्वन्नि च यत् शुक्रं भवति तत् सन्निपातदूषितम् ; सुश्रुतेऽपि—“मूलपुरीषगन्धि
सन्निपातेन” (सु० आ० २५०) इति । इति पूर्वोक्तप्रकारेण शुक्रदोषा ईरिताः
अथिताः ॥ १७२।१७३ ॥

अथ स्त्रीरोगत्यादि ।—स्त्रीषु भवा रोगाः स्त्रीरोगाः, न तेषां पुरुषेषु सम्भवत्यात् ।

* “प्रयोजनम्” इति पाठे अर्थासङ्गतैः “जेयम्” इति पाठकार्यं सङ्गतार्थकम् ।

अष्टौ चार्त्तवदोषाः स्युर्वातपित्तकफैस्त्रिधा ॥

पूयामं कुणपं ग्रन्थिं क्षौणं मलसमं तथा ॥ १७४ ॥

चतुर्विधरक्तप्रदराणां विवरणम् ।—

तथा च रक्तप्रदरं चतुर्विधमुदाहृतम् ।

वातपित्तकफैस्त्रिधा चतुर्थं सन्निपाततः ॥ १७५ ॥

विंशतिर्योनिर्यापदां विवरणम् ।—

विंशतिर्योनिरोगाः स्युर्वातात् पित्तात् कफादपि ।

पूर्वशास्त्रत इति सुनिश्चयनात् । तेषां द्वादशार्त्तवदोषाणां च, अष्टौ चार्त्तवदोषाः स्युरित्यादि ।—दोषैर्दुष्टमार्त्तवञ्च बोध्यवद्भवतीति प्रयोजनशकारः ; यदुक्तं सुसुते—
“चार्त्तवमपि त्रिभिर्दोषैः शोषितचतुर्थैः पृथग्दन्ते समसंशोपसृष्टमर्षोजं भवति”
(सु० शा० २ अ०) इति । एतेषां द्वादशवर्णवेदनादभिर्विज्ञानीपायः कश्चित्ताष्ट-
शकदोषे ज्ञातव्यः ॥ १७४ ॥

तथा च रक्तप्रदरमित्यादि ।—तथेत्यनेनार्त्तवमेव कारणमसृग्दरस्येति भावः
सूचितः ; यदुक्तं—“तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि । असृग्दरं विज्ञानीयादतोऽन्य-
द्रक्तलक्षणात् ॥” (सु० शा० २ अ०) इति । सामान्यलक्षणमपि यथा—“असृग्दरो
भवेत् सर्वः साङ्गमर्दः सवेदनः” (सु० शा० २ अ०) इति । चार्त्तवार्त्तप्रवृत्तत्वे-
नासृग्दरः, तस्मान्नस्यातिसुतस्य लक्षणानि यथा—“तस्यातिष्ठतौ दीर्घं स्रमो मूर्च्छा
मदलृषा । दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः ॥” (सु० शा० २ अ०)
इति । तस्य सङ्ख्यायत्प्रकारा भवन्ति, वातपित्तकफैरित्यादि ।—तत्र वातिकमाह
—“द्विचार्त्तं फेनिलमल्पमस्य वातात् वातात् मिश्रितोदकाभम्” (रो० वि०
असृग्द०) इति । पित्तजमाह—“सपोतनीलासितरक्तमुष्णं पित्तार्त्तं युक्तं भृशवेगं
पित्तात्” (रो० वि० असृग्द०) इति । कफजमाह—“आमं सपिच्छाप्रतिमं
सपाण्डु पुष्पाकताग्रप्रतिमं कफात्” (रो० वि० असृग्द०) इति । त्रिदोषजमाह
—“सौद्रसपिण्डरितालवर्णं मज्जप्रकाशं कुणपं त्रिदोषात्” (रो० वि० असृग्द०)
इत्यादि ॥ १७५ ॥

विंशतिरिति ।—योगौ भवा रोगा योनिरोगाः कश्चिताः, ते दुष्टार्त्तवर्षीये-
दोषादिना जनिताः ; तथा हि—“विंशतिर्योनिपदो योनिर्निर्दिष्टा रोगसङ्गृहे ।
मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्त्तवेन च ॥ जायन्ते बीजदोषाश्च देवाश्च यशु

सन्निपाताच्च रक्ताच्च लोहितक्षयतस्तथा ॥ १०६ ॥

ताः पृथक् ॥” (च० वि० योगिव्यापत्०) इति । तत्र विशेषलक्षणात्तास्यादौ
 ज्ञानत्वाभावे । वातलायाः पृथगभिधानं वातलायां विशेषेण वातवेदनाप्रादुर्भावाद्यैः
 यतः तन्त्रान्तरे उदावर्तावस्थ्याविप्लुतापरिप्लुतासु वातानुबन्धितम् ; यदुक्तं—“चतसृष्वपि
 चाद्यासु भवन्निखिलवेदनाः” (सु० उ० ३८ च०) इति । एवं पितानुबन्धित्या
 रक्तक्षया बामिनो प्रसंसिनो पुत्रस्त्री चेति चतस्रः पितृक्षया सङ्ग पञ्च
 पैतृक्षयः ; यदुक्तं—“चतसृष्वपि चाद्यासु पितृलिङ्गोक्तयो भवेत्” (सु० उ०
 ३८ च०) इति । एवं श्लेष्मानुबन्धित्याऽप्यानन्दा कथिनी अचरणाऽतिचरणाश्चतस्रः
 श्लेष्मक्षया सङ्ग पञ्च विज्ञेयाः ; यतः,—“चतसृष्वपि चाद्यासु श्लेष्मलिङ्गोक्तयो
 भवेत्” (सु० उ० ३८ च०) इति । एवं सन्निपातजाः पञ्च विज्ञेयाः, षण्णो
 षण्णलो विवृता सूचीवक्त्रा इति चतस्रः सन्निपातजया सङ्ग पञ्च ; यतः,
 —“चतसृष्वपि चाद्यासु सर्वलिङ्गोक्तयो भवेत् । पञ्चासाध्या भवन्तीह योनयः सवे-
 दनाः ॥” (सु० उ० ३८ च०) इति । एवं सुसुप्तोक्तत्वाच्च दाषानुबन्धित्वं दर्शितम् ।
 अत्र व्यक्तगणनासङ्गहत्वेन पृथक्स्वरूपमधुना विधीयते, तद्वयथा—वातादिति—
 वातला योनिर्भवातः ; तथा हि—“वातला कर्कशा कृत्वा यूलान्मोदपोडिता”
 (रो० वि० योगिव्यापत्०) इति । पितादिति—पितृला योनिः ; यथा—“अत्यर्थं
 पितृला योनिर्दाहपाकज्वराबिता” (रो० वि० योगिव्यापत्०) इत्युपलक्षणं,
 तेन नीलपोतसितार्त्तवा च भवतोत्पन्नगन्धम् ; तथा च तन्त्रान्तरे—“व्यापल्लवण-
 कटुस्त्राचाराद्यैः पितृजा भवेत् । दाहपाकज्वरीणां नीलपोतसितार्त्तवा ॥”
 (च० वि० योगिव्यापत्०) इति । कफादिति—श्लेष्मला योनिः ; तदुक्तं
 —“श्लेष्मला पिच्छिला योनिः कण्डूयक्षाऽतिश्रीतला” (सु० उ० ३८ च०)
 इति । अतिश्रीतलेषुपलक्षणं, तेन सवेदनादकामापि बोद्धव्यम् ; यदुक्तं तन्त्रान्तरे—
 “कफोऽभिष्यन्दिभिर्हो योनिं चतुर्ष्वेति स्त्रियाः । स कुर्थात् पिच्छिलां श्रीतां
 कण्डूयक्षा * सवेदनाम् ॥” (च० वि० योगिव्यापत्०) इति । सन्निपातादिति—
 मिलितदोषवयदूषिता योनिर्भवति ; तथा हि—“सर्वलिङ्गसमुत्थानं यच्च सा सन्नि-
 पातजा” इति । रक्तास्येति—रक्तदूषिता । यद्यपि रक्तपित्तानुबन्धिनी युगपत्
 पठिता, तथाप्यत्र रक्तव्यातिस्रवणाद्रक्तजेति व्यपदेशः ; तथादिह रक्तजा

* “सवेदनाम्” इत्यत्र “सवेदनाम्” इति पाठः ; अरक्तवाग्भटसम्मतः ।

शुष्का च वामिनी चैव षण्डिताऽन्तर्मुखी तथा ।

* संसिनी कश्चित्त्वभिप्रायः ; तद्वशा—“प्रसंसिनी संसते तु चोमिता दुष्प-
लायिनी” (री० वि० योनिव्यापत्०) इति । लोहितचयतो लोहितचया कथिता ;
तथा हि—“सटाहं चोयत रक्तं यस्या सा लोहितचया” (री० वि० योनिव्यापत्०)
इति । शुष्का चेति—शुष्का नष्टार्त्तवा कथिता, शुष्कं बन्धुमात्तं यस्या भवति सा ;
अत एव तन्नामन्तरे बन्धुघोनिः ; “बन्धु नष्टार्त्तवा ज्ञेया” इत्यादिवचनात् । वामिनी
चेति—या रजसा यत् सवातं बीजमुद्धरेत् सा वामिनीः यथा—“सवातमुद्धरेत् बीजं
वामिनी रजसाऽन्वितम्” (सु० उ० ३८ अ०) इति । षण्डितेति—अरजस्का भवति ;
तथा हि—“अनात्तं वाऽन्तर्मुखी खरस्पर्शा च मेधने” (सु० उ० ३८ अ०) इति ।
अन्तर्मुखीति—वृद्धन्येननपुरुषेण गृह्यतायास्तद्व्याप्त्यन्तर्मुखी भवेत्, सा अन्तर्मुखी,
अण्डवन्निष्ठता योनिरित्येकं, सा † अण्डलोशब्दवाच्या ; यतः,—“अतिकायगृह्यताया-

* रक्तजा संसिनीति टीकाकारोक्तिः चित्या, प्रसंसिनी लक्षणैः सप्त सर्वथा
सादृश्याभावात्, यतः प्रसंसिनी पित्तजा, तत्र रक्तस्वास्थ्यं लक्षणेऽपि न दृश्यते ;
मध्ये, अरकवाग्मटीरक्तयोनिरं चनेन सङ्गृह्यता रक्तजनितयोनिव्यापदर्थे प्रयुक्ता,
सुश्रुते रक्तजव्यापदं लक्षणाभावात् । तथा च—“रक्तपित्तकरैर्नाथो रक्तं पित्तेन
दूषितम् । अति प्रवर्त्तने योऽस्या लक्ष्ये बीजेऽपि नाऽसृजा (साऽप्रजा) ॥” (अ० चि०
योनिव्यापत्०) “रक्तयोऽस्यास्यासृगतिस्तुतेः” (वा० उ० ३३ अ०) इति । किञ्च अरक-
वाग्मटीरक्तयोनिरिव रक्तजा इति स्वीकृतं “रक्तपित्तानुवर्त्तनी” इति टीकाकारोक्ति-
रपि सङ्गच्छते । अपरञ्च विंशतिव्यापस्य रक्तजा शुष्का उपप्लुता प्राक्चरणा अन्तर्मुखी
इति पञ्च सुश्रुते न सन्ति, अरकवाग्मटीयोराप अण्डलो बन्धु प्रसंसिनी विप्लुता
अत्यानन्दाख्याः पञ्च न दृश्यन्ते ; किञ्च अरके या अतिचरणा वाग्मटे संव विप्लुता, मौश्रुत-
विप्लुतालक्षणेन अरकवाग्मटीयोः लक्षणसाम्यं दृश्यते ; एवञ्च मध्ये, यन्त्रकता शार्ङ्गधरण अरक-
वाग्मटीयोः कतिचिन् कतिचिन् सुश्रुतोक्ता योनिव्यापत् स्वसङ्गृहे मन्निवेशिता, लक्षण-
साम्यं क्वचिदक्षि क्वचिन् वा नास्ति, रोगानन्त्यान् सर्वमेव प्रमाणं व्युत्तिष्ठेयमिति ।
टीकाकारिणानेन शुष्कया सप्त बन्धुघोः, उपप्लुतया उदावर्त्ताया यदेकं प्रदर्शितं, तत्र
मनोहरं लक्षणवैषम्यात् इति सुधीभिस्तत्र तत्र तन्मे मृग्यमात्र । उदावर्त्ताप्लुतयोः
पृथक् पृथक् यदयं पृथक् पृथक् लक्षणञ्च अरकवाग्मटीयोः परिदृश्यते इति ।

† अन्तर्मुखी अण्डलो इत्येकैव अरकविद्वद्वा ; तथा च—“न्यवायनतिद्विषाया

सूचौमुखी विप्लुता च जातघ्नो च परिप्लुता ॥ १७७ ॥

उपप्लुता प्राक्चरणा महायोनिश्च कर्णिनी ।

अत्यानन्दाऽतिचरणा योनिरोगा इतीरिता; ॥ १७८ ॥

चतुर्विधकन्दरोगाणां विवरणम् ।—

चतुर्विधं योनिकन्दं वातपित्तकफैस्त्रिधा ।

स्वरूप्यास्वरूपो भवेत्” (री० वि० योनिव्याप०) इति । सूचौमुखीति—
चातयथं सूचीवत् सङ्कोचमुखी—“सूचीवक्त्राऽतिभङ्गता” (सु० उ० ३८ अ०)
इत्यादिवचनात् । विप्लुता चेति—“विप्लुता नित्यवेदनाम्” (सु० उ० ३८ अ०)
इत्यादिना वातजनिततोदादिवेदनायुक्तेश्च । जातघ्नो चेति—तथा हि—
“स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुच्छन्तो रक्तमङ्गयात्” (सु० उ० ३८ अ०) इति ।
यद्यपि सर्वापत्यविनाशिनो तथाऽप्यत्र पञ्चस्य प्राधान्यात् पुच्छन्तीति व्यपदेशः ।
परिप्लुतेति सञ्ज्ञा ; यदुक्तं—“परिप्लुताया भवति वास्यधर्मे रुजा भ्रमम्” (सु० उ०
३८ अ०) इति । उपप्लुतेति—वायोऽहंमुपप्लुतत्वात् । तत्त्वान्तरे उदावर्तेति सञ्ज्ञा ;
यदुक्तं—“सा फेनिलमुदावर्ता रजः कर्कशं मुञ्चति” (सु० उ० ३८ अ०) इति ।
* महायोनिरिति—यतिविरतमुखवान्महायोनिः कथिता ; यतः,—“विरताऽति
महायोनिः” (सु० उ० ३८ अ०) इत्यादि । कर्णिनीति—मासकन्दाकारो यन्त्रिः
कर्णिनी कथिता , यतः,—“कर्णिन्या कर्णिका योनौ श्लेष्माऽसृग्मा प्रजायते” (सु० उ०
३८ अ०) इति । अत्यानन्देति—“अत्यानन्दा न सत्तोष वास्यधर्मेण गच्छति” सु० उ०
३८ अ० इति । अतिचरणेति—“बहुश्रयातिचरणा तथोर्वाज न विन्दति” (री० वि०
योनिव्याप०) इति । तथोरचरणाऽतिचरणया । एव योनिदावाः ईरिताः
कथिताः ॥ १७६—१७८ ॥

चतुर्विधमिति ।—यानिभङ्गितत्वाद्भङ्गवित्तमयोनिभेदात् योनिकन्दोऽपौत्येकः पृथक् ५/
दोषभेदेन नामसङ्गृह्यत्वात् पृथगत्र पाठतः । योनौ लक्ष्मणाकारं कन्दमुत्पद्यते तत्
भ्रजन्त्यास्तव पीडितः । वायुर्मिथ्यास्थिताङ्गाया योनिस्तोर्वसि संस्थितः ॥ वक्रयत्याननं
योन्वा साव्यमासानलार्त्तमः । भृशार्त्तमेधनासक्ता योनिरन्तर्मुखो मता ॥
(अ० वि० योनिव्याप०) इति ।

* टीकाकृता प्राक्चरणा मोज्ञा, तत्रवर्णं यथा—“मेधनादातमानायाः
पृष्ठमङ्गोऽवर्णम् । रजयन् दूषयेत् योनिं वायुः प्राक्चरणा हि सा ॥” (अ० वि०
योनिव्याप०) इति । मुञ्चते प्राक्चरणाया उल्लेखी भाषि ।

चतुर्थः सन्निपातेन—”

॥१७८॥

अष्टविंशगर्भेरीमाणा विवरणम् ।—

“—तथाऽष्टौ गर्भजा गदाः ।

उपविष्टकगर्भः स्यात् तथा नागोदरः स्मृतः ॥१८०॥

मङ्गलो मूढगर्भश्च विष्कम्भो गूढगर्भकः ।

योगिकन्दमिति । लङ्कुचक्षाम * वारङ्गफलम् ; तद्वयथा—“पूयशोषितसङ्घात्रं लङ्कुचाकृतिसन्निभम् । जलयन्ति यदा योनौ नास्ति कन्दः स योगिजः ॥” (रो० वि० कन्द०) इति । अस्य वातादिविकृतिलक्षणमाह, वातजं यथा—“रुचं विवरणं कृटितं वार्तिकं तद्विनिर्दिष्टम्” (रो० वि० कन्द०) इति । पौलिकमाह—“दाहरागज्वरयुतं विद्यात् पिताम्बकम् तम्” (रो० वि० कन्द०) इति । श्लेष्मिकमाह—“नौलपुष्प-प्रतीकाशं कच्छूमन्तं कफात्मकम्” (रो० वि० कन्द०) इति । नौलपुष्पवन्तं च कफजंऽपि रोगप्रभावात् । अन्ये येन पित्तलिङ्गसम्बद्धमाह्वारित । सान्निपातिकं यथा—“सर्वलिङ्गसमायुक्तं सन्निपातात्मकं भेदेत्” (रो० वि० कन्द०) इति ॥१७८॥

तथेति ।—“शुकशोषितं गर्भाग्रयस्थमात्मप्रकृतिविकारसम्पृच्छितं गर्भं इत्युच्यते” (सु० शा० ५ अ०) तत्सम्बन्धा विकारा गर्भजा गदा वाच्याः, तेऽष्टप्रकारा भवन्ति । उपविष्टकगर्भः स्यादित्यादि ।—रक्तपरिपूर्णातिमिषोपविष्टकमंशया गर्भविकारितः कथिता । तदुक्तं चरके—“यस्याः पुनरुपशोषोपयोनाद्गर्भेणा मङ्गलि जातसारे गर्भे पुष्पदर्शनं स्यात्, अन्यो वा योगिश्चावः, तस्या गर्भो हर्षिं न प्राप्नोति, निःसृतत्वात् ; स काष्ठसुवतिष्ठतेऽतिमात्रं, सख्यन्दनश्च भवति तमुपविष्टक इत्याचक्षते केचित्” (च० शा० नातिपूर्वोच०) इति । नागोदर इति—नागवन्त इव स्थितिर्यस्य गर्भस्य भवतीत्येके । सुसुते तन्नागोदरलक्षणं यथा—“शुकशोषितं वायुनाऽभिपन्नमवकालजीवमाश्रयः पय-स्युदरं, तत् कदाचित् यदृच्छ्योपशान्तं नैगमेषापकृतमिति भावन्ते । तमेव कदाचित् प्रविक्षोद्यमानं नागोदरमित्याहुः” (सु० शा० १० अ०) । मङ्गल इति—मङ्गलो + नादतजशूलविशेषः, स द्विविधो भवति, एको गर्भाग्रयस्थाम्, अपरः

* लङ्कुचं वारङ्गफलम् इति तु न सम्यक्, लङ्कुचं उडुयाफलम् ; “लङ्कुचो लिङ्कुचो कटुः” इत्यमरवचनात् ।

+ “मङ्गलो रक्तमादतजशूलविशेषः” इति मधुकोषः ।

सृतिक्वावस्थायाम् इति ; तद्वयथा—मानसागन्तुभिरुपतापैः प्रपौडितो यो
 गर्भः कुक्षौ वेदनां जनयति स गर्भमक्लः ; यत्र प्रकुपितो वायुः सूताया
 कश्चिरमत्यन्तं संरुध्य हृच्छिरोवक्षिशूलं करोति स प्रसृतिमक्लः इति ।
 तन्नाम्नरे * योनिस्वरणोऽयं रोगविशेषः कथितः ; यदुक्तं—“वातलाग्न्यस्रपानानि
 वाय्वधमे प्रजागरम् । अत्यर्थं सेवमानाया गर्भिण्या योनिमार्गः ॥ मातरिश्वा
 प्रकुपितो योनिद्वारस्य संवृतिम् । कुरुते रुद्धमार्गत्वात् पुनरन्तर्गतोऽग्निः ॥ निरुच्य-
 क्षाग्रयहारं पीडयन् गर्भसंस्थितिम् । निरुद्धवदनोच्छ्वासो गर्भस्याशु विपद्यते ॥
 + रक्षा संरुध्य हृदयं नाशयत्याशु गर्भिणीम् । योनिस्वरणं विद्यात् व्याधिमेन
 सुदारुणम् ॥ अन्तकप्रतिमं घोरं नारमेत चिकित्सितम् ॥” इति । मूढगर्भेति
 —मूढो व्यासक्तगतिः पवनो मूढगर्भं करोति, योनिजठरादिषु शूलं करोतीत्यभि-
 प्रायः ; तथा हि—“मूढः करोति पवनः खलु मूढगर्भं शूलञ्च योनिजठरादिषु
 मूढसङ्गम्” (रो० वि० मूढगर्भ०) इत्यादि । विगुणानिलयोगाददृश्या (?) सङ्केत-
 त्वनाहुरेके, तस्मादत्र एक एव पठितः ; तद्वयथा—“भुग्नाऽनिलेन विगुणेन ततः स
 गर्भः सङ्गामतीत्य बहुधा समुपैति योनिम्” (रो० वि० मूढगर्भ०) इत्यादि ।
 केवास्त्रिभ्यस्ते तत्र व्यवहारयोग्या षष्टौ प्रकाराः कथिताः ; तद्वयथा—“हारं निरुच्य
 शिरसा मूढरेण कश्चित् कश्चिच्छरीरपरिवर्तितकुलदेहः । एकेन कश्चिदपरस्तु
 भुजद्वयेन तिष्ठ्यगतो भवति कश्चिदवायुखोऽन्यः ॥ पाश्यापवृत्तगतिरेति तथैव
 कश्चिदित्यप्यथा गतिरियं ह्यपरा चतुर्धा ॥” (रो० वि० मूढगर्भ०) इति ।
 सङ्कीलकादिभेदेन चतुःप्रकारान् पुनराहुरेके ; तद्वयथा—“सङ्कीलकः प्रतिखुरः
 परिघोऽथ बीजक्षेपुर्बाहुचरणैः शिरसा च योनिम् । सङ्की च यो भवति
 कौलकवत् स कौलो दृश्यैः खुरैः प्रतिखुरः स हि कायसङ्की ॥ गच्छेद्भुजद्वयशिरः स
 च बीजकाख्यो योनौ स्थितः स परिघः परिघेण तुल्यः ॥” (रो० वि० मूढगर्भ०)
 इति । तन्नाम्नरेऽपि कौलकादीनां लक्षणं यथा—“कृद्धबाहुशिरःपादैः कस्यात्

* मक्लः-योनिस्वरणयोरनैक्यं सुश्रुतेन साधवेन च प्रतिपादितं प्रथमगुणत्वात् ;
 तथा च—“विपरीतेन्द्रियाद्यधिपकयोनिभंशस्वरणमक्लकासम्भविपौडितान्” (ध०
 १०८ अ०) इति । “योनिस्वरणं सङ्गः कुक्षौ मक्ल एव च” (रो० वि०
 मूढगर्भ०) इति ।

+ “रक्षा संरुध्य हृदयम्” इत्यत्र “रक्षां संरुद्धहृदयान्” इति “रक्षा सत्त्वह-
 हृदयान्” इति च कश्चित् पाठः ।

जरायुदोषो गर्भस्य पातघाष्टमकः स्मृतः ॥१८१॥

योनिमुखन्तु यः । प्रतिकीर्णोपमस्त्रिधा स कील इति संज्ञितः ॥ अधस्तात् पार्श्वतो वाऽपि तथैवाकुञ्चितोऽपि वा । यो निःसृत्य मुखं योनेर्ज्ञेयः प्रतिखुरन्तु मः ॥ योनिद्वारात् निर्गच्छेत् यस्यैकः सशिरोभुजः । तमाहुर्वीजकं नाम मूढगर्भ-
चिकित्सकाः ॥ योनिमाहृत्य यस्मिँश्चैत् परिघो गोपुरं यथा । तथाऽन्तर्गर्भमाशान्तं विद्यात् परिचलाञ्छतम् ॥” (भोज०) इति । विष्कम्भ इति—विष्कम्भ इव विष्कम्भः, मागोवरोधात् तिष्ठति इत्यभिप्रायः । स तु बाताभिपन्नगर्भस्य शोधणात्मातुः कुर्वन् न पुरयति, मन्दं स्पन्दते च, अत एव वृद्धकाश्रयेन * शुक्ललक्षणं विहितम् ; यथा—
“गर्भनाद्यास्त्ववदनादल्पत्वाद्वा बलस्य च । चिरेणाप्यायते गर्भस्तथैवाकालभोजनात् ॥ अकुचिपूरणो गर्भः शुक्लश्च मन्द एव च ॥” इति । मूढगर्भ इति—लीनगर्भः कथितः ; तथा च सुश्रुतः,—“बातोपद्रवगृहीतत्वात् स्त्रोतसां लीयते गर्भः, सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापयते” (सु० शा० १० च०) इति । जरायुदोष इति—विज्ञातजरायुषा क्लृप्तं जरायुदोषः, जरायुर्गर्भस्यावेष्टनरूपस्यैव विशेषः ; “जरायुषा मुखे च्छन्ने” (सु० शा० २ च०) इत्यादिदृशनात् । अथोद्गर्भशय्यायां स्त्रियो यो बाललक्ष्योपरि + वेष्टितोत्पत्तिकारत्वाज्जरायुदोष इत्यभिप्रायः । गर्भशय्या

* विष्कम्भाख्यो मूढगर्भः वृद्धकाश्रयोक्तः शुक्लाख्य इति टीकाकारोक्तिश्चिन्त्या, वाग्मटे शुक्लविष्कम्भयोः पृथक् पृथक् लक्षणदर्शनात् शुक्लस्य सद्य विष्कम्भस्य सादृश्याभावाच्च । विष्कम्भशब्दः अग्रेलापरपर्यायः, अग्रेलवत् यः मागो वृणाद्ध, स मूढगर्भः विष्कम्भाख्यः । वाग्मटीक्तोऽयं सौश्रुताष्टविधमूढगर्भेषु “कश्चिदाभुग्रमध्यो हस्तपाद-
शिरोभिः ; कश्चिदेकेन सक्छ्वा योनिमुखमभिप्रतिपद्यते अपरेच पायुम्” एताभ्यां मुख्यलक्षण इति मन्ये । विष्कम्भलक्षणं यथा वाग्मटे—“हस्तपादांशरोभिर्धौ योनिं भुग्रः प्रपद्यते । पादेन योनिमेकेन भुग्रोऽन्येन गुदश्च यः ॥ विष्कम्भो नाम तो मूढो शस्त्रदारश्चमर्हतः ॥” (बा० शा० २ च०) शुक्लस्तु वाग्मटे नागोदरनाम्ना उपशुष्क-
नाम्ना वा अभिहितः गर्भस्यापदविशेषः, न तु मूढगर्भः ; तथा च—“शोकोपवास-
रुचादौरधवा योन्यतिस्रवात् । बाते क्रुद्धे क्रशः शुष्येत् गर्भो नागोदरन्तु तत् ॥ उदरं वृद्धमप्यथ ह्रीयते स्फुरणं चिरात् ॥” (बा० शा० २ च०) । अत आरुण्यदशः,—“तं तथाभूतं गर्भं नागोदरसंज्ञकं केषाश्चिन्मते चोपशुष्कसंज्ञं विद्यात्” इति ।

† वेष्टनोत्पत्तिकारो जरायुदोषः इति पाठवृत्त्यनं सङ्गताशङ्कनिति मन्ये ।

पञ्चसन्तरोगाणां विवरणम् ।—

पञ्चैव स्तनरोगाः स्युर्वातात् पित्तात् कफादपि ।

सन्निपातात् क्षताञ्चैव—”

॥१८२॥

पञ्चसन्तरोगाणां विवरणम् ।—

“—तथा स्तन्योद्धवा गदाः ।

य प्रसङ्गतो यथा—“ग्रहणाभ्याकृतियोनिसंख्यावतां सा प्रकीर्तिता । तत्कालतोर्ये
त्वावर्त्ते गर्भग्रथ्या प्रतिष्ठिता ॥ यथा रीक्षितमस्यस्य मुखं भवति रूपतः । तत्स्थानां
तथाकृपां गर्भग्रथ्या बिदुर्बुधाः ॥” (सु० शा० ५ अ०) इति । पात इति—गर्भस्य
पातोऽष्टमो भेदः ; स द्विविधः, एकः स्वावकृपः, अपरः पातकृपः ; तथा हि—“या
चतुर्थोत्तरी मासात् प्रसवेत् गर्भविद्रवः । ततः प्लिरग्ररीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥”
(सु० नि० ८ अ०) इति । अतिसृजनावयवत्वेन विशेषेण द्रवकृपतया गर्भविद्रवः
क्षय्यते ; यदुक्तं भोजे—“या तृतीयात्तरी मासात् गर्भः खवति शोषितम् । ऊर्ध्वं
संधावभूतस्तु गर्भः पतति शोषिताम् ॥” इति । विगुणपवने तु सप्तमादिमासेष्वपि
पात इति केचित् ; यतः,—“गर्भोऽभिघातविषमाग्रनपीडनाद्यैः पक्वं दुग्मादिव फलं
पतति चक्षेन” (रो० वि० मूढगर्भ०) इति ॥१८०॥१८१॥

पञ्चैवेति ।—स्तनयोर्भवा रोगाः स्तनरोगाः, ते च शोषादिरूपा इत्यर्थः ; यदुक्तं
—“सञ्चोरो वाऽप्यञ्चोरो वा दोषः प्राप्य स्तनौ स्त्रियाः । प्रदूष्य मांसवर्धिनं स्तन-
रोगाय कल्पते ॥” (रो० वि० स्तन०) इति । अत एव तेषां वातपित्तकफसन्नि-
पाताननुजाना लक्षणाणि रक्तजम्बुविद्रधिं विना बाह्यविद्रधिवत् ज्ञातव्यानि ; तथा
चोक्तं—“पञ्चानामपि तेषां हि रक्तजं विद्रधिं विना । लक्षणानि स्तनानि
बाह्यविद्रधिलक्षणेः ॥” (रो० वि० स्तन०) इति ॥ १८२ ॥

तथा स्तन्योद्धवा गदा इति ।—तद्येत्वेन यथा स्तनरोगा दोषभेदेन पञ्चसङ्ख्याया
क्षताः, तथैव दोषभेदेन खीरभेदा इति तात्पर्यार्थः । कथं खीरम् ; तत्स्वरूपञ्च
सुसुतेनोक्तं—“रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः । क्लृप्तदेऽग्नौ कनौ प्राप्तः
स्थानित्यभिधीयते ॥” (सु० शा० १० अ०) इति । वातादीनां भेदाः केषाञ्चित् दोष-
नाथे विध्यन्ते ; यथा—“क्षयायं सलिलप्लावि क्षयं साधतकोपतः । कटुखलवणं
पीत-राजीमत् पित्तसंयुतम् ॥ कफदुष्टं घनं तीक्ष्णं निमज्जति सुषिच्छलम् । हिलिङ्गं
हृन्मजं विद्यात् मिलिङ्गं सन्निपातकम् ॥” (रो० वि० स्तन०) इति । एवं
दोषदूषितात् क्षयात् गदा रोगा लप्यन्ते ; यदुक्तं—“गुरुभिर्विचिधेरद्वैतैर्दोषैः

बालरोगेषु कथिताः—”

॥ १८३ ॥

विविधस्त्रीदोषाणां विवरणम् ।—

“—स्त्रीदोषाश्च त्रयः स्मृताः ।

अदक्षपुरुषोत्पन्नः सपत्नीविहितस्तथा ॥

देवाज्जातसूतीयस्तु—”

॥ १८४ ॥

सूतिकारोगाणां विवरणम् ।—

“—तथा ये सूतिकागदाः ।

ज्वरादयश्चिकित्स्यास्ते यथादोषं यथाबलम् ॥ १८५ ॥

द्वाविंशतिबालरोगाणां विवरणम् ।—

द्वाविंशतिर्बालरोगास्तेषु चौरालसास्त्रयः ।

प्रदूषितम् । चौरं चाव्याः कुमारस्य नानारोगाश्च कल्पते ॥” (री० वि० सन्ध०)

इति । अत एव ते रोगाः चौरालसादश्च बालरोगेषु प्रदर्शिताः ॥ १८३ ॥

स्त्रीदोषाश्च त्रयः स्मृता इत्यादि ।—स्त्रीणां दुःखजनकाः स्त्रीदोषाः, “तद्दुःख-
संयोगा व्याधयः” (सु० सू० १ अ०) इत्युपदर्शनात् । ते त्रयः । अदक्षपुरुष इति—
निजाहाराद्यर्जनेऽप्यसमर्थः, तेनोत्पन्नं दुःखमिति भावः । सपत्नीविहित इति—स्त्रीणां
सपत्नीभावोऽतीवदुःखकरो विहितः विषयभूतत्वात् ; “पृथक्शय्या च नारीणाम-
ग्रस्तश्च स च्यते” इति वचनात् । देवाज्जात इति—दुःखकर इति शेषः । देवं
भाग्येयं तज्जातः भाग्यविपर्ययेण वैधव्यादिजनित इत्यभिप्रायः ॥ १८४ ॥

तथा ये सूतिकागदा इत्यादि ।—प्रसूतिविषये भवा ये रोगास्ते सूतिकागदाः
कथिताः ; तद्वदथा—“ज्वरातिसारशोषाश्च शूलानादिवलक्षयाः । तन्दाऽरुचि-
प्रसेकाद्याः कफवातामयीरूपाः ॥ कृच्छ्रसाध्या हि ते रोगाः क्षीणमांसवलाश्रिताः ।
ते सर्वे सूतिकानाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः ॥” (री० वि० सूतिका०) इति । एते
सूतिकारोगत्वेन लक्ष्यन्ते इत्यर्थः, उपद्रवत्वात् । सूतिकायां विशेषलक्षणञ्च
सुश्रुतेनाक्तं यथा—* “अङ्गमर्दो ज्वरः कासः विपासा गुरुगात्रता । शोषः
शूलतिसारी च सूतिकारोगलक्षणम् ॥” इति । एवं स्त्रीरोगाः प्रदर्शिताः ॥ १८५ ॥

अथ बालरोगानाह, द्वाविंशतिरिति ।—बालके भवा रोगा बालरोगाः ;
आ षोडशात् बालः । स विविधः, चौरपः, चौरान्नादः, अन्नाद इति ; एतेषु भवा

* मुद्रितसुश्रुतेषु श्लोकोऽयं न दृश्यते । दृश्यते च रूग्बिनिश्चयः ; तत्र च
—“कासः,” इत्यत्र “कल्पः” इति पाठः ।

वातात् पित्तात् कफाच्चैव दन्तोद्भेदस्यतुर्थकः ॥ १८६ ॥

दन्तघातो दन्तशब्दोऽकालदन्तोऽहिपूतनम् ।

रोगा बालरोगशब्दः स्याः, यतः दोषप्रवर्धयन्तं बालयष्टचिकित्सा दृश्यते । तेष्विति
—हार्विश्रतिसङ्ग्रहेषु । त्रयः क्षीरालसा इति—* दोषदूषितसन्धजनिता रोगविशेषाः,
अत एव वातात् पित्तात् कफादिति यद्वचनम् ; तद्वचना—“वातदुष्टं शिशुः सन्धं पिबन्
वातगदातुरः । आनखरः कृशाङ्गः स्यात् बद्धोष्णमाकृतः ॥” (री० वि० बाल०)
इति । पित्तदुष्टमाह—“स्त्रिंशो भिन्नमखी बालः कामलापितरोगवान् । तृणालु-
कस्यसर्वाङ्गः पित्तदुष्टं पथः पिबन् ॥” (री० वि० बाल०) इति । कफदुष्टलक्षण-
माह—“कफदुष्टं पिबन् क्षीरं लालालुः श्लेष्मरोगवान् । मिद्रान्वितो जठः शुन-
वक्त्राक्ष्मदंशः शिशुः ॥” (री० वि० बाल०) इति । एवं त्रयः क्षीरालसाः कथिताः ।
दन्तोद्भेद इति—दन्तानामुद्भेद उत्पत्तिः, स च सर्वेषां रोमाणां कारणम् ; तद्वचना—
“दन्तोद्भेदस्य रोगाणां सर्वेषामपि कारणम् । विशेषाज्जरविङ्मद-कासच्छर्दिशिशो-
रुजाम् ॥” (वा० उ० २५०) इति । अन्यत्राप्युक्तं—“पृष्ठभङ्गे विङ्गालानां
वाङ्मोक्षं शिखोद्गमः । दन्तोद्भेदं च बालानां न हि किञ्चन दूयत ॥” (वा० उ०
२५०) इति । दन्तघात इति—दन्तघातो दन्तपातः कथितः, स द्विधा भवति,
एकः समर्थोद्भवः अपर आघातजनितः, तावपि बालदुःखकराविति प्रयोजनम् ।
दन्तशब्द इति—दन्तघर्षणं विशेषेण स्वप्नावस्थायां भवति, + कफजन्मदन्तघर्षणनिमित्त-
त्वात्, बाल्येऽतीव कफामया भवति, तेन बालरोगे दन्तशब्दः कथितः । अकाल-

* बाल्ये निदोषदुष्टसन्धपानेनैव क्षीरालसोत्पत्तिरिति दृश्यते, तथा च—
“सन्धे विदोषमल्लिने दुर्गन्ध्यामं जलोपमम् । विषङ्गमच्छं विच्छिन्नं फेनिलसोपवेद्यते ॥
अकृशानाज्जवावर्णे मूर्धं पीतं घनं सितम् । ज्वरारोचकटृच्छर्दि-यन्धोद्गार-
विजृम्भिकाः ॥ अङ्गभङ्गोऽङ्गविषेयः कृन्तनं वेपथुर्धनः । त्राणविमुखपाकाद्या
जायन्तेऽन्येऽपि तं गदम् ॥ क्षीरालसकमिन्यापूरण्यश्वातिदारुणम् ॥” (वा० उ०
२५०) ।

+ सुसुप्ते वातजन्मत्वेन रोगविनिश्चये च वातपित्तजन्मत्वेन दन्तघर्षः कथितः,
न तु कफजन्मत्वेन ; केचित्तु दन्तशब्दः वातकोपेन भवति इति वदन्तः, तथा हि—
“रुक्माश्रिता वातिकस्त आलस्यनिष्ठः शिराः । इत्याश्रयाः प्रसृतस्त दन्तैः शब्दं
करोन्वतः ॥” इति ।

मुखपाको मुखसावो गुदपाकोपशीर्षकौ ॥ १८० ॥

पार्श्वारणस्तालुकण्टो विच्छिन्नं पारिगर्भिकः ।

हन्ता इति—अस्त्रालदन्तात्यानेनानिष्टत्वाद्दालानां दुःखकर इत्यर्थः । अङ्घ्रिपूतनमिति—
अङ्घ्रिपूतनमन्त्रश्च शूद्ररोगेषु पठितम्, अत्र बालसम्भवत्वात् बालरोगे लिखितम् ;
तद्वयथा—“अकम्पूतसमायुक्तेऽधीतेऽपाने शिशोर्भवेत् । स्थिते वाऽस्त्राप्यमाने वा कच्छू-
रक्षकफोद्भवा ॥ कण्ठयन्तातः क्षिप्रं स्फोटः स्त्रावश्च जायते । एकोभूतं वधं धीरं
तं विद्यादङ्घ्रिपूतनम् ॥” (सु० नि० १३५०) इति । भोजे पुनरिदं दृष्टस्तन्वपाना-
दपि पठितम् ; यदुक्तं—“दृष्टस्तन्वस्य पानेन मलस्याश्चालनेन च । कण्ठदाह-
रक्षावह्नः पिच्छकैश्च समन्विता ॥ सम्भवति यथादोषं दारुणा अङ्घ्रिपूतना ॥”
इति । मुखपाक इति—मुखस्य पार्श्वं मुखपाकः, स तु दोषविशेषाद्भवति, बालके-
ऽप्यतीव प्रसिद्धत्वात् । मुखसाव इति—प्रसिद्धः, लालासाव इत्यर्थः । गुदपाक
इति—सीऽपि विकृतदोषस्वभावाद्भवतीति, बालकेऽतीव प्रतीतिः, गुदपाक इति
प्रसिद्धः । उपशीर्षकमाह—कपालरोगे त्रणविशेष उपशीर्षकशब्दाच्चायः ; अथवा
* पञ्चनामानं विमर्षमाहुरेके ; यदुक्तं—“विमर्षस्तु शिशोः प्राण-नाशनी बलिशीर्षजः ।
पञ्चवर्णो महापञ्चमाना दोषवयोद्भवः ॥” (रो० वि० बाल०) इति । पार्श्वारणो
† महापञ्चभेदः, तत्र लोहितपञ्चवर्णः ; पञ्चवर्णता मुखतालानि वदिर्देशेषु च इति
वदन्ति केष्विच । तालुकण्ट इति—कण्टकाकारत्वेन तालुकण्टकम् ; तद्वयथा—
“तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुर्वते तालुकण्टकम् । तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्च्छा
जायते ॥” (बा० उ० २५०) इति । विच्छिन्नमिति—विच्छिन्नमन्त्रश्च गतं,
‡ तालुपातमिति नाम्ना प्रतीतम् । तथा हि—“तालुपातः क्षणदेवः कृच्छ्रात् पानं
अक्रुद्भवम् । तृडलिकण्ठस्य रक्षा योवादुर्वहता वसिः ॥” (बा० उ० २५०) इति ।
पारिगर्भिक इति—तथा हि—“मातुः कुमारी गर्भिण्याः सन्धं प्रायः पिवन्नपि ।

* वाग्मटे उपशीर्षकरोगः शिरोरोगे पठितः, स तु महापञ्चाख्यबालविसर्पात्
पृथगेव ; तथा च—“कपाले पवने दुष्टे गर्भस्यस्यापि जायते । सर्वार्थो नोदजः शीफलां
विद्यादुपशीर्षकम् ॥” (बा० उ० २३५०) इति ।

† पार्श्वारणो महापञ्चभेदः इत्यस्य किमपि साधकप्रमाणं नास्ति ।

‡ तालुपात इत्यादि ग्रन्थः अत्रचदत्तेन मधुकोवकारेण च तालुकण्टकस्यैव
लक्षणत्वेन उक्तः इति दृश्यते, तालुपाताख्यबालरोगः पृथक् नास्ति, अतएव
‘विच्छिन्नमन्त्रश्च गतमिति’ इत्यादि यदुक्तं तच्चिन्त्यम् ।

दौर्बल्यं गात्रशोषश्च शय्यामूर्त्तं कुक्कुणकः ॥

रोदनञ्चाजग्ली स्यादिति द्वाविंशतिः स्मृताः ॥ १८८ ॥

द्वादशबालग्रहाणां विवरणम् ।—

तथा बालग्रहाः ख्याता द्वादशैव मुनीश्वरैः ।

कासाग्रिसादवमथु-तन्द्राकाश्याविषमैः ॥ युज्यते कोष्ठग्रहा च तमाहुः पारि-
शमिकम् ॥” (रो० वि० बाल०) इति । अथैव नामान्तरं परिभवः इति ।
दौर्बल्यमिति—दुर्बलत्वं, बालकस्य सततं बलहानिरित्यर्थः, इतौजा इत्यपरे ।
गात्रशोष इति—गात्रचामता, बालस्य दोषप्रभावात् भवति । शय्यामूर्त्तं प्रसिद्धं,
रात्रौ स्वप्नावस्थायां शय्यागतौ बालोऽस्त्रीपूर्वकं (१) म्रियति दोषप्रभावात् ।
कुक्कुणक इति—बालस्य नेत्रवर्त्मगतः कुक्कुणकाख्यो रोगः ; तद्वयथा—“कुक्कुणकः
क्षीरदोषात् शिशुनामक्षिबर्त्मनि जायते तेन तन्नेत्रं कण्डूरञ्च सवेम्बुहः ॥ शिशुः
कुप्याल्लाटाक्षि-कूटनासावर्धम् ॥ शक्तौ नाकप्रभां द्रष्टुं न वर्त्मन्मोक्षणचमः ॥”
(रो० वि० बाल०) इति । अयमेव कोष्ठयेति लोके । रोदनमिति—रोदनन्तु सर्वेषां
शिशुव्याधीनां सूचकं भवति ; यतः,—“शिशोक्षीत्रामतीत्राश्च रोदनाल्लचयेदुजम् ।
स्त्रोतांश्चङ्गानि सन्वीष पश्येत् यवान्मुहुर्मुहुः ॥” इति ; तीत्रां रुजाश्च बहुरोदनात्,
अतीत्रामन्त्यरोदनाल्लचयेत् बालानामेव दुष्टलक्षणपादादिनेति । अजगल्लीति—प्रायेण
बालानामन्येषामपि अजगल्लिका भवति ; तद्वयथा—“क्षिप्त्वाः सवर्णा यथिता नीरुजा
मुद्गमग्निभाः । कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिकाः ॥” (सु० नि० १३५०)
इति । इत द्वाविंशतिः स्मृता इति—इति कथितप्रकारेण बालरोगा द्वाविंशतिः
प्रोक्ताः ॥ १८६—१८८ ॥

तथेति ।—बालं गृह्णन्ति इति बालग्रहाः ; ते तु प्रायेण शीघ्रभंशादिना
स्कन्दग्रहादयो बालेष्वभिशन्ति । तत्परिज्ञानार्थं सामान्यलक्षणं विशेषलक्षणञ्च
व्याचष्टे ; तत्र सामान्यलक्षणं यथा—“लघादुद्दिजते बालः क्षणात् वस्यति रोदिति ।
नखैर्दन्तैर्दाग्यति धात्रीमात्मानमेव च ॥ ऊर्ध्वं निरीक्षते दन्तान् खादेत् कूजति
कृन्धते । भुवौ क्षिपति दन्तौष्ठं फेनं वमति चासकृत् ॥ आमोऽसि निशि जागर्षि
शूनाक्षौ भिन्नविट्स्वरः । मांसघ्राणितगन्धिश्च न चाग्राति यथा पुरा ॥ सामान्यं
यद्वज्रपाणां लक्षणं समुदाहृतम् ॥” (रो० वि० बाल०) इति । एते ग्रहाः
पूजाहंतीर्बालान् हिंसन्ति ; यदुक्तं चरके—*“धात्रीमाधोरात्मनयापचाराच्छौच-

* श्लोकोऽयं मुद्रितचरकेषु न दृश्यते, दृश्यते च सुसुते किञ्चित्परिवर्तित-

स्कन्दग्रहो विशाखः स्यात् श्वग्रहश्च पितृग्रहः ॥ १८८ ॥

नेगमेयग्रहस्तद्वच्छकुनिः शीतपूतना ।

घटान् मङ्गलाचारहीनान् । जटान् खलान् दर्जनान्काङ्क्षितांश्च पूजाहेतोर्द्विंशरिते कुमारान् ॥” इति । विशेषलक्षणमपि प्रतिपादितं तत्रैव ; तद्विवरणमाह, स्कन्दग्रह इति ।—स्कन्दग्रहेण गृहीतो बालो यथा भवति तल्लक्षणमाह—“एकमेवस्य गात्रस्य सावः स्कन्दनक्षत्रमम् । ऊर्ध्वदृष्ट्या निरोक्ष्येत् वक्ताख्यो रक्तगन्धकः ॥ दन्तान् खादति विलकः कथं नैवाभिमन्दति । स्कन्दग्रहगृहीतानां बालानांस्वात्परोदनम् ॥” (रो० वि० बाल०) इति । * विशाख इति । श्वग्रह इति—श्वग्रहस्तु + स्कन्दापकार इत्येके ; तद्वयथा—“नष्टसंशो वनेत फेनं संश्रवानतिरोदिति । पृथग्शीघ्रतगन्धत्वं स्कन्दापकारलक्षणम् ॥” (रो० वि० बाल०) इति । † पितृग्रहः । ‡ नेगमेयग्रह इति—तद्वयथा—“ऊर्ध्वस्कन्दनक्षत्राख्य-श्रीवम्भुर्ह्यभिगन्धिता । ऊर्ध्वे पश्येद्भजेत दन्ताग्नेगमेयं यद्वं वटेत् ॥” (रो० वि० बालरोग०) इति । शकुनिरिति—शकुनि-नामग्रहगृहीतो बालोऽपौष्ट्यो भवति ; यथा—“सलाहो मयश्चक्रितो विहङ्गगन्धः साक्षावग्रणपरिपोडितः समन्तात् । स्फोटैश्च प्रचिततनुः सदृक्पाकोविज्ञेयो भवति

घातेन ; तद्वयथा—“वावीमात्रोः प्राक्प्रदिष्टापचारात् शौचघटान् मङ्गलाचार-हीनान् । खलान् घटान् तर्जितान् क्लान्तान् वा पूजाहेतोर्द्विंशरिते कुमारान् ॥” (सु० ल० ३७ च०) इति । अयमेव सङ्गतः पाठः टीकोक्तपाठस्यार्थासङ्गतेरिति ।

* स्कन्दापकार एव विशाखाख्यया चरुणदत्तेन कीर्तितं, यथा—“सम्प्रति विशाखस्य स्कन्दापकारापरमंजय लक्षणमाह” (बा० ल० ३५०) इति ।

† वाग्भटेन विशाख एव स्कन्दापकार इत्युक्तं, न तु श्वग्रहः इति । श्वग्रह-लक्षणं यथा तत्रैव—“कपो हवितरोमत्वं स्वेदश्चुर्निमोलनम् । वहिरायामनं जिह्वा-दंशोऽनः कण्ठज्जननम् ॥ धारमं विट्सगन्धत्वं क्रोधमं ज्ञानवच्छुनि ॥” (बा० ल० ३५०) इति ।

‡ “पितृग्रहलक्षणं यथा—“रोमहर्षो मुहुष्मासः सहसा रोदनं ऊवरः । कासातिहारवमधुजृम्भाट्टग्रवगन्धताः ॥ अङ्गेष्वपि विक्षेपः श्लेषसम्भविष्यताः । मुष्टि-बन्धः क्षुतिशाल्मीर्वालि स्यः पितृग्रहे ॥” (बा० ल० ३५०) इति ।

§ वाग्भटे नेगमेयग्रहः नैवग्रहाख्यया कीर्तितः । सुष्ठुतेन नेगमेव एव पितृग्रह इति नामान्तरेण पठितः इति ।

मुखमण्डितिका तद्वत् पूतना चान्वपूतना ॥

रेवती चैव सङ्ग्राता तथा स्याच्छृङ्गरेवती ॥ १८० ॥

द्विचत्वारिंशत्पादरोगाणां निर्देशः ।—

तथा चरणभेदास्तु वातरक्तादिकाश्च ये ।

द्विचत्वारिंशदुक्तास्ते रोगेष्वेव मुनीश्वरैः ॥ १८१ ॥

द्विषष्टिदोषभेदानां निर्देशः ।—

द्विषष्टिदोषभेदाः स्युः सन्निपातादिकाश्च ये ।

शिशुः क्षतः शकुन्वा ॥” (सु० उ० २७५०) इति । विच्छिन्नगन्धिरित्यत्र विस्त्रगन्धि-
रित्यपरे । छिन्नगन्धाच्चैऽप्युक्तं—“रुक्तावटादृपाकाद्यैश्चितः स्फोटैर्भयान्वितः । स्रक्ताङ्गी
विस्त्रगन्धिः स्याच्छकुन्वा पीडितः शिशुः ॥” इति । शीतपूतनेति—“वेपते कामते
क्षीणी नेत्ररोगो विगन्धिता । कुर्यात्तीमारयुक्तश्च शीतपूतनया शिशुः ॥” (री० वि०
बाल०) इति । मुखमण्डितिकेति—“प्रमद्वर्णवदनः शिराभिरभिसंवृतः । मूर्ध-
गन्धिस्रु बद्धाग्री मुखमण्डितिकायङ्गी ॥” (री० वि० बाल०) इति । पूतनेति
—“वतीसारो ज्वरक्षणा तिर्यक्प्रेक्षणरोदनम् । नष्टनिद्रकथोद्विग्री यस्तः पूतनया
शिशुः ॥” (री० वि० बाल०) इति । चान्वपूतनेति—“कुटिः कासो ज्वरक्षणा
वसागन्धोऽतिरोदनम् । कान्धेदेवाऽतिसारश्च चान्वपूतनया शिशोः ॥” (री० वि०
बाल०) इति । रेवतीति—“ब्रण्यैः स्फोटैश्चितं गात्रं पङ्कगन्धं सवेदसृक् ।
भिन्नवर्णां ज्वरी दाही रेवतीयङ्गलक्षणम् ॥” (री० वि० बाल०) इति ।
* शुष्करेवतीति ॥ १८८।१८० ॥

तथेति ।—चरणभेदाः पादरोगाः कथिताः ; ते वातरक्तप्रमुखा रोगेष्वेव
बोद्धव्याः । वातरक्तादिका इत्यादिग्रहणेन पादसुति-पादक्षान्न-पादहर्ष-पादस्फुटन-
प्रभृतयः । रोगेष्विति—ग्रीपदादिषु ॥ १८१ ॥

द्विषष्टिदोषभेदाः स्युरिति ।—दोषा वातादयः, तेषां भेदा लक्षणादि-

* शुष्करेवत्या लक्षणं यथा—“नायते शुष्करेवत्यां क्षमात् सर्वाङ्गसङ्गतः ।
क्षिप्रघातोऽन्नविधेयः स्वरदैर्घ्यं विवर्णता ॥ रोदनं गृध्रगन्धित्वं दीर्घकालानुवर्तनम् ॥”
(बा० उ० १५०) इति ।

तेऽपि रोगेषु गणिताः पृथक्प्रोक्ता न ते क्वचित् ॥ १८२ ॥

विकल्पनाशतेनेत्यन्ते (?) * तत्र वातादीनां दोषाणां क्षीयभेदाः पञ्चविंशतिः, तावन्त एव वृद्धानां दोषाणां भेदाः, एवं क्षीयवृद्धानां दर्शिताः । एकैकवृद्धिसमता-
चयैः कृत्वा षड्भेदाः, एकवृद्धिद्वन्द्वचयेष्ववयवभेदाः, द्विवृद्धेरुक्तचयेष्ववयवभेदाः,
एवं द्विवृद्धिर्दोषभेदाः कथिताः । केचित् दोषाणां साम्यमपि एकविधभेद इत्यनेन

* “पृथक् वीन् बिद्धि संसर्गस्त्रिधा तत्र तु तान् नव । वीनेष्वसमया वृद्ध्या
षड्भेदस्यातिशयमेव ॥ अथोदयसमस्तेषु षट् हेतुकातिशयेन तु । एकं तुल्याधिकैः षट्
च तारतम्यविकल्पनात् ॥ पञ्चविंशतिमित्येवं वृद्धेः क्षीयेष्वतावतः । एकैकवृद्धि-
समता-चयैः षट् ते पुनश्च षट् ॥ एकचयद्वन्द्ववृद्ध्या सविपर्यययाऽपि ते । भेदा द्विवृद्धि-
निर्दिष्टास्त्रिवृद्धेः स्वास्थ्यकारणम् ॥” (वा० सू० १२ च०) इति । तथा च—वातो वृद्धः
पित्तं वृद्धं श्लेष्मा वृद्धः पञ्च पृथक् चयी दोषाः । वातपित्ताधिकः संसर्गः, वातकर्फाधिकः
संसर्गः, पित्तकर्फाधिकः संसर्गः, एव सम द्विवृद्धवृद्ध्या त्रयः । वातो वृद्धः पित्तं
वृद्धतरं, पित्तं वृद्धं वातो वृद्धतरः, कफो वृद्धः पित्तं वृद्धतरं, पित्तं वृद्धं कफो वृद्धतरः,
कफो वृद्धः वातो वृद्धतरः, वातो वृद्धः कफो वृद्धतरः, एवमेकातिशयद्विवृद्धवृद्ध्या षट्
संसर्गभेदाः, इति नव संसर्गभेदाः । कफो वृद्धः वातपित्तमधिकं वृद्धम् ; पित्तं वृद्धं
वातकर्फावतिवृद्धौ ; वातो वृद्धः पित्तकर्फावतिवृद्धौ , पित्तकर्फो वृद्धौ वातोऽतिवृद्धः ;
वातकर्फो वृद्धौ पित्तमतिवृद्धम् ; वातपित्ते वृद्धे कफोऽतिवृद्धः इति हेतुकातिवृद्धौ
षट् सन्निपातभेदाः । वातो वृद्धः पित्तं वृद्धतरं कफो वृद्धतमः ; वातो वृद्धः कफो वृद्धतरः
पित्तं वृद्धतमम् ; पित्तं वृद्धं कफो वृद्धतरः वातो वृद्धतमः ; पित्तं वृद्धं वातो वृद्धतरः
कफो वृद्धतमः ; कफो वृद्धः वातो वृद्धतरः पित्तं वृद्धतमम् ; कफो वृद्धः पित्तं वृद्धतरं
वातो वृद्धतमः ; एवं तारतम्यविकल्पनात् षट् सन्निपातभेदाः, एकश्च समवृद्धवात-
पित्तकर्फाः, एवं त्रयोदयसन्निपातभेदाः, ततश्च वृद्धेर्दोषैः पञ्चविंशतिभेदाः ज्ञेयाः ।
वातः क्षीयः पित्तं क्षीयं कफः क्षीयः इति क्षीये पृथक्त्रयः । क्षीयवातपित्ते,
क्षीयापित्तकर्फौ, क्षीयवातकर्फौ एवं समद्विवृद्धक्षीयत्वेन त्रयः । वातः क्षीयः
पित्तं क्षीयतरं, पित्तं क्षीयं वातः क्षीयतरः, वातः क्षीयः कफः क्षीयतरः, कफः
क्षीयः वातः क्षीयतरः, कफः क्षीयः पित्तं क्षीयतरं, पित्तं क्षीयं कफः क्षीयतरः,
एवमेकातिशयद्विवृद्धक्षीयत्वेन षट् इति नव संसर्गभेदाः । वातः क्षीयः पित्तकर्फौ
अतिक्षीयौ, पित्तं क्षीयं वातकर्फौ अतिक्षीयौ, कफः क्षीयः वातपित्ते अतिक्षीये ;
वातपित्ते क्षीये कफोऽतिक्षीयः, पित्तकर्फौ क्षीयौ वातोऽतिक्षीयः, वातकर्फौ क्षीयौ

पञ्चदशपञ्चकमनोगाणां निर्देशः ।—

हीनमिथ्याऽतियोगेन भेदः पञ्चदशोदिताः ।

विषष्टिर्दोषभेदा भवन्ति इति वदन्ति इति । * तच्च सन्निपातभेदेन ज्ञातव्यम् ; तदुक्तं—“इत्युल्लेखेऽप्युल्लेखैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट् । समैश्वर्यो विकारास्तु सन्निपाता-
ल्लेखोदयः ॥” (अ० सू० कथयतःशिरसीय०) इति । तन्नाल्लेखेऽपि यथा—
“विषष्टिषा वदन्त्येते भूयिष्ठमिति निश्चयः । अथ एव पृथक् दोषा इव न च
समाधिकैः ॥ वयोदशाधिकैश्चि-सममध्याल्लेखेऽपि । पञ्चाशदेव तु सप्त भवन्ति
अवमानाते ॥ चीचमध्याधिकचीच चीचवृद्धेस्तथाऽपरैः । दादशैव समाख्याताल्लेखो
दोषा विषष्टिषा ॥” (सू० उ० ६६ अ०) । तेऽपीति—ते विषष्टिर्दोषभेदा रोगेषु
गणिताः, अतः क्वचित् कुत्रापि ते न पृथक् प्रोक्ताः, न ह्येतेषां विषष्टिभेदानां सर्व-
रोगान्तर्गतत्वात् पृथगुपादानमिति भावः ॥ १८२ ॥

पित्तमतिचीचम् ; एवं डोकातिचोषे षट्सन्निपातभेदाः । कफः चीचः पित्तं
चीचतरं वातः चीचतमः ; वातः चीचः कफः चीचतरः पित्तं चीचतमम् ; पित्तं चीचं
कफः चीचतरः वातः चीचतमः ; कफः चीचः वातः चीचतरः पित्तं चीचतमम् ;
वातः चीचः पित्तं चीचतरं कफः चीचतमः, पित्तं चीचं वातः चीचतरः कफः
चीचतमः एवं तारतम्यविकल्पनात् षट्सन्निपातभेदाः ; एकश्च सप्तचीचवातपित्त-
कफा इति वयोदशसन्निपातभेदाः, ततश्च चोषेर्दोषैः पञ्चविंशतिभेदा ज्ञेयाः । वातो
वृद्धः पित्तं समं कफः चीचः ; पित्तं वृद्धं वातः समः कफः चीचः । कफो वृद्धः
पित्तं समं वातः चीचः ; कफो वृद्धः वातः समः पित्तं चीचम्, वातो वृद्धः कफः समः
पित्तं चीचम् ; पित्तं वृद्धं कफः समः वातः चीचः इत्येकैकवृद्धिसमताच्चयैः षट् ।
वातः चीचः पित्तकफो वृद्धौ ; पित्तं चीचं वातकफो वृद्धौ ; कफः चीचः वातपित्ते
वृद्धे, इत्येकत्रयवृद्ध्या त्रयो भेदाः । वातपित्ते चीचे त्रया वृद्धः ; वातकफौ
चीचौ पित्तं वृद्धम् ; पित्तकफौ चीचौ वातो वृद्ध इति द्वयत्रयैकवृद्ध्या त्रयो भेदा
एवं विषष्टिषा दोषभेदा ज्ञातव्या इति ।

* तच्च सन्निपातभेदेन ज्ञातव्यमिति टीकाकारोक्तिर्न सङ्गच्छते ; विषष्टिमस्य
स्वास्थ्यकारणत्वात् सन्निपाते च नाल्लेखनमित्युच्यते । “समैश्वर्यो” इत्यनेन सन्निपात-
भेदे यत् दोषसाम्यमुक्तं तत् समवृद्धिनिर्दोषजन्यं समचीचनिर्दोषजन्यं वा अवगन्तव्यम् ;
मन्त्राच्च—“विषष्टः स्वास्थ्यकारणम्” (वा० सू० १२ अ०) इति ।

पञ्चकर्मभवा रोगा रोगेष्वेव प्रकीर्तिताः ॥ १८३ ॥

अष्टादशश्लेहादिजव्यापदां निर्देशः ।—

श्लेहश्लेदी तथा धूमो गण्डूषोऽञ्जनतर्पणे ।

पीडा अष्टादशैतज्जास्तासु रोगेषु लक्षिताः ॥ १८४ ॥

अतर्विधश्रीताद्युपद्रवाणां निर्देशः ।—

श्रीतोपद्रव एकः स्यादेकश्रीणोद्भवो मतः ।

शल्योपद्रव एकश्च चाराचैकः स्मृतस्तथा ॥ १८५ ॥

श्रीतेति ।—पञ्चकर्मभवा रोगा इति—वमन-विरचन-निरुहानुवासन-नस्थानीति पञ्चकर्माणि, तज्जाता रोगा रोगेष्वेव ज्ञातव्याः । रोगता च तेषां ह्रीनमिध्याऽतियोग-त्वाद्भवति । एतेन किमुक्तम् ? यदा वमनादिकं ह्रीनमिध्याऽतियोगेन कृतं तदा रोगः स्यात् ; तदुक्तं—“ह्रीनमिध्याऽतियोगेन यदा भवति दंष्ट्रिणाम् । पञ्चकर्म तदा नूनं रोगोत्पत्त्यै च केवलम् ॥” इति । अत एव प्रत्येकं विभेदेन पञ्चदशभेदाः पूर्यन्ते ॥ १८३ ॥

लंघ इति ।—श्लेहादीनामपि अष्टादशपीडाभेदाः कथिताः । अथापि ह्रीनमिध्याऽतियोगेनेति सत्यम्, तेनाष्टादशभेदाः पूर्यन्ते । पीडाऽव दीघरूपा । श्लेहोऽव श्लेहपानम् । श्लेदः प्रसिद्धः । धूमो धूमपानम् । गण्डूषः कबलपर्यायः । अञ्जनं नेत्राञ्जनम् । तर्पणं धातुवृत्तिजनकं नेत्रान्तर्तर्पणं वा । एते तु यदा ह्रीनमिध्याऽतियोगद्वारेण प्रयुक्तास्तदा रोगाय भवन्तीत्यर्थः ॥ १८४ ॥

श्रीतोपद्रव इति ।—अतिश्रीतेन जनितः उपद्रवः, अतिश्रीतः कालः, अतिश्रीतो देशः, अतिश्रीता क्रिया चेति । एक उणोद्भव इति—अत्युशोन जनित उपद्रव इत्यर्थः । अत्रापि उणकालः, उणो देशः, उणा क्रिया चेति । एकः शल्योप-द्रव इति—सर्वशरीराबाधकरं शल्यं, तस्य द्विविधं, शरीररमागन्तुकञ्चेति, तदुक्तं—“शरीरामन्तुकञ्चैव द्विविधं शल्यमुच्यते” इति । तत्र शरीरं रामनखादि धातवो-ऽङ्गमलादि दोषाश्च दृष्टाः । आगन्तुकमपि शरीरशल्यव्यतिरेकेण यावन्ती भावा दुःखमुत्पादयन्ति । अधिकारी हि लोहवैण्टणप्रज्ञास्थिमयेषु । एकः चाराचैति—उपद्रवः, तथेति वचनात् । एतेन किमुक्तम् ? स चारो यदा अघ्रेः प्रयुक्त-स्तदा रोगाय भवतीति तात्पर्यायः ; तदुक्तं—“विषाग्रशस्त्राशनिशल्यकलः चारो भवत्यल्पमतिप्रयुक्तः । स धीमता सत्यगनुपयुक्तो रोगान् निहन्त्यादिवरेण चोरान् ॥” (५० सू० ११७०) इति ॥ १८५ ॥

विविधविधायां विवरणम् । —

स्यावरं जङ्गमश्चैव कृत्रिमञ्च त्रिधा विषम् ।

तेषाञ्च कालकूटाद्यैर्नवधा स्यावरं विषम् ॥ १८६ ॥

जङ्गमं बहुधा प्रोक्तं तत्र लृता भुजङ्गमाः ।

वृश्चिका मूषिकाः कीटाः प्रत्येकं ते चतुर्विधाः ॥ १८७ ॥

विषभेदानाङ्क, स्यावरमिति । — स्यावरजङ्गमकृत्रिमभेदेन विविधविधाणि इति पिण्डार्थः । तत्र स्यावरविधं दृष्टवया कालकूटप्रभृतिभिः स्वीकृतं तद्विज्ञानसाङ्ग, यद्वक्तुं — “कालकूटी वत्सनाभः शङ्खिकाश्च प्रदीपनः । ह्यालाहली ब्रह्मपुत्री हारिद्रः शङ्खकक्षया ॥ सौराष्ट्रिक इति प्रोक्ता विषभेदा अमी नव ॥” इति । तत्रधेति अस्मात्प्रसिद्धत्वात् सङ्ग्रहः, केषाञ्चन्यते अष्टादशभेदा भवन्ति, तेषु दश जातयः स्यान्त्या अष्टौ यास्या इति, तथा िह — “शङ्खकं मुक्तकं शङ्खी बालुकं सर्पपाङ्क्तयम् । वत्सनाभं कार्यमन्यं श्वेतशङ्खी तथाऽष्टमम् ॥ इत्यष्टौ धोक्तयेत् योगे कालकूटादि वर्जयेत् ॥” इति । तद्वयथा — “कालकूटं मेघशङ्खी ह्यालाहलश्च ददुर्दम् । कर्कटं गङ्गारं यन्त्रि हारिद्रं रक्तशङ्खिकम् ॥ केशरं दशमश्चेति वर्जनीयं भिषग्वरैः ॥” इति । वर्जनीयत्वमेषामन्यत्नदुष्टिकरत्वात् । निषिद्धेऽपि शार्ङ्गधरेणात्र सङ्ग्रहीतं प्रसिद्धत्वात् । जङ्गमं बहुधा प्रोक्तमित्यादि — जङ्गमं सर्पादिसम्भवं भवेदिति सन्त्यन्तः । तत्र लृता “मकडी” शब्दवाच्याः, कीटविशेषो वा । भुजङ्गमाः सर्पास्ते अनेकविधाः । वृश्चिकमूषिकौ प्रसिद्धौ । कीटा अपि नानाविधा नानाऽऽकृतयश्च । तेषां स्वरूपं न लिखितमत्र विस्तरभयात् । प्रत्येकं ते चतुर्विधा इति — ते लृतादयः, चतुर्विधा इति जरायुजाण्डजस्वेदजीहिजाः प्रत्येकं, * यतः चतुर्धा निपतितानाम् कक्षायां विना कल्याणत् सिद्धिर्नास्ति इति न्यायेन सर्वे भुवः शरीरस्य च स्वेदाज्जाताः । अन्तेऽपि — † “यथा पृथिव्यु वल्काका जरायुजा अण्डजाश्च, सर्पजातिषु चट्टिपताका जरायुजाः,

* यन्तोऽयं कल्लनेन “स्वेदजजरायुजाण्डजीहिजसंज्ञः” इति सोऽसुतपाठे स्वेदजस्य प्रथमनिर्देशकृतं प्रदर्शयितुं निबन्धीकृतः “चतुर्धा निपतितानाम् कक्षायां विना कल्याणत् सिद्धिर्नास्ति इति संस्वेदजस्य प्राक् निर्देशः” इति, अतो मायनम सङ्गच्छते । किञ्च “इति न्यायेन —” इत्यादि यन्तोऽपि नात्र सङ्गच्छन्ते, संस्वेदज इत्यस्य व्याख्यायां “भुवः शरीरस्य च संस्वेदादृषणो जाताः” इति कल्लनेन व्याख्यातम् ।

† अत्रापि अत्रोक्तेषां त्रयरथं इव प्रतिपादितं; यतः “जरायुजाण्डजस्वेद

दंष्ट्राविषं नखविषं बालशृङ्गास्थिभिस्तथा ।

मूत्रात् पुरीषाच्छुक्राच्च दृष्टेर्निष्ठासतस्तथा ॥ १८८ ॥

लालायाः स्पर्शतस्तदन्तथा शङ्खाविषं मतम् ।

कृत्रिमं द्विविधं प्रोक्तं गरदूषीविभेदतः ॥ १८९ ॥

संखेटजेष्वपि काश्चित् पिपीलिका चण्डनाः उल्लिख्य" इत्यनेन योनिसङ्करोत्पत्तित्वा-
चतुर्विधत्वम् । यथा—वातपित्तकफसन्निपातात्मानसे *सदृशविषाचतुर्विधा भवन्तीत्येके ।
तदपि न सर्वमतं, किन्तु सर्वजातय एव भवन्तीत्यन्ये ; तदुक्तं—“वातपित्तकफात्मनां
भोगिनश्चलिराजिनाः” (री० वि० विष०) इत्यादि । सुश्रुते तु द्विदोषकरमेव
चतुर्थम् ; तथा हि—“क्षीप्यत्यनिलं जलोः फणिनः सर्वं पवतु । पित्तं मण्डलिन-
श्चापि क्षफञ्चानेकराजयः ॥ अपत्यमसवर्णाभ्यां द्विदोषकरलक्षणम् ॥” (सु० क०
४ अ०) इति । दंष्ट्राविषमित्यादि—एतेषां मध्ये केचित् दंष्ट्राविषाः, केचित्स्रक्विषाः,
केचित् बालशृङ्गास्थिविषा इत्यादयो ज्ञातव्याः ; तथा हि—“भौमसर्पाणां दंष्ट्रा-
विषम् । मार्जारमकरव्याघ्रादयो दंष्ट्रानखविषाः । विषहतास्थिमत्स्यास्थिप्रभृतयो-
ऽस्थिनिषाः । पिष्टिष्टकौष्ठिन्यादयो मूत्रपुरीषविषाः । मूत्रिकाः शुक्रविषाः । दिव्याः
सर्पाः दृष्टिनिःश्वासविषाः । हासिकवरव्युत्तिष्टिकादयो + लालाविषाः । लूता
लालाऽऽर्जवविष्मृत्शुक्रमुखसर्दशविषा इति । तथा शङ्खाविषं मतमिति—तथैवोक्त-
प्रकारेणैव शङ्खाविषमपि उपद्रवकरं भवति । कृत्रिमं द्विविधं प्रोक्तमित्यादि—कृत्रिमं
विषं गरदूषिभेदात् द्विप्रकारं कथितम् ; यत् गरली (१) तच्च “दिनाइ” शब्दवाच्यम् ।
तन्नाम्नरे यथा—“सौभाग्याद्ये स्त्रिवः स्वेद-रजोनागाङ्गान् मलान् । शब्-
प्रयुक्तांश्च गरान् प्रवच्छन्त्वन्नमिश्रितान् ॥” (अ० चि० विष०) इत्यादि । दूषी-

जोह्मिन्” इति सौश्रुतपाठव्याख्यायां उल्लेखेन प्रागुक्तस्य स्वेदजगरायुजेत्यादिकमस्य
परित्यागी हेतुनिर्देशार्थम् उक्तं, यथा—“गरायुजादिषु पूर्वोक्तसंस्वेदजादिकमत्यागी
योनिसङ्करं बोधयति, तेन पक्षिषु बलाका” इत्यादि । “योनिसङ्करोत्पत्तित्वा-
चतुर्विधत्वम्” इत्यस्य अर्थोऽपि न सुबोधः ।

* “सदृशविषाः” इत्यत्र “सर्पविषाः” “सर्वजातयः” इत्यत्र च “सर्पजातयः”
इति पाठः सङ्गत इति मन्ये ।

† लालाशब्दोऽत्र आलवाचकः ; सुश्रुते आलविषाः कृत्रिमं आराविषाः
इति पाठान् । तथा बरटी शुक्रतुण्डविषा इति च सुश्रुते ।

सप्त धातुविषं ज्ञेयं तथा सप्तोपधातुजम् । .

तथैवोपविषेभ्यश्च जातं सप्तविधं मतम् ॥ २०० ॥

दुष्टनीरविषञ्चैकं तथैकं दिग्धजं विषम् ।

कपिकच्छ्रभवा कण्डूदुष्टनीरभवा तथा ॥

तथा शूरणकण्डूश्च शोथो भक्ष्मातजस्तथा ॥ २०१ ॥

विषमपि देशकालादिदूषणात् कथितम् ; तद्वयथा—“दूषतं देशकालान्न-दिवास्वप्नै-
रभोऽप्यशः । यस्मात् सन्दूष्येद्वातं तूष्ण्यादूषोविषं शृतम् ॥” (धृ० क० २ अ०) इति । एके
द्विविधमित्यस्य स्थाने विविधमिति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—विविधं नामाप्रकारम् ।
एके द्विविधं कृत्रिममन्यथा व्याख्यानयन्ति, तद्वयथा—“एकं सविषद्रव्यसंयोगकृतं
कृत्रिममञ्जं विषम्, अपरं निर्विषद्रव्यसंयोगकृतं गरसंज्ञम् ; यदाह काश्यपः,—
संयोगमस्य द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते । गरं स्याद्विषं तत्र सविषं कृत्रिमं
मतम् ॥” इति । अत एव चरकः * रसायने—“दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे
विषं” (च० चि० उदर०) इति । धातुभाऽव सुवर्णरजतादयः, ते यदा अशुद्धा
अधितासदा विषतुल्य इति तात्पर्यांशः, यथा विषादजनकत्वाद्विषम् ; तथा सप्तोप-
धातुजं, विषमिति शेषः ; उपधातवो ह्रितास्तादाः । तथैवोपविषेभ्यो जातं सप्तविधं,
विषमिति शेषः ; उपविषमत्राकंसेदुष्टप्रभृतिकम् ; यदुक्तम्—“अकंसेदुष्टधुसूर-
लाङ्गलीकरधोरकः । गुञ्जाह्रिदिन इत्यताः सप्तोपविषजातयः ॥” (रसेन्द्रसारः १ अ०)
इति । दुष्टनीराणि व्यापन्नपानीयानि, तज्जनितं विषं, विषादजनकत्वात् ; तन्तु
वाङ्माध्यमरं भवति, वाक्त्रं स्नानादिना, आभ्यन्तरन्तु पानादेव ; तद्वयथा—“न पिबेत्
पङ्कशैवाल-तणपशां विलावतम् । सूर्येन्दुपवनादृष्टमभिदृष्टं घनं गुरु ॥ फेनिलं
जन्तुसङ्कोथं दन्तशस्त्रातिशैत्यतः । अनात्तं वच्च यद्विष्यमात्तं वं प्रथमञ्च यत् ॥ लूतादितन्तु-
विष्णून्-विषमं ज्ञेयदूषितम् ॥” (वा० सू० ५ अ०) इति । तथैकं दिग्धजं विषमिति
—विषलितं शस्त्रादिकं दिग्धं कथितं, तज्जनितं विषम् ; तेन विषलितशस्त्रहृतो
जन्तुर्दिग्धाहतः कथितः । कपिकच्छ्रभवा कण्डूरिति—कपिकच्छ्रः वागरी तस्याः फलं
तज्जनिता कण्डूः खर्जः, इयमपि कण्डूद्रव्यसंसर्गजाऽल्पदोषा, न तु कुष्ठोक्ता । दुष्टनीर-
भवा तथेति—दुष्टनीराणि पूषांख्यातानि, तज्जनिता कण्डूरपि दुःखकरा भवती-
त्यभिप्रायः । तथा शूरणकण्डूरिति—शूरणः कन्दविशेषः मसिह एव, तेनापि सञ्जाता

विधोपमविविधमदरोगाणां विवरणम् ।—

मदश्चतुर्विधस्यान्यः पूगभङ्गाच्चकोद्रवैः ।

चतुर्विधोऽन्यो द्रव्याणां फलत्वझूलपत्रजः ॥ २०२ ॥

इति प्रसिद्धा गणिता ये किलोपद्रवा भुवि ।

असङ्ख्याद्यापरे धातु-मूलजीवादि सन्भवाः ॥ २०३ ॥

इति श्रीदामीदरमुनुना श्रीशार्ङ्गधरेण विरचितायां शार्ङ्गधरसंहितायां

निदानस्थाने रोगनयनाध्यायः ॥ ७ ॥

कञ्चूरिति । तथा भङ्गातजः श्रेयः इति—भङ्गातो भङ्गातकफलानि, तरुशर्मात्
शोथो दुःखकरो भवति ; स च दीपशोथोद्भिन्न एव ॥ १८६—२०१ ॥

मद इति ।—अन्यो मदश्चतुःप्रकारो ज्ञेयः, स च पूगभङ्गाच्चकोद्रवैः कृत्वित्यर्थः ।
अथमपि आसवारिष्टाद्भिन्न एव । पूगोऽल्पमदकरः । भङ्गा प्रसिद्धा । अचं विभोतक-
फलमज्जा मदकरत्वात् ; तदुक्तं—“तन्मज्जा मदकारकः” इत्यादिवचनात् । कोद्रवाणि
मदकराणि शास्त्राणि । अन्योऽपि मदो द्रव्याणां फलत्वझूलपत्रजः सामान्यो विहितः,
फलं खास्वसफलनित्योऽसः, तत्फलं जातीफलानि मदजनकं गृह्यते । त्वञ्जद
इत्यादि आकञ्जकेरिमदादिकानाम्, इरिमदो विट्खदिरः ; स एव फलमदोऽपि
गण्यतः । आकञ्जकोऽपि वल्यमाचमूलमदसङ्गृहीतः । मूलमद इति सुद्रवद्वय-
दीर्णां मूलं मदकरत्वात् । पत्रमद इति जातिपत्रिकाभङ्गाप्रभृतौनामिति ।
इति-शब्दः परिसमाप्तौ । किल निश्चयेन, ये उपद्रवा रोगरूपाः भुवि पृथिव्यां,
प्रसिद्धाः सन्ति, तेऽव गणिताः, शार्ङ्गधरेणेति श्रेयः । अपरे येऽप्रसिद्धाः, असङ्ख्या-
सन्ति, तेऽप्यनुमानतो ज्ञातव्या इत्यर्थः ; ते के ? धातुमूलजीवादिसन्भवा इति—
धातवः पार्थिवाः, ते सुवर्णरजतमणिमुक्तामनःशिलाहरितालमृत्कपालादयः । मूल-
शब्देन स्थावरा गृह्यन्ते ; तेऽपि चतुर्विधाः, वनस्पतयो वृक्षा वीरुषा ओषधय इति ।
ननु लोकाश्च देविध्यत्वेन पार्थिवा अपि स्थावरशब्देन वाच्याः, तत् कथमत्र पृथगुपा-
दानम् ? उच्यते—येषु आहारीपयोगिनं फलमूलाद्यवयवेषु प्रधानतया, तमेव
चतुर्विधे वनस्पत्यादिगणे स्थावरशब्दो वर्तते न तु पार्थिवेष्वपि, तेषामाहारेषु शब्दे-
नानुपयोगात् । जीवादिसन्भवा इति—जीवशब्देन जङ्गमा गृह्यन्ते, तेऽपि चतुर्विधा

शार्ङ्गधरसंहितायाम् ।

अथ मध्यखण्डः ।

चिकित्सितस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

स्वरसादिकल्पना ।

पञ्चकषायाः ।—

अथातः स्वरसः कल्कः काथश्च हिमफाण्टकौ ।

ज्ञेयाः कषायाः पञ्चैते लघवः सूर्यथोत्तरम् ॥ १ ॥

भवन्ति, ते जरायुनाष्टजखेदजोद्भिन्ना इत्यर्थः । आदियङ्गत् प्रघातनिवातातप-
कायाज्जोत्सातनः शीतोष्णवर्षाप्रभृतयः । एते त्वधर्वावाधसेवनात् दुःखकरा
इत्यभिप्रायः ॥ २०२२०३ ॥

विविधमुनिनिबन्धा ये मङ्गलम् प्रसिद्धाः सुमतिदुरवकीधास्ते मया नैव दृष्टाः ।

तदपि गुरुसकाशात् यत्कृतं तत् व्यजेहि छटमलभिषज्जाऽस्या भावसिद्ध्यात्मजेन ॥

इति श्रीवासव्यान्वयप्रकाशवैद्यश्रीभावसिद्ध्यात्मजेनाटमन्त्रेण विरचितायां शार्ङ्ग-

धरदीपिकायां पूर्वखण्डे रोगगणनाऽध्यायः सप्तमः ॥ ७ ॥

इति शार्ङ्गधरसंहितायां पूर्वखण्डः समाप्तः ।

अथ मध्यखण्डः प्रारम्भते, तत्रादौ कषायसंज्ञकवचनम् (?) आह, अथातः
इति ।—अथशब्दो मङ्गलार्थः । अत इति—प्रथमखण्डानन्तरम् । एते पञ्चकषायाः
ज्ञेयाः, ते लघोत्तरं लघवः सूरिति—श्री वक्रादुत्तरो यथोत्तरम् ; ते के ? स्वरस-
कल्ककाथहिमफाण्टसंज्ञाः । स्वरस इति—सघोरसः । कल्को दृषदि पेयितः । काथः
कृषितः कषायः । हिम इति—शीतकषायः । फाण्ट इति—जलज्जावितं चूर्णम् ॥ १४

स्वरसलक्षणम् ।—

आहतात्तत्त्वणाकृष्टाद्रव्यात् क्षुषात् समुद्भवः ।

वस्त्रनिष्पीडितो यः स रसः स्वरस उच्यते ॥ २ ॥

स्वरसागुण्यः ।—

कुडवं त्रूर्णितं द्रव्यं क्षिप्तञ्च द्विगुणे जले ।

अक्षीरात्रं स्थितं तस्माद्भवेद्वा रस उत्तमः ॥ ३ ॥

स्वरसागुण्यः ।—

आदाय शुष्कद्रव्यं वा स्वरसानामसम्भवे ।

जलेऽष्टगुणिते साध्यं पादशिष्टञ्च गृह्यते ॥ ४ ॥

स्वरसवशाणां नामा ।—

स्वरसस्य गुरुत्वाच्च पलमर्द्धं प्रयोजयेत् ।

निशेषितञ्चाग्निसिद्धं पलमात्रं रसं पिबेत् ॥ ५ ॥

अथ तेषु पूर्वं स्वरसकल्पनामाह, तल्लक्षणं यथा आहतादिति ।—कुडंशात् द्रव्यात् समुद्भवो रसः स्वरस इत्युच्यते । कीदृशात् ? तमाह—आहतात् क्षतात् शक्नोतीकृतात् । तत्त्वणाकृष्टादिति—मय उत्पाटितात् । क्षुषादिति—उदूखलादिषु मुषलादिभिः कुडितात् । वस्त्रनिष्पीडित इति—पटेन परिसृतः, रस इति शेषः । द्रव्यादिति—सामान्यग्रहणेनाव त्वसूलफलादीनां ग्रहणम् ॥ २ ॥

लक्षणान्तरमाह, कुडवमित्यादि ।—चेति—पद्यान्तरेणापि स्वरसः कथितः, स यथा—कुडवप्रमाणं त्रूर्णीभूतद्रव्यं द्विगुणजले क्षिप्तमक्षीरात्रं स्थितं भवति, तस्मात् यो रसो जात उत्पन्नः सोऽपि स्वरस उत्तमो ज्ञेयः । कुडवग्रहणमत्र सकलमानव्योतनार्थम् । अक्षीरात्रग्रहणेनैव क्षिप्तकषायाद्भिन्नो जातव्यः ॥ ३ ॥

मत्तान्तरमपि तद्वयथा, आदायेत्यादि ।—स्वरसानामसम्भवे अविवक्षितानि शुष्कद्रव्यं क्षुषं यथापरिमाणमादाय गृहीत्वा अष्टगुणितपानीये साध्यं त्वाप्यमित्यर्थः, तस्मात् यत् पादावशेषं भवति तस्यापि स्वरससंज्ञा । यथापरिमाणादिना कषायाद्भिन्नमेतत् ॥ ४ ॥

इदानीमनुक्तेषु पानार्थं परिमाणपूर्वकं प्रयोगमाह, स्वरसस्येति ।—स्वरसस्य आद्यस्य अर्द्धं पलं प्रयोजयेत्, पानार्थमित्यर्थः । निशेषितमग्निसिद्धञ्च स्वरसं पलमात्रं पिबेदित्यर्थः, तयोः किञ्चिदुत्पात् ॥ ५ ॥

स्वरसै मध्वादीनां प्रक्षेपमावा ।—

मधु श्वेता गुडं चारान् जीरकं लवणं तथा ।

घृतं तैलञ्च चूर्णादीन् कीलमात्रान् रसे क्षिपेत् ॥ ६ ॥

स यथा—

प्रमेहे स्वरसद्वयम् ।—

अमृताया रसः क्षौद्र-युक्तः सर्वप्रमेहजित् ।

हरिद्राचूर्णयुक्तो वा रसो धात्र्याः समाक्षिकः ॥ ७ ॥

तत्र प्रक्षेपमाह, मध्वित्यादि ।—मध्वादिकं कीलमात्रं यथा स्यात्तथा क्षिपेत् । कीलं पलस्य चाष्टांशम् । मध्विति सामान्यगुह्येन तज्जातयोऽष्टौ गृह्यन्ते ; तद्वयम् —“पीतकं क्षामरं क्षौद्रं मालिकं क्रावमेव च । चार्घ्यमौद्दालकं दालमित्यष्टौ मधुजातयः ॥” (सु० सू० ४५ च०) इति । एवमविशेषोक्तौ सर्व्वे । श्वेता सितशर्करा । गुडं प्रसिद्धं, तद्रूपलक्षितत्वेनान्ये इक्षुविकारा यथादीवापेक्षया गृह्यन्ते । चारानिति—बहुवचनत्वेन सर्व्वे चाराः, अनुक्ते यवचारमेव सर्व्वे । जीरकं प्रसिद्धं, सामान्यगुह्येन पीतकणादिकम्, अविशेषे श्वेतजीरकमेव । लवणमपि सामान्येन पञ्चलवणानि गृह्यन्ते ; तद्वयम्—“सिन्धुसौवर्चलोपेतं विडं सामुद्रजी-
हिदम्” इति । अनुक्ते सैन्धवेमेव यावत् सर्व्वे । घृतं तैलं पक्वापकं नागविधम् । तत्रानुक्ते तु गव्यं घृतं तिलतैलञ्च प्रधानमिति ; तथा हि—“घृतेषु गोघृतं श्रेष्ठं तैलेषु तिलजं तथा” इति । चूर्णादीनिति—व्योषचूर्णादीन् । आदिगुह्येन क्षौद्र-
भ्रवारिष्टयुक्तादयो रोगापेक्षया गृह्यन्ते ; यथा—गुटिकावलीकादयोऽप्यादिशब्देन आह्वयाः ॥ ६ ॥

अथ व्याधिप्रत्यगीकारे बह्वन् स्वरसाम् दर्शयन्नाह, स यथेति ।—स यथा इत्यादिवाक्येन प्रयोगान् प्रकटयति गत्यकारः ; अथवा—गुणयुक्तिज्ञापनार्थं शिष्यवचनमिदम् । एवं सर्व्वे “स यथा” इति ज्ञातव्यम् । स्वरसामाह, अमृताया इति ।—अमृता गुडूची तस्या रसः सद्योरसः । क्षौद्रयुक्त इति—मधुप्रक्षिप्तः । सर्व्वप्रमेहेति—विंशतिर्मेहाः । प्रधानस्वरमाह, हरिद्रेति ।—धात्र्या रसः सद्यस्तः क्षथितो वा हरिद्राचूर्णयुक्तो मधुयुक्तश्च । वा-गुह्येनायमपि सर्व्वप्रमेहजिह्वतीति तात्पर्यार्थः । * वा-गुह्येन हरिद्रायाः कल्कमपि देयम् ;

* वा-शब्दीऽयं पूर्व्वयोगापेक्षया, न तु हरिद्रायाः कल्कवचनपरः । कल्कस्तु चूर्ण-

रक्तपित्तादौ स्वरसः ।—

वासकस्वरसः पेयो मधुना रक्तपित्तजित् ।

ज्वरकासक्षयहरः कामलाश्लेष्मपित्तहा ॥ ८ ॥

कामलायां स्वरसाः ।—

त्रिफलाया रसः चौद्र-युक्तो दार्वीरमोऽथवा ।

निम्बस्य वा गुडूच्या वा पीतो जयति कामलाम् ॥ ९ ॥

विषमज्वरेषु स्वरमद्वयम् ।—

पीतो मरिचचूर्णेन तुलसौपत्रजो रसः ।

द्रोणपुष्पीरसो वाऽपि निहन्ति विषमज्वरान् ॥ १० ॥

रक्तातीसारं स्वरसः ।—

जम्बाम्बामलकीनाञ्च पल्लवोत्थो रसो जयेत् ।

तथा च तन्त्रान्तरे—“निशाकल्कयुतो धात्री-रसो वा माषिकान्वितः । मधुना त्रिफलाचूर्णे प्रमेहाणां विनाशनम् ॥” इति ॥ ७ ॥

वासक इत्यादि ।—वासकः आट्ठकः, तस्य पत्राणि इति व्यवहारात् । मधुनेति प्रक्षेपः । अयश्चौरुंगे रक्तपित्ते विशेषेण योज्यः । शेषः सुगमः ॥ ८ ॥

त्रिफलाया इति ।—त्रिफलादीनां चतुर्थी स्वरसाः कामलां घ्नन्तीति । तत्र त्रिफलादार्याः कथितरसः, निम्बगुडूच्यास्तु सद्योरस एव । मधुप्रक्षेपः एषु चतुर्षु योगेषु ज्ञेयः । त्रिफला विख्याता, सा चं हरीतक्यादिका । यद्यपि त्रिफलाशब्देन द्राक्षाकाशमर्यपदवकाण्यप्युच्यन्ते ; तदुक्तं—“पथ्याविभोतधात्रीभिस्त्रिफला मृदतो च्युता । क्रत्वा काशमर्यवृद्धीका-पदवकाफलैर्भवेत् ॥” इति, तथाऽपि सर्वत्र गुण-प्राधान्यादावशेषांक्तो हरीतक्यादीन्नेव त्रिफलाशब्देन गृह्यन्ते । दार्वीं दाहहरिद्रा, तस्यास्त्वक् याक्षा, त्वगमात्रं काष्ठमेवेति सर्वत्र ॥ ९ ॥

विषमज्वरहरयोगमाह, पीत इति ।—द्रोणपुष्पो “गुमा” इति लोके । मरिच-चूर्णमप्यत्र प्रक्षेप्यं, तस्य तीक्ष्णत्वान्नापकइत्यभिहित व्यवहारः । विषमज्वरानिति—ऐकाहिकादीन् ॥ १० ॥

जम्बाम्बेति ।—जम्बुादीनां पल्लवोद्भवी रसो मध्वादियुक्तोऽतीसारं जयेत् ।

शब्दस्य उपलब्धत्वात् तन्त्रान्तरदर्शनाच्च आयात्येव, चूर्णस्यापि कल्कमेदत्वात् इति ।

मध्वाज्यक्षीरसंयुक्तो रक्तातीसारमुख्यणम् ॥ ११ ॥

क्षीरसारे स्वरसः ।—

स्थूलवम्बूलिकापत्र-रसः पानात् व्यपोहति ।

सर्वातिसारान् श्लोनाक-कुटजत्वग्गयोऽथवा ॥ १२ ॥

वृद्धिशाखादौ स्वरसः ।—

चार्द्रकस्वरसः क्षौद्र-युक्तो वृषणवातमुत् ।

श्वासकासारचीर्हन्ति प्रतिश्लायं व्यपोहति ॥ १३ ॥

पार्श्वशुलादौ स्वरसः ।—

बीजपूररसः पानाद्भुज्यारयुतो जयेत् ।

पञ्चवयस्येन कीमलपवाणीत्यर्थः । आज्यं घृतम् । क्षीरं दुग्धम् । एकै * “मध्वाज-
क्षीरसंयुक्तम्” इति पठन्ति, व्याधुक्तत्वात्, तथा हि—“चार्द्रं शोषज्वरश्वास-रक्त-
पित्तातिसारजित्” इति । उत्पद्यमिति—प्रवृद्धं, चिरकालस्थितमित्यर्थे ॥ ११ ॥

स्थूलवम्बूलिकेति ।—स्थूलवम्बूलिका चारण्योद्भवा, तथा चतिरुच्यत्वादेर्के
पर्वतोया इति वदन्ति, सा चार्द्रशाखाभिरुपलब्धिता प्रसिद्धेव । [“स्थूलवम्बूलिकापत्र-
रसपानात्” इति पाठान्तरम् । स्थूलवत् स्थूलवत् शूलिका चानूपजाऽपि इति
सात्यर्थ्याः ; शूलिकेति ‘शूलिका’ कथिता ; उक्तञ्च नामनालायां—“वम्बूलः स्वरसः
शूलो सेलकयटोऽधिकगुहकः” इति । शूलिकाऽत्यवितपा बभूरोति लोके] ।
प्रथीमान्तरमाह, श्लोनाकैत्यादि ।—श्लोनाककुटजयोस्त्वगुद्गनो रससत्कार्यकर इति ।
श्लोनाकत्वगुद्गवः कुटजत्वगुद्गनो वेति योगद्वयमिति केचित् । अत्रापि मधुप्रचोपः
पूर्ववद्गुहकत्वः । सर्वातिसारानिति—सप्तप्रकारानित्यर्थः ॥ १२ ॥

चार्द्रकेति ।—चार्द्रकं खगास्त्रा प्रसिद्धं, तद्रसः क्षौद्रप्रचिप्तो वृषणवातमुद्भवति ।
वृषणवातोऽण्वातः, कुरच्छ इति केचित् । प्रतिश्लायं प्रतिश्लायरूपम् (?) ॥ १३ ॥

बीजपूररसः ।—बीजपूररसो बीजपूरफलस्वरसः, कीदृशः ? मधुचारयुतः
मधु क्षौद्रं, चारोऽन्यथाचारः । अथ पानात् पार्श्वदिशुलान् जयेत्, नरस्येति शेषः ।

* अयमेव पाठः साधुः ; अकसङ्कटं—“गन्धामामलकीनाम् पञ्चवान्ध
कुड्येत् । सङ्कटं स्वरसं तेषामन्नाक्षीरेण बीजयेत् ॥ तं पिबेत् मधुसंयुक्तं रक्ताती-
सारनाशनम् ॥” इति पाठदर्शनात् ।

पार्श्वद्वन्द्वशूलानि कोष्ठवायुश्च दाहणम् ॥ १४ ॥

पित्तशूलप्लीहादौ स्वरसो ।—

शतावर्याश्च मधुना पित्तशूलहरी रसः ।

निशाचूर्णयुतः कन्या-रसः प्लीहापचीहरः ॥ १५ ॥

अपचादौ स्वरसः ।—

अलम्बुधायाः स्वरसः पीती द्विपलमात्रया ।

अपचीगण्डमालानां कामलायाश्च नाशनः ॥ १६ ॥

सूर्यावर्त्तादौ स्वरसः ।—

स च मुख्याः रसः कोष्णी मरिचैरवधूतितः ।

जयेत् सप्तदिनाभ्यामात् सूर्यावर्त्ताईभेदकौ ॥ १७ ॥

शूलशब्दः पार्श्वदिभिः सम्बध्यते, तेन पार्श्वशूलं द्वन्द्वं वक्षिशूलश्चेति । वक्षि-
र्भवाधारः । कोष्ठवायुं पक्वाशयगतम् । दाहणं पौष्टाकरम् । वीगपूर इति सामान्य-
शब्देन तन्मूलकप्रतिफलं स्वरसमित्वाहुरेके ॥ १४ ॥

शतावर्याश्चेति ।—शतावरी प्रासजा, तस्याः सधीरसः । अयं प्रातरिव शीतः ।
मधुनेति—मधुमिश्रितः । कन्यारसः कौमार्यस्वरसः, “बारि” इति लोके । निशा-
चूर्णयुत इति—हारटाचूर्णप्रक्षिप्तः । प्लीहापक्षितत्वादोषविशेषः, प्लीहाहृतिरिति
लोके । अपची सूर्याभेदः ॥ १५ ॥

अलम्बुधाया इति ।—अलम्बुधा मुखितिका, तस्याः स्वरसः सदाक्तः कथितः ।
द्विपलयङ्गमतिशयत्वात्, प्रबलरीगार्थत्वाद्वा । अपचीगण्डमालादयोऽपि प्रबला
एव ॥ १६ ॥

सः इति ।—मुख्या रस इति—मुख्यौ केदारमुख्यौ, भूलदम्ब इति प्रसिद्धः,
तस्या रसः, स च कोष्णी ईषदुग्धः ; अत एवात्र कथितरसो ज्ञेयः । मरिचश्च
तीक्ष्णत्वात् स्वात्वं दृश्यम् । सप्तदिनयङ्गमेतास्य सप्तदिना कथ्यते । सूर्यावर्त्ताई-
भेदकौ शिरोहारी पट्टिनी ॥ १७ ॥

* “स च मुख्या रसः” इत्यत्र “सप्तमुख्या रसः” इति गूढाद्यं दीपिकाधृतपाठः ।
गङ्गाकरसः, इक्षुकरसः कर्तव्य इति तत्र व्याख्या ।

उन्मादे स्वरसः ।—

ब्राह्मीकुष्माण्डषड्व्या-शङ्खिनीस्वरसः पृथक् ।

मधुकुष्ठयुताः पीताः सर्वोन्मादापहारिणः ॥ १८ ॥

कोद्वमदे स्वरसः ।—

कुष्माण्डकस्य स्वरसो गुडेन सह योजितः ।

दुष्टकोद्वमसञ्जात-मदं पानात् व्यपोहति ॥ १९ ॥

क्लिन्नव्रणे स्वरसः ।—

खड्गादिच्छिन्नगात्रस्य तत्कालं पूरितो व्रणः ।

गाङ्गेरुकोमूलरसेर्जायते गतवेदनः ॥ २० ॥

पुटपाकस्वरसविधिः ।—

पुटपाकस्य कल्कस्य स्वरसो गृह्यते यतः ।

ब्राह्मीति ।—ब्राह्मीत्यादियोगचतुष्टयं सर्वोन्मादहरं भवति । ब्राह्मी स्वनाम-
ख्याता । कुष्माण्डः कुष्माण्डस्वरसः, अभावे कृषितं कुष्माण्डफलम् । * षड्व्या शटी,
तदभावे वषा याच्या । शङ्खिनी नाकुली प्रसिद्धा । एतेषां सद्योरसः अभावे
कृषितो वा । † मधुकुष्ठयुत इति प्रत्येकं रससम्बन्धः । मधु चौद्रम् । कुष्ठं प्रसिद्धं,
तत्सूर्यमित्यर्थः । सर्वोन्मादा इति—दीपोद्गमो भूतोद्गमाय ॥ १८ ॥

कुष्माण्डकस्येति ।—दुष्टकोद्वमसञ्जातं दुष्टं मदकरं, कोद्वमव्रणविशेषः । गुडा-
भावे शर्करादयोऽपि योज्या गुडोपलक्षितत्वात् ॥ १९ ॥

खड्गादीति ।—गाङ्गेरुको नागवला, तस्या मूलस्वरसेन पत्ररसेन वा पूरितः;
अथाध्यग्यपरिमाणेन पूरितः, सद्योव्रणो गतवेदनो भवति । तत्कालमिति—क्लिन्नमात्र
तद्विज्ञे वा । स्वरसोऽव सद्योरसः, न तु कृष्णादिकपः । खड्गादिच्छिन्नगात्रस्येति
आदिवहण्यात् शक्तिकुलादिभिरुच्छिन्नगात्रस्येत्यर्थः ॥ २० ॥

इदानीं पुटपाकस्वरूपस्य रसस्य कल्पयताविधिमाह, पुटपाकस्येति ।—
यतो हेतोः पूर्वं कल्करूपस्य पश्चात् पुटपाकस्य द्रव्यस्य रसो गृह्यते अतस्तस्य

* षड्व्या शटेन वक्ष्येव सर्वत्र गृह्यते, न तु शटी इति ।

† “मधु कुष्ठं कोष्ठमादं यथात्रलं वा” इति गू० द्रौ० ।

अतस्तु पुटपाकानां युक्तिरत्रोच्यते मया ॥ २१ ॥

* पुटपाकस्य मात्रेयं लेपस्याङ्गारवर्णता ।

लेपश्च द्रङ्गुलं स्थूलं कुर्याद्वाङ्गुलमात्रकम् ॥

काश्मरोवटजम्बादि-पत्रैर्वेष्टनमुत्तमम् ॥ २२ ॥

पुटपाकस्वरसस्य तत्र प्रच्येयस्य च भावा ।—

पलमात्रो रसो ग्राह्यः कर्षमात्रं मधु क्षिपेत् ।

कल्कचूर्णद्रवाद्यास्तु देयाः स्वरसवत् बुधैः ॥ २३ ॥

स यथा—

कुटजपुटपाक ।—

तत्कालाकृष्टकुटज-त्वच तण्डुलवारिणा ।

पिष्टां चतुष्पलमितां जम्बूपल्लववेष्टिताम् ॥ २४ ॥

युक्तिः कर्षेयविधिरवाङ्गान् यस्य मयाऽऽनर्थक्यं उच्यते, अधुनेति शेषः । तदयुक्तिर्यथा, पुटपाकस्य मात्रेति—पुटपाकाहो द्रव्यगोलकः । अग्नौ तावत् स्थितः थावत् लेपः अङ्गारसदृशो भवति, † इयं मात्राः लेपस्यवर्थः । लेपोऽपि सदादिना द्रङ्गुलोन्मितः काश्मर्यादीनां पत्रैर्वेष्टनश्च । लेपः माधुमधूणादिना तदङ्गुल-मात्रः प्रथमं कार्थ्यः, अग्रे वक्ष्यमाणत्वात्, पश्चात् सदादीनां प्रलेप इत्यर्थः । उत्तममिति—मृनादिवेष्टनेन न्यूनाधिकरहितं वेष्टनमित्यर्थः । काश्मर्यादयः प्रसिद्धाः । आदि-यदृष्टान् विज्ञातवज्ञाणां पत्रैर्वा वेष्टनं न निषिद्धम् ॥ २१।२२ ॥

अस्यैव पानाद्ये मानमाह, पलभाव इति ।—रसः पुटपाकोद्भवः, स पलभावः पलोन्मितः ग्राह्यः । मधु कर्षप्रमाणं क्षिपेत् । अत्रैव कल्काद्याः पूर्वस्वरसवत् देयाः, प्रलेपार्थेनिति भावः । टवोऽव घृतचौरतेलादिः, आदिशब्देन पूर्वोक्तानां यावद्विशिष्टानि तान्यत्र ज्ञातव्यानि ॥ २३ ॥

स यथेति वचनान् पुटपाकस्वरसोऽयं यथा रोगेषु विहितं तथैव दर्शयन्नाह, तदिति ।—कुटजो गिरिमञ्जिका, तस्य त्वक् कृष्णो । तण्डुलवारिणोति—तण्डुलवारिणेन ।

* “पुटपाकस्य मात्रेयम्—”इत्यादिस्थाने “पुटपाकस्य पाकाऽयं लेपस्याङ्ग-वर्णता (बहिरारक्तवर्णता) । लेपश्च द्रङ्गुलं स्थूलं कुर्याद्वाङ्गुलमात्रकम् ॥” इति तन्त्रान्तरीयपाठो युक्तः ।

† इयं मात्रा प्राकस्य इत्येव पाठो युक्तः ।

सूत्रेण बद्धां गोधूम-पिष्टेन परिवेष्टिताम् ।

लिप्ताञ्च घनपङ्केन गोमयैर्वर्णिना दहेत् ॥ २५ ॥

अङ्गारवर्णाञ्च मृदं दृष्ट्वा वङ्केः समुद्धरेत् ।

ततो रसं गृहीत्वा च शीतं क्षौद्रयुतं पिबेत् ॥

जयेत् सर्वानतीसारान् दुस्तरान् सुचिरोत्थितान् ॥ २६ ॥

तण्डुलोदकविधिः ।—

कण्डितं तण्डुलपलं जलेऽष्टगुणितं क्षिपेत् ।

भावयित्वा जलं ग्राह्यं देयं सर्वत्र कर्मसु ॥ २७ ॥

अरलपुटपाकः ।—

अरलुत्वकृतस्रैव पुटपाकोऽग्निदीपनः ।

मधुमीचरसाभ्याञ्च युक्तः सर्वातिसारजित् ॥ २८ ॥

तिप्तिरपुटपाकः ।—

न्यग्रोधादेष्ट कल्केन पूरयेन्नीरतिक्षिपः ।

गोधूमापिष्टेन लिपनं सज्जेपनञ्च, सज्जेपनञ्च इत्युक्तमिति । शीतमिति मधु-
विरोधात् ; यतः,—“उष्णोर्विकृष्यते क्षौद्रम्” इति । शीघ्रं भुजसम् ॥ २५—२६ ॥

अथाव प्रसङ्गततण्डुलजलस्य विधिमाह, कण्डितं तण्डुलपलमिति ।—कण्डितं
स्वस्थं तत् मुखलादिभिरुद्धृत्य कुट्टितामव्ययः । अष्टगुणितं जलं पलायकपानीये
भाविता प्रचाल्य जलं ग्राह्यं ततण्डुलजलमिति । एतद्विशुद्धं सर्वत्र शीघ्र-
मित्यर्थः ॥ २७ ॥

अरलपुटपाकमाह, अरलिति ।—* अरलः इत्यविशेषः प्रसिद्ध एव, तदभावे
श्लोकात् ; तस्य त्वकृतः पुटपाकस्यः केवलः अपि करो भवति । अकारात् अत्रापि
पूर्ववत् पुटपाकयुक्तिर्ज्ञातव्या । यदा अयमेव रसो मधुमीचरसाभ्यां युक्तकदा सर्वाति-
सारजिह्वति । मोचरसः शब्दात्तौ नित्याम् ॥ २८ ॥

अथ तिप्तिरपुटपाकमाह, न्यग्रोधादेरिति ।—अथ विधिस्तु पूर्ववत्ज्ञातव्यः ।
न्यग्रोधादेरिति—न्यग्रोधादिमव्यय कल्केनेत्यर्थः, तद्वशा—“न्यग्रोधोऽन्तराव्य-
य-
० अरलमिति श्लोकात्तस्यैव ज्ञातान्तरं, न तु अरलभावे श्लोकात् केचित्
दोषाकारैर्विहितः, न वा निवृत्त्यादौ इह ; ।

निरन्त्रमुदरं सम्यक् पुटपाकेन तत् पचेत् ॥

तत्कल्कस्य रसः क्षौद्र-युक्तः सर्वातिसारानुत् ॥ २८ ॥

दाडिमीपुटपाकः ।—

पुटपाकेन विपचेत् सुपक्व दाडिमीफलम् ।

तद्रसो मधुसंयुक्तः सर्वातिसारनाशनः ॥ ३० ॥

बीजपूरादिपुटपाकः ।

बीजपूराम्बजम्बूनां पल्लवानि जटाः पृथक् ।

विपचेत् पुटपाकेन क्षौद्रयुक्तञ्च तद्रसः ॥

छदिं निवारयेत् घोरां सर्वदोषसमुद्भवाम् ॥ ३१ ॥

अथ मधुकलपोतनककुभासकीशाम्बोरकपत्रजम्बूदयापेयासमधुकरोहिण्योवज्जलकदम्ब-
वदरोतिन्दुकीशङ्खकोलाप्रभावरलोप्रभङ्गातकपलाशा नन्दोद्वक्ष्य” (सु० सू० ३८ अ०)
इति न्ययोधादिगणः सुश्रुतात् । एतेषा व्यक्तममलानां यथालाभं परिभाषाः
त्वगादधी बाह्या इति वृद्धाणां व्यवहारः । एके न्ययोधादिपृथगेन पञ्चवल्कलानि
मन्यन्ते ; तद्वयथा—“न्ययोधोडुम्बराश्वत्थ-प्रक्षवेतनवल्कलैः । पञ्चवल्कम्” इत्यादि ।
गौरवतिरिरेरिति यद्गौरवद्वयं तद्विशिष्टगुणज्ञापनार्थम् ; “तित्तिरिः सर्वदोषघ्ना याद्वी
वर्णप्रसादनः । छिक्काश्वासानिलहरो विश्वेवाद्गौरवतित्तिरिः ॥” (सु० सू० ४६ अ०)
इति वचनानां । निरन्त्रमित्यत्र अन्तर्गच्छेन यत्कल्पोदादिकमपि गृह्यते, तैरपि
रक्षितमित्यर्थः ॥ २८ ॥

इदानीं दाडिमीपुटपाकमाह, पुटपाकेनेति ।—सुपक्वपद्वयम् अस्मद्वय-
च्छेदार्थम् ; यतः अस्मत्वे तत्काव्येकरं न भवति ; तथा हि—“दाडिमं दीपनं याद्वि
द्विधा स्नाहस्रभेदतः । तयोः स्नादु त्रिदोषघ्नमस्त्रं वातघ्नासहृत् ॥” इति । तद्रसः
पुटपाकरसः । मधुसंयुक्त इति—मधुपक्षेपयुक्तः ॥ ३० ॥

अथ जटापल्लवपुटपाकमाह, बीजेति ।—बीजपूरादीनां मिश्रित्वा गुणविशेषेषु
योगवयम्, एकं पल्लवकृतम्, अपरं जटाकृतञ्च ; परस्परभाविशेषात् (?) ।
पृथगिति पृथगेन योगवयमेतत् । एतेन किमुक्तम् ? बीजपूरादीनां व्यक्तानां पल्लव-
पुटपाकः जटापुटपाको वा कर्तव्य इति तात्पर्यार्थः । घोरानिति—अनिवार्याम् ।
सर्वदोषसमुद्भवामिति—त्रिदोषजनिताम् ॥ ३१ ॥

वासापुटपाकः ।—

पिष्टानां वृषपत्राणां पुटपाकरसो हिमः ।

मधुयुक्तो जयेद्वक्त-पित्तकासज्वरक्षतान् ॥ ३२ ॥

कण्टकारीपञ्चाङ्गपुटपाकः ।—

पचेत् क्षुद्रां मपञ्चाङ्गां पुटपाकेन तद्रसः ।

पिप्पलीचूर्णमयुक्तः कामश्वासकफापहः ॥ ३३ ॥

विभीतकपुटपाकः ।—

विभीतकफलं किञ्चित् घृतेनाभ्यज्य लेपयेत् ।

गोधूमपिष्टेनाङ्गारैर्विपचेत् पुटपाकवत् ॥ ३४ ॥

ततः पक्वं समुद्धृत्य त्वचं तस्य मुखे क्षिपेत् ।

कासश्वासप्रतिश्याय-स्वरभङ्गान् जयेत्ततः ॥ ३५ ॥

शुण्ठीपुटपाकः ।—

चूर्णे किञ्चित् घृताभ्यक्तं शुण्ठ्या एरण्डजैर्दलैः ।

वेष्टितं पुटपाकेन विपचेन्मन्दवह्निना ॥ ३६ ॥

तत उद्धृत्य तच्चूर्णं ग्राह्यं प्रातः सितान्वितम् ।

वासापुटपाकमाह, पिष्टानामिति ।—पिष्टानां कल्कीभूतानाम् । वृषः पाट-
वृषकः । हिम इति—शीतलः, न तु हिमसंज्ञः कषायः । क्षतमक्षीरः क्षतम् ॥ ३२ ॥

अथ कण्टकारीपुटपाकमाह, पचेदिति ।—क्षुद्रा लघुकण्टकारिका ; कीदृशी ?
तानाह, मपञ्चाङ्गामिति—मूलत्वक्पत्रपुष्पफलसहितानित्यर्थः । पिप्पली चान्न
स्वल्पमाना देया तीक्ष्णत्वात् ॥ ३३ ॥

विभीतकपुटपाकमाह, विभीतकैति ।—विभीतकी “बहेरे” इति लोके, तानि
सकलानि गृहीत्वा किञ्चिद्घृतेनाभ्यज्य पूर्ववत् पुटपाकविधानेन विपचेत् । अङ्गार-
ग्रहणं धूमव्यवच्छेदार्थम् । अयं योगो विशेषेण सायसुपयोग्यः । प्रतिश्यायो नासा-
क्षयः । प्रकृतिभूतस्य स्वरस्यान्वयाभावः स्वरभङ्ग इत्युच्यते ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

अधुना शुण्ठीपुटपाकमाह, चूर्णमिति ।—शुण्ठी प्रसिद्धा, तस्यामूर्णे वस्त्रगालितं,
तच्च घृताभ्यक्तं कृत्वा एरण्डप्रदेशे वेष्टयित्वा पुटपाकयुक्त्या विपचेत् । सितान्वित-

तेन यान्ति शमं पीडा आमतीसारसम्भवाः ॥ ३७ ॥

द्वितीयशुण्ठीपुटपाकः ।—

शुण्ठीकल्कं विनिलिप्य रसैरेरण्डमूलजैः ।

विपचेत् पुटपाकेन तदसः क्षौद्रमयुतः ॥

आमवातसमुद्भूतां पीडां जयति दुस्तराम् ॥ ३८ ॥

शरणपुटपाकः ।—

शौरणं कन्दमादाय पुटपाकेन पाचयेत् ।

सतैललवणस्तस्य रसश्चाशीविकारनुत् ॥ ३९ ॥

स्रगशृङ्गपुटपाकः ।—

शरावसम्पृटे दग्धं शृङ्गं हरिणजं पिबेत् ।

गव्येन सर्पिषा युक्तं हृक्कलं नाशयेद्भुवम् ॥ ४० ॥

इति श्रीदामोदरसूनुश्रीशार्ङ्गधराचार्यविरचितायां शार्ङ्गधरसंहितायां मध्यखण्डे

चिकित्सितस्थाने स्वरसादिकल्पनानाम् प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

मिति—सिताऽत्र चूर्णमसतुलिताः । प्रातर्ग्रहणमर्धाभागतारोगनिवृत्त्यर्थम् । मन्दश्चि

ग्रहणं विद्रवत्वात् दग्धव्यवच्छेदार्थम् । भक्ष्य-मानमप्यत्र चूर्णवत् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

अपरमप्याह, शुण्ठीकल्कमिति ।—भाबनि भूतबहुपचारः ; सा शुण्ठी एरण्ड-
मूलरसेन सह द्रवत पेयिता सती कल्कमित्युच्यते । रसोऽत्र सद्यस्कः कथितो वा ।
क्षौद्रमयुतो मधुप्रलेपयुक्तः । दुस्तरामित्यनिवार्याम् ॥ ३८ ॥

अथ शरणपुटपाकमाह, शौरणमिति ।—शरणस्यैदं कन्दमित्यर्थः, ततः पुटपाक-
युक्त्या विपाच्य सतैललवणान्वितसद्रसोऽशीविकारनुद्भवति । सतैललवण इति—
सामान्यग्रहणेन तिलतेलं नैस्त्रलवणञ्च याच्यम् । एतयोर्मानं प्रसेपे पूर्ववत् ॥ ३९ ॥

इदानीं स्रगशृङ्गपुटपाकमाह, शरावेति ।—हरिणाज्जातं हरिणजं, शृङ्गमिति—
विषाणं, तच्च खण्डितं कृत्वा याच्यम् । दग्धमिति—पुटपाकयुक्त्या, अत एव सृदा-
ऽवलितं शरावसम्पृटं कार्यम् । गव्यग्रहणमन्यद्वृतव्यवच्छेदार्थं तस्यातिश्रेष्ठत्वात् ।
भक्षणमत्र फायटवज्ज्ञेयम् (१) । भ्रुवमिति—सद्यः प्रत्यक्षकारको योगोऽयम् ॥ ४० ॥

इति श्रीबासव्यान्वयप्रकाशवेद्यश्रीभारसिंहात्मजेनादमल्लेन विरचितायां शार्ङ्गधर-

दीपिकायां मध्यखण्डे चिकित्सितस्थाने स्वरसादिकल्पनप्रथमः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

काथकल्पना ।—

काथविधिः ।—

पानीयं षोडशगुणं क्षुप्ते द्रव्यपले क्षिपेत् ।

मृत्पात्रे काथयेत् ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम् ॥

तज्जलं पाययेद्धोमान् कोष्णं मृदग्निमाधितम् ॥ १ ॥

इदानीं काथकल्पना व्याख्यास्यामः ; पूर्वं तावत् तरलरूपमाह, पानीय-
मिति ।—क्षुप्ते कृष्टे द्रव्यपले काथ्यद्रव्यपले पानीयं जलं षोडशगुणं द्रव्यभागा-
पेक्षया, तेन षोडशपलमित्यर्थः । अष्टमांशावशेषितमिति—द्विपलावशेषमित्यर्थः ।
तज्जलमिति—कथितजलम् । कोष्णमिति—दृढदुष्णम् ; उष्णत्वमस्य कथितत्वादेव,
न तु श्रुतश्रोतं पुनस्तप्तमिति दोषकरत्वात् ; तथा चोक्तं—“तेन घृतञ्च पानीयं कषाद्यं
व्यञ्जनादिकम् । श्रुतश्रोतं पुनस्तप्तं तत् सर्वं विषवद्भवेत् ॥” इति । मृदग्निमाधित-
मिति—मम्यक् बोध्योत्कृष्टत्वात् मन्दपावकपाचितमिति भावः ; दग्धघनपिच्छिला-
दिभयादित्येके वदन्ति । होमानिति गृहणेन द्रव्याणां मृदुमध्यकठिनत्वादिकमवेक्ष्य
तदनुमानं जलं दधामिति ; तथा हि—“चतुर्गुणं मृदौ द्रव्ये कठिनेऽष्टगुणं जलम् ।
अथश्रकठिने द्रव्यं त्रुधेः षोडशमं जलम् ॥” इति । एतच्च खेदपाकविषये प्रायशः
प्रचरति । ननु मृदादिकाप्यद्रव्यमष्टगुणिते जले साध्यते इति व्यवहारो दृश्यते,
तत्र कथमत्र षोडशगुणम् ? उच्यते,—काप्यगणो मृदुमध्यकठिनद्रव्यैर्मिश्रित्वा पच्यते,
तस्मात् मध्य-मानमनुसरन्ति ऋज्वेदाः, न दोषः ; उक्तञ्च यतः,—“मृदादिकाप्य-
मृदाते मानानुक्तौ चिकित्साकाः । मध्यस्थोभयभागित्वादिकन्त्यष्टगुणं जलम् ॥”
इति । द्रव्य-मानमपि दोषापेक्षया, न तु नियतपलमानमित्येके भाषन्ते ; कुतः ?
होमानिति गृह्यात् ; तथा हि—“उत्तमस्य पलं माषा त्रिभिश्चाक्षैश्च मध्यमे ।
अधमस्य पलाहंन खेदकाप्योषधेषु च ॥” इति । * एतच्च विषाधिकारे चोक्तं न
तु सर्वत्र । नन्वपरे चतुर्भांशावशेषितं काथं वदन्ति ; तथा चोक्तं—“काथ्यद्रव्यपले
वारि द्विरष्टगुणमिष्यते । चतुर्भांशावशेषितं पेयं पलचतुष्टयम् ॥” एतदपि विषा-

* परिभाषितं श्रीचक्रपाणिना ज्वराधिकारे सर्वरोगेष्वेव अविशेषेण लिखिता
न तु विषाधिकारे इति ।

कायस्य पर्यायः ।—

मृतः कायः कषायस्य निर्यूहः स निगद्यते ॥ २ ॥

कायसेवने कालो नास्ति च ।—

आहाररसपाके च सञ्ज्ञाते द्विपलान्वितम् ।

हृद्वैद्योपदेशेन पिबेत् कायं सुपाचितम् ॥ ३ ॥

काये प्रक्षेप्याणां मार्गनिर्देशः ।—

काये क्षिपेत् सितामंशैश्चतुर्थाष्टमघोडशैः ।

धिकारे न तु सर्वत्र । यथा—कायस्य पाचनादिकमेतेन सप्तविधः ; तद्वयथा—“पाचनी दीपनीयश्च शोधनः शसनस्तथा । तपश्चः क्लेदनः शोषो कायः सप्तविधो मतः ॥” (हा० ३ ख्या० १ अ०) तस्मात् पाचनशोधनार्थं * चतुर्धाशः ; “पाचनः शोधनीयश्च पादशेषः प्रशस्यते” इत्यादि वचनात्, अत्राशितार्थश्च द्विपलान्वितं न विरोधः । यथा—दीपादीनां पलापलविचारादुभयवापि न कश्चिद्दोषः ; यतः,—“दीप्तानलं महाकायं पाययेत्त्वक्कलिं जलम् । अन्ये त्वहं परित्यज्य प्रसूतिं चिकित्सकाः ॥” इति ॥ १ ॥

इदानीं कायस्य पर्यायनामान्वाह, श्रुत इत्यादि ।—श्रुतः, कायः, कषायः, निर्यूह इति चत्वारः ॥२॥

अत्राचार्यो द्विपलमिति स्त्रीकृत्याक्तमप्यपरदृष्टान्तेन दर्शयति, तस्माद्, आहारैति । —हृद्वैद्योपदेशेनेति यद्येन द्विपलमेव इति पारम्पर्यो व्यवहारः, अत एव तन्मतमालोच्य शार्ङ्गधरेणात्र लिखितः ; यतः,—“कायस्यागर्मान्धस्तत्स्वभावा-
शेषितम् । पारम्पर्योपदेशेन हृद्वैद्याः पलद्वयम् ॥” इति । सुपाचितमिति—गन्धवर्णरसान्वितम् ; तदुक्तं—“द्रव्यस्य गन्धवर्णश्च तुल्यं कार्यकरं विदुः । तद्विदुर्हं शुद्धाय कषायमस्तोपनम् ॥” इति । आहाररसपाके इति पदमन्यव्याधि-
प्रकीपव्यवच्छेदार्थम् ; यतः,—“बोधवशेषे भुक्तं पीतञ्च तबोधधं सशेषेऽन्ने । न करोति गदीपशमं प्रकीपव्यन्यरोगांश्च ॥” इति ॥३॥

इदानीं प्रक्षेपनिमित्तं द्रव्याणां परिमाणमाह, काये इति ।—सिता शर्करा, सा च + कथितजलस्य चतुर्थाष्टमघोडशैः प्रक्षेप्या ज्ञेया, अस्मानुक्तो बोद्धव्यः ।

* “पाचनीऽहोवशेषः स्यात् शोधनो दादशांशकः” इति हारीतमतम् ।

+ कथितजलस्य इत्यादि टीकाकारांक्तिः न समीचीना, “प्रक्षेपः पादिकः काप्यात्” इति शास्त्रात् काप्यस्यैव पादादिरूपः प्रक्षेपः सर्वत्र वैद्यैः आद्रियते, न तु कायस्य, प्रक्षेपभूयस्वादिति ।

वातपित्तकफातङ्गे विपरीतं मधु स्मृतम् ॥ ४ ॥

जीरकं गुग्गुलुं चारं लवणञ्च शिलाजतु ।

हिङ्गु त्रिकटुकञ्चैव काथे शण्णोन्मितं क्षिपेत् ॥ ५ ॥

चीरं घृतं गुडं तैलं मूत्रं चान्यद्रव्यं तथा ।

कल्कं चूर्णादिकं काथे निक्षिपेत् कर्षसंमितम् ॥ ६ ॥

अनाहतमुखपात्रे काथकरणे दोषनिर्देशः ।—

(* अपिधानमुखे पात्रे जलं दुर्जरतां व्रजेत् ।

तस्मादावरणं त्यक्त्वा काथादीनां विनिश्चयः ॥)

स यथा—

सर्वज्वरे गुडूच्यादिः ।—

गुडूचीधान्यकारिष्टरक्तचन्दनपद्मकैः ।

गुडूच्यादिगणकाथः सर्वज्वरहरः स्मृतः ॥

दीपनो दाहहृत्तास-लक्षणाच्छूर्यरुचोर्जयेत् ॥ ७ ॥

मधु च विपरीतमिति—शर्करापরিमाणात् ; एतन् किमुक्तम् ? वातातङ्गे सिता चतुर्थांशा कथितजलादित्यर्थः, पित्तातङ्गेऽष्टमांशा, कफातङ्गे षोडशांशा इति । मधु विपरीतं यथा—वातातङ्गे षोडशांशं, पित्तातङ्गेऽष्टमांशं, कफातङ्गे चतुर्थांशमिति भावः । अपराग्राह, जीरकमित्यादि ।—जीरकादित्रिकटुकान्तं द्रव्यं टङ्गप्रमितं क्षिपेदिति काथे ; तत्र चारं यवचारादि । लवणं सैन्धवादि । त्रिकटुकं शण्णोमरिचपिप्पलीसंज्ञकम् । द्रवप्रक्षेपमाह, चीरमित्यादि ।—चीरादीनि कर्ष-नितानि । तत्र गुडोपलक्षितत्वेन सितावशिष्टाः सर्वेक्षुविकारा गृह्यन्ते । अन्यद्रवमिति—तीयमद्यासचारिष्टगुक्तादिकम् । चूर्णादिकम् इत्येतादियद्व्याप्तं गुटिकाऽबलेदादयो बोद्धव्याः । कर्षे पलचतुर्थांशमिति ॥ ४—६ ॥

इदानीं ज्वरादिरोगनाशार्थं बहुविधान् काथान् दर्शयन्नाह, स यथेति ।—पूर्वे व्याख्यातम् । गुडूच्यादिगणः काथरूपः सर्वज्वरहरो भवति दीपनश्च दाहा-दींश्च जयति । तचारिष्टो निम्बः । पद्मकं पद्मकाष्ठं, यत्र पद्ममस्ति तत्र पद्मकीश-रम् । दीपनमग्नेः । हृत्तास इति—असक्तुं शोषनम् । मधु गुडूच्यादिको गणः प्रायेण

* श्लोकोऽयं प्रचलित इति केचित् ।

वातज्वरे गुडूच्यादिः ।—

गुडूचीपिप्पलीमूल-नागरैः पाचनं स्मृतम् ।

दद्याद्वातज्वरे पूर्ण-लिङ्गे सप्तमवासरं ॥ ८ ॥

वातज्वरं शालपर्णीदिः ।—

शालपर्णी बला रास्ना गुडूची सारिवा तथा ।

आसां काथं पिबेत् कोष्णं तोत्रवातज्वरच्छिदम् ॥ ९ ॥

पित्तप्रायोपशमनिमित्तं भवति, तत् कथमवादी सर्वज्वरहरः प्रोक्तः ? उच्यते,—सर्वज्वरे पित्ताविरोधिनौ क्रिया कार्थ्येति सिध्यति ; तदुक्तं बाग्भटे—“कषा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नाख्युषणा विना । तस्मात् पित्तविरुद्धान् त्यजत् पित्ताधिकेऽधिकम् ॥” (वा० सू० १ अ०) इति निर्दोषः ॥ ७ ॥

गुडूचीत ।—गुडूच्यादिभिस्त्रिभिर्द्रव्यैः शृतं काथितं वातज्वरे पाचनमिति । कथञ्भूते ? पूर्णलिङ्गं सप्तमवासरं वैपद्युविषमवेगादिभिरुपलक्षिते इत्यर्थः, अत एव सप्तमवासरं दधामिति, यतः,—“वातिकः सप्तरात्रेण” इत्यादिवाक्यं दृश्यते हि । सप्तमदिनगृहणं ज्वरस्य तारुण्यनिषेधार्थं, यतः सप्ताहादूर्वाक् ज्वरस्य तरुणता कथ्यते ; तथा हि—“आ सप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनोविषणः” (पुष्कलावत०) “न कषाद्यं प्रशंसन्ति नराणां तरुणज्वरे । कषाविषाकुलोभृता दोषा जितुं सुदुस्तराः ॥” (हा० ३५ व्या० १ अ०) इति । ननु सप्तरात्रं ज्वरस्य तरुणत्वं, तत्र भेषजनिषेधः, तदुपरि वातको ज्वरः पाकं गच्छति, तत् कथं पाचनादकमुक्तम्, एतत् सर्वं व्यर्थम् ? उच्यते—कषायद्रव्यैरुक्तपाचनकषायो निषिद्धः, न तु स्वरसादः ; तथा ह्युक्तं—“न तु कल्पनमुद्दिश्य कषाथः प्रतिषिध्यते । यः कषायकषायः स्यात् स वर्ज्य-स्तरुणं ज्वरं ॥” (अ० चि० ज्वर०) इति । यदा—आमादयः कस्योऽवस्था दीवणा, तत्र द्विविधा हि सामता, एका रसस्य, अपरा दोषस्य, दोषसामता तरुणतारूपा, रससामता मुखवेरस्यादिलक्षणा, सा अष्टाहात् परतोऽप्यनुवर्तते, तरुणतारूपा सामताऽष्टाहादपैति, एतत् प्रयोजनं तरुणतारूपदोषसामतायामोषधं नोपयुज्यते, रससामतायान्तु पाचनं दीयते ; अत एवाह चरकः,—“ज्वरतं षड्विंशतीतं लघुसप्त-प्रतिभोजितम् । पाचनं शमनीयं वा कषायं पाथयेत् तम् ॥” (अ० चि० ज्वर०) इति । एव कफज्वरेऽपि बोद्धव्यम् ॥ ८ ॥

अपराख्याह, शालपर्णीति ।—शालपर्ण्यादीनां काथः झीडादीन् (?) हनोति । शालपर्णीं प्रसिद्धा । सारिवा अनन्तमूलम्, “आफोड” इति लोको-

वातज्वरे काश्र्मर्यादिः ।—

काश्र्मरीसारिवाद्राक्षा-त्रायमाणाऽमृताभवः ।

कषायः सगुड़ः पीतो वातज्वरविनाशनः ॥ १० ॥

पित्तज्वरं कट्फलादः ।—

कट्फलेन्द्रियवाग्ब्रष्टा-तिक्तामुस्तैः शृतं जलम् ।

पाचनं दशमेऽङ्गि स्यात्तोत्रे पित्तज्वरे नृणाम् ॥ ११ ॥

पित्तज्वरं पपंटादः ।—

पर्पटो वासकस्तिक्ता कैरातो धन्वयासकः ।

प्रियङ्गुश्च कृतः काथ एषां शर्करया युतः ॥

पिपासादाहपित्तास्र-यृतं पित्तज्वरं जयेत् ॥ १२ ॥

एके राक्षास्थाने द्राक्षा इति पठान्ति । ज्वरोऽत्र वातिकः, यस्यान्तरेऽपि तदयथा—
“गुड़ो सारिवा द्राक्षा बला चाग्रमती तथा । एषोऽपि परमः सिद्धो वातज्वर-
विनाशनः ॥” इति ॥ ८ ॥

अन्यदपि आह, काश्र्मरीत्यादि ।—काश्र्मरी गान्धारी । त्रायमाणा स्नानम-
ख्याता । अमृता गुड़ो । कषायोऽत्र कथितः । सगुड़ इति—गुड़प्रतिभः ॥ १० ॥

अथ पित्तज्वरे पाचनमाह, कट्फलेत्यादि ।—कट्फलादिपाचनं पित्तज्वरे प्रशस्त-
मेव । कट्फलं प्रलिङ्गम् । इन्द्रियवः कुटजबीजम् । अग्निष्ठा पाठा । तिक्ता
कटुरोहिणी । दशमेऽङ्गि इति—विचारणात् पूर्वे लिखिता (१) तौब्रदाहादियुक्ते ।
एके शर्कराप्रक्षेपोऽत्र मन्यन्ते ; यतः,—* “शर्करामधुरो हन्ति कषायं पित्तिकं
ज्वरम्” (सु० उ० ३८ अ०) इति । तन्न सर्वसम्मतम् ॥ ११ ॥

पर्पट इति ।—पर्पटादिज्ञातः पित्तज्वरं हन्तीति । पर्पटः स्नानमप्रसिद्धः ।
वासक आठवकः । तिक्ता कटुरोहिणी । कैरातो भूमिन्धः । धन्वयासो दुरालभा ।
प्रियङ्गुर्लताविशेषः, तथाः फलानि ; न तु इक्षुप्रियङ्गुः ; तथा चोक्तं—“फलिनो

* श्लोकादौऽप्ये सुसुते श्रीपण्यादिकाथे पाठितः, न तु कट्फलादौ । तथा च
—“श्रीपर्णीचन्दनोद्गीर-पठवकमधूकजः । शर्करामधुरो हन्ति कषायः पित्तिकं
ज्वरम् ॥” इति ।

पित्तज्वरे द्राक्षादिः ।—

द्राक्षा हरीतकी सुस्तं कटुकी कृतमालकः ।

पर्पटश्च कृतः काथ एषां पित्तज्वरापहः ॥

वृण्मूर्च्छादाहपित्तासृक्-शमनो भेदनः स्मृतः ॥ १३ ॥

पित्तज्वरे पर्पटकादिः ।

(* एकः पर्पटकः श्रेष्ठः पित्तज्वरविनाशनः ।

किं पुनर्यदि युज्येत चन्दनोशीरबालकैः ॥)

कफज्वरे बीजपूरमूलादिः ।—

बीजपूरशिफापथ्या-नागरग्रन्थिकैः शृतम् ।

सच्चारं पाचनं श्लेष्म-ज्वरे द्वादशवासरे ॥ १४ ॥

कफज्वरे भूनिम्बादिः ।—

भूनिम्बानिम्बापप्यत्यः शठी शुण्ठी शतावरी ।

गुडूचो बृहती चेति काथो हन्यात् कफज्वरम् ॥ १५ ॥

फलप्रियङ्गुलैता गोवन्दनी तथा । श्यामा” इत्यादि, “वृषप्रियङ्गुरग्रा सा ज्ञेया वमनकार्पिका” इति । एषां द्रव्याणाम् । शर्कराऽत्र प्रक्षेपे ॥१२॥

द्राक्षेति ।—द्राक्षादिद्राक्षः पित्तज्वरहरः । कृतमालको राजवृक्षः । वृणादयोऽत्र पित्तज्वरस्यैवोपद्रवा ज्ञेयाः । भेदन इति—स्वभावगुणेन पक्वदोषस्थापः पातनम् ; तथा हि—“सौक्ष्मात् कषायः स्रोतांसि विवृणोति स्वभावतः । पक्वं दोषं संस्रयति विमार्गस्य शमं नयेत् ॥” इति ॥ १३ ॥

अथ कफज्वरे बीजपूरादिपाचनं, बीजपूरैति ।—श्लेष्मज्वरे प्रशस्तम् । बीज-पूरो मातुलङ्गः, तस्य शिफा जटा । पथ्या हरीतकी । नागरं शुण्ठी । ग्रन्थिकं पिप्पली-मूलम् । शृतं कथितम् । सच्चारमिति—यवच्चारप्रक्षिप्तम् । द्वादशवासरे इति पूर्ववत् ॥ १४ ॥

भूनिम्बेति ।—भूनिम्बादिक्वाथोऽपि कफज्वरं हन्यादिति । भूनिम्बः कैरातः ।

* श्लोकोऽयं प्रक्षिप्त इति केचित् । “चन्दनोशीरबालकैः” इत्यत्र “चन्दनोदोद्य-ज्जागरेः” इति प्रकटितपाठः ।

कफज्वरे पटीलादिः ।—

पटोलत्रिफलातिक्ता-शठीवासाऽमृताभवः ।

काथो मधुयुतः पोतो हन्यात् कफकृतं ज्वरम् ॥ १६ ॥

वातपित्तज्वरं पञ्चभद्रम् ।—

पर्यंटाब्दाऽमृताविश्व-कैरातैः साधितं जलम् ।

पञ्चभद्रमिदं ज्ञेयं वातपित्तज्वरापहम् ॥ १७ ॥

वातकफज्वरं लघुचुद्रादः ।—

चुद्राशुण्ठोगुडूचीनां कषायः पौष्करस्य च ।

कफवाताधिके पेयी ज्वरे वाऽपि त्रिदोषजे ॥

कासश्वामारुचिकरे पाश्वेऽशूलविनाशनः ॥ १८ ॥

निम्बः प्रसिद्धः । पिप्पली ख्याता । शठी कर्चुरभेदः । ब्रह्मती ब्रह्मकण्टकारिका ।
कैचित् “शठी शुण्ठौ च पौष्करम्” इति पठन्ति । अथमपि पाठः साधुः ॥ १५ ॥

पटीलाति ।—पटीलादिकाथो मधुयुतः कफजनितज्वरं हन्यादिति । पटोल-
मव * पटोलपत्राद्, कवलं पटोलनालं वा, यतः,—“नालं तस्य कफापहम्”
इति वचनात् । त्रिफला हरीतक्यादिकम् । तिक्ता कटुरीहिणी । अमृता
गुडूची ॥ १६ ॥

इदानीं वातपित्तज्वरे योगमाह. पर्यंटादि ।—पञ्चभद्रकसंज्ञकं कथितं जलं
वातपित्तज्वरापहं भवति । अब्दां मुलम् । विश्वः शुण्ठौ । अत्रापि मंसर्गजनित-
ज्वरं वासरादीनां भानं तन्वान्तरेऽवगन्तव्यम् ; तद्वयथा—“वातपित्तज्वरे देयभौषधं
पञ्चमेऽहनि । पित्तश्लेष्मज्वरे चापि भौषधं सप्तमेऽहनि ॥ अत ऊर्ध्वं सप्ताहात्
वातश्लेष्मज्वरे पिबेत् ॥” इति ॥ १७ ॥

चुद्रेति ।—लघुचुद्रादिकाथः कफवातजनितज्वरे पेयः त्रिदोषजे वा । तत्र
पौष्कः मूलं, तदभावे कुष्ठं यास्त्यनिति सर्व्वम् । कासाद्युपद्रवाः सन्निपातज्वर-
स्यापि ज्ञातव्याः । तन्वान्तरे पञ्चतित्तकसंज्ञकमिदं, तत्र पञ्चमं भूतिस्त्वम् ;
तद्वयथा—“चुद्राऽमृताभ्यां सप्त नागरं सप्त पुष्करञ्चैव किराततित्तम् । पिबेत्

* “पटीलादंश्चुद्रस्यथा” इति परिभाषाबलात् पटोलशब्देन सामान्योक्तौ
पटोलपत्रमेव गृह्यते वैद्यैः । गूढः शुण्ठीपिकाकारेणापि अयमेवायं स्वीकृतः ।

वातकफज्वरे चारम्बधादिः ।—

आरम्बधकणामूल-मुस्तातिक्ताऽभयाक्ततः ।

क्तायः शमयति क्षिप्रं ज्वरं वातकफोद्धवम् ॥

आमशूलप्रशमनो भेदी दीपनपाचनः ॥ १८ ॥

पित्तकफज्वरे अमृताष्टकम् ।—

अमृतारिष्टकटका-मुस्लेन्द्रयवनागरैः ।

पटोलचन्दनाभ्याश्च पिप्पलीचूर्णयुक् शृतम् ॥ २० ॥

अमृताष्टकमेतच्च पित्तश्लेष्मज्वरापहम् ।

क्षुर्योचकहृत्ताम-टाहलणाविनाशनम् ॥ २१ ॥

पित्तकफज्वरे पटोलादिः ।—

(* पटोलं चन्दनं मूर्वा-तिक्तापाठाऽमृतागणः ।

पित्तश्लेष्मज्वरच्छूर्ति-टाहकण्डूविषापहः ॥)

सर्वज्वरे कण्टकार्यादिः ।—

कण्टकारौहयं शुण्ठी धान्यकं सुरदारु च ।

कषायं त्विह पच्यतिक्तं ज्वरं निहन्त्यष्टविधं समथम् ॥* इति । अत्रापि कैरातो योज्यस्त्रिदोषहरत्वात् ॥ १८ ॥

आरम्बधेति ।—आरम्बधादिक्तायः क्षिप्रं शीघ्रं कफवातोद्धवं ज्वरं शमयति । आरम्बधः कृतमालकः, स च चरके फलवर्गे पठितः, मुशुते तु पत्रवर्गे; अतोऽन्तः-परिमार्जने फलं, बहिःपरिमार्जने कृशादौ पत्रमिति । कणामूलं पिप्पलीमूलम् । तिक्ता कटुरोहिणी । अभया हरीतकी । आमशूलप्रशमन इति—आमेनापरिपक्वसेन जनितः शूलस्तस्य प्रशमन इत्यर्थः । अयं गुलः ज्वरस्थैवोपद्रव इत्येके वदन्ति । भेदीति—पक्वमलं भित्त्वा याऽधः पातयति स भेदी । अत एव सकलवेद्यास्तृहसूर्णावस्त्रि-नानेनैव पक्वदोषस्य निर्हरणं कुर्वन्ति ; तस्मादारोग्यपञ्चक इति संज्ञा लीके ॥ १८ ॥

अथ पित्तश्लेष्मज्वरे अमृतेति ।—अमृताष्टकसंज्ञोऽयं क्तायः पिप्पलीचूर्णप्रयुक्तः पित्तश्लेष्मज्वरघ्नी भवति । अमृता गुडूची । अरिष्टी निम्बः । चन्दनमव रक्तचन्दनम् । पिप्पलीचूर्णसत्र निक्षिपेत्, तस्यापकद्वयव्यवहारः, कुतः ? तोषात्वात् । क्षुर्योहयो-ऽप्युपद्रवा अथैव ज्ञातव्याः ॥ २० । २१ ॥

* भक्षिर्माऽयमिति केचित् ।

एभिः शृतं पाचनं स्यात् सर्वज्वरविनाशनम् ॥ २२ ॥

वातश्लेष्मज्वरे दशमूलम् ।—

शालपर्णीपृश्निपर्णी-वृद्धतीक्ष्णगोक्षुरैः । *

वित्वाग्निमत्पश्योनाक-काश्मरीपाटलायुतैः ॥ २३ ॥

दशमूलमिति ख्यातं कथितं तज्जलं पिबेत् ।

पिप्पलीचूर्णसंयुक्तं वातश्लेष्मज्वरापहम् ॥ २४ ॥

सन्निपातज्वरहरं सूतिकादोषनाशनम् ।

शोषशैत्यभ्रमस्वेद-कासश्वासविकारनुत् ॥

हृत्कण्ठग्रहपार्श्वार्त्ति-तन्द्रामस्तकशूलहृत् ॥ २५ ॥

सन्निपातज्वरे षमयादिः ।—

अभयामुस्तधान्याक-रक्तचन्दनपद्मकैः ।

अथ सर्वज्वरेषु पाचनमिदमाह. कण्टकारीति ।—कण्टकारीकाष्ठसंशकं पाचनम् इदं सर्वज्वरहरं भवति । कण्टकारीद्वयमिति—लघुकण्टकारिका वृद्धकण्टकारिका च । सुरदाह देवदाह. सर्वज्वरामलविधिसंज्ञम् । एतत् गोविन्दवक्त्र-संज्ञादिभिः सर्वज्वरेषु पाठितं, तत्र नागरादिपाचनसंज्ञा ॥ २२ ॥

इदानीं सन्निपातज्वरे योग्यचतुष्टयमाह, शालपर्णीति ।—एतच्च दशमूलसंज्ञकं कथितजलं पिप्पलीचूर्णं यथादोषापेक्षया प्रक्षिप्तं सन्निपातज्वरादिकं हन्तीति । शालपर्णी पृश्निपर्णी च प्रसिद्धा, लोके कबाराद्वयमिति संज्ञा । वृद्धतीक्ष्णमिति—कण्टकारीद्वयम् । अग्निमत्पश्योऽरविः । श्लोनाको उच्चविशेषः स्नानास्पृश्यातः । काश्मरी गान्धारी । एतेषां मूलं याक्षा, कुतः ? तत्संज्ञकत्वात् । सूतिका-दोषाऽपि विदोषण एव । * शोषशैत्यादयोऽपि सन्निपातोपद्रवाः, तत्र शोषो मुखशोषः । शैत्यभ्रकानाम् । केचित् श्वासशैत्यमिति पठन्ति, तत्र श्वासः तथा शैत्यश्चाङ्गानामित्यर्थः ॥ २३—२५ ॥ *

अभयेति ।—अभयादिकाद्यः पिप्पलीचूर्णयुक्तविदोषज्वरघ्नी भवति । अभया

* “शोषशैत्य” इत्यत्र “शाखाशैत्य” इति गू० दी० । शाखाशैत्यं वृक्षपाद-
शैत्यम् ।

वासकेन्द्रयवोशोर-गुडूचीकृतमालकैः ॥ २६ ॥

पाठानागरतित्ताभिः पिप्पलीचूर्णयुक् शृतम् ।

पिबेत्सिद्धोषज्वरजित् पिपासाकामदाहनुत् ॥ २७ ॥

प्रलापश्वासतन्द्राघ्नं दौषणं पाचनं परम् ।

विण्मूत्रानिलविष्टम्भ-वमिशोषारुचिं जयेत् ॥ २८ ॥

सन्निपातज्वरे पिप्पल्यादिः ।—

(*पिप्पलीपिप्पलीमूल-चयचित्तकनागरेः ।

वचासातिविषाऽजाजी-पाठावत्सकरेणुकैः ॥

किराततित्ताकं मूर्वा सघ्ना मरिचानि च ।

कटुकं पुष्करं भार्गी विडङ्गं कर्कटाह्वयम् ॥

अकंमूलं बृहत्सिंहो श्रेयसी सदरालभा ।

दीप्यकं चाजमोदा च शुकनासादिहृङ्गभिः ॥

एतानि समभागानि गणोऽष्टविंशको मतः ।

कषायमुपभुञ्जीत वातश्लेष्मज्वरापहम् ॥

हन्ति वातं तथा शीतं क्खेदजं प्रबलं कफम् ।

प्रलापं चातिनिद्राश्च रोमहर्षारुचौ तथा ॥

महावातेऽपतन्त्रे च सर्वगात्रे च शून्यताम् ।

अयं सर्वज्वरान् हन्ति सन्निपातांस्त्रयोदश ॥)

हरीतकी । वासकः पाटकः । उशोरं लणभेदः प्रसिद्धः । कृतमालकः पारम्वथ-
फलम् । पिपासाद्योऽप्यस्यैवोपद्रवाः । प्रलापोऽसम्बद्धभाषणम् । विष्टम्भो वाता-
दीनामप्रवृत्तिः, + “गुडगुडा” शब्द इत्यपरे । एतच्च यन्त्रान्तरे गुडूच्यादिभ्यश्चम्
॥ २६—२८ ॥

* प्रचित्तोऽयमिति कैचित् ।

+ पाटोपो गुडगुडाभ्यानि इति विजयप्रियदासादयः । विष्टम्भस्तु मलवाता-
प्रवृत्तिः ।

सन्निपातज्वरे षष्ठादशाङ्गः ।—

कैरातकटकीमुस्ता-धान्येन्द्रयवनामरैः ।

दशमूलमहादारु-गजपिप्पलिकायुतैः ॥ ३९ ॥

कृतः कषायः पार्श्वार्ति-सन्निपातज्वरं जयेत् ।

कासश्वासवमौहिका-तन्द्राहृद्गुहनाशनः ॥ ३० ॥

वातश्लेष्मज्वरे कट्फलादिः ।—

कट्फलाम्बुदमार्गीभिर्धान्यरोहिषपर्पटैः ।

वचाहरीतकीशृङ्गी-देवदारुमहौषधैः ॥

हिकां कासज्वरं हन्ति श्वासश्लेष्मगलग्रहान् ॥ ३१ ॥

जीर्णज्वरे गुडूचीकायः ।—

क्वाथो जीर्णज्वरं हन्ति गुडूच्याः पिप्पलीयुतः ॥ ३२ ॥

पित्तज्वरे पर्पटादिः ।—

तथा पर्पटजः क्वाथः पित्तज्वरहरः परः ।

कैरातेत्यादि ।—मुनिस्वादिकाथितः कषायः सौपद्रवं सन्निपातज्वरं जयेत् इतीति । कैरातो मुनिश्च एव । दशमूलं प्रविष्टं, तदत्र पृथक् समन्वातं, यतो यन्मानरे षष्ठादशाङ्गसंज्ञकाऽयं गणः । महादारु देवदारु । गजपिप्पलिका चविकाफलं प्रविष्टम् । पार्श्वार्तिरपि विदोषणा स्यात् । हृद्गुहोऽप्येवम् ॥ २९ ॥ ३० ॥

कट्फलैति ।—कट्फलस्त्वग्विशेषः । अम्बुदो मुक्ताम् । रोहिषं नक्षत्रम् । शृङ्गी कर्कटाष्ट्या । महौषधं गुण्डो । ज्वरमत्र विदोषजनितं, तेन कर्णमूलसर्पि रक्ष्यते बहुवचनशङ्कात् । अयं तन्मानरे कासश्वासरीमे पठितः, तत्र मधुहिकु-युत इति पठन्ति । शार्ङ्गधरेण सन्निपातज्वरार्थं मज्जादित्यागेनात्र लिखितः, यतो मज्जाव विरुद्धः ; तथा हि—“सर्वेषु सन्निपातेषु न चोद्रमवधारयेत् । श्रोतोपचारि चोद्रं स्यात् श्रोतचान्न विरुध्यते ॥” इति । चक्रेषामुक्तं—“विरोधुणो मधु त्यक्त्वा कार्येषाऽऽद्रं कजे रसेः” इति ॥ ३१ ॥

अथ जीर्णज्वरे योगद्वयमाह, क्वाथ इति ।—कैवलं गुडूच्याः क्वाथः पिप्पली-चूर्णप्रक्षिप्तः जीर्णं ज्वरं हरतीति । केचित् पिप्पलीयुत इत्यस्य स्थाने मधुसंयुत इति पठन्ति । अथनपि प्रक्षेपः साधुः । तथा पर्पटोद्रवः क्वाथः पित्तज्वरहरी

किं पुनर्यदि युज्येत चन्दनोदीच्यानागरैः ॥ ३३ ॥

जीर्णज्वरे निदिग्धिकादिः ।—

निदिग्धिकाऽमृताशुण्ठी-कषायं पाययेद्विषक् ।

पिप्पलीचूर्णसंयुक्तं श्वासकासादितापहम् ॥

पीनसारुचिवैस्वर्य-शूलजीर्णज्वरच्छिदम् ॥ ३४ ॥

सुतिकाज्वरे ट्वेन्टादिः ।—

(*देवदारु वचा कुष्ठं पिप्पली विश्वभेषजम् ।

कट्फलं मुस्तभूनिम्ब-तिक्तधान्या हरीतकी ॥

गजकणा च दुःस्पर्शा गोक्षरुर्धन्वयामकम् ।

बृहत्पतिविषा किन्ना कर्कटं कृष्णजीरकम् ॥

काथमष्टावशेषन्तु प्रसूतां पाययेत् स्त्रियम् ।

शूलकासज्वरश्वास-मूर्च्छाकम्पशिरोऽर्त्तिजित् ॥)

शीतज्वरे वृद्धं सुद्रादिः ।—

सुद्राधान्यकशुण्ठीभिर्गुडूचीमुस्तपद्मकैः ।

रक्तचन्दनभूनिम्ब-पटोलवृषपौष्करैः ॥ ३५ ॥

भवति ; तत्रेति ग्रहणात् मध्वादिसंयुताऽयमपि बाध्यः । + पित्तज्वरकथनेनैवेतत् प्रायोऽजीर्णज्वर एव (?) कथितः ॥ ३२।३३ ॥

अपरमप्याह, निदिग्धिकेति ।—निदिग्धिकादिकषायः श्वासादिकान् हन्तीति । निदिग्धिका लघुकण्टकारिका । अमृता गुडूची । अर्दितः रोगविशेषः, स च वातरोगं पठितः । वैस्वर्यं विज्ञतस्वरत्वम् । अयमपि प्रायशः सायमुपयोज्यः ; तथा हि —“इत्यर्हगामयं प्रायः सायं तेनोपयुज्यते” इति ॥ ३४ ॥

सुद्रेति ।—वृद्धं सुद्रादिसंज्ञकोऽयं काथः शीतज्वरं हन्तीति । सुद्रा लघुकण्ट-
कारी । भूनिम्बः किरातः । वृषो वासकः । पौष्करं पुष्करमूलम् । इन्द्रयवः

* प्रक्षितोऽयमिति कैचित् ।

+ योगोऽयं चक्रपाणिना पित्तज्वरे एव लिखितः, न तु अजीर्णज्वरे । गुदार्थः
होपिकाकारस्तु “ज्वरोऽत्र जीर्ण एव” इत्याह ।

कटुकेन्द्र्यवारिष्ट-भार्गीपर्पटकैः समैः ।

क्वाथं प्रातर्निषेवेत सर्वशीतज्वरच्छिदम् ॥ ३६ ॥

विषमज्वरे मुक्तादिः ।—

मुस्तक्षुद्राऽमृताशुण्ठी-धात्रीक्वाथः समाक्षिकः ।

पिप्पलीचूर्णसंयुक्तो विषमज्वरनाशनः ॥ ३७ ॥

विषमज्वरे पटोलादिः ।—

पटोलेन्द्र्यवादारु-त्रिफलामुस्तगोस्तनैः ।

मधुकामृतवासानां क्वाथं क्षौद्रयुतं पिबेत् ॥ ३८ ॥

सन्तते मतते चैव द्वितीयकतृतीयके ।

ऐकाहिके वा विषमे दाहपूर्वे नवज्वरे ॥ ३९ ॥

ऐकाहिके पटोलादिः ।—

पटोलत्रिफलानिम्ब-द्राक्षाशम्पाकवासकैः ।

क्वाथः सितामधुयुतो जयेदैकाहिकं ज्वरम् ॥ ४० ॥

तृतीयके गुडूच्यादिः ।—

गुडूचीधान्यमुस्ताभिसृन्दनोशीरनागरैः ।

कृतं क्वाथं, पिबेत् क्षौद्र-सितायुक्तं ज्वरातुरः ॥

कुटजबीजम् । अरिष्टो निम्बः । भार्गी ब्राह्मणशटिका । तन्नात्तरैऽयमपि वात-
कफज्वरं पठितः, यतो वातश्लेष्माभौ शीतोत्पादकौ, यतः,—“त्वक्स्थौ श्लेष्मानिहौ
शीतमादौ जनयतो ज्वरे” इत्यादि वचनं, तस्मात् तत्र शीतज्वरे लिखितः ॥ ३५।३६॥

९दानौ विषमज्वरनाशनाथे योगपञ्चकमाह, मुक्तेति ।—मुक्तादिभिः कृतः
क्वाथः विषमज्वरे प्रशस्तः । अत्र धात्री आमलकी । मधुपिप्पलीः प्रक्षेपः पूर्वमात्रया ।
विषमज्वरा ऐकाहिकादयः ॥ ३७—३९ ॥

पटोलेति ।—पटोलादिः एष क्वाथः ऐकाहिकं ज्वरं हन्तीति । अत्र त्रिफला
ख्याता, सा च प्रत्येकं समाना । शम्पाकः कृतमालकः । सितामधुयुत इति सम्यक्
माधुष्याद्यं प्रक्षेपइयमुक्तं दोषनाशनार्थञ्च ॥ ४० ॥

गुडूचीति ।—गुडूच्यादिः तृतीयज्वरं हन्तीति । अन्दनमव रक्तम् । उशीरं दण-
शेदः रक्तपत्रं दर्भवत् । केचिदुशीरस्थाने उदीच्यमिति पठन्ति, ततोदीच्यो बालकः

तृतीयज्वरनाशाय तृणादाहनिवारणम् ॥ ४१ ॥

चातुर्थके देवदार्वदिः ।—

देवदारुशिवावासा-शालपर्णीमहौषधैः ।

धात्रीयुतं शृतं शीतं दद्यान्मधुसितायुतम् ॥

चातुर्थकज्वरे श्वासे कासे मन्दानले तथा ॥ ४२ ॥

ज्वरातीसारं ढङ्गुल्यादिः ।—

गुडूचीधान्यकीशीर-शुण्ठीबालकपर्पटैः ।

विल्वप्रतिविषापाठा-रक्तचन्दनवल्सकैः ॥ ४३ ॥

किरातमुस्तेन्द्रयवैः क्षयितं शिशिरं पिबेत् ।

सक्षौद्रं रक्तपित्तघ्नं ज्वरातीसारनाशनम् ॥ ४४ ॥

ज्वरातीसारे नागरादिः ।—

नागरं कुटजो मुस्तममृताऽतिविषा तथा ।

एभिः क्षतं पिबेत् काथं ज्वरातीसारनाशनम् ॥ ४५ ॥

सुश्रीतलत्वात् ; यतः,—“पित्प्रायस्तृतीयकः” इत्युक्तम्, अती व्यजनादिना हितं शीतगुणम् ॥ ४१ ॥

देवदार्विति ।—देवदार्वदिकाद्योऽयं चातुर्थकज्वरे प्रशस्तः । शिवा हरीतकी । वासा आटकषकः । सहौषधं शुण्ठी । धात्री आमलकी । शृतमिति—क्षयितम् । शीतं हिमस्पृशं, मधुप्रक्षेपजनितत्वात्, तथा हि—“उष्णैर्विदूष्यते सर्वं विषान्वयतया मधु । उष्णार्त्तमुष्णैरुष्णे वा तन्निहन्ति यथा विषम् ॥” (सु० सू० ४५ अ०) इति ॥ ४२ ॥

अथ ज्वरातीसारे योगद्वयमाह, गुडूचीति ।—गुडूच्यादिकोऽयं गणः । अत्र बल्सकः कुटजत्वक्, कुटजत्वग्भावे शक्त्यथा एव द्विगुणाः यास्याः, लघुत्वात् पाचनत्वाच्च । किरातो भूमिम्बः । शिशिरं शीतस्पृशम् । एष ढङ्गुल्यादिसंश्लक्षणा-नारेऽवबोद्धव्यः ॥ ४३।४४ ॥

नागरमिति ।—नागरादिकाद्यो ज्वरातीसारनाशनी भवति ।* कुटजोऽत्र कुटज-

* कुटजशब्देन अविशेषीकृतौ सर्वत्र कुटजत्वमेव गृह्यते, न तु कुटजबीजम्, अत्र तु, तन्नागरे बल्सक-कलिङ्गादिप्रयोगदर्शनात् कुटजबीजमेव याच्यमिति पाठ-करणमुचितम् ।

आमशूले धान्यपञ्चकम् ।—

धान्यबालकवित्वाद्-नागरैः साधितं जलम् ।

आमशूलहरं ग्राहि दीपनं पाचनं परम् ॥ ४६ ॥

आमवाते धान्यनागरकायः ।—

धान्यनागरजः कायः पाचनो दीपनस्तथा ।

एरण्डमूलयुक्तश्च जयेदामानिलव्यधाम् ॥ ४७ ॥

सामरक्तातिसारं वत्सकादिः ।—

वत्सकातिविषावित्स्व-मुस्तबालकजः शृतः ।

अतीसारं जयेत् सामं चिरजं रक्तशूनजित् ॥ ४८ ॥

फलम्, एवमविशेषोक्तौ सर्ववातीसारैः । केचित् “भृगुनित्वातिविषाऽमृता” इति पठन्ति ; तच्च भृगुनित्वाः किरातः ; उक्तञ्च तन्नागरे,—“नागरातिविषासुखा-भृगुनित्वास्तवत्सकेः । सर्वज्वरहरः कायः सर्वातीसारनाशनः ॥” इति ॥ ४६ ॥

अथ आमशूले धान्येति ।—इदं धान्यपञ्चकसंज्ञकं कथितरूपम् आमशूलहरं भवति । विलम्बं विलम्बलाटः, सङ्ग्राहिवात् ; एवं सर्वे स्तब्धनयोगे । अष्टौ मुस्तकम् । केचिदिति पठन्ति—“पित्ते धान्यचतुष्कन्तु शृण्ठीत्यागाहदन्ति हि” । एतदभिप्रायः न सर्वमतः ; यतः,—“शृण्ठी मधुरपाकित्वाद् च पित्तप्रकोपिणी” इति वचनम् ॥ ४६ ॥

अथ आमवाते धान्येति ।—एतदपि पाचनम् आमवातपीडा जयेत् । एतदन्ध-वाष्पामवाते आमे वा विबन्धेऽपि पाचनसंज्ञं मानान्यम् ; तथा कृत्तुं—“धान्यनागर-वातारि-मूलं कथितशीतलम् । आमशूलविवन्धघ्नं शृतं दीपनपाचनम् ॥” इति ॥ ४७ ॥

अथातीसारं योगचतुष्टयमाह, वत्सकेत्यादि ।—वत्सकादिकायः अतिसारं जयेत् इति । वत्सकः * कुटजफलम् । साममतीसारं चिरजं चिरकालानुबन्धि । शेषं सुगमम् ॥ ४८ ॥

* अथ श्रीशिवदासः,—“वत्सकादौ वत्सकः कुटजः, तस्य त्वक् इति चन्द्र-कलाटीकाकारः वैद्यप्रसारकश्च । अन्ये तु—“विल्लशक्यवाष्पाद्-बालकातिविषा-कृतः । कषायो हन्यतीसारं सामं पित्तसमुद्भवम् ॥” इति सुश्रुतसंवादात् फल-मेवेत्याहुः, किन्तु प्रायो व्यवहारस्त्वेषा । फलेनापि ज्वरं रक्तप्राबल्ये च ; यदुक्तं—“कुटजः कफघातासृक्त्वदोषोऽर्शोऽतिसारजित् । तद्वीजं रक्तपित्तातीसारज्वर-हरं हिमम् ॥” इति ।

सामरक्तातिसारं कुटजाष्टकम् ।—

कुटजातिविषापाठा-धातकीलोभ्रमुस्तकैः ।

क्रीवेरदाडिमयुतैः कृतः कषायः समाक्षिकः ॥ ४८ ॥

पेयो मोचरसेनैव कुटजाष्टकसंज्ञकः ।

अतीसारान् जयेद्दाड-रक्तशूलामदुस्तरान् ॥ ५० ॥

अतिसारं क्रीवेरादिः ।—

क्रीवेरधातकीलोभ्र-पाठालज्जालुवत्सकैः ।

धान्यकातिविषामुस्ता-गुडूचीविल्वनागरैः ॥ ५१ ॥

कृतः कषायः शमयेदतीसारं चिरोत्थितम् ।

अरोचकामशूलास्र-ज्वरघ्नः पाचनः स्मृतः ॥ ५२ ॥

वाक्पातीसारं धातक्यादिः ।—

धातकोविल्वरोध्राणि बालकं गजपिप्पली ।

एङ्गैः कृतं शृतं शीतं शिशुभ्यः क्षौद्रसंयुतम् ॥

प्रदद्यादबलेहं वा सर्वातीसारशान्तये ॥ ५३ ॥

कुटजेति ।—कुटजाष्टकोऽयं कषायः अतीसारान् जयेत् । अतीसारानिति बहुवचन-
त्वेन समविधानित्यर्थः । कुटजः इन्द्रियः । धातकी धातकीकुसुमानि, व्यवहारात् ।
क्रीवेरं बालकम् । दाडिमं * दाडिमफलम् । मोचरसः शालालीनिर्यासः, स चात्र
प्रलेपे । मज्जेपि प्रलेपः । अष्टयङ्गण यथाशान्तिषेधार्थम् ॥ ४८।५० ॥

क्रीवेरेति ।—क्रीवेरादिकोऽयं कषितः कषायश्चिरोत्थितमतीसारं जयेत् । क्रीवेरं
बालकम् । लज्जालुः खनामन्धातः । वत्सकः कुटजः । अत्र पाठा गुडूची चेति
द्रव्यद्वयमधिकं लिखितमन्यनिबन्धात्, न दोषो ज्वरनाशनाथम् । शेषं सुत्रार्थम्
॥ ५१।५२ ॥

धातकीति ।—धातक्यादिभिः शृतं कषितं, शीतं स्पर्शितम् । अत्र धातक्याः कुसु-
मानि । गजपिप्पली प्रसिद्धा । क्षौद्रसंयुतमिति—मधुप्रक्षिप्तम् । अबलेहं वेति—
एतेषां चूर्णं कृत्वा मधुना प्राप्य बालकेभ्योऽबलेहं वा दद्यात् ॥ ५३ ॥

ग्रहण्यां शालपर्ण्यादिः ।—

शालपर्णीबिलावित्त्व धान्यशुण्ठीकृतः शृतः ।

आधानशूलसहितां वातजां ग्रहणीं जयेत् ॥ ५४ ॥

ग्रहण्यां गुडूच्यादिः ।—

गुडूच्यातिविषाशुण्ठी-मुस्तैः काथः कृतो जयेत् ।

आमानुषक्तां ग्रहणीं ग्राही पाचनदीपनः ॥ ५५ ॥

जतिसारे यवादिः ।—

यवधान्यपटोलानां काथः सचौद्रशर्करः ।

योज्यः कुर्यात्तिसारेषु विल्वाम्नास्थिभवस्तथा ॥ ५६ ॥

क्षिमिरोमे त्रिफलादिः ।—

त्रिफला देवदारुश्च मुस्ता मूषककर्णिका ।

शिशुरेतैः कृतः काथः पिप्पलीचूर्णसंयुतः ॥

विडङ्गचूर्णयुक्तश्च क्षमिन्नः क्षिमिरोगहा ॥ ५७ ॥

इदानीं ग्रहणीशालये योग्ययमाह, शालपर्णीत्यादि ।—शृतः कथितः । शालपर्णीं प्रविष्टा । बला च प्रविष्टा, “सामस” इति लोके । आधान सदरापूरः । मूलोऽग्रामनितबोद्धा, “कुरकुरौ” इति लोके ॥ ५४ ॥

गुडूचीति ।—आतुर्भेदसंशयोऽयं काथः । अत्र गुडूच्यादयो विख्याता एव ॥ ५५ ॥
यवेति ।—कुर्यात्तिसारे योग्ययमपि, तद्वयथा—इन्द्रयवादीनां काथः सचौद्रशर्करः एको योगः । बिल्वाम्नास्थिभवः काथो द्वितीयः । अत्रापि सचौद्रशर्कर इति सम्बन्धः नीयतेति पदवात् । * यवोऽत्र कुटजबीजम् । चोद्रशर्कराप्रचेषः साधुः । कर्दिरवाती-सारलोपद्रवः । † बिल्वमत्र बिल्वमूलम् ; यतः,—“बिल्वमूलं मरुक्कुण्ड-च्छदिघ्नं न च पित्तकृत्” इति; तदभावे फलमिति सर्वत्र । आम्नास्थि आमफलमज्जा ॥ ५६ ॥

अथ क्षिमिरोमे त्रिफलेति ।—त्रिफला हरीतक्याह । मूषककर्णिका इति—वाति-भेदाः (?) । शिशुः शोभाजनकः । पिप्पलीविडङ्गचूर्णप्रचेषे । क्षमिन्नी वाङ्माध्यन्तर-क्षमिणाशनः । क्षमिरोमः क्षमिजनिहृद्रोगकुष्ठादः ॥ ५७ ॥

* यवोऽत्र इन्द्रयवाची इति तु शिवदासेन न व्याख्यातम् ।

† बिल्वमण्डेन बिल्वमूलमित्यपि शिवदासेन नोक्तं, किञ्च बिल्वमूलस्य कर्दिर-हरेत्येवमपि अत्राशङ्क्यत्वात् अतिसारहरयोमे तत्प्रयोगो न मनोरमः ।

किमिरीगे फलनिष्कादिः ।—

फलत्रिकामृतातिक्ता-निम्बकैरातवासकैः ।

जयेन्मधुयुतः काथः कामलां पाण्डुतां तथा ॥ ५८ ॥

पाण्डुशीथे पुनर्नवादिः ।—

पुनर्नवाऽभयानिम्ब-^{*} दार्वीतिक्तापटोलकैः ।

गुडूचीनागरयुतैः काथो गोमूत्रसंयुतः ॥

पाण्डुकासोदरश्वास-शूलसर्वाङ्गशोथञ्चा ॥ ५९ ॥

रक्तपित्ते वासादिः ।—

वासाद्राक्षाऽभयाकाथः पीतः सचौदशर्करः ।

निहन्ति रक्तपित्ताग्नि-श्वासकासान् सुदारुणान् ॥ ६० ॥

रक्तपित्तादो वासाकाथः ।—

रक्तपित्तं क्षयं कासं श्लेष्मपित्तज्वरं तथा ।

केवलो वासककाथः पीतः चौद्रेण नाशयेत् ॥ ६१ ॥

अथ कामलायां फलेति ।—तिक्ता कटुरीक्षणी । कैरातो भृत्निम्बः । पाण्डुता-
निति—पाण्डुरीगम् ॥ ५८ ॥

सर्वाङ्गशोथे पुनर्नवेति ।—पुनर्नवा वर्षाभूः, “साठ” इति लोके । दार्वी दाह-
हरिद्रा । तिक्तशब्देन कटुको ग्राह्या, न तु तिक्तं पटोलं, समासान्तत्वात् तिक्ताया
ऋसत्वम् । गोमूत्रेणैव शृतः काथ इति मन्थने केचित्, तन्न युक्तम्; मूत्रं प्रक्षेपे
साधु व्यवहारात् ॥ ५९ ॥

अथ रक्तपित्ते वासेति ।—वासा आटकषणः । अभया हरीतकी । रक्तपित्ताग्निः
रक्तपित्तव्यथा । श्वासं कासञ्च सुदारुणं दुःसाध्यम् ॥ ६० ॥

रक्तपित्तमिति ।—अपरञ्च—वासककाथः केवलो इति—वासकोऽयं पञ्चाङ्गो
ग्राह्यः । चौदशं प्रक्षेपे । नाशयेदिति रक्तपित्तादिकान् ॥ ६१ ॥

* अकसङ्गुहो दाह इति पाठः, न तु दार्वी । दाह देवदाह इति च शिव-
दाहव्याख्या । अक्रादो तिक्ता इति पाठः, न तु तिक्तः, किञ्च “समासान्तत्वात्
तिक्ताया ऋसत्वम्” इति टीकाकारोक्तिरपि न समीचीना, समासान्तत्वाभावात् ।
गूढाद्यदोषिकाकारेण तिक्ता इत्येव पाठः स्वीकृतः । अक्रोतेऽस्मिन् योरी गोमूत्र-
प्रक्षेपो भावि ।

कासे वासादिः ।—

वासाक्षुद्राऽमृताकायः क्षौद्रेण ज्वरकासहा ।

कासघ्नः पिप्पलीचूर्ण-युक्तः क्षुद्राशृतस्तथा ॥ ६२ ॥

कासे क्षुद्रादिः ।—

क्षुद्राकुल्यवामाभिर्नागरेण च साधितः ।

कायः पौष्करचूर्णाढ्यः श्वामकासौ निवारयेत् ॥ ६३ ॥

हिक्यां रेणुकादिः ।—

रेणुकापिप्पलीकाथो हिङ्गुक्लृप्तेन संयुतः ।

पानादेव हि पञ्चापि हिक्का नाशयति क्षणात् ॥ ६४ ॥

कुर्यां योगवयम् ।—

विल्वत्वचो गुडूच्या वा कायः क्षौद्रेण संयुतः ।

जयेत्त्रिदोषजां कृदिं पर्पटः पित्तजां तथा ॥ ६५ ॥

कासे योगवयमाह वासाक्षुद्रेति ।—क्षुद्रा लघुकण्टकारिका । अमृता गुडूची । क्षौद्रेणेति—क्षौद्रप्रचपः । ज्वरकासहेति—ज्वरोपद्रवयुक्तकासहा । कासघ्न इति—द्वितीयस्तु कायः केवलं पञ्चाङ्गकण्टकारिकायाः कृतः पिप्पलीचूर्णप्रक्षिप्तश्च । तथेति यद्विषादवापि * मधुप्रक्षेपमाहुः ॥ ६२ ॥

श्वामकासेऽपरमण्याह, क्षुद्रेति ।—कुल्योऽग्नविशेषः प्रसिद्ध एव । नागरं गृह्यते । पौष्करचूर्णाढ्य इति—पुष्करमूलचूर्णप्रचपः; पुष्करमूलाभावे कुष्ठं यावन्मिति व्यवहारः ॥ ६३ ॥

अथ हिक्कायां रेणुकेति ।—रेणुका क्षौलीति पर्यायनाम्ना प्रसिद्धा । निर्गुण्यो-
भोजानि रेणुकाशब्दवाच्यानि इत्येके । व्यवहारादेव हिङ्गु भर्जितं, “भर्जितं देयं
हिङ्गु नोक्तं दण्डवेत” इति वचनम् । क्लृप्तेष्वने चूर्णमिति पठन्ति केचित् । पञ्चेति—
पञ्चजादयो विख्याताः । क्षणादिति यद्विषोनास्य दृष्टफलत्वं दर्शितम् ॥ ६४ ॥

अथ कुर्यां विल्वत्वच इति ।—एतत् योगवयं क्षौद्रयुक्तं कृदिं जयेदिति । किं तत्
वयम् * विल्वत्वचः काय एको योगः, गुडूच्याः कायो द्वितीयः, पर्पटोऽवसृतीय
इति । विल्वत्वचः विल्वमूलवल्कलस्य, कृदिंहरत्वान् ; तथा हि—“विल्वमूलं मरुच्छे-
च्छर्दिप्रे न च पित्तकृत्” इति । ननु गुडूची सुशुते शाकवर्गे कफपित्तहरत्वेनोक्ता, तत्

गृध्रस्यां दशमूलकायः निर्गुण्योकायश्च ।—

हिङ्गुपुष्करचूर्णाभ्यां दशमूलशृतो जयेत् ।

गृध्रसीं केवलः काथः शेफालीपत्रजस्तथा ॥ ६६ ॥

आमवाते रास्त्रापचक्रम् ।—

रास्त्राऽमृतामहादारु-नागरैरण्डजैः शृतम् ।

सप्तधातुगते वाते सामे सर्वाङ्गजं पिबेत् ॥ ६७ ॥

आमवाते रास्त्रामभक्रम् ।—

रास्त्रा गोक्षुरकैरण्ड-देवदारु पुनर्नवा ।

गुडूच्यारग्वधस्यैव काथमेषां विपाचयेत् ॥ ६८ ॥

शुण्ठीचूर्णेन संयुक्तं पिबेज्जङ्घाकटौघहे ।

पार्श्वेष्टृष्ठोरुपीडायामामवाते सुदुस्तरे ॥ ६९ ॥

कथं तस्याः काथो वातजाया शक्तत्वेन प्रदर्शितः ? उच्यते—अत्र मधुसंयोगीदृश्येन तद्व्यतिवृत्तिविशेषात्, किंवा श्राकवर्गे तत्प्रत्युक्तं, खता तु वातमपि शमयति इति न दोषः । अत्र तु गुडूच्याः काथः सुशोतला श्रेयः ; सक्तञ्च—“क्षिप्ररुद्धायाः काथ सुशोतलं य. पिबेन्मधुना । कुट्टिं स वातपित्तश्लेष्मसमुत्थां निवारयति ॥” इति । तथोक्तं गृध्रणात् पर्यटकाद्येऽपि मधुपचये. ॥ ६५ ॥

अथ गृध्रस्यां शोणद्वयमाह, हिङ्गुपुष्करेति ।—दशमूलं विख्यातम् ; तद्व्यति—“शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका । तथा गोक्षुरकस्यैव पञ्चमूलं खड्ग शृतम् ॥ बिल्वोऽग्निमन्यः श्यामाकः काश्मरी पाटला तथा । इदं सङ्गत् पञ्चमूलं दशमूलमुभे शृतम् ॥” इति । शेफाली निर्गुण्यो, तस्याः पत्राणि । तथेति गृध्रणादत्रापि हिङ्गुपुष्करमूलचूर्णपचयेऽपि विज्ञेयः ॥ ६६ ॥

अथ वातविकारिषु योगानाह, रास्त्रेति ।—इदं रास्त्रापचक्रसंज्ञकं शृतं काथं पिबेत्, आतु । इति शेषः । रास्त्रा सुरभिः । महादारु देवदारु । एरण्डम् एरण्डमूलम् । सप्तधातवः रसाद्याः शुक्रान्ताः । आमवातोक्तत्वादन विरेकाथे रुजुतेलं प्रक्षिपति केचिद्विशिष्टाकाः ; तदुक्तम्—“आमवातगजेन्द्रस्य शरीरवन्धारिणः । एक एवाग्रयो-
ज्यता स्त्रैरण्डस्यैव शरी ॥” इति ॥ ६७ ॥

रास्त्रेति ।—रास्त्रासप्तकसंज्ञकोऽयं काथः । रास्त्रा सुरभीति लोके । एरण्ड एरण्ड-
कटा । आरग्वध. कतमाश्वजः । शुण्ठीचूर्णस्य प्रचये । जङ्घाघ्ने कटौघहे वा, पार्श्वे-

वातव्याधौ महारास्त्रादिः ।—

रास्त्रा द्विगुणभागा स्यादेकभागास्ततः परे ।
 धन्वयासबलैरण्ड-देवदारुशटीवचाः ॥ ७० ॥
 वासको नागरं पथ्या चव्यं मुस्ता पुनर्नवा ।
 गुडूची वृद्धदारुश्च शतपुष्पा च गोक्षुरः ॥ ७१ ॥
 अश्वगन्धा पतिविषा कृतमालः शतावरी ।
 कृष्णा सहचरश्चैव धान्यकं बृहतीद्वयम् ॥ ७२ ॥
 एभिः कृतं पिबेत् कार्यं शुगठीचूर्णेन संयुतम् ।
 कृष्णाचूर्णेन वा योग-राजगुग्गुलुनाऽथवा ॥ ७३ ॥
 अजमोदादिना वाऽपि तैलेनैरण्डजन वा ।
 सर्वाल्लकम्पे कुञ्जत्वे पक्षाघातेऽवबाह्वके ॥ ७४ ॥
 गृध्रम्यामामवाते च श्लोपदे चापतानके ।
 अन्तवृद्धौ तथाऽऽधाने जङ्घाजानुगतेऽर्दिते ॥ ७५ ॥
 शुक्रामये मेद्वरोगे बन्ध्यायोन्ध्यामयेषु च ।
 महारास्त्रादिराख्यातो ब्रह्मणा गर्भकारणम् ॥ ७६ ॥

क्षनादिगतशूलैः परण्डसप्तकम् ।—

एरण्डो बीजपूरश्च गोक्षुरो बृहतीद्वयम् ।
 अश्वमेढस्तथा विल्व एतन्मूलैः कृतः शृतः ॥ ७७ ॥

पौष्ठा पृष्ठपौष्ठा ऊर्ध्वपौष्ठेतिथः । सुदुस्तरं इति कष्टमाद्ये । अर्वापि केचिद्वैरण्डतैल-
 प्रक्षेपमाहुः ॥ ६८६८ ॥

रास्त्रा द्विगुणभागेति ।—द्विगुणभागा रास्त्राऽत्र पठन्ति, एतदपि मनीष्वरं न
 दोषः । अपरं धन्वयासादयः एकभागाः प्रत्येकम् । धन्वयासः दूरालभा । शटी
 कर्चूरभेदः । वृद्धदारुः निःसृताभेदः । कृतमालः राजवृक्षफलम् । कृष्णा पिप्पली ।
 सहचरः कुरण्टकः । बृहतीद्वयमिति—लघुकण्टकारिका बृहत्कण्टकारिका चेति ।
 प्रक्षेपश्चात्र यथादीर्घं यथाव्याधि च योजनीयः । योगराजगुग्गुलुदाद्याऽथ बन्ध्यामाणा
 ज्ञेयाः । पञ्चवैति गृध्रणात् प्रक्षेपाद्यैः बालुत्ववादिचूर्णम् आभाद्यं वा शयान्तरादव-
 श्यत्वम् । शोधं सुगमम् ॥ ७०—७६ ॥

एरण्डसप्तकं सम्प्रत्याह, एरण्ड इति ।—एरण्डादीनां मूलैर्जटाभिः कृतः काष्ठः

एरण्डतैलहिङ्गवाढ्यः सगवच्चारमेन्धवः ।

स्तनस्कन्धकटौमेद्र-हृदयोऽं व्यथां जयेत् ॥ ७८ ॥

वातशूलं नागरादिः इन्द्रियवक्त्राथ ।—

नागरैरण्डजः काथः काथ इन्द्रियवस्य च ।

हिङ्गुमीवर्चलोपेनो वातशूलनिवारणः ॥ ७९ ॥

पित्तशूलं त्रिफलादिः ।—

त्रिफलाऽऽरग्वधकाथः शकराक्षोद्वसंयुतः ।

रक्तपित्तहरो दाह-पित्तशूलनिवारणः ॥ ८० ॥

कफशूलं एरण्डमूलकाथः ।—

एरण्डमूलं द्विपलं जलेऽष्टगुणिते पचेत् ।

तत्काथो यावशूकाढ्यः पाश्वेहृत्कफशूलहा ॥ ८१ ॥

उक्तप्रक्षेपयुक्तः स्तनस्कन्धादिगतपीडां जयेदिति । अतःश्लेधः पाषाणभेदः । हिङ्गु अत्र भर्जितम् । नमुदायप्रक्षेपे द्रव्याणां मानामदं वदन्त्येते, तदुच्यते—“चारसैन्धवचूर्णाणां माषैकैकं प्रयोजयेत् । माषाद्वै हिङ्गुचूर्णञ्च तैलं माषचतुष्टयम् ॥” इत्यादि ॥ ७७।७८ ॥

अथ शूलं बातादिनिमित्तजं योगवयसाह, नागरत्यादि ।—एतत् योगद्वयं वातशूलं प्रशस्तम् । नागरे गुण्डी । एरण्डम् एरण्डमूलम् । इन्द्रियवः कटजव्रीजम् । केचित् द्रव्य-वयेणापि योगमकं वदन्ति; तथा हि—“हिङ्गुपुष्करमूलाभ्यां हिङ्गुसौवर्चलेन वा ।

* विश्वैरण्डवक्त्राथः पीतः शूलनिवारणः ॥” इति ॥ ७९ ॥

विफलेति ।—अयं काथः पित्तशूलं विहितः । विफला प्रसिद्धा । आरग्वधः कृत-साञ्जकः । केचित् इव रक्तपिनीपशमनाथे विफलाशब्देन द्राक्षादिकं लिपन्ति; तथा ह्युक्तं—“द्राक्षाकः श्लेष्मज्ज्वरं फलानीति फलविक्रमः । इयं पीक्ता द्वितीया च विफला चर-कादिभिः । फलविक्राणां योगोऽयं चरकाद्युक्तपैक्तिके ॥” इति ॥ ८० ॥

एरण्डेति ।—अयं काथः कफशूलं प्रशस्तः । द्विपलमिति कफस्य दुर्जयत्वात् । जले-ऽष्टगुणिते इति—द्रव्यभागापेक्षिते । यावशूकाढ्य इति—यवचारचूर्णप्रक्षेपः । पाश्वे-शूलं, हृच्छूलं, कफशूलमेति, कफशूलं कफजनितशूलम् ॥ ८१ ॥

* “विश्वैरण्डवक्त्राथः” इत्यव्ययीक्यवशब्दस्य इन्द्रियवति व्याख्या शिवदासादिभिः केरपि न कृता, अतः नागरैरण्डजः इत्याद्युक्तयोगेन सङ्ग अस्य ऐक्यबोधिका व्याख्या चिन्त्या ।

हृद्रोगादौ दशमूलकायः ।—

दशमूलकतः काथः मयवक्षारसैश्वरः ।

हृद्रोगगुल्मशूलानि कामं श्वासञ्च नाशयेत् ॥ ८२ ॥

मूलकञ्चे हरीतकादिः ।

हरीतकीदुरालभा-कतमालकगोक्षुरैः ।

पाषाणभेदसहितैः काथो मार्त्तिकसंयुतः ॥

विवस्ने मूलकञ्छे च सदाहे सर्ज्जे हितः ॥ ८३ ॥

अग्रमर्त्या वीरतरादिः ।—

* वीरतरो वृक्षवन्दा काथः सहचरत्रयम् ।

कुशद्वयं नली गुन्द्रा वकपुष्पोऽग्निमन्यकः ॥ ८४ ॥

मूर्वा पाषाणभेदश्च श्योनाको गोक्षुरस्तथा ।

अपामार्गश्च कमलं ब्राह्मी चेति गणो वरः ॥ ८५ ॥

वीरतरादिरित्युक्तः शर्कराऽश्मरिक्तञ्छुहा ।

मूत्राघातं वायुरोगान्नाशयेन्नखिलानपि ॥ ८६ ॥

दशमूलैति ।—दशमूलं प्रसिद्धम् । यवक्षारसैश्वर्यपूर्णप्रसिद्धोऽयं काथो हृद्रोगादीन् हन्तीति ॥ ८२ ॥

हरीतकीति ।—मूलकञ्चे हरीतकादिसंज्ञकोऽयम् । अत्र दुरालभा यवामकः । पाषाणभेदः प्रतीतः, “वज्जेतो” इति लोके । मार्त्तिकसंयुत इति—मधुप्रक्षेपः । विवस्ने अप्रवर्त्तने । केचित् पाषाणभेदसहितैरित्यत्र “पाषाणभेदावुटिभिः” इति पठन्ति, तत्र वुटिरेला । अयमपि साधुः ॥ ८३ ॥

वीरतर इति ।—अथाश्मरीरोगे वीरतरादिसंज्ञकोऽयं गणः वरः श्रेष्ठः उक्तः कथितः, मूर्वाभिरिति शेषः । वीरतरः उशीर इति लोके शरी वा । वृक्षवन्दा वृक्षादयो । काथः प्रसिद्धः । सहचरत्रयमिति—कुरण्टकद्वयं, तच्च पीतरक्तनील-कुसुमभेदेन बोद्धव्यम् ; तथा चूतं—“पीतो रक्तोऽथ नीलश्च कुसुमेन विभावयेत् ।

* “वीरतरः” इत्यत्र “वीरतरः” इति पाठोऽपि स एवास्ति ; केचित् वीरतरवृक्षतर इति नाम्ना प्रसिद्धः जाङ्गलदेशे नर्मदातटे चर्मखतीनदीसमीपे च । तल्लक्षणं यथा—“वेङ्गलरो जगति वीरतरः प्रसिद्धः श्वेतासितारुणविलोहितपीतपुष्पः । आजातितुल्यकुसुमः शमिमुखपत्रः स्यात् कण्टकी विजलदेशज एषः उच्चः ॥” इति ।

अश्रम्याम् एलादिः ।—

एलामधुकगोकण्ट-रेणुकैरण्डवासकाः ।

कृष्णाऽश्रमभेदसहिताः काथ एषां सुसाधितः ॥

शिलाजतुयुतः पेयः शर्कराऽश्रमरिक्तच्छहा ॥८७॥

मूवकृक्क गोक्षुरमूलकाथः ।—

समूलगोक्षुरकाथः सितामाक्षिकसंयुतः ।

नाशयेन्मूत्रकृच्छ्राणि तथा चोष्णसमीरणम् ॥८८॥

प्रमेहे वरादिवत्सकादिभ्यः ।—

वराटार्यब्दटारूणां काथः क्षौद्रेण मेहहा ।

वत्सकत्रिफला टार्वी मुस्तकी वौजकस्तथा ॥८९॥

पौतः कुरवटकी ज्ञेयो रक्तः कुरवकः स्मृतः ॥ नीलपातंगलः प्रोक्तो नामतः परि-
कीर्तितः ॥” इति । कुशद्वयमिति —टर्भद्वयं, हरितरक्तपत्रभेदेन । नलः नलसरः ।
गुन्दा * पट्टेरुभेदः । वक्त्रपथो वक्त्रकः, सामसभेदो वा । अग्निमन्थोऽरणिः । मूर्वा
चोरसायुः । पाषाणभेदः “वज्रिती” इति प्रसिद्धः । कमलमञ्च रक्तम् । ब्राह्मी
स्वनामख्याता । शिपं सुबोधम् ॥ ८४—८६ ॥

अपरमप्याह, एलामधुकेति ।—एलादिकोऽयं योगः । अथ मधुकं मधुयष्टी ।
गोकण्टकी गोक्षुरकः । रेणुका प्रसिद्धा । अश्रमभेदः पाषाणभेदः । सुसाधित इति—
सम्यक् कथितः । शिलाजतु प्रक्षेपे साधु, तत्तु माषजतुयुतं व्यवहारात् । कृच्छहेति
—मूवकृक्कगोक्षुर इत्यर्थः ॥८७॥

समूलगोक्षुरेति ।—अयं पञ्चाङ्गगोक्षुरकाथोऽपि सितामधुप्रक्षेपः द्वितीयः मूव-
कृक्कनाशनो ज्ञेयः । उष्णसमीरणमिति—मूवासातभेदः ॥ ८८ ॥

वरिति ।—एतद्व्योमद्वयं प्रमेहेषु सम्यक्तम् । किं तद्व्ययम् ? एको वरादिः, अपरो
वत्सकादिरिति । वरा अथ त्रिफला । टार्वी टारुहरिद्रा । अब्दी सुस्तकम् । टारु

“सहचरद्वयम्” इत्यत्र “सहचरो” इति चक्रवृत्तपाठः; “सहचरो किण्टोद्वयम्”
इति शिवदासव्याख्या । सुश्रुतेऽपि सहचरद्वयमिति पाठः । किञ्च अत्रोक्तेषु
मूर्वाऽपामार्ग-कमल ब्राह्मी इत्येतेषु ख्यानेषु सुश्रुते चक्रवृत्ते च मोरटा-वशिर-
कुरवटकेन्द्रीवर-कपोतवक्त्रकाः इत्येते पाठभेदा दृश्यन्ते ।

* “गुडूची” इति शिवदासव्याख्या ।

प्रमेहे फलत्रिकादिः ।—

फलत्रिकाब्ददार्वीणां विशालायाः शृतं पिबेत् ।

निशाकल्कयुतं सर्वं प्रमेहविनिवृत्तये ॥ ६० ॥

प्रदरे दान्यादिः ।—

दार्वी रसाञ्जनं सुस्तं भस्मातः श्रीफलं वृषः ।

कैरातश्च पिबेदेषां क्वाथं शीतं समाक्षिकम् ॥

जयेत् सशूलं प्रदरं पीतश्चेतासितारुणम् ॥ ६१ ॥

व्रणरोगे न्यग्रोधादिः ।—

न्यग्रोधप्लक्षकोशाम्बेतसा बदरी तुण्डिः ।

मधुयष्टौ पियालश्च रोध्रद्वयमुडम्बरः ॥ ६२ ॥

पिप्पलश्च मधूकश्च तथा पारिशपिप्पलः ।

शङ्खको तिन्दुको जम्बू-द्वयमास्त्रतरुः शिवा ॥ ६३ ॥

देवदारु । एतेषां क्वाथो मधुप्रक्षेपः । द्वितीयः,—वत्सकः कुटजः । बीजकोऽशनो हृच्चविशेषः । तथेति यङ्गणादयमपि मधुप्रक्षेपो व्यवहितये ॥ ५९ ॥

अपरश्च फलत्रिकादिप्रयोगः, फलत्रिकातः ।—अब्दा मुक्ता । दार्वीं दारुहरिद्रा । विशाला इन्द्रवारुणी । निशा हरिद्रा, तस्याः कल्कः प्रक्षेपः । अत्र मधुपि पक्षिपल्यैर्न व्याधिर्विहितत्वात् ॥ ६० ॥

अथ प्रदरे दार्वीति ।—दान्यादिकोऽयं गणः । अस्य क्वाथं शीतं स्पृशन्त, अत एव समाक्षिकं मधुप्रक्षेपम् । दार्वीं दारुनिशा । रसाञ्जनं प्रतीतं, तच्च दार्वाक्वाथ-समुद्भवमिति वदन्ति । भस्मातो भस्मातकफलं, तदसहत्वे रक्तचन्दनमिति । श्रीफलं विल्वम् । वृष आटरुषकः । कैरातो भ्रामरः । सशूलमिति—सशूलमुपद्रवं प्रदरस्यैव । अस्मितं कृष्णम् ॥ ६१ ॥

अथ व्रणरोगे न्यग्रोधेति ।—न्यग्रोधादिकषायोऽयं व्रणरोगेषु प्रशस्तः याज्ञोश्च भवति । न्यग्रोधो वटवृक्षः । प्लक्षः पाकरोति लोके । कोशाम्बः अन्तुहृत्, तत्फलमम्बं याज्ञो भवति । वेतसो वज्जुलः, जलवेतस इति प्रतीतः । तुण्डिः “लौदि” पादपो वल्लरञ्जनायकः पीतवर्णः । पियालाश्चिरोद्धी । रोध्रद्वयमिति—लोध्रं साबर-लोध्रं चेति । मधूको हृच्चविशेषः । पारिशपिप्पलः पिप्पलभेदः प्रसिद्धः । शङ्खको

कदम्बककुभौ चैव भस्मातकफलानि च ।

न्यग्रोधादिगणकाथं यथालाभञ्च कारयेत् ॥८४॥

अयं काथो महाप्राज्ञो ब्रह्मो भग्नञ्च साधयेत् ।

योनिदोषहरो दाह-मेदोमिहविषापहः ॥८५॥

श्लोके विल्वादिपञ्चमूलम् ।—

विल्वोऽग्निमन्यः श्योनाकः काश्मरौ पाटला तथा ।

काथ एषां जयेन्मेदो-दोषं क्षौद्रेण संयुतः ॥८६॥

श्लोके त्रिफलाकाथः उष्णाम्बुयोगश्च ।—

क्षौद्रेण त्रिफलाकाथः पीतो मेदोहरः स्मृतः ।

शीतोभूतं तथोष्णाम्बु मेदोहृत् क्षौद्रसंयुतम् ॥८७॥

उदरे चर्यादिः ।—

चञ्चचित्तकविज्ञानां साधितो देवदारुणा ।

काथस्त्रिहृच्चूर्णयुतो गामूत्रेणोदरान् जयेत् ॥८८॥

करिप्रिया । जम्बूद्वयमिति—जुटगम्बूराजनम्बूभटन । शिवा इरोतकी । कदम्बी
ब्रह्मविशेषः, न तु राजिकदम्बः । ककुभः अकुंभः, सुगन्धमूला वटपरिशेषः, अथवा
“कौह” शब्दवाच्यब्रह्मविशेषः । यथालाभमात—अस्ते वा यावत् काथम् ॥८२—८५॥

विल्व इति—एष महापञ्चमूलाम्बुः कषायो मेदोहरो प्रशस्तः । तवाग्नि-
मन्योऽराणः । श्योनाकः ब्रह्मविशेषः । काश्मरौ गाम्भारी । एषामिति—महापञ्च-
मूलानां, महातरुसम्भवत्वात् महच्छब्दापवादात्तमित्यम् । क्षौद्रेण संयुतः इति—
मधुप्रक्षेपः ॥ ८६ ॥

क्षौद्रेणेति ।—अपरोऽपि त्रिफलाकाथो मधुप्रक्षेपः दोषहरो भवति ; त्रिफलाऽव
इरोतक्याटकम् । शीतोभूतं तथैति यागान्तरमाह—उष्णाम्बु शीतोभूतं क्त्वा तत्र
मधुप्रक्षेपं मेदोहृद्भावेन । उष्णाम्बु अष्टमाश्रावणावतञ्जनं, तत्र द्विपलाभतं, मधु
चतुर्थाश्रमिति व्यवहारात्, न तु साम्यम्, यथा,—“मधुसापयो मध्यस्वनो मानतस्तुल्यं
मात्रायात्” (सु० १०० २० अ०) इति । अयं प्रातरव यावत् ॥ ८७ ॥

अथोदरे चर्यात् ।—चर्यं खनामस्थितम् । विश्वा शुण्ठी । विहृत् त्रिभङ्गो,
“निर्सीय” इति लोके, अस्यायुष्मं प्रक्षेपं साधु । गोमूत्रस्याप्यत्र प्रक्षेपः । उदरानिति
—सर्वोदरान् ॥ ८८ ॥

श्रोत्रोदरे पुनर्नवादिः ।—

पुनर्नवाऽमृतादारु-पथ्यानागरसाधितः ।

गोमूत्रगुग्गुलुयुतः क्वाथः श्रोत्रोदरापहः ॥८८॥

यक्रदादौ पथ्यादिः ।—

पथ्यारोहितकक्वाथं यवक्षारकणायुतम् ।

पिबेत् प्रातर्यक्ष्मप्लीह-गुल्मोदरनिवृत्तये ॥ १००॥

श्रोत्रे पुनर्नवादिः ।—

पुनर्नवा दारुनिशा निशा शुण्ठी हरीतकी ।

गुडूचौ चित्रको भार्गी देवदारु च तैः शृतः ॥

पाणिपादोदरमुख-प्राप्तं शोफं निवारयेत् ॥१०१॥

वृद्धिरोमे त्रिफलाक्वाथः ।—

फलत्रिकोद्धवं क्वाथं गोमूत्रेणैव पाययेत् ।

वातश्लेष्मकृतं हन्ति शोथं वृषणसम्भवम् ॥१०२॥

बलवृद्धौ रास्नादिः ।—

रास्नाऽमृताबलायष्टी-गोकण्टैरण्डजः शृतः ।

एरण्डतैलसंयुक्तो वृद्धिमन्त्रभावं जयेत् ॥ १०३ ॥

पुनर्नवेति ।—पुनर्नवा वर्षाभूः । अमृता गुडूचौ । दारु देवदारु । पथ्या हरीतकी । नागरं शुण्ठी । प्रत्यङ्गीपयोगत्वात् प्रक्षेपाद्ये गुग्गुलुमाषचतुष्टयं गोमूत्र-मक्षप्रमाणं, विरेके तु प्राचुर्यमुभयोः ॥ ८८ ॥

अथ श्रोत्रोदरे पथ्येति ।—पथ्या हरीतकी । रोहितकः विटपिशिषः, “रुहेरी” इति लोके । यवक्षारः पिप्पलीचूर्णं यथादोषापेक्षया व्यवहरन्ति ॥ १०० ॥

अथ श्रोत्रे पुनर्नवेति ।—पुनर्नवादिशृतः कथितः । अत्र दारुनिशा दारुहरिद्रा । शोफं सुगमन ॥१०१॥

अथ वृषणशोथे फलत्रिकेति ।—गोमूत्रेणैव कथितं त्रिफलोद्धवं कषायनिर्मित । अथ वातश्लेष्मकृतं वृषणशोफं । तन्वान्तरे वातोद्धने वृषणशोथे कथितः ; तत्र त्रिफलाक्वाथो गोमूत्रप्रक्षेपः प्रातरैव धीज्यः ॥ १०२ ॥

अथान्नवृद्धौ रास्नाति ।—रास्नादिकोऽयं शृतः कथितः । रास्ना सुरभी । बला “खिरडटी” इति लोके । यष्टी मधुयष्टी । गोकण्टको गीघुरकः । केचित्

गण्डमालायां काञ्चनार-वरुणक्वाथो ।—

काञ्चनारत्वचः क्वाथः शुण्ठीचूर्णेन नाशयेत् ।

गण्डमालां तथा क्वाथः क्षौद्रेण वरुणत्वचः ॥१०४॥

श्लीपदे शाखोटवल्कलक्वाथः ।—

शाखोटवल्कलक्वाथं गोमूत्रेण युतं पिबेत् ।

श्लीपदानां विनाशाय मेदोदोषनिवृत्तये ॥१०५॥

अन्तर्विद्रधौ पुनर्नवादिः शिशुक्वाथश्च ।—

पुनर्नवावरुणयोः क्वाथोऽन्तर्विद्रधोन् जयेत् ।

तथा शिशुभवः क्वाथो हिङ्गुसैन्धवसंयुतः ॥१०६॥

अन्तर्विद्रधौ वरुणादिः ।—

वरुणादिगणक्वाथमपक्वे मध्यविद्रधौ ।

ऊषकादिरजोयुक्तं पिबेच्छुमनहेतवे ॥१०७॥

स यथा—

वरुणादिगणः ।—

वरुणो बकपुष्पश्च वित्वापामार्गचित्रकाः ।

“गोकश्टेरण्डजः घृतः” इत्यत्र “पटोलं रेवतं रुडु” इति पठान्ति, तच्च बह्वेषु पुस्तकेषु न दृश्यते ॥ १०२ ॥

अथ गण्डमालायां काञ्चनारत्वच इति ।—एतदयोगद्वयं गण्डमालायां प्रशस्तम् । काञ्चनारो वृक्षविशेषः स्वनामप्रतीतः, तस्य त्वक्क्वाथः, शुण्ठीचूर्णमत्र प्रक्षेप्य । वरुणोऽपि वृक्षभेदो विख्यातः । सधु प्रक्षेपे । तथेति—गण्डमालादरी योगोऽयम् ॥ १०४ ॥

अथ श्लीपदरोगे शाखोटेति ।—शाखोटः प्रसिद्धः, “सिंहोरो” इति लोके । गोमूत्रं प्रक्षेपे । एतच्च कफश्लीपदे पायशो योज्यम् ॥१०५॥

अथ विद्रधौ पुनर्नवेति ।—पुनर्नवा अत्र श्वेतवर्षाभूः, तस्या मूलम् । वरुणस्य त्वक् । अयं योगोऽन्तर्विद्रधौ अपक्वे योज्यः । अपरयोगमाह, तथेत्यादि ।—शिशुः शोभास्रनः । हिङ्गुसैन्धवसंयुत इति—व्यवहारात् प्रक्षेपे हिङ्गु राक्तकाञ्चतुष्टयं, सैन्धवं मार्षिकं प्रत्यङ्गोपयोगत्वात् ॥ १०६ ॥

वरुणादिगणेति ।—वरुणादिगणः अवैवाये वक्ष्यमाणोऽस्ति । ऊषकः चार-
१ मृत्तिका, वाराणसीसमीपे बहदादिशे बाहुल्येन भवति, अन्ये तद्वद्वन्यमाहुरिति

अग्निमन्यद्वयं शिशु-द्वयञ्च बृहतीद्वयम् ॥ १०८ ॥
 सैरेयकतयं मूर्वा मैश्वर्यङ्गी किरातकः ।
 अजशृङ्गी च विम्बो च करञ्जश्च शतावरी ॥ १०९ ॥ *
 वरुणादिगणकाथः कफमेढोहरः स्मृतः ।
 हन्ति गुल्मं शिरःशूलं तथाऽऽभ्यन्तरविद्रधीन् ॥ ११० ॥

भगन्दरे खदिरादिः ।—

खदिरविफलाकाथो मद्भिषोष्टतसंयुतः ।
 विडङ्गचूर्णयुक्तश्च भगन्दरविनाशनः ॥ १११ ॥

उल्लसः । स यथेति यदृणात् वरुणादिकयोगमाह, वरुण इत्यादि ।—एवं
 वरुणादिकाथो विद्रधौ प्रशस्तः । स च ऊषकादिगणपरजसा प्रक्षिप्तः पुर्वं
 कथित एव । वरुणः प्रसिद्धः । वरुण्यः “काकई” इति लोके । अपामार्गः
 शिशुरी प्रतीतः । अग्निमन्यद्वयमिति—तर्कारी, तस्य मेढोऽरणिः । शिशुद्वय-
 मिति—शिशु मधुशिशु च हरितरक्तमेदेन । बृहतीद्वयमिति—कण्टकारीद्वयं,
 तं लघुकण्टकारिका बृहती च । सैरेयकतयमिति—सदृशरवयं, तस्य पीतरक्तनील-
 पुष्पमेदेन भिन्नं विख्यातमेव । मूर्वा शीरसायुः । मैश्वर्यङ्गी वल्लोचंशा प्रसिद्धा,
 मेढाशृङ्गीति लोके । किरातकः भ्रान्त्यः । अजशृङ्गी कर्कटाख्या । विम्बोति—
 “विरीत” इति लोके, सा च पोलुपर्णी कथिता । करञ्जो बृहत्करञ्जो ह्यविशेषः ।
 ऊषकादिगणो यथा—“ऊषकनैश्वर्यङ्गिनाञ्जतुभाशौलद्वयगुगुलुहिङ्गुनि तुल्यकञ्च”
 (सु० सू० ३८ अ०) इति गणोऽयं यस्यान्तरात् बोद्धव्यः ; एतत् व्यक्तं वा
 प्रक्षेपे प्रशस्तम् । अयं काथो मेदःकफजे विद्रधौ विहितः, वरुणादिगणस्य कफमेढो-
 विनाशकत्वात् ॥ १००—११० ॥

अथ भगन्दरं खदिरति ।—खदिरादिकाथो मद्भिषोष्टतसंयुतः विडङ्गचूर्णव-
 कीर्णश्च भगन्दरे विहितः । खदिरः कण्टकीवृक्षः प्रतीतः, तस्य सारो यास्यः ।
 मद्भिषोष्टतमिति व्याधिविहितत्वात् ॥ १११ ॥

* अपामार्ग-सैरेयकतय-मूर्वा-किरातक-करञ्ज इत्येतेषां स्थाने सुश्रुते अक्षदत्ते
 च अपामार्ग-सैरेयकद्वय-मीरटा-वशिर-दर्भ-करञ्जद्वय इति पाठवैषम्यं दृश्यते ।

उपदंश पटोलादिः ।—

पटोलत्रिफलारिष्ट-किरातखदिरासनैः ।

क्वाथः पीतो जयेत् सर्वानुपदशान् सगुगुलुः ॥११२॥

वातरक्ते अमृतादिः ।—

अमृतैरण्डवासानां कथ्य एरण्डतैलयुक् ।

पीतः सर्वाङ्गसञ्चारि वातरक्तं जयेद्भुवम् ॥११३॥

वातरक्ते पटोलादिः ।—

पटोलं त्रिफला तिक्ता गुडूचौ च शतावरी ।

एतत्क्वाथा जयेत् पीतो वातासं दाहमयुतम् ॥११४॥

श्वे धात्रादिः ।—

क्वाथोऽवलगुजचूर्णाढ्यो धात्रीखदिरसारयोः ।

जयेत् सुशीलितो नित्यं श्लेष्मं पथ्याशिनां नृणाम् ॥११५॥

अथोपदंश पटोलाति ।—अवारिष्टो निम्बः । असनी प्रक्षावशेषः पीतसारः ।

गुगुलुरव प्रलेपे माषणुष्टय व्यवहारात् । सर्वानिति—पञ्चप्रकारान् ॥ ११२ ॥

अथ वातरक्ते यागद्वयमाह, अमृतत्यादि ।—एषः अमृतादिकाथः एरण्डतैल-

प्रक्षिप्तः । अमृता गुडूचौ । वासा आटकषकः । सर्वाङ्गसञ्चारोति—सर्वशरीरप्रसिद्धम् ।

भुवमिति यद्वेणेन दृष्टफलाऽयं योगः । “अमृताख्यवह्निः क्वाथः” इति केचित्

पठन्ति ; अथमपि माषुः अन्त्यतो दशनात् ; तथा हि—“वासगुडूचीवतुरङ्गला-

नामैरण्डतैलेन पिबेत् कषायम् । क्रमेण सर्वाङ्गजमप्यशेषं जयेदसृक्वातमव-
बिकारम् ॥” इति ॥११३॥

पटोलाति ।—अयं पटोलादिकाथो वातरक्ते माषुः । तिक्ता कटुरोहिणी । श्लेष्मं

सुगन्धम् । अयं योगः पित्तप्राये प्रायशः प्रचरति ॥ ११४ ॥

अथ श्वे क्वाथोऽवलगुजेति ।—असौ क्वाथो नित्यं प्रतिदिनम् । सुशीलितः सतता-

भ्यक्तः । पथ्याशिना श्लेष्मवद्विषयपथ्याशिनम् । अवलुगो वाकुलीति शब्दवाच्यद्वय-

विशेषः, तस्य चूर्णे प्रलेपे । धात्रा आमलकीफलान् ॥ ११५ ॥

वातरक्ते खन्धमस्त्रिहादिः ।—

मस्त्रिहा त्रिफला तित्ता वचा दारुनिशाऽमृता ।

निम्बश्चैषां कृतः काथो वातरक्तविनाशनः ॥

पामाकपालिकाकुष्ठ-रक्तमण्डलजिह्मतः ॥११६॥

कुष्ठादौ वृद्ध्यास्त्रिहादिः ।—

मस्त्रिहामुस्तकुटज-गुडूचीकुष्ठनागरैः ।

भार्गीक्षुद्रावचानिम्ब-निशादयफलत्रिकैः ॥ ११७ ॥

पटोलकटुकीमूरा-विडङ्गाशनचित्रकैः ।

शतावरौत्रायमाणा-क्षणेन्द्रयववामकैः ॥११८॥

भृङ्गराजमहादारु-पाठावटिरचन्दनैः ।

त्रिवृद्धरुणकैरात-वाकुचाकृतमालकैः ॥ ११९॥

शाखोटकमहानिम्ब-करञ्जातिविषाजलैः ।

इन्द्रवारुणिकाऽनन्ता-सारिवापर्पटैः समैः ॥१२०॥

एभिः कृतं पिबेत् काथं कणागुग्गुलुसंयुतम् ।

अष्टादशसु कुष्ठेषु वातरक्तार्दिते तथा ॥ १२१ ॥

अथ कुष्ठादौ कथनद्वयमाह, मस्त्रिहति ।—अथ खन्धमस्त्रिहादिको योगः । तत्र दारुनिशा दारुहरिद्रा । अमृता गुडूची । एके दारु निशति द्वयद्वयं व्याख्यासयन्ति, तेन दारु देवदारु, निशा हरिद्रा, एतदपि व्यवहरन्ति । पामादयोऽपि कुष्ठस्यैव भेदाः ॥११६॥

अपरमप्याह, मस्त्रिहति ।—वृद्ध्यास्त्रिहाटिसंज्ञकोऽयं काथः प्रसिद्धः । अत्र कुटजा वक्षविशेषः, तस्य त्वक् । निशादयं हरिद्राद्वयम् । मूरा चौरखायुः । अशनी वृक्षविशेषः । त्रायमाणा खनानप्रसिद्धा । क्षणा पिप्पली । वामकः चाटूरुषकः । भृङ्गराजः केशरञ्जनः, “वमना” इति प्रसिद्धः । महादारु देवदारु । चन्दनं रक्त-चन्दनम् । विडत् गुडः । कैरातो भूनिम्बः । शाखोटको वक्षविशेषः प्रसिद्धः । महानिम्बो निम्बाकः, “बका” इति लोके प्रतीयते । करञ्जो वृक्षकरञ्जः । ललं मालकम् । अनन्ता यवासकः । सारिवा आस्काता, सा द्विविधा श्वेतक्षणाभेदेन, कृष्णा लम्बुत्पत्ता त्रयविः, क्षणा कृष्णसंवत्पत्ता सुगन्धा । शेषं सुबोधम् ।

उपदंशे स्त्रीपदे च प्रसुप्तौ पक्षघातके ।

मेदोदोषे नेत्ररोगे मस्तिष्कादिः प्रशस्यते ॥ १२२ ॥

शिरोगादौ पथ्यादिः ।—

पथ्याऽक्षधात्रोभूनिम्बैर्निशानिम्बामृतायुतैः ।

कृतः काथः षडङ्गोऽयं सगुडः शीर्षशूलहृत् ॥ १२३ ॥

भृशङ्गकर्णशूलानि तथाऽर्द्धशिरसो रुजम् ।

सूर्यावर्त्तं शङ्खकञ्च दन्तपातञ्च तद्रुजम् ॥

नक्ताभ्यं पटलं शुक्रं चक्षुःपोडां व्यगोहति ॥ १२४ ॥

नेत्ररोगे वामादिः ।—

वासाविश्वाऽमृतादार्वी-रक्तचन्दनचित्रकैः ।

भूनिम्बनिम्बकटुका-पटोलत्रिफलाऽम्बुदैः ॥ १२५ ॥

यवकालिङ्गकूटजैः काथः सर्वाक्षिरोगहा ।

वैस्वर्यं पीनसं श्वासं नाशयेद्दरसः क्षतम् ॥ १२६ ॥

अभिर्मस्तिष्कादिद्रव्यैः समैः समानैः कृतं साधितं काथमित्यर्थः । कणागुग्गुलुसंयुत-
मिति—कणाचूर्णे गुग्गुलुश्च प्रक्षेपे साधुः ॥ ११७—१२२ ॥

अथ शिरोगे पथ्यादिकं योगमाह, पथ्येति ।—पथ्या इरीतकी । अक्षो
विभोतकः । धात्री आमलकी । भूनिम्बः कैरातः । निशा हरिद्रा । निम्बः प्रतीतः ।
अमृता गुडुची । अयं षडङ्गसंज्ञः षट् अङ्गानि यस्य स तथा । अत्र त्रिफला एकमङ्गं
षष्ठमङ्गं गुडमिति । गुडोऽत्र प्रक्षेपे साधुः । अथमपि सायमुपर्याज्यः, प्रायेण
कर्द्धनवृत्तरोगहरत्वात् । शीर्षशूलं शिरोग्रथा । भृशूलं शङ्खशूलं कर्णशूलमिति ।
तदुक्तमिति—दन्तशूलम् । शुक्रमिति—नेत्रपुष्पम् ॥ १२३-१२४ ॥

अथानन्तरमक्षिरोगे वासिति ।—एक एव वासादिकी गणौ अक्षिरोगे प्रशस्तः ।
वासो चाटुषकः । विश्वं शुण्डो । अमृता गुडुची । दार्वी दारुहरिद्रा । कटुका तित्त-
रोहिणी ; * समासान्तत्वात् कटुकाया ऋस्त्वञ्च । पटोलः कुलकः, तस्य पदार्थः ।

* मूले कटुका इति पाठो विद्यते, तेन च कृन्दोभङ्गः न जातः, अत एव
समासान्तत्वादित्याद्युक्तिर्न सवीचीनतया प्रतिभाति, किञ्च कटुका इत्यत्र समासान्तो-
ऽपि न जातः इति सुधीभिर्दृष्टव्यम् ।

नेत्ररोगे अमृतादिः ।—

अमृतात्रिफलाक्वाथः पिप्पलीचूर्णसंयुतः ।

सचौद्रः शीतलो नित्यं सर्वनेत्रव्यथां जयेत् ॥ १२७ ॥

त्रणादौ पञ्चवल्कलम् ।—

* अश्वत्थोद्वस्वरप्लव-वटवेतसजं शृतम् ।

त्रणशोथोपदंशानां नाशनं क्षालनं स्मृतम् ॥ १२८ ॥

प्रमथ्यालक्षणम् ।—

प्रमथ्या प्रोच्यते द्रव्य-पलात् कल्कीकृताच्छृता ।

तोयेऽष्टगुणिते तस्याः पानमाहुः पलद्वयम् ॥ १२९ ॥

अश्वत्थो मुलम् । यवोऽन्नविशेषः निजनामविख्यातः, स च निस्तुषी यास्तः । क्षालिकम् इन्द्रियवः । कुटुम्बो वल्कलवक् । अयं प्रातरैव धोज्यः कषायत्वात् ; तथा क्षुत्तं—“वासा घ्नं निस्त्वपटोऽपत्रं तिक्ताऽमृताचन्दनवल्कलवक् । कलिङ्गदार्वा दृढगन्ध शण्ठी भृगुनिस्त्वधावावभयाविभीतम् ॥ श्यामा यवकाष्ठमथाष्टभागं पिबेदिमं पूर्वदिने कषायम् । तेमिर्यकण्डू पटलाबुदश्च युक्तं तथा सत्रणमत्रणश्च ॥ निहन्ति दाहं सङ्गं स्रगाग मवान् निहन्त्यन्निगतांश्च रोगान् ॥” इति । अथ वैश्वेये विभक्तस्वरत्नम् । यवाऽत्र नेत्ररोगविहितत्वात् कथितः ; तथा क्षुत्तं—“त्रिफला छृत् मधु यवा पादाभ्यङ्गः शतावरी मुद्गाः । अश्वत्थः सङ्केपाहर्गः कर्षितो भिषग्भिरयम्” ॥ १२५ ॥ १२६ ॥

अपरमपि नेत्ररोगे प्रयागमाहुः, अमृतमिति ।—अमृतादिक्वाथोऽयं सकलनेत्रामये प्रशस्तः । अमृता गुडवी । त्रिफला हरीतकादिकम् । पिप्पलीचूर्णे प्रक्षेपे । सचौद्र-मिति—मध्वाप प्रक्षेपे साधुः, अत एव शीतलो हिमस्यञ्जः, मध्वविराधात् । नित्यमिति—सार्वकालीनमिदम् ॥ १२७ ॥

अथ त्रयेष्वपि क्षालनार्थं कषायमाहुः, अश्वत्थेति ।—अश्वत्थादीनां पञ्चानामत्र वल्कलो यास्तः । अयं षडङ्गपानीयेन साध्यः । क्षालनं प्रक्षालनं त्रणम् । इति कावसमृद्धोऽभिहितः ॥ १२८ ॥

इदानीं तद्देहान् प्रमथ्यादीनाहुः, तस्याः पूर्वं परिभाषां कथयति, प्रमथ्येति ।—द्रव्यपलादिति—कल्कार्थं द्रव्यस्य पलप्रमाणम् । कल्कीकृतादिति—दृषादि पेषितात्,

* गूदायंदीपिकायां पञ्चवल्कलकाथानन्तरं “मुखरोगे जातीपत्रादिकाथः सुगमः” इति पाठो दृश्यते ; तेनैवमनुमीयते यत् एतदनन्तरं जातीपत्रादिकाथस्य उक्तिरासीत्,

सा यथा—

रक्तातीसारं मुक्तादिप्रमथ्या ।—

मुस्तकेन्द्रयवैः सिद्धा प्रमथ्या द्विपलोन्मिता ।

सुशीता मधुसंयुक्ता रक्तातीसारनाशिनी ॥ १३० ॥

यवागुसाधनविधिः ।—

साध्यं चतुष्पलं द्रव्यं चतुःषष्टिपलेऽम्बुनि ।

तत्क्वाथेनार्द्धशिष्टेन यवागूं साधयेद्वनाम् ॥ १३१ ॥

सा यथा—

पेषणमत्र जलेनानुक्तात् । अष्टगुणिते तोये द्रव्यभागापेक्षयाऽष्टगुणपानीये । श्रुता कथिता । पक्षव्यमित्यनेन चतुर्भांशावशेषितं यावत् ॥ १२९ ॥

अथ या प्रमथ्या सा क्रीडशीति विवक्षायां सा यथेति यद्वयेन तामेव प्रकटय-
न्नाह, मुक्तकेति ।—इन्द्रयवः कूटजबीजम् । सिद्धेत्यनेन पूर्वं कल्किता पश्चात् कथिते-
त्यर्थः । द्विपलोन्मितेति पाननिमित्तम् । सुशीता हिमस्पर्शा, अत एव मधुप्रक्षिप्ता,
प्रक्षेपद्रव्याणां परिमाणं पूर्ववत् ज्ञातव्यम् ॥ १३० ॥

इदानीं यवागुपरिभाषामाह, साध्यमिति ।—इयं द्रव्यक्राये तण्डुलादिभिः परि-
पाचिता यवागुगन्धवाच्या । चतुःषष्टिपलेऽम्बुनीति—द्रव्यभागात् षोडशगुणं पानीयं
दीयमित्यर्थः । घनानित्यनेन शाल्यादिना साधयेत् यावत् द्रवरहिता स्यात्, अत एव
तण्डुलादीनां परिमाणमनुमानतो निरूपणीयं, न तु अन्नप्रकृत्योक्ताया मानम् (?)
यथा—“पञ्चकोलेन संविद्धा यवागूर्दीपनी तथा । बलामूलकषायेण साधिता
याद्विषो मता ॥” इति । अत्रापि मानं दोषाद्यपेक्षया अनुमानतो निरूपणीयम् ।
अतः चतुःपलपदं यत् तत् सामान्यं, विशेषतो न्यूनमपि दृश्यते ; तथा च तन्वान्तरं
—“वृद्धवैद्याः पलं द्रव्यं याद्वयन्यादृकेऽश्वसि । भेषजस्यातिबाहुल्यात् कदाचिद-
रुचिर्भवेत् ॥” इति ॥ १३१ ॥

स च पाठः केषाञ्चित् प्रसादात् विलुप्त इति । अथ्ययनार्थिनां दोषार्थं स प्रदर्शयते,—
“जातीपमाहताद्राचा-यासदार्धौषणिकैः । क्राणः क्षौद्रयुतः शीतो गण्डूषो मुख-
पाकशुत् ॥” इति ।

यद्व्यामासादियवागुः ।—

आम्नाम्नातकजम्बूत्वक्काषाय विपचेत् बुधः ।

यवागूं शालिभिर्युक्तां तां भुक्त्वा यद्वर्णी जयेत् ॥ १३२ ॥

यूषसाधनविधिः ।—

* कल्कद्रव्यपर्लं शुण्ठी पिप्पली चार्द्धकार्षिकी ।

वारिप्रस्थेन विपचेत् स द्रवो यूष उच्यते ॥ १३३ ॥

स यथा—

त्रिदोषज्वरे सप्तमुष्टिकयूषः ।—

कुलत्थयवकोलैश्च मुद्गेर्मूलकशुण्ठकैः ।

शुण्ठीधन्याकयुक्तैश्च यूषः श्लेष्मानिलापहः ॥ १३४ ॥

अथ सा यथेत्यनेन तस्याः स्वरूपमाह, आमेति ।—आसो वृक्षविशेषो विख्यातः ।
† आम्नातकजङ्घेदः, राजास इति केचित् । जम्बुः प्रसिद्ध एव, एषां त्वक् क्ली
याद्या । काषाय इति यद्व्येन स्वरसादयोऽपि पञ्चकाषायास्तैरपि कर्तव्या न द्वीषी
व्यवहारात् ; यतः, पञ्चकोलबलादीनां कल्करसेनैव साधिता बहुग्री यवाग्वी
दृश्यन्ते । बाहुल्येन च द्रव्यगुणवत्त्वामुक्तम् ; यथा—“यैर्यैरेवौषधगणैर्यवागुः साधु
साधिता । तांलानेवौषधगुणान् पुण्याति विधियोजिता ॥” इति । बुध इति यद्व्ये-
नान्नादिपरिमाणेन रत्ननविधौ दत्त इत्यर्थः ॥ १३२ ॥

सम्प्रति यूषमाह, अयं द्रव्यकृतयूषोऽपि विख्यात एव ; कीदृशः ? तत्परि-
भाषामप्यादावाह, कल्कद्रव्यपर्लमिति ।—कल्काहं द्रव्यं, तच्च धान्यमूलकशुण्ठकादिकं,
तथा शुण्ठी पिप्पली चार्द्धकार्षिकी प्रत्येकं तोष्यत्वात् । केचित् शुण्ठी-
पिप्पलीचूर्णं पश्चात् प्रक्षेपे विपन्ति । वारिप्रस्थेनेति—द्रवद्वैगुण्यात् द्वाविंशत्यल-
न्तिन जलेन । स द्रवो द्रवप्रायः । अत्राप्यन्नपरिमाणादिकं यन्नीकं तदनुमानतो
याद्यम् ; यथा—जलानुसारतो रत्ननविधिदत्तसकाशात् दृष्टपरिपाकपरिपाका
कुर्यादित्यर्थः ॥ १३३ ॥

स यथेत्यनेन वक्ष्यमाणसप्तमुष्टिकयूषविधिं दर्शयन्नाह, कुलत्थेति ।—अयं

* परिभाषेयं अन्नपाणिना कल्कसाध्ययवागुविषये पठिता ।

† आम्नातको गुडपुष्पः, “चामुडा” इति लोके ।

सप्तमुष्टिक इत्येष सन्निपातज्वरान् जयेत् ।

ग्रामवातहरः कण्ठ-हृद्दक्ताणां विशेषधनः ॥ १३५ ॥

पानौघसाधनविधिः ।—

क्षुण्णं द्रव्यपलं साध्यं चतुःषष्टिपले जले ।

अर्द्धशिष्टञ्च तद्द्वयं पाने भक्तादिसंविधौ ॥ १३६ ॥

तत् यथा—

सप्तमुष्टिकसंज्ञको यूषः प्रसिद्ध एव । कुलत्थोऽत्रविशेषः । कोलं बदरफलम् । मूलक-
शुण्ठकैरिति—लघुमूलकशुण्ठैः, शुण्ठमत्र * नालयस्यिः ; मूलकपोतिकेति केचित्
गुणप्रावल्यात् ; तथा हि—“कटुतिक्तसमा हृद्या रोचणी तृड्निदीपनी । सर्वदोषहरा
लघ्वी कण्ठ्या मूलकपोतिका ॥” इति । धन्याकं कस्तुरम् । सप्तमुष्टिक इत्यनेन
कुलत्थादीनां मुष्टिसप्तकं ग्राह्यं तत्त्वान्तरदर्शनात् ; यथा—“एकेकं मुष्टिमाहृत्य”
इत्यादि ; मुष्टिरन्तर्भवमुष्टिः, न तु मुष्टिः पलम् ; अथमेव पलः वेष्टिताद्विशते ।
† चक्रः प्रत्येकमेवा पलं ग्राह्यं, सर्वसम्मतत्वात् । ननु सकलमेव द्रव्यमुचितमावया-
ऽन्वितं यत् क्वाथविधानेन यूषः क्रियते तदस्त्वस्यप्रदाये न मनोहरं, किन्तु व्यवहारात्
कर्तव्यविधौ घनकुलत्थमुद्गा चत्वार्यपि लया बहु देयाः, शुण्ठ्यायूषे पयात्
कटुकाद्यै तावद्द्वयं, यावता कटुमात्रं स्यात् ; एवमस्नाद्ये बदरादीनां दानं, क्वाथो
धान्यकमूलकशुण्ठयोः पृथक् पलपरिमितयोश्च दानमिति कर्तव्यविधिः साधुः ।
कण्ठहृद्दक्ताणां विशेषधन इति—कण्ठविशोधनः हृदविशोधनः वक्त्रविशोधनश्च ।
विशोधन कफस्थेत्यर्थः ॥ १३४।१३५ ॥

इदानीं पानादिकल्पनामाह, क्षुण्णमिति ।—इयं पानादिकल्पनाया, परिभाषा ।
क्षुण्णं कुट्टितम् । द्रव्यं व्याधिविहितम् । साध्यं कथितम् । तदिति—द्रवम्, अर्द्धावशेषितं
कलमिथ्यर्थः । पाने इति—पानस्वरूपे, यथा वक्ष्यमाणं षडङ्गादिपानौघम् ।
भक्तादिसंविधाविति—युषरसयवाग्वादिरूपे ॥ १३६ ॥

* शुण्ठं नालयस्यिरिति व्याख्यानं न टीकाकृद्भिरादृतम् ; मूलकशुण्ठकं युष्क-
मूलकमिति वृद्धाः । मूलकपोतिका बालमूलकं, न तु मूलकशुण्ठकमिति ।

† “चक्रः पुनर्धवादीनामाहारद्रव्यवान् प्रत्येकं पलमानलेऽपि न दोषः इत्याह”
इति तत्त्वचन्द्रिका ।

पिपासाज्वरे षडङ्गपानीयम् ।—

उशीरपर्पटोदीच्य-मुस्तनागरचन्दनैः ।

जलं शृतं हिमं पेयं पिपासाज्वरनाशनम् ॥ १३७ ॥

उष्णोदकविधिः ।—

अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्द्धकेन वा ।

अथवा कथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं वदेत् ॥ १३८ ॥

तत् यथेति बाक्त्रेण पानादिकार्थे प्रक्रियां प्रकटयति ग्रन्थकारः, उशीरेति ।—अयं षडङ्गसंज्ञकः । अश्वोदीच्यं बालकम् । नागरं शुण्ठी । चन्दनं रक्तम् । जलं पानीयम् । शृतं कथितम् । हिमं शीतस्पर्शम् । पेयमिति बारंवारम् ; यतः,—“मुहुर्मुहुश्च तट्कार्द-द्विक्काश्वासगरेषु च” (शार्ङ्ग० पूर्व० २ अ०) इति वचनात् । एषां क्षीमो ज्वरादितो यत्नः ; तथा हि—“षडङ्गादेः शृतं तोयं देयमादौ ज्वरस्य वे” ॥ १३७ ॥

अथोष्णोदकविधिं दर्शयन्नाह, अष्टमेनेति ।—यत् केवलमेव पानीयमष्टमांशादिकल्पनया सिद्धं भवति तदुष्णोदकमिति संज्ञं वदेदिति । अंशशेषेणाष्टमादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ; तेन अष्टमांशेन चतुर्थांशेनार्द्धांशेनेत्यर्थः, अंशमत्र कथयन्नाह-शिशुम् । अथर्वत्यनेन पक्षान्तरमाह, कथनेनैवेत्यादि ।—कथनमिति—अत्र निपादशेष-नित्यर्थः । एतत् क्रियाचतुष्टयं दोषापेक्षया अभिहितम् ; तथा हि—“तत् पादहीनं पिबेद्य तच्छेषमग्निसापकम् । अर्द्धं चयकफहरं शेषं याहि विदोषयित् ॥” इति । ननु यद्व्यर्थं, तर्हि सुश्रुतेन कथमेतद्विपरीतमुक्तम् ;—“तत् पादहीनं वातघ्नमर्द्धहीनन्तु पिबेज्जितम् । कफघ्नं पादशेषश्च पानीयं दीपनं श्रुतम् ॥” इति ? सत्यम् ; आद्यः पक्षो व्यवहारी, स च ज्वरादौना दोषप्रकापे प्रयत्नाः, हितोयन्तु षड्गुणेषु दोषापेक्षयाऽभिहितः ; सुश्रुते उक्तञ्च—“शारदश्चार्द्धपादोऽन पादहीनन्तु हैमकम् । शिशिरे च वसन्ते च ग्रैष्म पादावशेषितम् ॥ विपरीतघृतं दृष्ट्वा वार्षिकश्चाष्टभागिकम् ॥” इति यदिगोचपारङ्कारः कृतः, तत् साधुभिर्विचारणीयः, अत्र विस्तरभयाच्च लिखितः । निश्चिन्तां यत् यद्व्यर्थं लघूक्तिकथननिमित्तम् ; यतः,—“यत् काव्यमानं निर्वेगे

१. मृदितमुश्रुतसंहितासु नायं श्लोको दृश्यते ।

२. मृदितमुश्रुतसंहितासु नायं सार्द्धश्लोको दृश्यते ।

३. असमिति यत् यद्व्यर्थं कृतं तत् कथननिमित्तं लघुपाकित्वबोधकम् इति पाठ-
कल्पनं सङ्गतार्थकम् ।

रात्रौ उष्णोदकपानस्य गुणाः ।—

श्लेष्मघ्नं वातमेदोघ्नं बस्तिशोधनदीपनम् ।

कासश्वासज्वरहरं पीतमुष्णोदकं निशि ॥ १३८ ॥

शौरमाधनावधिः ।—

शौरमष्टगुणं द्रव्यात् क्षीराक्षीरं चतुर्गुणम् ।

क्षीरावशेषं तत् पीतं शूलमामोहकं जयेत् ॥ १४० ॥

निष्फेनं निर्मलं तथा । शृतशीतं त्रिदोषघ्नं बाष्पात्तमावशीतलम् ॥” इति, अन्यथा दोषकरः स्यात् ; तथा हि—“धारापातेन बिष्टभिर्दुर्जरं पबनाहतम् । शृतशीतं पुनस्तप्तं तत् सर्वं दोषघ्नं स्मृतम् ॥” इति । उष्णोदकं वदेदिति—ईषदुष्णम् उष्णोदकं कथितम् ॥ १३८ ॥

अथीष्णोदकस्य निशि पीतस्य गुणमाह, श्लेष्मघ्नमिति ।—एतदुष्णोदकं यदा निशि पीतं तदा श्लेष्मादिकान् हन्तीति । वातमेदोघ्नमिति—वातघ्नं मेदोघ्नञ्च । श्लेष्मामवात-मेदोघ्नमिति वा पात्राल्तरम् । बस्तिशोधनं मूत्राशयशुद्धिकरम् । दीपनमग्रेः । पीत-मुष्णोदकमिति—ईषदुष्णं पीतम् । निशीति—निशामुखे शयनकाले वा, न तु सकृन्ननिशायां मुहुर्महः पानं, तत्र निषेधपरत्वात् ; तथा हि—“यथा दिवा तथा रात्रौ यदि तोयं पिबेन्नरः । भवेत् तत्र रसाधिकां तच्छेषाद्दोषकोपनम् ॥” इति मन्त्रम् ; एष स्वस्थे प्रसङ्ग इति वर्तते व्यवहारात्, आतुरे न कुर्वन्ति प्रातर्षेधः ; तथा ह्युक्तं—“पानीयं प्राणिनां प्राणा विश्वमेव च तन्मयम् । अतोऽन्यन्तनिषेधेन न कश्चित् वारि वाक्यते ॥” इति ॥ १३९ ॥

इदानीं शौरपाकविधिमाह, शौरमिति ।—शौरमत्र गव्यम्, अत्रानुक्तत्वात् । द्रव्यमिति—शुण्ठीवितुन्नकादिकमन्यतो दर्शनात् ; तथा हि—“शुण्ठीवितुन्नकैरख-शृतं शूलहरं पथः” इति । कथंन्यताऽस्य द्रव्याणां भागैकं यथादोषापेक्षया परिमितं, शौरस्य भागाष्टकं, पानीयं द्वाविंशद्भागयुतम्, एतत् सकृत् क्वाप्य शौरावशेषं वस्त्रेण संस्त्राय पिबेत् । पानमानस्यास्य क्वाथवत् बाहुल्यं, दोषानुसारतो वा । आभीहवं शूलमिति—आमशूलं, न तु आमवातजनितपीडा, तत्र शौरस्य निषिद्ध-त्वात् ; तदुक्तं—“दक्षिमत्यगुडक्षीर-पीतकौमाद्यपिष्टकम् । वर्जयेदामवाताभौ मांसमानूपजं तथा ॥” इति । आमः अपरिपक्वोऽन्नरसः, तथा हि—“जठरानल-दौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः । स आममश्नको दृष्टे सर्वदोषप्रकोपणः ॥” इति । केचिदन्नामशूलं परिणामजं शूलमामनन्ति, एतदपि सङ्गतम् । द्रव्यादिति सामान्य-

जीर्णज्वरं पञ्चमूलौघोरम् ।—

* (सर्वज्वराणां जीर्णानां क्षीरं भैषज्यमुत्तमम् ।

श्वासात् कासाच्छिरःशूलात् पार्श्वशूलात् सपौनसात् ॥

मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पञ्चमूलौघृतं पयः ॥

जीर्णज्वरे त्रिकण्टकादिक्षीरम् ।—

त्रिकण्टकबलाव्याघ्रो-गुड़नागरसाधितम् ।

वर्चोमूत्रविवन्धनं कफज्वरहरं पयः ॥)

यवागूकृशरयोः साधनाविधिः ।—

अथान्नप्रक्रियाऽत्रैव प्रोच्यते नातिविस्तरात् ।

यवागूः षड्गुणजले मिद्धा स्यात् कृशरा घना ॥

यद्दृष्टवान्येषामपि क्षीरयोगानां विधानमेव बोद्धव्यम् ; यथा—† “वक्षिशुद्धिकरावापं चतुर्गुणजलं पयः । आ-वारिनाम्नात् कथितं शुकोदावर्त्तनाशनम् ॥” इति । एतदपि प्रसङ्गतो व्याचष्टे—अथ वक्षिशुद्धिकराण्यं तृणपञ्चमूलौघोरतरादीनि । आवाप इह । क्षीरसाधनायै कल्कः ; तथा ह्यक्तं—“कृशः काशः शरीरं दर्भं दृश्यतेति तृणोद्भवम् । पित्तकृच्छ्रं पञ्च-मूलं वक्षिविशोधनम् ॥ एतन्निर्द्धं पयः पीतं सेंटुगं हन्ति शोणितम् ॥” इति ॥ १४० ॥

सम्प्रति यवागूपभूतकान्नप्रक्रियामाह, अथान्नेति ।—अथेति—अन्नतरम् । अन्न-प्रक्रियेति—यवागूवलेपीपेयादिरूपा । अथास्त्रिणं अन्ये । नातिविस्तरात् सङ्क्षेप-मात्रात्, यतो विस्तररूढनं सर्वेषामप्यालम्ब्यकरं भवति । तेषु पूर्वे यवागूविधिमाह, यवागूमित्यादि ।—षड्गुणे जले पानीये या मिद्धा सा यवागूशब्दाच्चा ; षड्गुण-मित्यन्नपरिमाणात् । † एषा तण्डुलैरेव साध्या व्यवहारात्, तथा साध्या यथा

* प्रलम्बाविमो इति केचित् ।

† वक्षिशुद्धिकरावापं चतुर्गुणजलं पयः । आ-वारिनाम्नात् कथितं पीतवन्नं प्रकामतः ॥ रमयेयुः प्रिया नार्थः शुकोदावर्त्तनं नरम् ॥” इति सुश्रुते पाठः ।

‡ “आवापः क्षीरसाधनायै कल्कः” इति त्रिबदासः ।

¶ “एषा तण्डुलैरेव” इति एवमशब्दप्रयोगोऽत्र न समीचीनतया प्रतिभाति, खाजिनापि बहुस्थाने यवागूपस्तुतविधिदर्शनात् ; यथा—“लागपेया सुखगरा”

तण्डुलैर्मृदमाषैश्च तिलैर्वा साधिता हिता ॥ १४१ ॥

विरलद्रवा भवति ; यतः,—“यवागूर्विद्रवा” इति वचनात् । अस्या भेदः कशरीति नास्ति कथिता, सा घना द्रवरहिता इत्यर्थः । इयमपि तण्डुलादिभिः साधिता भवति । अत्र मृदमाषैरेति चकारात् व्यक्तं ग्राह्यं, तेन मृदमाधिता माषसाधिता वा । तिलान्यघोभयत्र बीज्यानि । तन्नाम्नरेऽपि तिलतण्डुलमाषकृता यवागूर्वि कशरा कथ्यते । केषिदग्नत्वात् तिलमाषतण्डुलानामत्र साम्यं मन्यन्ते, तत्र मनोहरम् ; किन्तु व्यवहारात् तण्डुलानां भागद्वयं, माषस्य भागैकम्, अर्द्धभागिकं तिलानामिति सकलैर्भीषङ्गुजलमित्यर्थः । यवागूरिति सामान्येन, अस्या बहुव्री भेदाः सन्ति ; तद्व्यथा— दृग्धतण्डुलयवागूः, घृततण्डुलयवागूः, मांसतण्डुलयवागूः, फलकन्दतण्डुलयवागूरित्येताः सर्वा यवाग्वो द्रव्यानुसारतो गुणकर्तव्यः साधनीयाश्च भवन्ति ॥ १४१ ॥

इत्यादि । किञ्च तन्नाम्नरे कैवललाजिनैव प्रस्तुतविधिदर्शनाच्च ; तथा च अरुणदत्तः,— “मण्डादयो लाजोपादाना वेद्याः, न तु तण्डुलोपादानाः, तथा च सुनिः,— “शतः पिप्पलीशुण्ठीभ्यां युक्तो लाजान्बुदाडिमैः । मण्डः सन्दीपयत्यग्निं वातघ्नोऽप्यनुलोमयेत् ॥” इति । तदुक्तं—“द्रव्यसार्द्धपलं दत्त्वा तोयस्य प्रस्थमावपेत् । अर्द्धशेषं गृहीत्वा तत् कषौ द्वौ दाडिमस्य च ॥ युक्तं विशाङ्गसेश्वर-धान्यकैः श्रावमात्रकैः । हिकर्षमावेर्लाजैश्च भूयः सङ्कुचितश्च तत् ॥ पिप्पलीशोरकाभ्याश्च श्राणैकेनावचूणितम् । पेयास्त्रेव विधिः कल्पो दाडिमादिकृतास्त्रि ॥” इति । तथा —“लाजान्बुसेश्वरकणा-धान्यनागरदाडिमैः । युक्तो विस्त्रितः पूतो मण्डः संस्क्रुत सच्यते ॥” इत्यादि । किञ्च ‘तथा साध्या’ इत्याद्युक्तिरपि न हृद्या, यतः तत्त्व-चन्द्रिकायां—“द्रवसिक्थसमन्विता यवागूरिति यवाग्वः सामान्यलक्षणम्” इति । “पेया सिक्थसमन्विता यवागूः” “यवागूः षड्गुणैश्चासि” इति च । अत्र तत्त्वचन्द्रिका —“तत्र यवागूशब्देन पेया विवक्षिता । पेया इति संज्ञाबलात् बहुद्रवत्वमल्प-सिक्थत्वञ्च ज्ञेयम् ; तेन सिक्थसमन्विता यवागूः पेया इति पेयालक्षणे बहुद्रवत्वमल्प-सिक्थत्वञ्च लक्षणतया बोद्धव्यम्” इति । अन्यच्च सुसूत्रे—“विलेपी बहुसिक्था स्यात् यवागूर्विरलद्रवा” इति पाठः ; बहुसिक्था विरलद्रवा यवागूर्विलेपी इति तस्यार्थः । अक्रदनेऽपि—“यवागूर्बहुसिक्था स्यात् विलेपी विरलद्रवा” इति । एवञ्च चतुर्गुण-जलसाधिताया विलेप्या एव विरलद्रवा इत्यादि व्याख्या सङ्गच्छते, न तु षड्गुणजल-साधितायाः पेयाऽपराध्याया यवाग्वः इति द्विक् ।

यवागूगुणाः ।—

यवागूर्याङ्गिणी बल्या तर्पणी वातनाशिनी ॥ १४२ ॥

विलेप्याः साधनविधिः गुणाश्च ।—

विलेपी घनसिक्था स्यात् सिद्धा नीरे चतुर्गुणे ।

तर्पणी हृङ्गणी हृद्या मधुरा पित्तनाशिनी ॥ १४३ ॥

पेयायूषयोः साधनविधिः ।—

द्रवाधिका स्वल्पसिक्था चतुर्दशगुणे जले ।

सिद्धा पेया बुधैर्ज्ञेया यूषः किञ्चित् घनस्ततः ॥ १४४ ॥

इदानीं तस्या गुणमाह, यवागूरित्यादि ।—याङ्गिणी सङ्गाङ्गिका अतीसारा-
दीनाम् । बल्या बलकारिणी, ओजाङ्गिकरीत्यर्थः । तर्पणी धातूना दृप्तजननी ।
वातनाशिनी चेति स्वभावात् ॥ १४२ ॥

अथ विलेपीविवरणं दर्शयन्नाह, विलेपीति ।—या चतुर्गुणे नीरे पानीये सिद्धा
निष्पन्ना सा विलेपीशब्दाभ्यां, स्वरूपेण घनसिक्था भवति चतुर्गुणनीरत्वात् ।
चतुर्गुणमिति अत्र अन्नपरिमाणात् । इयमप्यत्र केवलं तदुल्लेखः सिद्धेति वदति ; अतो
“गुलङ्गो” इति लोके कथिता । गुणमप्यस्या दर्शयन्नाह, तर्पणीत्यादि ।—तर्पणी
दृप्तजनिका । हृद्या इति—आह्लादकारिणी । मधुरा निदरसा, अत एव पित्त-
नाशिनी विहिता ॥ १४३ ॥

इदानीं पेयायूषावध्याह, द्रवाधिकेति ।—या चतुर्दशगुणे जले सिद्धा भवति सा
पेया ज्ञेया, स्वरूपेण च सा द्रवाधिका स्वल्पसिक्था । केचित् स भक्तमण्ड इति
वदन्ति, मण्डस्तु सिक्थरहित इति प्रसिद्धः ; तथा हि—“यवागूः बहुये तोये
संसिद्धा विरलद्रवा । चतुर्गुणां सुसिद्धा विलेपी घनसिक्थका ॥ पेया सिक्था-
न्विता तोये चतुर्दशगुणे कृता । मण्डचतुर्दशगुणे सिद्धतोये त्वसिक्थकः ॥” इति ।
युषमप्याह—तत इति—तस्मात् पेयाद्रूपद्रव्यात् यः किञ्चित् घनः सान्दी भवति स
यूष इत्युच्यते । एष यूषः केवलमुद्भूतः कृत इति वदन्ति इति केचित् ; यतो मुद्गरश्च
इति लोके । अत्रापि चतुर्दशगुणं जलं देयम् अन्नपरिमाणात् । यूषः इति
सामान्येन, अत्र बहवो भेदाः सन्ति, ते आह्लादशगुणे जले साध्या इति तन्मात्तरीश-
मतम् ; तथा हि—“साहितः साधितो यूषस्तटादशगुणे जले” इति ॥ १४४ ॥

पेयायूषयोः गुणाः ।—

पेया लघुतरा ज्ञेया याद्विणी धातुपुष्टिदा ।

यूषो बल्यस्ततः कण्ठो लघुपाकः कफापहः ॥ १४५ ॥

भक्त्य साधनविधिः गुणश्च ।—

जले चतुर्दशगुणे तण्डुलानां चतुष्पलम् ।

विपचेत् स्रावयेन्मण्डं स भक्तो मधुरो लघुः ॥ १४६ ॥

गुणमनयोर्वक्तुमाह, पेया लघुतरेत्यादि ।—लघुतरा अत्यर्थे लघुपाका । याद्विणी याद्विका अतिसारादीनाम् । ननु द्रवमन्नमतौसारे निषिद्धम् ; यदुक्तं—“वज्रयेद्वेदलं शूलो कृष्टौ मांसं क्षयो स्त्रियम् । द्रवमन्नमतौसारौ सर्वं च तरुणज्वरौ ॥” तत् कथं पेया अतौसारे विहिता ? उच्यते, अविहितद्रवाग्ननिषेधाद्यै बाक्यमिदं, पेयायवाग्न्यादि विहितमेव ; तथा चोक्तं सुश्रुते—“कार्यं चानशनस्थाने प्रद्वं लघुभोजनम्” इति । अत्र प्रद्वं प्रकटद्रवं, लघु यवाग्न्यादि । तथैव निषिद्धाचरणं भोजनाप्युक्तं—“वयोदरस्थापनपातितानां (?) प्रमेहिण्यां कुर्यातीसारिणाञ्च । द्रवं न दद्यादधवाऽपि कोष्णं स्वल्पं हितं भेषजसम्प्रयुक्तम् ॥” इति । यूषोऽपि बल्यो बलकरः । कण्ठः कण्ठहितः । पाके लघुः कफापहश्च ; अत एवात्र मुद्गयूषः कृताकृतश्च कथितः ; तथा हि—“कफघ्नो दीपनो हृद्यः शुद्धानां प्राणिनामपि । उक्तः पथ्यतमश्चापि मुद्गयूषः कृताकृतः ॥” इति ॥ १४५ ॥

इदानीं भक्ताविधिमाह, जले इति ।—तण्डुलानां चतुष्पलं कुङ्कुममिश्रं याज्यं, चतुर्दशगुणे पानीये विपाच्य तद्वत् पानीयोऽवशिष्टः (?) स भक्त इति प्रसिद्धः । गुषोऽपि रसे मधुरः, पाके लघुरिति । एतद्वृत्तलपरिमाणं परिकृतार्थम् । ननु तन्वान्तरं भक्तं पञ्चगुणे साध्यामिति ; तथा हि—“शृतं पञ्चगुणे भक्तं बिलिपीति चतुर्गुणे” इति ; तत् कथं चतुर्दशगुणमत्र जलम् ? उच्यते—भक्तं द्विविधं सुधौत-प्रसृतम् अधौतासृतञ्च, यत् सुधौतप्रसृतं, तच्च चतुर्दशगुणे जले साध्यम् ; अधौता-सृतञ्च पञ्चगुणे इति भावः ; तथा चाक्तं—“सुधौतप्रसृतं चोष्णं विशदं गुणवन्मृतम् । अधौतमसृतं शीतं गुरु वृष्यं कफप्रदम् ॥” इति ॥ १४६ ॥

मण्डस्य साधनविधिः गुणश्च ।—

नीरे चतुर्दशगुणे सिद्धो मण्डस्त्वसिक्थकः ।

शुण्ठीसैन्धवसंयुक्तः पाचनो दीपनः स्मृतः ॥ १४७ ॥

अष्टगुणमण्डस्य साधनविधिः गुणश्च ।—

धान्यत्रिकटुसिन्धुस्य-मुद्गतण्डलयोजितः ।

भृष्टश्च हिङ्गुतैलाभ्यां स मण्डोऽष्टगुणः स्मृतः ॥ १४८ ॥

दीपनः प्राणदो बस्ति-शोधनो रक्तवर्धनः ।

ज्वरजित् सर्वदोषघ्नो मण्डोऽष्टगुण उच्यते ॥ १४९ ॥

अधुना शुद्धमण्डमाह, नीरे इति ।—चतुर्दशगुणं नीरे तण्डुलरिमिषात् सिद्धो निष्यन्नः, असिक्थक इति—सिक्थो भक्तावयवः तेन रक्षित इत्यर्थः, य ईदृशः मण्डमंजया प्रसिद्धः । एष यदा शुण्ठीसैन्धवचूर्णेन प्रक्षिप्तस्तदा पाचनं चामादीनां, दीपनो जठराग्रस्य स्मृतः कथित इत्यर्थः । अयमभृष्टतण्डुलेर्भजितः, अत एव शुद्ध-मण्डोऽभिहितः ; यतो मण्डस्तन्वान्तरे द्विविधो दर्शितः ; तद्वयथा—“मण्डस्तु द्विविधो ज्ञेय एकविधपरिस्तुतः । लाजेर्भृष्टेरभृष्टश्च तण्डुलैः परिसंस्कृतः ॥ चतुस्त्रिंशद्गुणो भक्तात् पूर्वः पूर्वो लघुर्हितः ॥” इति ॥ १४७ ॥

अष्टगुणमण्डमाह, धान्येति ।—धान्यादिभिर्द्रव्यैः संस्कृतो हिङ्गुतैलाभ्यां स भृष्टो भजितः स मण्डोऽष्टगुणसंज्ञः कथितः । अत्र तण्डुलमुद्गयोर्दानमन्नप्रकरणा-दशगन्तव्यम् ; तथा च तन्वान्तरे—“सुतण्डुलानां प्रत्यतिद्वयश्च तदर्द्धमुद्गाः कटुकवयश्च । कुम्भस्त्रीसैन्धवहिङ्गुतैलेर्भिः समसैः क्रियते च मण्डः ॥” इत्यादि । अत्र यत् शार्ङ्गधरेण तेलवर्णं कृतं तत् भर्जनाद्ये तण्डुलमुद्गयोः । अन्यमाप्युक्तं—“तण्डुलेर्द्ध-मुद्गाग्नेः किञ्चिद्भृष्टैः सुपाचितः । हिङ्गुसिन्धुवर्धनिका-तक्रत्रिकटुमस्कृतः ॥ ज्ञेयः सोऽष्टगुणो मण्डो ज्वरदोषघ्नयापहः ॥” इत्यादि । केचित् कर्तव्यविधौ चास्य कटुकवयचूर्णं पश्चात् प्रलेपे मनसि देयमिति वदन्ति । “स मण्डः” इति स्थाने “स भक्तः” इत्यपरं पठन्ति ; तन्मतं तु ईदृशं सिक्थयुत इत्यर्थः । सङ्गतोऽयं पाठः । अष्टगुण इति यत् प्रोक्तं तानाह, दीपन इत्यादि ।—दीपनमग्नः । प्राणदो बलकरः । बलशोधनो बलशुद्धिकरः, बलसिर्वाधारः, अत एव मूत्राणां विख्यातः । रक्तवर्धन इति—शोधितवृद्धिकरः । ज्वरजित् सर्वज्वरहरः प्रभावात् । सर्वदोषघ्न इति—त्रातपित्तकफाणां प्रत्येकं हन्ता, न तु सन्निपातज्वरहरः अष्टसंज्ञत्वात् ; तथा च

वायुमण्डल साधनविधिः गुणश्च ।—

सुकण्डितैस्तथा भृष्टैर्वायुमण्डो यवैर्भवेत् ।

कफपित्तहरः कण्डो रक्तपित्तप्रसादनः ॥१५०॥

लाजमण्डल साधनविधिः गुणश्च ।—

लाजैर्वा तण्डुलैर्भृष्टैर्लाजमण्डः प्रकीर्तितः ।

श्लेष्मपित्तहरो ग्राही पिपासाज्वरजिह्वतः ॥ १५१ ॥

इति श्रीदामोदरसुता श्रीशार्ङ्गधरेण विरचितायां

शार्ङ्गधरसंहितायां चिकित्साध्याने काण्ड-

कल्पना नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तन्नाम्नरे—“सुदोधनो बलिबिभोधनश्च प्राणप्रदो रक्तविबहुंनश्च । ज्वरापहारी कफपित्तहन्ता वायुं जयेदष्टगुणो हि मण्डः ॥” १४८।१४९ ॥

इदानीं वायुमण्डमाह, सुकण्डितैरिति ।—अयं वायुमण्डो दक्षितयवगोधूमादि-
कृतो व्यक्त एव, तथाऽपि किञ्चिद्वाच्ये, सुकण्डितैरिति—सूषणादिभिरुद्वृत्त-
मङ्गुद्वितैः, तुषबजितैरित्यर्थः । तथा भृष्टैरिति—भजितैः ; तथेति दृष्टेन यथा न
दृष्टैरित्यर्थः । इदंशैः यवैः, यवीऽन्नविशेषः ; बहुवचनत्वेन गोधूमादयो ग्राह्याः । स च
कफपित्तहरः कफहरः पित्तहरश्च, संयोगहरो वा । कण्डो इति—कण्डूरीनेभ्यो
हितः । रक्तपित्तप्रसादन इति—प्रकर्षेण सादयति इति प्रसादनः कृपितासृपित्त-
शान्तिकर इत्यर्थः, न तु रक्तपित्तप्रवृद्धिकरः ; तथा हि—“वायुमण्डो लघुर्ग्राही
शूलानादासृपित्तजित्” इति । केचिदिति व्याख्यायन्ति—प्रकुपितं रक्तपित्तं निमलं
करोति स्वप्रकृतिस्थितं करोतीत्यर्थः । अपरे “रक्तपित्तनिःसृदनः” इति पठन्ति, तत्
व्यक्तम् ॥ १५० ॥

अथ लाजमण्डमाह, लाजैरिति ।—भृष्टशालिभवा लाजा इत्युच्यन्ते, तेऽन्ता-
यः साधितः स लाजमण्डः कथितः । साधनमत्र पूर्ववत् ज्ञातव्यम् । अथवा
भृष्टैस्तण्डुलैश्च कृतो यः सोऽपि लाजमण्डसंज्ञितः । अथ गुणमाह, श्लेष्मपित्तहरः
इत्यादि ।—श्लेष्महरः पित्तहरश्च । ग्राही सङ्ग्राहकः । पिपासाज्वरजिह्वत इति—
पिपासा पातुनिष्का, ज्वर इति सामान्यशब्देनाष्टवा । अत्र लाजादीनां परिमाणं

तृतीयोऽध्यायः ।

फाण्टकल्पना ।—

फाण्टस्य साधनविधिः नामाविधिश्च ।—

क्षुप्ते द्रव्यपले सम्यक् जलमुष्णं विनिक्षिपेत् ।

मृत्पात्रे कुडवोन्मानं ततस्तु स्रावयेत् पटात् ॥ १ ॥

तस्य चूर्णद्रवः फाण्टस्तन्मानं द्विपलोन्मतम् ।

सितामधुगुडादींश्च क्लायवत्तत्र निक्षिपेत् ॥ २ ॥

स यथा—

पूर्वमण्डवज्ज्ञातव्यम् । ननु यद्येवं तर्हि किमसौ पृथक् दर्शितः ? उच्यते—लानमण्ड-
संज्ञादिज्ञापनार्थं पृथगुक्तं, न दोषः ॥ १५१ ॥

इति श्रीवाक्यान्वयप्रकाशवेद्य-श्रीभाषासिंहकान्तजिनादनज्जेन विरचितायां

शार्ङ्गधरदोषकायां मध्यखण्डे चिकित्सितस्थाने

फाण्टकल्पना नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

इदानीं फाण्टकल्पनां दर्शयितुमाह, क्षुप्ते द्रव्येति ।—अनेन फाण्टपरिभाषा
अभिहितम् । क्षुप्ते द्रव्यपले इति—सम्यक् क्षुप्ते अत्यन्तकुट्टिते, चूर्णसदृशे इत्यर्थः,
उष्णमिति—चूर्णविशोषितं, कथितमावमिति केषित् ; विनिक्षिपेत् विशेषण
क्षिपेदिति गद्येन द्रव्यस्य परिमाणादिकं सूचितम् ; एतेनाङ्गपरिमितं द्रव्यं जले
निर्मलं विस्त्राव्यमित्यर्थः । तस्य द्रवकपफाण्टस्य पर्यायवाचकशब्दश्चूर्णद्रवः शोक्तः ।
तन्मानमिति—पानार्थम् । अथ तन्मन्त्रेपार्थं द्रव्याख्याह, सितेत्यादि ।—अत्र
आदिशब्दात् क्षीरघृततैलमूत्रलवणक्षारहृदिङ्गुलिकटुकप्रभृतयो गृह्यन्ते, एतेषां प्रक्षेपनार्थं
फाण्टकल्पना इत्यर्थः ॥ १५२ ॥

वातपित्तज्वरे मधुकपुष्पादिः ।—

* मधुकपुष्पं मधुकं चन्दनं सपरुषकम् ।

मृणालं कमलं लोभ्रं गाम्भारी नागकेशरम् ॥ ३ ॥

त्रिफला-सारिवा-द्राक्षा-लाजान् कोणजले क्षिपेत् ।

सितामधुयुतः पेयः फ्राण्टो वाऽसौ हिमोऽथवा ॥ ४ ॥

वातपित्तज्वरं दाहं तृणामूर्च्छांरतिभ्रमान् ।

रक्तपित्तं मदं हन्यान्नात्र कार्या विचारणा ॥ ५ ॥

स यथेत्यनेन तद्दृश्यति यथकारः । इदानीं विवरणमस्माभिरपि लिख्यते, मधुकपुष्पमिति ।—अथ मधुकपुष्पादिः फ्राण्टसंज्ञः हिमसंज्ञो वा कल्पनादयमेदात् । अत्र मधुकी वृक्षविशेषः, तस्य पुष्पाणि । मधुक मधुयुतौ । चन्दनमत्र रक्तम् । परुषक-मिति—फलविशेषः, “फलम्” इति लोके । † मृणालं कमलमालं, “मसौड” इति लोके । कमलं पुष्पविशेषः विख्यातः, तदभावे पद्मबीजमिति सर्वत्र । गाम्भारीति—गाम्भारीफलम् । त्रिफला इति—हरीतक्यादिकम् । ‡ सारिवा आस्फोता, “आस्फोई” इति शब्दवाच्या । लाजानिति—भृष्टधान्योद्भवान् ; एतत् सर्वं सममानेन पलेकं याज्यम् ; समताऽवानुक्तत्वात् । कोण इति—द्वैषदणः । सिता मधु प्रक्षेपे प्रशस्तम् । हिमोऽपि परतो यदपेक्षमाणाऽस्तीति । अरतिरसौख्यम् । भ्रमश्चाकूटस्थेव । मदं दुष्टपूगधुस्तुरकीदृवादिजनितम् । अत्र विचारणा न कार्याति यत् यदृष्यं, तत् “अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रोवधोना प्रभावः” इति वाक्यातुरोधात् ; तथा चोक्तं—“नौषधीहृन्मिविद्वान् परीक्षेत कथञ्चन । मृदुलेषापि स्तूनां नात्यष्टादिविरेचयेत् ॥” (सु० सु० ४०५०) इति । अत एव वृक्षवैद्यवहारेणानुसर्तव्य इति जनश्रुतिरित्यर्थः । केचित् प्रत्येकवित्तीयान्द्रव्ययुक्त्येन व्यक्तयोगानपि प्रशंसन्ति, एतदपि मनोहरं न होषः, “नात्र कार्या विचारणा” इति वचनात् ॥ ३—५ ॥

* अक्षोक्तानेन योगेन सद्यः अस्य किञ्चित् वैषम्यं दृश्यते, तत्र नीलोत्पलं साविवाह्यं पद्मकेशरं तथा तण्डुलीदकेन सद्यः हिमकषावः कर्तव्य इति पाठः । अत्र कमलं नागकेशरं सारिवा तथा तृणजलेन सद्यः फ्राण्टो हिमो वा कर्तव्य इति ।

† मृणालशब्देन उग्रोरम् इति व्याचष्टे शिषदासः ।

‡ सारिवा अनन्तमूलं श्यामालता वा इति सर्वत्र दृश्यते । गूढाद्येदोपकारिणापि अनन्तमूलमित्येव व्याख्यातम् ।

पित्तज्वरे चासादिः ।—

आम्रजम्बूकिसलयैर्वटशुङ्गप्ररोहकैः ।

उशीरेण क्षतः फाण्डः सचौद्रो ज्वरनाशनः ॥

पिपासाच्छर्यतीसारान् मूर्च्छां जयति दुस्तराम् ॥ ६ ॥

दाहदृष्ट्यादौ मधूकपुष्पादिः ।—

मधूकपुष्पगाम्भारी-चन्दनीशीरधान्यकैः ।

द्राक्षया च क्षतः फाण्डः शीतः शर्करया युतः ॥

दृष्ट्वापित्तहरः प्रोक्तो दाहमूर्च्छाभ्रमान् जयेत् ॥ ७ ॥

फाण्डभेदमन्त्रस्य माधनविधिः मात्रा च ।—

मन्योऽपि फाण्डभेदः स्यात्तेन चात्रैव कथ्यते ।

जले चतुःपले शीते क्षुप्तं द्रव्यपलं क्षिपेत् ॥

मृत्पात्रे मन्ययेत् सम्यक् तस्माच्च द्विपलं पिबेत् ॥ ८ ॥

अथासादिफाण्डमाह, आम्रजम्बूकिसलयैरिति ।—आम्रकिसलयैर्जम्बूकिसलयैश्च, किसलयं कीमलपत्रम् । वटशुङ्गप्ररोहकैरिति—वटश्चक्षुः * शुङ्गाणि कीमलपत्रवानि, प्ररोहका वटावरोहाः, “वरोहो” इति लोके । उशीरस्तृणभेदः सुगन्धाङ्गः प्रसिद्धः । कर्तव्यताऽस्य पूर्ववत् । औद्रमत्र प्रक्षेपे । दुस्तरामिति—अनिवार्याम् ॥ ६ ॥

इदानीं क्षुप्तमधूकपुष्पादिफाण्डं दर्शयन्नाह, मधूकपुष्पेति ।—मधूकपुष्पं विख्यातं, “मधुया” शब्दवाच्यम् । गाम्भारी काश्मरी, तस्याः फलानि । चन्दन-मत्र रक्तचन्दनम् । उशीरं प्रसिद्धम् । धान्यकं कुसुम्बरी । द्राक्षा फलोत्तमा । शीत इति व्यर्थतः, यथा—शीतो हिमकषायोऽयं कर्तव्यः, पूर्ववाक्यानुरोधान् । शर्करा अत्र प्रक्षेपे । दृष्ट्वाहरः पित्तहरश्च, पिपां प्रकुपितम् ॥ ७ ॥

इदानीं मन्यविधिमाह, मन्य इति ।—यतोऽयं मन्यः फाण्डस्य भेदो दर्शितः तदेदिभिः, तेन कारणेनात्र कल्पनया कथ्यते, आचार्य्येति शेषः । शीते जले इति यद्वक्ष्येनैव फाण्डाद्विज्ञोऽयं कथितः । “जले चतुःपले” इत्यादिकोऽयं श्लोकः प्रक्षेपक इति वदन्ति केचित्, यतो बहुषु पुनर्लेखे न हृष्यते । जलमानानु द्रव्यानु-मानतो बोद्धव्यं, यथा वक्ष्यमाणे शक्तुमन्यके ॥ ८ ॥

स यथा—

मदाख्ये खर्जूरदिः ।—

खर्जूरदाडिमौद्राक्षा-तिन्तिडीकाम्लिकाऽऽमलैः ।

सपरुषैः कृतो मन्यः सर्वमद्यविकारनुत् ॥ ८ ॥

कृपां मन्त्रप्रयोगः ।—

क्षौद्रयुक्ता मसूराणां मक्तवो दाडिमाश्वसा ।

मथिता वारयन्त्याशु कटिं टीषत्रयोद्भवाम् ॥ १० ॥

हृणादौ यवप्रयोगः ।—

प्लावितैः शीतनीरेण मघृतैर्यवशक्तभिः ।

नातिसान्द्रद्रवैर्मन्यस्तृणादाद्यासपित्तहा ॥ ११ ॥

इति श्रीदामोदरसूनुना श्रीशङ्कराचार्येण विरचितायां

शङ्करभट्टिताया मध्यखण्डे चिकित्सितस्थाने

काण्टादिकल्पना नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

स यथेति मन्यवृक्षं वाक्यमिदम्, अतस्तु दर्शयन्नाह, खर्जूरिति ।—अथ खर्जूरदीनां फलानि यास्याणि । खर्जूरो ब्रह्म खर्जूरिका, तस्य फलानि, 'उतती' इति लोके । दाडिमौ दाडिमौफलम् । तिन्तिडीकं विटपिविशेषः, तस्य फलानि अस्त्रानि भवन्ति । अम्लिका चिन्ता, तस्याः फलानि प्रसिद्धानि । आमलसामलक-फलम् । परुषकं "फल्सा"शब्दवाच्यं रुखविटपं, तस्यापि फलैः, कृत इति—एषां परिपक्वफलैः संस्कारित इत्यर्थः । सर्वे मद्यं दष्टपूगकोद्वारिष्ठादिकं तज्जनितां विकारं मदाख्ययादिकं, तं नाशयतीत्यर्थः । एके चात्र शर्करां प्रचिष्यन्ति पानक-त्वात् ॥ ८ ॥

इदानीं मसूरादिमन्यविवरणमाह, क्षौद्रयुक्ता इति ।—क्षौद्रयुक्ता मधुप्लाविताः । मसूरीऽन्नविशेषः, अथ च मज्जितः शक्तुनिमित्तत्वात् । दाडिमाश्वसा परिपक्वदाडिम-फलतोयेन मथिता निमज्जिता । टीषत्रयोद्भवामिति—व्यक्षां ममक्षां वा ॥१०॥

अथ यवशक्तुमाह, प्लावितैरिति ।—यवशक्तभिः कृत्वा कृतो यो मन्यः स हृणा-दाद्यासपित्तहा भवति । कौटुम्भेः ? शीतनीरेण शीतलपानीयेन प्लावितैः आलीडितैः । एके—"प्लावितैः शीतनीरेण" इत्यस्य स्थाने "प्लावितैः शर्करातोयैः" इति पठन्ति व्याख्यानयनि च । पुनः कौटुम्भेः ? सघृतैः उक्त(?)परिमाणघृतयुक्तैः । कथभूतैः ?

चतुर्थोऽध्यायः ।

हिमकल्पना ।—

श्रीतस्य साधनविधिः मावाविधिश्च ।—

क्षुप्तं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्नीरपलैः प्लुतम् ।

निशोषितं हिमः स स्यात्तथा श्रीतकषायकः ॥

तन्मानं फाण्टवज्ज्ञेयं सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥ १ ॥

नातिसान्द्रद्रवेः नातिशयेन सान्द्रद्रवालैरिति, सान्द्र कठिनं, द्रवं तीव्रसदृशम् ; तथा च तन्मानरे—“शक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः श्रीतवारिपरिप्लुताः । नातिद्रवा नातिसान्द्रा मन्य इयमिधीयते ॥” इति । एके “नातिसान्द्रद्रवैर्मन्यः” इति पठान्त, तन्मते तु सान्द्रत्वं निषिद्धं द्रवत्वं प्रशस्तमिति ; तथा च मतान्तरे वाक्यद्वयमाह,— “गूर्वी पिण्डो खराऽन्यथं लघ्वी सैव विपर्ययात्” । “न जलान्तरितान् न हिः शक्तूनद्यान् केवलाम्” इति । द्रवेऽपि साफल्यमनुयाइकेण दर्शयितुमाह, तत् यथा—“प्लोताः सन्तर्पणा हृदाः सद्यो बलविवर्जनाः । वातातपाध्वन्यायाम-कर्षितानां श्मपापहाः ॥ मधुरा लघवः श्रीताः शक्तवो रक्तपित्ताः ॥” इति । अथमपि शर्करादिसंयुक्तः कर्माव्यो व्यवहारात् ; उक्तञ्च—“शर्करेक्षुमधुद्राचा-युक्तः पित्त-विकारजनः । द्राचामधुसमायुक्तः कफरीगृहः क्षुतः ॥ बर्गत्रयेणोपहितो मलदोषानु-लोमनः ॥” इति ॥ ११ ॥

इति श्रीवाक्यव्याख्यप्रकाशवेद्य-श्रीभाषसिंहात्मजेनाटमल्लेन विरचितायां

शार्ङ्गधरदीपिकायां मध्यखण्डे चिकित्सितस्थाने

फाण्टकल्पना नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ हिमकल्पना निर्देश्यमाह, प्लुतमिति ।—अयं हिमकषायोऽनया परिभाषया प्रथितो भवति, कथम् ? यथा—क्षुप्तं सम्यक् कुट्टितम् । षड्भिर्नीरपलैः इति—द्रव्य-परिमाणात् । निशोषितमिति—सकलान्निशायामभ्युषितं, तेन प्रातः संसाध्य द्रवं क्षास्त्रमित्यर्थः । एतस्य पर्यायनाम्ना श्रीतकषायः कथितः । तन्मानं फाण्टवत् ज्ञेयमिति

स यथा—

रक्तपित्ते आसादिः ।—

आम्र-जम्बू च ककुभं चूर्णीकृत्य जले क्षिपेत् ।

हिमं तस्य पिवेत् प्रातः सक्षौद्रं रक्तपित्तजित् ॥ २ ॥

दृणादौ मरिचादिः ।—

मरिचं मधुयष्टी च काकोडुस्वरपल्लवाः ।

नीलोत्पलं हिमस्तज्जस्तृणाच्छर्दिनिवारणः ॥ ३ ॥

वातपित्तज्वरे नीलोत्पलादिः ।—

नीलोत्पलं बला द्राक्षा मधूकं मधुकं तथा ।

उशीरं पद्मकञ्चैव काश्मरी च परुषकम् ॥ ४ ॥

एष शीतकषायश्च वातपित्तज्वरान् जयेत् ।

सप्रलापश्चमूर्च्छादि-मोहदृणानिवारणः ॥ ५ ॥

—तस्य परिमाणं पानार्थे फागटवनं ज्ञातव्यम् । मानयद्वेगेनापि प्रक्षेपादयोऽपि फागटवनं ज्ञातव्याः । एष निश्चयः भवति नान्यत् ॥ १ ॥

स यथांति वाक्येन । इमं कषाययागान् दर्शयति, आसेति ।—तत् यथा—अयम् आसादिकान्त्रको हिमो मधुप्रक्षिप्तो रक्तपित्तज्जित् । अथ ककुभोऽर्जुनः, स च हृत्विशेषः । आसादीनां त्वक्चूर्णमिति व्यवहारात् ॥ २ ॥

अथ मरिचादिसंज्ञको हिमः कथ्यते, मरिचमिति ।—अथ काकोडुस्वरिका “कटुस्वरी” शब्दवाच्या, “कट्वरी” शब्दवाच्या च, तस्य पत्राः । नीलोत्पलं नीलकमलं, तदभावे पद्मबीजमिति व्यवहारात् । तज्ज इति—मरिचादिद्रव्यैर्जातः । एके मरिचचूर्णे मनाक् प्रक्षेपेऽप्याहुः तोष्णत्वात् ॥ ३ ॥

अथ नीलोत्पलादिजं हिममाह, नीलोत्पलमिति ।—नीलोत्पलमव विख्यातं, तस्मैदीवरसंज्ञम् । बला प्रसिद्धा । मधूकं गुडपुष्प, लोके “महुषा” शब्दवाच्यम् । मधुकं यष्टीमधु । उशीरं दृणभेदः सुगन्धमूलम् । पद्मकं काष्ठविशेषः । काश्मरी गाम्भारी, तस्याः फलानि । परुषकं प्रसिद्धम् । शीतकषायो हिम-कषायः कथितः । प्रलापोऽसम्बद्धभाषणम् । समश्चक्राद्दृष्टेर्वार्थसंविधिः । मोहो मूर्च्छाभिदः ॥ ४।५ ॥

जीर्णज्वरे गङ्गुचीप्रयोगः ।—

अमृताया हिमः पेयो जीर्णज्वरहरः स्मृतः ॥ ६ ॥

कासादौ वामाप्रयोगः ।—

वासायाश्च हिमः कास-रक्तपित्तज्वरान् जयेत् ॥ ७ ॥

अन्तर्दाहदौ धन्याकप्रयोगः ।—

प्रातः मशर्करः पेयो हिमो धन्याकसम्भवः ।

अन्तर्दाहं तथा तृष्णां जयेत् स्रोतोविशोधनः ॥ ८ ॥

रक्तपित्तादौ धन्याकादिः ।—

धन्याकधात्रीवासानां द्राक्षापपटयोर्हिमः ।

रक्तपित्तज्वरं दाहं तृष्णां शोषञ्च नाशयेत् ॥ ९ ॥

इति श्रीदामोदरसूनुना श्रीशाङ्गधराचार्येण विरचितायां

शाङ्गधरसंहितायां मध्यखण्डे चिकित्सितस्थाने

हिमकल्पना नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इदानीममृताटकषकसंज्ञको हिमावाहः, अमृताया इति ।—अमृता गङ्गुची, तस्या बह्वी यास्या । अत्रापरं मधु प्रविपन्ति तन्वान्तरं दर्शनात् ; तथा हि—अमृतायाः कषायन्तु श्रोतं सम्यक् पल्लवम् । मधुपादयुत पोत जीर्णज्वरहरं परम् ॥” इति । अपरञ्च—वासा पाटकषकः, स चात्र पञ्चाङ्गो व्यवहारात् ॥ ६० ॥

प्रातरिति ।—एष धन्याकाहिमोऽन्तर्दाहदौ प्रशस्तः । धन्याकं कुस्तुम्ब । स्रोतो-विशोधन इति—मूत्रमार्गस्य शुद्धिकरः, मूत्ररक्तच्छादिहर इत्यर्थः ॥ ८ ॥

धन्याकिति ।—अयं धन्याकादसंज्ञको हिमो रक्तपित्तादिकान् हन्तीति । अत्र चात्रो वामलकीफलम् । वासा पाटकषकस्या मूलं याज्यम् । पपटः स्नाना-ख्यातः । एतत् सकलं समं तुलितं सङ्गृह्य हिमकषायः कर्तव्यः । अत्रात्रि शर्कराप्रविपनाहुः पूर्वयोगानुसारात् । शोषं सुखशोषं, अथभेदं वा । एके योगव्यमाहुः ॥ ९ ॥

इति श्रीवाल्मीक्यान्वयप्रकाशवेद्य-श्रीभावसिंहात्मजनाटमल्लेन विरचितायां

शाङ्गधरदीपिकायां मध्यखण्डे चिकित्सितस्थाने

हिमकल्पना नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

कल्ककल्पना ।—

कल्कस्य साधनविधिः पृथ्वाथो माता च ।—

द्रव्यमाद्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा सजलं भवेत् ।
प्रक्षेपाऽऽवापकल्कास्ते तन्मानं कर्षसम्मितम् ॥ १ ॥

कल्के प्रक्षेप्याणां माता ।—

कल्के मधु घृतं तैलं देयं द्विगुणमात्रया ।
सितां गुडं समं दद्याद्वा देयाश्चतुर्गुणाः ॥ २ ॥
स यथा—

अथेदानीं कल्ककल्पनां व्याख्यास्यामः, द्रव्यमित्यादि ।—इयमेनेन प्रकारेण कल्कपरिभाषा कथ्यते । द्रव्यं व्याधिविहितम् । आद्रं सद्य सङ्गतम् । पश्चान्नर-
कल्कविधौ शुष्कमपि द्रव्यं जलेन पिष्टं कल्कमंशकं भवति । ते प्रक्षेपावापकल्का इति पृथ्वाथवाचकशब्देः कायताः । तन्मानं कल्कपरिमाणं * कर्षमितं सार्द्धं टङ्कद्वयम्,
एतच्च भक्षणे मानमनुक्तानाम् ॥ १ ॥

अथान्न प्रक्षेपद्रव्याण्याह, कल्के मधु घृतमित्यादि ।—कल्के पूर्वोक्ते मधुघृततैलं द्विगुणमात्रया देयम् ; द्विगुणता कल्कादित्यर्थः । सितां गुडं समं, सममपि कल्काय । दद्याद्वा इति—अवशिष्टजलक्षोराद्याश्चतुर्गुणा देयाः कल्कादपीत्यर्थः । कल्कः प्रक्षेपसंज्ञः प्रोक्तः, तस्मात् द्रवेषु प्रक्षेपको धीज्य इति तात्पर्यार्थः । यथा अयं बल्य-
माणाः पिप्पलीवर्जमानादयो दृश्यन्ते ; अत एव कर्षपरिमाणं सामान्यं, विशेषतस्तु दोषाद्यनुकूलतः प्रमाणाणि बोद्धव्यानि ॥ २ ॥

* “कर्षमितं सार्द्धं टङ्कद्वयम्” इति यदुक्तं तत् प्रामादिकम् ; टङ्कशब्दो शाण्डिल्यार्थः, टङ्कद्वयेन क्षोली भवति, सार्द्धं टङ्कद्वयेन माषद्वयाधिकं तोलकं, कर्षं तु तोलकद्वयमिति सुधीभिर्विचार्यम् ।

पाण्डुरोगादौ पिप्पलीवर्द्धमानप्रयोगः ।—

त्रिवृद्ध्या पञ्चवृद्ध्या वा सप्तवृद्ध्याऽथवा कणाः ।

पिबेत् पिष्ट्वा दशदिनं तास्तथैवापकर्षयेत् ॥ ३ ॥

एवं * विंशद्दिनैः सिद्धं पिप्पलीवर्द्धमानकम् ।

अनेन पाण्डुवातास्र-कामश्वासाकुचिज्वराः ॥

उदरार्शःक्षयश्लेष्म-वाता नश्यन्त्युरोगहाः ॥ ४ ॥

त्रणादौ निम्बपत्रप्रयोगः ।—

लेपान्निम्बदलैः कल्को त्रणशोधनरोपणः ।

भक्षणाच्छर्दिकुष्ठानि पित्तश्लेष्मकृमौन् जयेत् ॥ ५ ॥

स यथेति वाक्येन तद्विधिं दर्शयति यत्रकारः, विहङ्गेत्यादिना ।—अयं पिप्पली-
वर्द्धमानप्रयोगो विधीयते । उडिस्तु तावत् यावद्दशदिनमिति । तास्तथैवापकर्षयेदिति
—ताः पिप्पल्यः, तथैवेति—उडिथुक्त्या अपकर्षयेत् क्रासयेत्, यावद्दशदिनमिति । एवं
विंशतिदिनैः कृत्वा पिप्पलीवर्द्धमानप्रयोगः सिद्धो भवति । एतेन किमुक्तं भवति ?
विभिस्त्रिभिः परिहृष्टिः कृता यावद्दशदिनानि, उडिस्तु प्रतिदिनमेव, ततस्त्रि-
विंशोऽपकर्षयेत् यावत् तिस्रः पिप्पल्य एव तिष्ठन्ति । एवं पञ्चवृद्धिरपकर्षश्च तथा
सप्तवृद्धिरपकर्षश्च । अथवेति यद्वचनेन दशपिप्पलीनां उडिरपकर्षश्च बोध्यः, अन्यतो
दर्शनात् ; तद्वदथा—“विभिरथ परिहृष्टं पञ्चभिः सप्तभिर्वा दशभिरथ विहृष्टं पिप्पली-
वर्द्धमानम् । इति पिबति पुमान् यस्तस्य न श्वासकास-ज्वरजठरगदार्शोवातरक्तज्वराः
स्युः ॥” इति । पिष्ट्वा इत्यत्रापि क्षीरपिष्टा इति मन्यन्ते केचित् ॥ ३।४ ॥

लेपादिति ।—निम्बपत्राणि शिलापिष्टानि कृत्वा त्रणेषु लेपः कार्यः, पेषण-
मत्र लक्ष्णेन । लेपपरिमाणन्तु चार्द्रमर्द्धवर्धमानौषधम् ; व्यवहारतस्तु त्रणानुकारि

* पिप्पलीवर्द्धमानस्य प्रयोग ऊनविंशतिभिर्दिनैः सिध्यति इति चक्रपाणि-
शिवदामादीनां मतं, यतः दशदिनं वर्द्धयित्वा एकादशदिनमारभ्य क्रासकरणे
ऊनविंशतिदिनान्त्येव भवन्ति । शार्ङ्गधरस्य “विंशद्दिनैः” इति पाठान् एकादशदिवसे-
ऽपि दशमदिवसोद्यमानां क्षीरोक्त्या द्वादशदिवसमारभ्य क्रासो मन्यते । किञ्च यत्र
पिप्पलीवर्द्धमाने सप्तपिप्पलीप्रयोगः चरकादौ दृश्यते, तत्र दशवृद्धिप्रयोगः एव
ऊनविंशतिदिनैः समाप्तो भवति, त्रि-पञ्च-वृद्धादिवृद्धिप्रयोगास्तु तदधिकदिनैर्नापीति
बोध्यम् ।

गृध्रस्य मृदानिम्बप्रयोगः ।—

मृदानिम्बजटाकल्को गृध्रसीनाशनः स्मृतः ॥ ६ ॥

वातव्याधौ रसोनप्रयोगः ।—

शुद्धः कल्को रसोनस्य तिलतैलेन मिश्रितः ।

वातरोगान् जयेत्तीव्रान् विषमज्वरनाशनः ॥ ७ ॥

वातव्याधौ रसोमपिण्डः ।—

पक्ककन्दरसोनस्य गुलिका निस्तृषीकृताः ।

पाटयित्वा च मध्यस्थं दूरीकुर्यात्तदङ्कुरम् ॥ ८ ॥

तदुग्रगन्धनाशाय रात्रौ तक्के विनिक्षिपेत् ।

अपनीय च तन्मध्याच्छिलायां पेषयेत्ततः ॥ ९ ॥

तन्मध्ये पञ्चमांशेन चूर्णमेषां विनिक्षिपेत् ।

सौवर्चलं यमानीच्च भार्जतं हिङ्गु सैन्धवम् ॥ १० ॥

कुर्यात्, नात्र नियतप्रमाणम् । काव्यान्तरमाह, भक्षणादिति ।—निम्बपत्रकल्क-
भक्षणादपि कृष्णदण्डो विनश्यतीति प्रभावात् ॥ ५ ॥

अपरमपि योगमाह, मृदानिम्बेति ।—मृदानिम्बः कार्मुकः, “वकाइनि” इति
लोके, तस्य जटा मूलम् । गृध्रसी वातरोगे पठिता, “रान्धनी” इति लोके
प्रसिद्धा ॥ ६ ॥

अन्यदप्याह, शुद्ध इति ।—रसोनः खनामख्यातः । शुद्ध इति—त्वगादि-
रहितः । तिलतैलेन मिश्रित इति—रसोनकल्कात् हिगुणितेन तिलतैलेन समु-
भक्षयेदित्यर्थः । वातरोगान् गृध्रस्यर्दितपक्षाघातप्रभृतौ । तीव्रानिति—दुक्षरान् ।
विषमज्वराः सततकादयः ॥ ७ ॥

इदानीं द्वितीयरसीनकल्कं दर्शयितुमाह, पक्केति ।—वृद्धसंज्ञकोऽयं रसीन-
कल्को यद्यपि सुगन्धलाभाऽपि केषाञ्चित् सुगन्धार्थे किञ्चित् व्याचष्टे, पक्ककन्दरसोनस्ये-
त्यादि ।—पक्कं काष्ठान्तरं परिणतम् । गुलिकाः कन्दस्यावयवावर्षाः, “पोषी”
इति शब्दवाच्याः । निस्तृषीकृता इति—नखैः सञ्कीर्णिताः, पश्चात् पाटयित्वा
हिवा विदाय्ये । तदङ्कुरमिति—रसानगुलिकानध्यस्यर्दितवर्णाङ्कुरम् । तन्मध्या-
दिति—तत्कमध्यात्, अपनीय समादायेत्यर्थः । अत्र रसीनकल्के अङ्गद्वयाणां
चूर्णं पञ्चमांशेन कृत्वा क्षिपेत्, पञ्चमांशमिति—रसानकल्कात्, तैल रसीनकल्कं

कटुत्रिकं जीरकञ्च समभागानि चूर्णयेत् ।

एकीकृत्य ततः सर्वं कल्कं कर्षप्रमाणतः ॥ ११ ॥

खादेदग्निबलापेक्षी ऋतुदोषाद्यपेक्षया ।

अनुपानं ततः कुर्यादेरण्डशृतमन्वहम् ॥ १२ ॥

सर्वाङ्गेकाङ्गजं वातमर्दितञ्चापतन्त्रकम् ।

अपस्मारमथोन्मादमूत्रस्तम्भञ्च गृध्रसीम् ॥

छरःपृष्ठकटीपार्श्व-कुक्षिपीडां क्रिमीन् जयेत् ॥ १३ ॥

रसोनप्रयोगे अपस्थानि ।—

अजीर्णमातपं रोषमतिनीरं पयो गुडम् ।

रसोनमश्वन् पुरुषस्त्यजेदेतन्निरन्तरम् ॥ १४ ॥

भागचतुष्टयं, द्रव्यचूर्णं भागेकमिति । भर्जितं द्रिङ्गु चोत्प्लेदव्यवच्छेदार्थम् ; तथा हि—“योगेष् भर्जितं द्रिङ्गु दयं गोरक्षेदकज्ञवेत्” इति । एवं सर्वतः । कटुत्रिकं शुण्ठीमरिचपिप्पल्यः । कल्कं कर्षप्रमाणत इति—रसानद्रव्यचूर्णमिलितं कल्कं, न तु केवलं कर्षप्रमाणम्, अत एव खादेदग्निबलापेक्षीति वक्ष्येनात्र मानाभावः सूचितः । एरण्डमूलकृथितमवानुपानम्, उक्तपरिमाणं प्रत्यहमेव कुर्यात् । एकाङ्गज-मिति—पञ्चघातः । अपतन्त्रकं वातरोगे पठितलक्षणम् । पीडाशब्दः छरःप्रभृतिभिः प्रत्येकमभिसम्बद्धः, तेन छरःपीडा पृष्ठपीडा पार्श्वपीडा कटिपीडा कुक्षिपीडा इत्यर्थः । ननु सर्वाङ्गगुडयोगेनैव सर्वे वाताविकाराः प्राप्ताः, तत् कथं पृथक् यद्वहम् ? उच्यते—सर्वाङ्गेषु सर्वशरीरप्रकुपितो वाताऽभिहितः, एकाङ्गेन अवयवाश्रितः, तस्मात् सर्वाङ्गप्रकुपितम् एकदेशप्रकुपितञ्चामिलं नाशयेदिति न दोषः ॥ ८—१३ ॥

अथ अथासृष्टेव त्याज्यमाह, अजीर्णमित्यादि ।—निरन्तरं सर्वकालम् । अजीर्णमन्नादिजनितम् । आतपञ्च घर्मसंवायम् । रोषं क्रोधम् । अतिनीरमत्यल्पपानम् । * पयः क्षीरम् । गुडं प्रसिद्धम् । एकं गुडोपलक्षितत्वात् सर्वेष्वविकारास्याज्या इति वदन्ति ॥ १४ ॥

* “पयो मद्भिषीपयः, तस्य वातकर्षत्वात्, न गोपयः तस्य पय्यवर्गे स्निग्धत्व-
स्थान्” इति गूढाश्वेदीपिकापाठः न ह्यतथा प्रतिभाति, गौरवनाधुर्यादिगुणसम्पन्नस्य
मद्भिषीपयसः श्लेष्मकर्षत्वात् ।

रसोनप्रयोगे पच्यानि ।—

मद्यं मांसं तथाऽस्त्रश्च रसं सेवेत नित्यशः ॥ १५ ॥

ऊरुस्तम्भे पिप्पल्यादिः ।—

पिप्पली पिप्पलीमूलं भस्मातकफलानि च ।

एतत्कल्कश्च मच्चौद ऊरुस्तम्भनिवारणः ॥ १६ ॥

परिणामशुले अपराजिताप्रयोगः ।—

विण्णुकान्ताजटाकल्कः सिताच्चौदृष्टतैर्यतः ।

परिणामभवं शूलं नाशयेत् सप्तभिर्दिनैः ॥ १७ ॥

परिणामशुलादौ शुण्ठादिः ।—

शुण्ठीतिनगुडैः कल्को दग्धेन सह योजयेत् ।

परिणामभवं शूलमामवातश्च नाशयेत् ॥ १८ ॥

सेव्यमाह, मद्यमित्यादि ।—मद्यं सुरासवप्रभृतिकम् । मांसं जाङ्गलिकं गुण-
प्राधान्यात् । अस्त्रमस्त्ररसं, तच्च नातुलकादिकम् । रसं मांसजनितं प्रसङ्गमित्यर्थः (?) ।
नित्यशः प्रतिदिनम् ॥ १५ ॥

इटानीमूलस्तम्भे कल्कस्वरूपं योगमाह, पिप्पलीति ।—एतेषां कल्क इति एत-
त्कल्कः । पिप्पलीपिप्पलीमूलं विख्याते । भस्मातकफलान्यत्र * निरस्थीनि योज्यानि ।
कुशाश्लेषा पिप्पल्यादीनां काथोऽपि प्रचरति ; तथा हि—“पिप्पलीपिप्पलीमूल-
भस्मातकश्च तं पिबेत् । कल्को वा समधुर्देय ऊरुस्तम्भविनाशनः ॥” इति ॥ १६ ॥

परिणामशुलेऽपराजिताकल्कमाह, विण्णुकान्तेति ।—विण्णुकान्ता अपराजिता
प्रतीता, शतावरी वा । सितादयोऽप्यत्र पूर्वपरिमाणेन प्रक्षिप्ताः । सप्तभिर्नैरात
योगस्यास्य दृष्टफलत्वं दर्शयति । परिणामशूलं पक्तिशूलं, तच्च शूलरोगे स्पष्टमेव ॥ १७ ॥

अपरमपि परिणामशुलाद्ये प्रयोगमाह, शुण्ठीति ।—अत्रास्य कर्तव्यविधौ
† शुण्ठीतिनाम्ना कल्कः कार्यः । गुडमत्र इधोः सन्तुलितं, चतुर्गुणेन क्षीरेण सह

* भस्मातकानामस्थीन्यत्र सर्वत्र प्रयुज्यन्ते । शिबटासेनात्र अक्षरमपि न लिखितम्,
अतो मतमस्य चिन्त्यम् ।

† अत्र शिबटासत्याख्या—“नागरादिकल्कमुत्कारिकावत् यवागूवत् वा क्षीरेण
साधयित्वा भक्षयेत् । शुण्ठीचूर्णे कर्ष १, पुरातनगुडं कर्ष १, तिक्तचूर्णे पल १,
गव्यदुग्धं जराब २” इति ।

रक्ताशंसु अपामार्गप्रयोगः ।—

अपामार्गस्य बीजानां कल्कस्तण्डुलवारिणा ।

पीती रक्ताशंसां नाशं कुरुते नात्र संशयः ॥ १८ ॥

रक्तातीसारं बट्यादिः ।—

बटरीमूलकल्केन तिलकल्कश्च योजितः ।

मधुच्चारयुतः कुर्याद्रक्तातीसारनाशनः ॥ २० ॥

रक्तपित्तादौ लाक्षाप्रयोगः ।—

कुष्माण्डकरसोपेतां लाक्षां कर्षद्वयं पिबेत् ।

रक्तक्षयमुरोघातं क्षयरोगश्च नाशयेत् ॥ २१ ॥

साधयित्वा भक्षयेदिति भावः । 'अकारादयमपि सप्तदिनाभ्यन्तरे दृष्टफलः । उक्त-
मन्यवापि—“नागरतिलगुडकल्कं ययसा संसाध्य यः पुमानयात् । उद्यं परिणति-
शूलं तस्यापैति सप्तरात्रेण ॥” इति ॥ १८ ॥

अथ रक्ताशंसां प्रयोगं दर्शयन्नाह, अपामार्गस्तेति ।—अपामार्गः प्रसिद्धः ।
तण्डुलवारिं तण्डुलजालनशूलं, तच्च पटपाके दृष्टान्तम्, अनेन चतुर्गुणपापामार्गस्य
बीजानां कल्कः पेयः, न तु तेन मानेन पवित्रः, पेयकार्येण परिमितं ज्ञानम्, एत-
देव दृश्यम् । भास्वि मशय इति—दृष्टफलत्वेनास्य प्रभावातिशयोक्तिर्निर्णयः ॥ १८ ॥

इदानीं रक्तातीसारं बटरीमूलकल्कमाह, बटरीमूलकल्केन तिलकल्कश्चेति ।—
कल्कद्वयद्वयेन मर्भं मेलयित्वा कल्कः कार्यः, इत्यस्य दीयमस्पृष्टाय, तेन द्रव्यो, सास्त्रेण
कर्षक, पक्षार्थं ज्ञानमवानुक्तत्वात्, मधुच्चारो शीतपरिमाणेन प्रक्षेपे दृश्यौ । केचित्मधु
क्षोरयुत इति पठन्ति, तत्र—क्षोरं कृगोद्वं व्याधिविहितत्वात् । अयमेव पक्षो व्यव-
हारको दृश्यते । गुणेनाप्युक्तम्—“आजं शीघ्रञ्चरश्चाम-रक्तपित्तातीसारनिहन्ति” इति ॥ २० ॥

अथ रक्तपित्ते कुष्माण्डप्रयोगमाह, कुष्माण्डकंति ।—कुष्माण्डकः प्रसिद्धः, तस्य
फलभ्रंशमेव * कर्षमादां लाक्षां । पक्षा तेनैव चतुर्गुणेन सह पिबेत् । चतुर्गुणताऽव-
पन्नमानम्, पक्षं विधिः पानादिति वाक्ये दर्शितः । लाक्षाऽलककस्य जगनी ।
अवापि मधुप्रक्षेपं कुर्वन्ति ब्रह्मा, कुतः ? पूर्वयोगानुवृत्तेः ॥ २१ ॥

* मूलं “कर्षद्वयम्” इति पाठः, टीकायां कर्षमादाभिहितः । कर्षद्वयस्य
चतुर्गुणं पक्षद्वयमानं भवति, कर्षस्य तु पक्षमानम् इति सूचीभिर्दृष्टव्यम् ।

रक्तप्रदरं तण्डुलीयप्रयोगः ।—

तण्डुलीयजटाकल्कः सक्षौद्रः सरसाञ्जनः ।

तण्डुलोदकसम्पौतां रक्तप्रदरनाशनः ॥ २२ ॥

अतीसारहारी अङ्गुठप्रयोगः ।—

अङ्गुठमूलकल्कश्च सक्षौद्रस्तण्डुलाम्बुना ।

अतीसारहरः प्रोक्तस्तथा विषहरः स्मृतः ॥ २३ ॥

विषे बन्ध्याकर्कोटिकादिप्रयोगवधम् ।—

बन्ध्याकर्कोटिकामूलं पाटलाया जटाऽथवा ।

घृतेन विष्वमूलं वा द्विविधं नाशयद्विषम् ॥ २४ ॥

सन्निपाते अभयादिः ।—

अभयासैन्धवकणा-शुण्ठीकल्कस्त्रिदोषहा ॥ २५ ॥

अग्रमान्द्यादौ पथ्यादिः ।—

पथ्यासैन्धवशुण्ठीभिः कल्को दीपनपाचनः ॥ २६ ॥

रक्तप्रदरेऽप्याह, तण्डुलीयेति ।—तण्डुलीयः शाकविशेष “जौराइ” इति शब्द-
वाच्यः, तस्य जटा मूलम् । कर्कोट्यताऽप्य—तण्डुलीयजटा रसाञ्जनञ्च साम्येन कर्ष-
परिमितं यावत्, तदन जलेन सम्मिश्र्य मधुयुक्तचतुर्गुणेन तण्डुलजलेन सह पातय्यः ।
तण्डुलजलं पूर्वं व्याख्यातम् । रसाञ्जनं स्वनामख्यातं, तच्च दार्वाक्याससुद्धमिति
प्रसिद्धम् । रक्तप्रदरः स्त्रीरोगे पठितः ॥ २२ ॥

अथ विषहरणार्थं योगवरानाह, अङ्गुठमूलिति ।—अङ्गुठो हृत्तविशेषस्तस्य
मूलम् । क्षौद्रमव प्रलेपे साधु । तण्डुलाम्बुनेति चतुर्गुणेन, चतुर्गुणता च कल्क-
द्रव्यात् । विषोऽव स्थावरः । विषनिमित्तान्तु जलेनैव पेय इति सम्प्रदायः ॥ २३ ॥

अपरागप्याह, बन्धयेति ।—एतत्तु योगवधं घृतेन सह पथं, तच्च द्विविधं विषं
नाशयति इति, द्विविधं व्यावरणकमात्मकम् । केचित् बन्ध्याकर्कोटिकामूलकल्केन
नश्यमाहुः ; तथा हि—“बन्ध्याकर्कोटिकामूलं ह्यामीमूषेण भावितम् । तस्य काष्ठिक-
सम्पिष्टं विषोपहतचेतसः ॥” इति । एवं बलमूलमञ्जनार्थम् इति वदन्यकं ॥ २४ ॥

अथैकेन श्लोकेन योगवधमाह, अभयेति ।—अभयादीनां चतुर्णां समतुलितानां
मिश्रित्वा कर्षेण कल्कस्त्रिदोषनिहवति । अभया इरीतकी । कणा पिप्पली । अपरः,

क्रिमिरीगे विवृदादिः ।—

चित्रत् पलाशवोजानि पारसीकयमानिका ।

कम्पिल्लकं विडङ्गञ्च गुडश्च समभागिकम् ॥

तन्नेत्रेण कल्कमेतेषां पिबेत् क्रिमिगणापहम् ॥ २७ ॥

रक्तार्शःसु तिलप्रयोग-नागकेशरप्रयोगी ।—

नवनीततिलैः कल्को जिता रक्तार्शसां स्मृतः ।

नवनीतसितानाग-केशरैश्चापि तद्विधः ॥ २८ ॥

गङ्गुल्यां शुगुडादि वृद्धनीप्रयोगश्च ।—

पीतो मसूरयूषेण कल्कः शुगुठीशलाटुजः ।

—पथ्यादिभिः द्रव्यैः कल्को दीपनपाचनी भवति । अत्रापि समता द्रव्याणां, भक्ष्य-
मानान्त् पूर्ववत् । दीपनमध्येः । पाचनसामादोनाम् ॥ २५, २६ ॥

क्रिमिरीगे कल्कमाह, विवृदिति ।—विवृदादीनां मगुडानां द्रव्याणां सामान्येन
मिलितानां कर्षप्रमाणेन कल्कं कृत्वा चतुर्गुणेन तन्नेत्रेण सह आलीश पिबेत् । एतच्च
क्रिमिसमूहानुद्धरतीति । विवृत् निःसृता । पलाशवोजानि प्रमिडानि । पारसीक-
यमानिकेति—पारस्यदेशभवा पारसी खुरासानिश्चवाच्या । कम्पिल्लको रंजनकः,
“कबोला” शब्देन विख्यातः । अयं योगः कोष्ठगतक्रामनाशनाथमुक्तः । एके
विवृदादीनां गुडः साम्य इति वदन्ति ; तेन गुडस्येको भागः शेषद्रव्याणां भागैक-
मित्यर्थः सत्यम् । तन्मते तु गुड प्रथमतो भक्षयित्वा पश्चात् विवृदादीनां कल्कं
तन्नेत्रेण सह पिबेदिति । तथा च तन्नान्तरे प्रयोगान्तरमपि दृश्यते, तद्वयथा—
“पारसीकयमानो पीता पथ्युषितवारिणा प्रातः । गुडपूर्वां क्रमिजातं कोष्ठगतं
पातयत्याशु ॥” ॥ २७ ॥

अथ रक्तार्शसामपि योग्यमाह, नवनीतेति ।—असौक्तपरिमाणेन तिलकल्को
द्विगुणितेन नवनीतेन सम्प्लाव्य भक्ष्यः, असौ रक्तार्शसां जिता कथित इत्यर्थः ।
रक्तार्शसामिति बहुवचनत्वेनान्येषामप्यर्शसां प्रशस्तः । अपरीडपि—नवनीतसित-
नागकेशरैश्च युक्त्या कल्कस्तद्विधाऽयं भवति । सिता शर्करा । तद्विध इति—रक्तार्शसां
कृता इत्यर्थः । नवनीतत्यागेनापि योगीऽयं प्रचरति ; तेन सिता नामकेशरश्च
साम्येन साषाटकं भक्ष्यं प्रत्यहं प्रयोगात् ॥ २८ ॥

अथ गङ्गुल्यां योग्यद्वयं दर्शयन्माह, पीत इति ।—शुगुठीशलाटुजः कल्क उक्तपरि-

जयेत् सङ्ग्रहणीं तद्वत्तन्त्रेण ब्रह्मतीभवः ॥ २८ ॥

इति श्रीदामोदरसूनुना श्रीशार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-
संहितायां मध्यखण्डे चिकित्सितस्थाने कल्ककल्पना
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

चूर्णकल्पना ।—

चूर्णलक्षणं तस्य पर्यायो नामा च ।—

अत्यन्तशुष्कं यद्व्यं सुपिष्टं वस्त्रगालितम् ।

तत् स्याच्चूर्णं रजः क्षौद्रस्तन्मात्रा कर्षसम्मिता ॥ १ ॥

चूर्णे गुडादीनां द्रवाणाञ्च सात्वानिर्देशः ।—

चूर्णे गुडः समो देयः शर्करा द्विगुणा भवेत् ।

भाष्येन कृतचतुर्गुणेन समूरुषेण सङ्गमिवेत् । शर्करा तु विंशतिकलम् । मसूरयूषविहितं
कायकल्पनायां कथित एव । अपरोऽपि—ब्रह्मतीभवो ब्रह्मकण्टकारिकामूलकल्कः ।
अत्रापि चतुर्गुणं तर्कं कल्काऽज्ञातव्यम् । तद्वदिति—सङ्ग्रहणीनां शङ्करः ॥ २८ ॥

इति श्रीभाषासिंहात्मजनाटमन्त्रेण विरचितायां शार्ङ्गधरदोषिकायां

मध्यखण्डे चिकित्सितस्थाने कल्ककल्पनाऽध्यायः पञ्चमः ॥ ५ ॥

इदानीं चूर्णकल्पनां व्याख्यास्यामः । प्रथमतस्तत्तत्कल्पनाङ्कं, अत्यन्तेति ।—

अत्यन्तशुष्कमिति—सूर्याग्निभिः शोषितद्रवांशम् । यद्व्यमिति—पुष्पफलपत्रत्वङ्मुल-
निर्व्यासादिसंज्ञम् । सुपिष्टमिति—अतिशयेन चूर्णितं, शिलायामिति शेषः ।
वस्त्रगालितं वस्त्रपूतम् । तत्तु चूर्णे रजः क्षौद्र इति पर्यायनामभ्यां संज्ञितम् ।
तन्मात्रेति—मद्यप्यर्थे मानं * कर्षसम्मिता ज्ञेया इत्यनुक्तप्रयोगेषु ॥ १ ॥

* “कर्षसम्मिता ब्रजवांसेत्, अथबले एकटङ्कान् बर्हयितव्या” इति गु० दी० ।

चूर्णेषु भर्जितं हिङ्गु, देयं नोत्क्रोदकमवेत् ॥ २ ॥

निहेच्चूर्णे द्रवैः सर्वैर्घृताद्यैर्द्विगुणोन्मितैः ।

पिबेच्चतुर्गुणैरेव चूर्णमालोडितं द्रवैः ॥ ३ ॥

दीपभेदेन अनुपानानां मातानिर्देशः ।—

चूर्णावलेहगुटिका-कल्कानामनुपानकम् ।

वातपित्तकफातङ्गे त्रिङ्गेकपलमाहरेत् ॥ ४ ॥

अनुपानस्य गुणः ।—

यथा तैलं जले क्षिप्तं क्षणेनैव प्रसर्पति ।

अनुपानबलादङ्गे तथा सर्पति भेषजम् ॥ ५ ॥

इदानीमविशेषोक्तेषु शर्करागुडयोर्मानपूर्वकं प्रक्षेपविधिमाह, चूर्णं इति ।—
गुडमायं चूर्णोशात् । शर्कराऽपि द्विगुणिता चूर्णपरिमाणादित्यर्थः । चूर्णं स्थिति बहु-
वचनत्वेन गुटिकालेहादिष्वपि भर्जितं हिङ्गु बोद्धव्यम् ।* सर्वैरित्यतो घृताद्यैरिति
यत् पुनर्यदेषां कृतं तत् तोयचौरमयमूवादीनां व्यवच्छेदार्थं, यत एतेः सङ्ग चूर्णस्य
पानमुक्तमेतस्याद्ये, लेहस्य मधुघृततैलादीनां प्रशस्तः । पिबेदित्यादौ चतुर्गुणता
चूर्णभागात् । द्रवैरिति—तोयचौरमयमूवादात्मः ॥ २।३ ॥

अथ चूर्णादीनामनुपानमात्रां दर्शयन्नाह, चूर्णावलेहेति ।—अनुपानकमिति—
अनु पश्चात् पानम्, औषधभक्ष्योपरि यत् पीतं तदनुपानकमित्यर्थः । “वातपित्त-
कफातङ्गे त्रिङ्गेकपलमाहरेत्” इत्यनुक्तमो ज्ञेयः । आतङ्गो रोगः, तेन वातातङ्गे त्रिपलं,
पित्तातङ्गे द्विपलं, कफातङ्गे पलैकमिति तात्पर्यार्थः । अनुक्तेष्वनुपानेषु जलानुपानं
प्रशस्तम् ; तथा हि —“सर्वेषामनुपानानां माहेन्द्र तोयमुत्तमम्” (सु० सू० ४६ अ०)
इति । सुसुतेऽपि—“सर्वानुपानेषु वरं वदन्ति मेऽयं यदन्ध शत्रिभान्ननस्यम् । लोकाश्च
जन्मपश्यति प्रशस्तं तोयात्मकाः सर्वरसाश्च दृष्टाः ॥” (सु० सू० ४६ अ०) इति ॥ ४॥

अथानुपानस्य प्रयोजनं निर्दिष्टमाह, यथेति ।—भेषजं भिषजा संस्कृतं द्रव्यं तथा
अङ्गे सर्पति, कुतः ? अनुपानबलात् अनुपानशक्तितः । दृष्टान्तमाह, यथा
तैलमित्यादि ।—सुगमम् ॥ ५ ॥

* सर्वैरित्यतः” इत्यत्र “सर्वैः द्रवैरित्युक्ताऽपि” इति पाठकल्पनमुचितम् ।

भावनाद्ये द्रव्यपरिमाणनिर्देशः ।—

द्रवेण यावता सम्यक् चूर्णं सर्वं प्लुतं भवेत् ।

भावनायाः प्रमाणन्तु चूर्णे प्रोक्तं भिषग्वरेः ॥ ६ ॥

स यथा—

सर्वविधज्वरे आमलक्यादि ।—

आमलं चित्रकं पथ्या पिप्पली सैन्धवस्तथा ।

चूर्णितोऽयं गणो ज्ञेयः सर्वज्वरविनाशनः ॥ ७ ॥

* (भेदी रुचिकरः श्लेष्म-जेता दीपनपाचनः ॥)

कासज्वरादौ पिप्पलीप्रयोगः ।—

मधुना पिप्पलीचूर्णं लिङ्गित् कासज्वरापहम् ।

ह्रिक्काश्वामह्वरं कण्ठं श्लोहघ्नं बालकोचितम् ॥ ८ ॥

अथ चूर्णाद्ये भावनापरिमाणमाह, द्रवेणेति ।—सामान्येन सर्वे तीयादिकम्, अन्यदपि यद्बोद्धव्यं तदपि ग्राह्यं न दोषः । प्लुतमिति—प्लावितं, यथा मन्यस्वरसस्वरूपसहदिति । भिषग्वरेरित्यनेन युक्त्या कर्तव्य इति भावः ॥ ६ ॥

स यथेत्यनेन चूर्णानि दर्शयति गन्धकारः, आमलमिति ।—आमलादिकोऽयं गणः सर्वज्वरविनाशनी भवति । आमलमिति—आमलफलम् । पथ्या इरीतकी । एतत् सकलं साम्यमनुक्तत्वात् । सर्वज्वरमिति—अष्टविधं, व्यवहारतस्तु विषमज्वरेषु प्रायशः प्रचरति । भेदी रुचिकरः इत्यादिपदद्वयं केषित् पठन्ति ॥ ७ ॥

मधुनेति ।—अयं मधुपिप्पलीयोगः कासज्वरादीन् हन्ति, विशेषेण बालानामनुचितः । बालकेति सामान्येन त्रैविध्यं सूचयति, तद्वशा—आ-षोडशात् बालः स त्रिविधः, क्षीरपः, क्षीराब्जादः, अब्जाद इति ॥ ८ ॥

* श्लेष्माहोऽयं प्रक्षिप्त इति दीपिकाकारः ।

मेढादौ विफलाप्रयोगः ।—

* एका हरीतकी योज्या द्वौ च योज्यौ विभीतकी ।

चत्वार्यमलकान्येवं त्रिफलेषा प्रकीर्तिता ॥ ८ ॥

त्रिफला मेहशोथघ्नो नाशयेद्विषमज्वरान् ।

दौपनी श्लेष्मपित्तघ्नी कुष्ठहन्त्री रसायनी ॥

सर्पिर्मधुभ्यां संयुक्ता सैव नेत्रामयान् जयेत् ॥ १० ॥

अग्निमान्द्यादौ त्रिकटुप्रयोगः ।—

पिप्पली मरिचं शुण्ठो त्रिभिस्त्यूषणमुच्यते ।

अथ त्रिफलाचूर्णमाह, एकैति ।—उक्तपरिमाणेन मेढादिकान् इत्येति । यदा सैव त्रिफला सर्पिर्मधुभ्यामवल्लेखिता तदा नेत्रामयान् जयेदिति । अवल्लेखन्तु सायमुपयोज्यः ; तथा ह्युक्तम्—“ऊर्ध्वज्वरोगघ्नो सायं स्वादवलेष्टिका” इति । कीदृशमुक्तपरिमाणम् ? तमाह, एका हरीतकीत्यादि ।—एतत् गणनापरिमाणं त्रिफलायाः कथितं, न तु तन्मनायां विषममानं, यतः गृहकसङ्ख्यामानेनैव समत्वमस्याः ; कुतः ? इत्यार्थिकी हरीतकीति वाक्यानुरोधतः ; तथा हि—“नवादिगुणयुक्तत्वं तथैकैव विक्षेपता । हरीतक्याः फले यत्र हयं तत् श्रेष्ठमुच्यते ॥” इति । नवादिगुणाऽपि प्रसङ्गतो निश्चयः, यथा—“नवा स्त्रिंशो घना वृत्ता गुर्वीं स्त्रिंशो तथाऽधमसि । निमज्जेत या प्रशस्तत्वात् गुणकत् सा प्रकीर्तिता ॥” इति । विभीतकमपि कर्षणपर्यायनामभ्यां कथितमिति प्रसिद्धिः, उक्तं निघण्टो—“विभीतकः कर्षणलो वासन्तोऽलः कलिद्रुमः” इति ; तेन हे विभीतकफले कथिते । आमलमपि कोलमंजं वर्जितं, कोलत्वर्द्धकर्षणं पर्यायनामेति, तेन चत्वार्यमलकानि भवन्ति ; एतेन त्रिफलायास्तुलनामायमपि दर्शितं, गणनायाश्च विषमत्वमिति, न तु तस्या भागेषु विषमता, यतो दृश्यते हि ब्रह्मवैद्यानां व्यवहारोऽयमेव । यद्यपि त्रिफला द्वितीयाऽप्यास्ति, तथाऽपि सर्वत्रैवाविशेषोक्तौ त्रिफलाशब्देन हरीतक्यादिकमेव गृह्यते ; यदुक्तं—“द्राक्षाकाशम्येखर्जूर-फलानीति फलत्रिका । इयं प्रोक्ता च द्वितीया त्रिफला चरकादिभिः ॥” इति ॥ ८।१० ॥

* “शार्ङ्गधरेण उक्तभागवद्द्वया लिखिता त्रिफला केवलं चूर्णकाथविषया अनुपानगुणविषया च, अथवा नवावसचूर्णादौ विरोधः स्यात्, यतः केवलत्रिफला-काथे चूर्णे च भागवद्दर्शयते” इत्यादि गु० दी० ।

दीपनं श्लेष्मदोषं कुष्ठपीनसनाशनम् ॥

जयेदरोचकं सामं मेहगुल्मगलामयान् ॥ ११ ॥

अरुच्यदो पञ्चकोलम् ।—

पिप्पलीचव्यविश्वः पित्तलोमूलचित्रकैः ।

पञ्चकोलमिति ख्यातं रुच्यं दीपनपाचनम् ॥

आनाहृष्टीहगुल्मघ्नं शूलश्लेष्मोदरापहम् ॥ १२ ॥

त्रिजातकचातुर्जातकैः ।—

त्रिगन्धमेलात्वक्पत्रैश्चतुर्जातं सकेशरैः ।

त्रिगन्धं सचतुर्जातं रुच्योष्णं लघु पित्तकृत् ॥

वर्ण्यं रुचिकरं तीक्ष्णं विषश्लेष्मामयान् जयेत् ॥ १३ ॥

अथ दूषणार्थमाह, पिप्पलीति ।—इदमपि त्रिकटुकपण्यांशनाम्ना कथितम् ।
वशाया साम्यमित्यनुक्त्वा । साममिति—अरोचकं दोषं वा । मेहगुल्मगलामया-
निति—मेहामयान् गुल्मामयान् गलामयान् ॥ ११ ॥

पञ्चकोलमप्याह, पिप्पलीति ।—अथ चव्यं गजपिप्पलीमूलम् । विश्वः शृङ्गी ।
पिप्पलीमूलं पिप्पलीजटा । चित्रकः स्वनामख्यातः । अवापि पञ्चानां समत्वम् । रुच्यं
रुचिकरम् । दीपनमयः । पाचनमामादीनाम् । आनाह उदरापूरः । (ऊषकादि-
गणः,—“ऊषकं सैखवं हिङ्गुं काशीशद्वयगुग्गुलुः । शिलाजतु तथ्यकश्च ऊषकादि-
रुदाहृतः ॥ ऊषकादिः कफं हन्ति गणो मेदोविशोधनः । अश्वरोशकरोमूष-
शूलघ्नः कफगुच्छन ॥” इति । अथमपि पाठः कश्चित्) ॥ १२ ॥

इदानीं त्रिगन्ध-चातुर्जातकचूर्णमाह, त्रिगन्धमिति ।—एलात्वक्पत्रैः कृत्वा
त्रिगन्धं कथितम् । चातुर्जातन्तु सकेशरैरेलात्वक्पत्रैरेव प्रीकृतम् ।
* एला सूक्ष्मा । त्वक् गुडत्वक् । पत्रं पत्रकम् । केशरं नागकेशरम् ।
रुच्योष्णमिति बोध्यतः लघुपाकित्वात् । वर्ण्यं कान्तिकरम् । तीक्ष्णं
मरिचादिवत् ॥ १३ ॥

* एलायां सर्वत्रैव स्थूलैला गृह्यते वेद्यैः । त्रिजातचातुर्जातयोः स्थूलैलेव,
न तु सूक्ष्मैला ।

जीवनीयगणः ।—

‘काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकौ तथा ।

मेदा चान्या महामेदा जीवन्तौ मधुकं तथा ॥ १४ ॥

मुद्गपर्णी माषपर्णी जीवनीयो गणस्त्वयम् ।

जीवनीयगणः स्वादुर्गर्भमन्वानकृद्गवः ॥ १५ ॥

स्तन्यकृत् वृंहणो वृथः स्निग्धः शीतस्त्रुषापहः ।

रक्तपित्तं क्षयं शीघ्रं ज्वरदाहानिलान् जयत् ॥ १६ ॥

अष्टवर्गः ।—

हे मेदे हे च काकोली जीवकर्षभकौ तथा । *

जीवनीयगणमाह, काकोलीत्यादि ।—अथ जीवनीयगणे काकोली क्षीर-
काकोली च स्वनामतः प्रसिद्धा । किञ्चिद्वनयोर्नापमाथे लक्षणमप्याह, तद्वयथा—
काकोली मधुरा चर्वणतः । क्षीरप्राया वर्णतः शुक्ला च क्षीरकाकोली अत्यन्तक्षीर-
युक्ता । एतद्वयं विटपविशेष (५) दक्षिणोत्तरदेशतोऽव प्रसिद्धम् । जीवकर्षभकाविति
—जीवकस्य ऋषभकस्य तौ ; जीवको मधुररसः कृत्स्नविटपः कूर्चशीर्षकः ।
ऋषभकोऽपि कृत्स्नवृषः सदृशस्त्रिद्वी विषाणोति । एतद्वयमपि दक्षिणदेशे
प्रचरति । मेदा चान्या महामेदा इति—मेदा स्तन्यपर्णी मेदोगत्या अल्पवृक्षसंज्ञकः,
स च काष्ठविशेषो गच्छच्छेद्यो देशान्तरादवनत्यस्यः । महामेदाऽष्टच्छिद्रान्त्वता
काष्ठविशेषः, स च दक्षिणोत्तरपथे पर्वतेषु प्रसिद्धः, तत्र देवमर्षिर्वाति प्रसिद्धः ।
जीवन्तौ शाकविशेषः, सा चोत्तरपथे पर्वतेषु हन्दावृक्षशाखाऽस्ति तत्रैवोत्पद्यते । मधुकं
मधुयष्टीति * जलजानवल्लीविशेषः, मधुरा भक्षणतय, असौ विख्याता सर्वत्रैव ।
मुद्गपर्णी माषपर्णी चेति द्रव्ययुग्मं मित्रनाम्ना प्रसिद्धं, मुद्गवत् पथे यस्याः सा
मुद्गपर्णी, एवं माषपर्णीति । मुद्गपर्णीति—क्षुद्रा वनसम्भवा मार्जारमोटिनीति ।
माषपर्णी च कृष्णनाम्ना इयुष्मच्छकाकारा पर्वतोद्भवा मधुरा च । एभिरयं
जीवनीयगणसंज्ञः स्वादुर्गर्भरसः । गर्भसन्धानक्रादाति—वस्यागर्भकरः प्रभावात् ।
स्तन्यकृदिति—क्षीरवृद्धिकरः । वृंहणो धातुवृद्धिकरः । वृथः शुक्रवृद्धिकरः ॥ १४—१६ ॥

अष्टाष्टवर्गमप्याह, हे मेदे इति ।—असौ गुणेः कृत्वा जीवनीयगणसाम्यः,

* यद्यपि अलज-जलजमेदेन मधुकद्वयं दृश्यते, तथापि जीवनीयगणोक्त-
मधुकशब्देन वैद्याः अलजमेवेव गृह्णन्ति, न तु जलजम् ।

ऋद्धिद्वयो च तैः सर्वैरष्टवर्ग उदाहृतः ॥

अष्टवर्गो बुधैः प्रोक्तो जीवनीयसमो गुणैः ॥ १७ ॥

पञ्चलवणम् ।—

सिन्धु सौवर्चलश्चैव विडं सामुद्रकं गडम् ।

एकहित्रिचतुःपञ्च-लवणानि क्रमाद्भिदुः ॥ १८ ॥

तेषु मुख्यं सैन्धवं स्यादनुक्ते तत् प्रयोजयेत् ।

सैन्धवाद्यं रामकान्तं ज्ञेयं लवणपञ्चकम् ॥ १९ ॥

मधुरं सृष्टविण्मत्तं स्निग्धं सूक्ष्मं बलापहम् ।

वीर्योष्णं दीपनं तीक्ष्णं कफपित्तविवर्धनम् ॥ २० ॥

अ चारुभिद्वयैर्मिलितः ; तद्वयम्—“हे मेट हे च कारुकोल्यो जीवकर्षभक्तौ तथा । हो च ऋद्धिद्वयो च हे—” । अत्र ऋद्धिद्वयो तु नाम्ना प्रसिद्धे । तयोश्चक्रमिति यत्न गृहं ऋद्धिद्वयो साः तस्य वसुद्धिर्भवतीति प्रसिद्धिः । अथच सुश्रुतगणसङ्ग्रहे जीवनीयाष्टकसंज्ञः । चरकयोगे तत् पूर्वोक्तं जीवनीयदशकमिति ॥ १९ ॥

लवणपञ्चकमाह, सिन्ध्विति ।—अयं लवणपञ्चकसंज्ञको गणः । सिन्धु सैन्धवं, तच्च सिन्धुद्वयमित्यर्थः । सौवर्चलं प्रसिद्धं, तद्वैव निर्गम्य काललवणमित्युच्यते । विडं क्वचित्, तच्च प्रसारणीकृतकभक्तलवणमयोगादायिटाह्ननं निर्हंसं विहमिति ख्यातम् । सामुद्रकमिति—दक्षिणसमुद्रसमीपे भवं सामुद्रकं, तच्च गडलवणाकारं विमलतरं ज्ञेयम् । गडं तच्च रोमकं, तच्च शाकम्भरीटंशोत्पन्नम् । एकहित्रिचतुः-पञ्चात् लवणकमां व्यक्तसमस्तपञ्चार्थं सूचितः, यथा “हो चारौ लवणद्वयम्” इत्यादिबचनात् । विलवणं सैन्धवसौवर्चलविहमितिः । एवमन्यदपि बोध्यम् । तेषु मुख्यं सैन्धवं स्यादित्यनेनानुक्तं यत्तेषु मुख्यं लवणं, तच्च सैन्धव योज्यमिति भावः । अतु “सैन्धवाद्यं रामकान्तं ज्ञेयं लवणपञ्चकम्” पुनः किमर्थं कृतम् ? उच्यते, आदौ सैन्धवस्य अन्ते रोमकस्य च गड्यां तत्त्वान्तरेऽपि नियतं, मध्ये क्वचिद्विपरीतमिति ; तथा च सुश्रुते, * “सैन्धवसामुद्रविडसौवर्चलरोमकाणि पञ्च मुख्यानि” इति मतद्वयाभिप्रायेण पुनर्येदं न दोषः । पूर्वमतस्तु चरके प्रतीतम् । मधुरं परि-पाकान् । सुश्रुते तु यथापूर्वं स्नादूनि, स्नादरत्न गुणः ; यतः रसेषु गुणसंज्ञा इति

* मृदितसुश्रुतसंहितायु—“सैन्धवसामुद्रविडसौवर्चलरोमकौऽहदप्रभृतौनि लव-णाणि यथोत्तरमुष्णानि—” इत्यादि पाठो दृश्यते ।

चारद्वयम् ।—

स्वर्जिका यावशूकश्च चारयुग्ममुदाहृतम् ।

त्रेयौ वङ्गिसमौ चारौ स्वर्जिकायावशूकजौ ॥ २१ ॥

अन्ये चाराश्च गुल्मार्शी-ग्रहणोरुक्छिदः सराः ।

पाचनाः क्षमिपुंस्त्वघ्नाः शर्कराश्मरिनाशनाः ॥ २२ ॥

सर्वावधज्वरे सुदर्शनचूर्णम् ।—

त्रिफला रजनीयुग्मं कण्टकारोयुगं शटी ।

त्रिकटु ग्रन्थिकं मूर्वा गुडूची धन्वयासकः ॥ २३ ॥

कटुका पर्पटी मुस्तं त्रायमाणा च बालकम् ।

निम्बः पुष्करमूलञ्च मधुगष्टी च वत्सकम् ॥ २४ ॥

यमानौन्द्रयो भार्गी शिशुबीजं सुराष्ट्रकम् ।

षचा त्वक् पद्मकीशोरं चन्दनातिविषावलाः ॥ २५ ॥

शालपर्णी पृश्निपर्णी विडङ्गं तगरं तथा ।

केचित् । अपरे तु खण्डेषु मधुरत्वमणुरससंज्ञकमानन्ति । सूटविष्णुमिति—

सप्तकम् । सूक्ष्ममिति—रौमकूपार्दप्रवेशकत्वात् । तीक्ष्णं सरिचादिवत् ॥ १८—२० ॥

अथ चारयुग्मं दशग्रन्थाद्, स्वर्जिकेति ।—तत्र स्वर्जिका प्रसिद्धा, “सर्जौ” शब्दाच्चा । यावशूको यवचारः । वङ्गिसमौ उष्णबीजत्वात् । यावशूकश्चेति चकारात् टङ्गणचारमपि चारवितयगङ्गणोन्यम् ; यथा “चारवीणि रमेन्द्रशुद्ध-मसतम्” इत्यादि वचनात् । अन्ये चाराश्चेति ।—अन्येति—मुष्ककपाटलाऽपामार्ग-मोजिहिकाकदलीसुषामभृतयः । गुल्मार्शीग्रहणोरुक्छिदः इति—अत्र रुक्छब्दी गुल्मादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तेन गुल्मरुक् अर्शोरुक् ग्रहणोरुगिति । सराः खंसकाः । क्षमिघ्नाः पुंस्त्वघ्नाश्च, पुंस्त्वं बोध्यम् ॥ २१।२२ ॥

इदानीं सुदर्शनचूर्णे निदर्शयन्नाह, त्रिफलेति ।—रजनीयुग्ममिति—हरिद्राद्वयम् ।

कण्टकारोयुगमिति—लघुकण्टकारो बहुकण्टकारो च । शटी कर्चुरभेदः । ग्रन्थिकं

पिप्पलीमूलम् । मूर्वा शीरसायुः । त्रायमाणा स्वनामध्याता । वत्सकः कुटजः ।

शिशुबीजं शोभाजनं, देतमरिचमिति प्रसिद्धम् । सुराष्ट्रकं स्वस्तिकाविशेषः, “फट्किरी”

इति षोड्डी । केचित् सुराष्ट्रकमित्यस्य स्थाने खद्वेकमिति पठन्ति, तत्र—खद्वेकौ

चित्रको देवदारु च चय्यं पत्रं पटोलजम् ॥ २६ ॥
 जीवकर्षभको चैव लवङ्गं वंशलोचना ।
 पुण्डरीकञ्च काकोली पत्रकं जातिपत्रकम् ॥ २७ ॥
 तालीशपत्रञ्च तथा ममभागानि चूर्णयेत् ।
 सर्वचूर्णस्य चाङ्गं कौरातं निक्षिपेत् सुधीः ॥ २८ ॥
 एतत् सुदर्शनं नाम चूर्णं दीपत्रयापहम् ।
 ज्वरांश्च निखिलान् हन्त्यान्नात् कार्या विचारणा ॥ २९ ॥
 पृथग्दग्धागन्तुजांश्च धातुस्थान् विषमज्वरान् ।
 मन्त्रिपातोद्भवांश्चापि मानमानपि नाशयेत् ॥ ३० ॥
 शीतज्वरैकाहिकादीन् मोहं तन्द्रां भ्रमं तृषाम् ।
 श्वासं कामञ्च पाण्डुञ्च हृद्रोगं हन्ति कामलाम् ॥ ३१ ॥
 त्रिकपृष्ठकटोजानुपार्श्वशूलनिवारणम् ।
 शीताम्बुना पिबेद्दीमान् सर्वज्वरनिवृत्तये ॥ ३२ ॥

गोक्षुरः । त्वक् वराङ्ककम् इति लोके । चन्दनं श्वेतम् । पत्रकं काशविशेषः । शालपर्णी
 पृथिपर्णी कवरद्वयशब्दवाच्यम् । तगरं स्वनामख्यातम् । पटोलपत्रम् । जीवकर्षभको
 जलजाम्बा प्रसिद्धौ । पुण्डरीकं कमलम् । तालीशपत्रं प्रसिद्धम् । शेषं सुवाधम् ।
 एतत् सकलं प्राणमात्रं गृहीत्वा चूर्णे कर्तव्यम् । कौरातो भूमिस्थः, तच्च ममलचूर्णस्य
 द्वौ भागौ कौरातचूर्णस्य चैको भाग इति । किञ्चित् सर्वचूर्णस्य चाङ्गं नामान्येन
 सर्वचूर्णस्यैको भागः भूमिस्थस्य भागोऽक इति व्याख्यानयन्ति । अपरे तु चाङ्गं नामान्येन
 नार्द्धस्य अंशं चतुर्थांशं, तेन सममिति व्याख्यानयन्ति च । अंशश्चतुर्थांश इति
 प्रसिद्धः एतेनाष्टमांशं कौरातमित्यर्थः । एतद्व्याख्यानद्वयमनङ्गत्वं, कृतः १ सर्वजना
 मस्यात्मान्, दीपत्रयापहमिति—प्रकृपितदोषस्य, व्यक्तं समस्तं वा । निखिलानिति
 —अष्टधा । ननु पृथग्दग्धागन्तुजायेति यत् पुनरङ्गत्वं कृतं, तत् व्यर्थं, निखिला-
 नित्यमेवैव ज्ञेयम् । उच्यते—पीनकृत्तु ज्वराणां यत् तदस्य ज्वरनाशनत्वे विशिष्टत्वं
 दर्शितम्, एत एव नात्र काऽपि विचारणीति यदङ्गं कृतम् ; यदा—सर्वज्वरैष्वर्थं
 प्रायशः प्रचरति नात्येषु, तेन पुनर्ज्वरयदङ्गं कृतं न दोषः । ऐकाहिकादीनिति—
 आदिशब्दात् ततोऽधिकचातुर्धादयः । शूलशब्दस्त्रिकादिकप्रत्येकमभिसम्बध्यते ; तस्य

सुदर्शनं यथा चक्रं दानवानां विनाशनम् ।

तद्वज्रवराणां सर्वेषामिदं चूर्णं प्रणाशनम् ॥ ३३ ॥

कासादौ विफलादि ।—

कासश्वासज्वरहरो विफला पिप्पलीयुता ।

चूर्णिता मधुना लीढा भेदिनी चाग्निबोधिनी ॥ ३४ ॥

कासादौ कट्फलादि ।—

कट्फलं सुस्तकं तिक्ता शटो शृङ्गी च पौष्करम् ।

चूर्णमेषाञ्च मधुना शृङ्गवेररसेन वा ॥ ३५ ॥

लेह्यं ज्वरहरं कण्ठं कासश्वासाक्चीर्जयेत् ।

वायुशूलं तथा कृदिं क्षयञ्चैव व्यपोहति ॥ ३६ ॥

कासादौ द्वितीयकट्फलादि ।—

✽ (कट्फलं पौष्करं शृङ्गी सुस्ता त्रिकटुकं शटो ।

समस्तान्येकशो वाऽपि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥

त्रिकं वातस्थानम् । यथा सुदर्शनं विष्णुचक्रं दानवाविनाशनं भवति, तथा सर्वज्वराणां-
मिदमपि नाशनं, तस्मात् सुदर्शनम् इति भञ्जा ॥ ३३—३३ ॥

अथापराणि चूर्णानिह, कासेति ।—अथ विफला समतुलिता ग्राह्या । पिप्पली-
युतेति—पिप्पली एकद्व्यभागापेक्षया । मधु अत्रावलिङ्गयोग्यम् । चूर्णं सानन्तु दोष-
वलापेक्षया ॥ ३४ ॥

कट्फलमिति ।—अयं कट्फलादिसंज्ञकचूर्णगणः । तत्र तिक्ता कट्टरोद्विषी ।
शृङ्गी कर्कटाख्या । पौष्करं पुष्करमूलं, तदभावे कुष्ठं ग्राह्यम् । शृङ्गवेररसेनेति—
आर्द्रकरसेन चतुर्गुणेन सह पानमुक्तं व्यवहारात्, न तु लेह्यम् । लेह्यमस्य मधुना
द्विगुणेनेत्यर्थः । वायुशूलमिति—वातजनितशूलम् । एके “वायुशूलम्” इति
पठन्ति, तत्र—गुदगतवातपोषामित्यर्थः । ननु वातादेव सकलशूलस्थोपपत्तिरिति ;
यतः “न वातेन बिना शूलम्” इत्यादिवचनं, तत् कथमत्र पृथक् वातशूलवद्वयम् ?
उच्यते—वायुशूलं वातप्रायशूलं, न पित्तकफादिप्रायं, यस्मात् “शूलान्मष्टौ बुधा
जगुः” (शा० पू० ३५०) इति ॥ ३५।३६ ॥

आर्द्रकखरसचौटैर्लिङ्गात् कफविनाशनम् ।

शूलामिलासचिच्छर्दि-कासश्वाससंशयापहम् ॥)

कासादौ तृतीयकटफलादि ।—

* (कटफलं पौष्करं कृष्णा शृङ्गी च मधुना सह ।

श्वासकासज्वरहरः श्रेष्ठो लेहः कफान्तकत् ॥)

बालस्य कासादौ शृङ्गादि ।—

शृङ्गीं प्रतिविषां कृष्णां चूर्णितां मधुना लिहेत् ।

शिशोः कासज्वरच्छर्दि-शान्त्यै वा केवलां विषाम् ॥ ३७ ॥

बालस्य कासे यवक्षारादि ।—

† (यवक्षारविषाशृङ्गी-मागधीपौष्करोद्भवम् ।

चूर्णं क्षौद्रयुतं लीढं पञ्चकासान् जयेच्छिशोः ॥)

आमातीसारे गुण्डादि ।—

शुण्ठीप्रतिविषाहिङ्ग-मुस्ताकुटजचित्तकैः ।

चूर्णमुणास्वना पीतमामांतीसारनाशनम् ॥ ३८ ॥

शृङ्गीमिति ।—एतत् शृङ्गादिचूर्णं बालरोगेऽतीव प्रशस्तम् । शृङ्गी कर्कटाख्या । प्रतिविषा शुक्तकन्दा । कृष्णा पिप्पली । वेत्यनेन योगान्तरमाह, केवलां विषा-मिति ।—एकामतिविषां मधुना सङ्गावलिङ्गं बालो ज्वरेभ्यो विसृजतः स्यादित्यर्थः । तथा च तन्त्रान्तरे—“शृङ्गी † सकृष्णाऽतिविषां विचूर्ण्य लेहं विदध्यान्मधुना शिशुनाम् । कासज्वरच्छर्दिभिरर्दिताणां समाश्लिषासातिविषामथैकाम् ॥” इति । बालानामतीसारेऽपि मुस्तान्वितोऽयं योगः प्रचरति । § चतुर्भुजोति तत्र चोद्भवदिति शब्दवाच्यः । तथा हि—“चनकृष्णाऽरुणाशृङ्गी-चूर्णं क्षौद्रेण संयुतम् । शिशोर्ज्वरातिसारघ्नं कासं श्वासं भस्मि जयेत् ॥” इति ॥ ३७ ॥

आतीसारे गुण्डादिचूर्णमाह, शुण्ठोति ।—हिङ्ग चक्र भर्जितं दैवम् । कुटज-

* प्रक्षिप्तोऽयम् ।

† प्रक्षिप्तोऽयम् । चक्रदत्ते यवक्षारस्थाने धन्वयासयोगेनायं योगो दृश्यते, तथा च—“पौष्करातिविषाशृङ्गी-मागधीधन्वयासकैः” इत्यादि ।

‡ “सकृष्णा” इत्यत्र “समुदा” इति पाठः चक्रसङ्घे ।

§ योगोऽयं चक्रसङ्घे “बालचातुर्भेद्रिका” इति नाम्ना पठितः ।

आमातीमारं हरीतकादि ।—

हरीतकी प्रतिविषा सिन्धु सौवर्चलं वचा ।

हिङ्गुचेति कृतं चूर्णं पिबेदुष्णेन वारिणा ॥

आमातीसारशमनं ग्राहि चाग्निप्रबोधनम् ॥ ३८ ॥

अतीमारं स्वल्पगङ्गाधरचूर्णम् ।—

मुस्तमिन्द्रयवं विल्वं लोध्रं मोचरसं तथा ।

धातकीं चूर्णयेत्तक्र-गुडाभ्यां पाययेत् सुधीः ॥ ४० ॥

सर्वातीसारशमनं निरुणद्धि प्रवाहिकाम् ।

लघुगङ्गाधरं नाम चूर्णं सङ्गाहकं परम् ॥ ४१ ॥

अतीमारं वृद्धगङ्गाधरचूर्णम् ।—

मुस्तारलुकशुण्ठीभिर्धातकीलोध्रबालकैः ।

ममेन्द्रयवं, पाचनत्वात् । सणाव्यनेति—चतुर्गुणितोष्णपानीयेन सङ्गालीढं विदोषेण तु ! *) फाण्टवह्निप्राप्य पिबेत्, चूर्णकल्पनायां कथितत्वात् ॥ ३८ ॥

अपरमप्याह, हरीतकीति ।—सिन्धु सैन्धवम् । हिङ्गु अत्र भर्जितं देयम् । पानमागन्तु पूर्ववत् । अथ योगी यदृष्टानामपि प्रशस्तः । एके हरीतकीत्यागेनापि योगमनं कुर्वन्ति ; तदुक्तमत्रैव परिभाषाध्याये—“न्याधेरयुक्तं यद्व्यं गणांक्तमाप तत् त्यजेत्” (शा० पू० १ अ०) इत्यादिवचनात् ॥ ३८ ॥

इदानीं गङ्गाधरसंज्ञकं चूर्णद्वयमाह, मुस्तमित्यादि ।—एतद्वृद्धगङ्गाधरं नाम चूर्णं सङ्गाहकं परं विख्यातम् । अत्र विल्वं विल्वपौष्पकम् । मोचरसः शालालोभिर्यासः । धातकी धातकीकुमुमानि । अथ तक्रोपलक्षितत्वात् मथितमपि ग्राह्यम् । अथवा दर्शनाद्वा “मथितगुडसम्प्रयुक्तम्” इति । ननु मथिततक्रयोः की भेदः ? अथ्यते, * “सजलं गौरसं घोलं मधु तश्चाह्वारकम् । तक्रं विभागमिदं केवलं मथितं व्युत्तम् ॥” इति । कल्पना चाख्य—मुस्तादिचूर्णं कार्ष्णिकं माधतचतुर्गुणेन गुडकक्षेपेण सह विमर्दितं पीतम् । पक्वातीसारं योगोऽयम् ॥ ४०।४१ ॥

* भाष्यपक्षांश—“ससरं निजलं घोलं मथितस्त्वमरोदकम् । तक्रं पादजलं प्रोक्तमुदश्वित्वह्वारिकम् ॥” इति, तथा सुसुते “मथ्यनादिपृथग्भूतलोहमर्द्धादिकम् यत् । नातिसान्द्रद्रवं तक्रं स्वाद्वत् तुवरं रसे । यत् सखद्वमजलं मथितं घोल-मुच्यते ॥” इति पाठः ।

विल्वमोचरसाभ्याञ्च पाठैन्द्रयववत्सकैः ॥४२॥

आम्रवीजं प्रतिविषा लज्जालुरिति चूर्णितम् ।

क्षौद्रतण्डुलपानीयैः पीतैर्याति प्रवाहिका ॥ ४३ ॥

सर्वातिसारग्रहणी प्रशमं याति वेगतः ।

वृद्धगङ्गाधरं चूर्णं सरिद्देगस्य रोधकम् ॥४४॥

अतीसारं अजमोदादिचूर्णम् ।—

अजमोदा मोचरसं समृङ्गवेरं सघातकीकुसुमम् ।

गोदधिमथितयुक्तं गङ्गामपि वाहिनीं रुन्ध्यात् ॥४५॥

यदृश्या मरिचादिचूर्णम् ।—

तन्म्रेण यः पिबेन्नित्यं चूर्णं मरिचसम्भवम् ।

चित्रसौवर्चलोपेतं ग्रहणो तस्य नश्यति ॥

उदरप्लीहमन्दाग्नि-गुल्मार्शोनाशनं भवेत् ॥४६॥

यदृश्यां कपित्थाटकचूर्णम् ।—

अष्टौ भागाः कपित्थस्य षड्भागा शर्करा मता ।

टाडिमं तिल्लिङ्गेकञ्च श्रोफलं धातकी तथा ॥ ४७ ॥

* अजमोदा पिप्पली च प्रत्येकं स्यस्त्रिभागिकाः ।

मरिचं जीरकं धान्यं अन्तिकं बालकं तथा ॥ ४८ ॥

अथ दपि, मुक्तोति ।—अदारलुकी वृक्षविशेषः स्वनामप्रासङ्गः । वत्सकः कुटज-
त्वक् । आसवीजमिति—आसफसास्यमज्जा । लज्जालुर्विख्याता । अत्रापि दिग्वा-
तेन क्षौद्रेण विस्तृत्य चतुर्गुणेन तण्डुलजलेन पयम् । सरिद्देगस्य रोधकमिति—
नदीप्रवाहादरोधकत्वेनोत्कृष्टप्रभावयुक्तम्, अत एव गङ्गाधरसंज्ञा ॥ ४२—४५ ॥

अथ यदृश्या प्रयोगानाह, तन्म्रेति ।—इदं मरिचाद्यं नाम चूर्णं यदृश्यां
प्रशक्तम् । मरिचचितकसौवर्चलं समचूर्णं साहस्राण्यहं चतुर्गुणेन तन्म्रेण सह
पिबेत् । नित्यमित्यनेन सेव्यमिदं महारोगोपयुक्तत्वात् ॥ ४६ ॥

इदानीं कपित्थाटकं नाम चूर्णे दशयस्त्राह, अष्टावांति ।—टाडिममवाच्यम्
“अनारदाना” शब्दवाच्यम् । तिल्लिङ्गीकं खनामप्रासङ्गम् । आसफसामित्येक ।

* अकपाणिः “अजमोदा” स्थाने “विन्दुवम्” इति पठति ।

सौवर्चलं यमानी च चातुर्जातं सचित्रकम् ।

नागरञ्चैकभागाः स्युः प्रत्येकं सूक्ष्मचूर्णितम् ॥ ४९ ॥

कपित्थाष्टकसंज्ञं स्याच्चूर्णमेतद्दलामयान् ।

अतीसारं क्षयं गुल्मं ग्रहर्णाञ्च व्यपोहति ॥ ५० ॥

अरुच्यादौ दाडिमाष्टकम् ।—

दाडिमी द्विपला ग्राह्या खण्डात् दशपलानि च ।

त्रिगन्धस्य पलञ्चैकं त्रिकटु स्यात् पलत्रयम् ॥ ५१ ॥

एतदेकीकृतं सर्वं चूर्णं स्यात् दाडिमाष्टकम् ।

रुचिकर्होपनं कण्ठं ग्राहि कासज्वरापहम् ॥ ५२ ॥

श्रीफलं त्रिवल् । अर्वापि तिलिडोकष्याने इवास्मिन्मिति, यत्किञ्चनाने च तिल-
डोकमिति केचित् । चातुर्जातमिति—त्वक्पत्रैर्लं सकेशरामत्यथः । कर्तव्य-
विधावर्वापि कपित्थफलमष्टभागिकमेकद्रव्यभागापेक्षया, द्रव्यत्वं एकभागसंज्ञितम् (?) ।
शर्कराः षड्भागाः, दाडिमादौनि पिप्पलीपथ्यन्तान् प्रत्येकं द्विभागिकं, मारचादि-
नागरान्तं भागिकं प्रत्येकीकृतं भावः । एतत् किमुक्तम् ? कपित्थं कषाष्टकं, अत्र
षट्कर्षभासता, दाडिमादिषट्द्रव्यमष्टादशकर्षमति, मारचादिषट्द्रव्योदशद्रव्यं त्रयो-
दशकर्षमित्यथः । अस्य षाडशसंज्ञा तत्त्वान्तरे, कृतः ? “लवणास्त्रितयायुक्तं चूर्णं
स्यात् षाडश मतम्” इत्यादिबचनात् । कापित्थाष्टकसंज्ञाऽस्य कटिः ॥ ४९--५० ॥

दाडिमीति ।—अयं लघुगुरुभेदेन दाडिमाष्टकसंज्ञको योगोऽतीसारदीनां
प्रशस्तः । खण्डाद्दशपलानि—सामान्यतश्चूर्णात् पलत्रयानूना दिगुणा शर्करा त्रयो-
ऽतीक्ष्णत्वात् । त्रिगन्धस्य पलमेकं मिलितमित्यर्थः । दूषणव्यापि पलत्रयं प्रत्येकं
पलमित्यर्थः । “खण्डाद्दशपलानि च” इत्यत्र स्थाने “खण्डादष्टपलानि च” इति
केचित् पठन्ति, तस्य च चूर्णमस्य खण्डमिति व्याधिबिहितत्वात्, अयं पञ्चः प्रशस्तिः ।
सामान्यार्थे त्रिगन्धस्य प्रत्येकं पलं ग्राह्यम् । * दाडिमाष्टकमिति—अष्टमं द्रव्यमस्य
दाडिमं, तेन दाडिमाष्टकं प्रोक्तम् ॥ ५१।५२ ॥

* दाडिमादौनि अष्टौ द्रव्याणि अत्र विद्यन्ते, तेनैवास्य दाडिमाष्टकसंज्ञा ;
गुदाद्यदीपकायामपि इयमेव व्याख्या दृश्यते, यथा—“दाडिमादौनि अष्टौ द्रव्याणि
यत्र तत् दाडिमाष्टकम्” इति ।



अतिसारादौ उद्दृष्टिमाष्टकम् ।—

दाडिमस्य पलान्यष्टौ शर्करायाः पलाष्टकम् ।
 पिप्पली पिप्पलीमूलं यमानी मरिचं तथा ॥ ५३ ॥
 धान्यकं जीरकं शुण्ठी प्रत्येकं पलसम्मितम् ।
 कर्षमात्रा तुगाक्षीरी त्वक्पत्रैलाश्च केशरम् ॥ ५४ ॥
 प्रत्येकं कोलमात्राः स्युस्तच्चूर्णं दाडिमाष्टकम् ।
 अतिसारं क्षयं गुल्मं ग्रहणौघं गलग्रहम् ॥
 मन्दाग्निं पीनसं कासं चूर्णमेतद्विपोहति ॥ ५५ ॥

वातशूलघ्नां पिप्पल्यादिचूर्णम् ।—

* (पिप्पली बृहती व्याघ्री यवचारकलिङ्गकाः ।
 चित्रकं सारिवा पाठा शटी लवणपञ्चकम् ॥
 तच्चूर्णं पाययेद्भ्रा सुरयोष्णाम्बुनाऽपि वा ।
 मारुतग्रहणीदोष-शमनं धरमं हितम् ॥)

अश्वकादौ लवङ्गादिचूर्णम् ।—

लवङ्गं शुद्धकपूरमेलात्वङ्नागकेशरम् ।
 जातौफलमुशीरश्च नागरं कृष्णजीरकम् ॥ ५६ ॥

द्वितीयं दाडिमाष्टकमाह, दाडिमस्योक्तं ।—एतद्दृष्टिमाष्टकसंज्ञं चूर्णमती-
 सारादौ नृहन्ति । अथ तुगाक्षीरी वायो, तदभावे तवक्षीरं याज्यम् ; तवक्षीरं
 कर्षरक्षितः प्रकारः, सा कर्षममाणा । त्वक् बराङ्गम् । पत्रं पदकम् ।
 पला † मूत्रोत्थ । केशरं नागकेशरम्, एतच्चतुष्टयं ‡ कोलमात्रम् ; कोलं कर्षाई, तेन
 सर्वाङ्गितं टङ्गाष्टकमित्यर्थः । शीघ्रं सुगमम् । गलग्रहं गलग्रहम् । अष्टाष्टकसंज्ञा
 पलाष्टकेन बोद्धव्या, न तु द्रव्यसङ्ख्याया ॥ ५३—५५ ॥

अथ लवङ्गाद्यं चूर्णं दशयन्नाह, लवङ्गमिति ।—शुद्धकपूरमिति—शुद्धश्च तत्

* प्रविशोऽयम् ।

† एला स्थूलैला इत्येव सर्वत्र प्रचरति न तु मूत्रोत्थ ।

‡ “वातुर्जातं दिकाधिकम्” इति अक्षपाठव्याख्यायां ‘विकाधिकमिति प्रत्येकं
 निर्देशस्य द्रव्यप्रधानत्वात्’ इति शिवदासः । तन्नाम दाडिमाष्टक इति संज्ञा ।

कृष्णागुरुस्तुगाक्षीरो मांसी नीलोत्पलं कथा ।

चन्दनं तगरं बालं कक्कोलश्चेति चूर्णयेत् ॥ ५७ ॥

समभागानि सर्वाणि सर्वेभ्योऽर्द्धां सिता भवेत् ।

लवङ्गाद्यमिदं चूर्णं राजाहं वक्त्रिदीपनम् ॥ ५८ ॥

* रोपणं तर्पणं हृथं त्रिदोषघ्नं बलप्रदम् ।

हृद्रोगं कण्ठरोगञ्च कासं हिक्काञ्च पोनसम् ॥ ५९ ॥

कर्पूरश्चेति पञ्चकर्पूरमित्यर्थः, अतिमधुत्वात् ; तथा हि—“पञ्चानु द्विविधः प्रोक्तः सदसौ निदंलकथा । दृढस्य पीतवर्णस्य विशेषाज्ञघृता गतः ॥” इति । केचित्तु शुद्ध-
शब्देन जात्यत्कृष्टं गृह्णन्ति, तस्य ईशावास इति संज्ञितम् ; तथा श्रुतम्—“ईशा-
वासो हिनसंज्ञः पीताशय इति निधा । अपक्वे कथ्यते भेदः कर्पूरं तु भिषग्वरैः ॥”
स्वरूपेणापि—“ईशावासो भृशं श्वेतो हिमसश्च पाण्डुरः । श्वेतः पीताशयश्च—”
इति । सर्वे गुणैर्नापि “रसवीर्यविपाकतः । प्रभावेणापि ते प्रोक्ता, पूर्वं पूर्वं
गुणविकाः ॥” प्रकृतत्वेनापि—“तत्रापि धी न च सुदः स्फटिकाभः स उत्तमः”
इति । कृष्णजीरकमिति पाश्चात्यं, खुरासानीति लोके । कृष्णागुरुः अगुर्विति प्रसिद्धम् ।
स्तुगाक्षीरो वांशी । मांसी जटाश्या । नीलोत्पलोपलक्षितत्वात् पद्मबीजं यावत् (१) ।
कथा पिप्पली । चन्दनं श्वेतम् । तगरं खनामख्यातम् । बालं बालकम् । कक्कोलफल-
द्रव्यं निजनामप्रसिद्धं, तस्य द्विविधं, मरिचकक्कोलं चौरकक्कोलश्चेति । एतत् सकलं
द्रव्यं समभागं चूर्णयितव्यं, सर्वेभ्यः सिताऽर्द्धां भवेत्, † तत् सकलचूर्णस्य भागैकं,
सिताशयं भागैकं, चूर्णसमानां सितेत्यर्थः । एके सिताऽर्द्धां भवेदित्यनेन सस्यालत-
चूर्णञ्च द्वौ भागौ सिताया एका भाग इति व्याख्यानार्थम् ; एतदसङ्गतं व्यवहारात् ।
राजाहंमिति—प्रभुवीर्यम्, अतिसुगन्धत्वात् बहुलगुणकरत्वाच्च । रोपणं शरीराख्यर-
करं त्रणरोपणञ्च । तर्पणं धातुना त्रिभिर्जनकम् । हृथं शुक्रहृदिकारि । बलम्

* “रोपणम्” इत्यत्र “राचनम्” इति पाठा युक्तः, लवङ्गादिचूर्णं त्रणरोपण-
शक्त्यभावात्, तन्नाम्नरं “सुरोचनम्” इति पाठदर्शनाच्च ।

† यद्यपि अर्द्धशब्दः समाश्रयाक्षी, तथापि नेदके “सर्वेभ्योऽर्द्धां” इत्यादि
प्रयोगस्थले समाश्रयाक्षत्वेनार्द्धशब्दः कैरापि टीकाकारैर्न व्याख्यातः । “सर्वतुल्या”
“सर्वसमा” इत्यादि प्रयोगे एव तादृशी व्याख्या दृश्यते । अत्रादत्ते “सिताऽर्द्धभागं”
तथा शुद्धकर्पूरान् बहोन्द्र इति च पाठा दृश्यते ।

यच्चाणं तमकं खासमतौसारमुरःक्षतम् ।

प्रमेहारुचिगुल्मादीन् ग्रहणीमपि नाशयेत् ॥ ६० ॥

यद्यथा जातीफलदिचूर्णम् ।—

जातीफललवङ्गला-पत्रत्वङ्नागकेशरैः ।

कर्पूरचन्दनतिलैस्त्वक्क्षीरीतगरामलैः ॥ ६१ ॥

तालीशपिप्पलीपथ्य-स्थूलजीरकचित्तकैः ।

शुण्ठीविडङ्गमरिचैः समभागविचूर्णितैः ॥ ६२ ॥

यावन्त्येतानि सर्वाणि कुर्यात् भङ्गाच्च तावतीम् ।

सर्वचूर्णसमा देया शकैरा च भिषग्वरैः ॥ ६३ ॥

कर्षमात्रं ततः खादेन्मधुना प्लावितं सुधीः ।

अस्य प्रभावात् ग्रहणौ-कामश्वासमारुचिचयाः ॥

वातश्लेष्मप्रतिश्यायाः प्रशमं यान्ति वेगतः ॥ ६४ ॥

बीजसत्प्रदमित्यर्थः । तमकः श्यामभेदः । उरःक्षतं क्षयरोगे पठितम् । च्यागे कर्पूराद्यं नाम चूर्णं कौचित् पठन्ति, तच्च बहुपुलकेषु न दृश्यते, सैपकोऽयम् इति मन्थमानेरन्ध्रानिर्गन्तं लिखितः । कर्पूरादः कौचित्लिखितः,—“मकर्पूरश्च कर्कालं जातीफलदलं समम् । लवङ्गभागमरिच-कण्ठाशुण्ठीविडङ्गतम् ॥ चूर्णं सितासमं यावच्च रावनं चयकासगृत् । वैस्त्र्यश्यामगुग्गुलाः कण्ठानयमयापहम् ॥ प्रयुक्तश्चात्रपानेषु भिषजा रोगिणा हितम् ॥” इति कर्पूराद्यं चूर्णम् । अथ लव-लवङ्गादिचूर्णं तन्नाम्नरे—“लवङ्गजातीफलपिप्पलीना भागान् प्रकल्प्याचसञ्च-नमीषाम् । पलाईमेकं मरिचञ्च दद्यात् पलागि चत्वारि सङ्कोषधम् ॥ सितासमं चूर्णमिदं प्रसह्य रोगानिमित्तान्यु बलान्नहन्ति । कासज्वरारोचकगन्धमेह-श्यामाग्नि-मान्द्यग्रहणीविकारान् ॥” इति । * लघुलवङ्गादिचूर्णम् ॥ ६६—६० ॥

इदानीं जातीफलाद्यं नाम चूर्णं दर्शयन्नाह, जातीफलिति ।—अथ चन्दनं शृङ्गं, शृण्धेत्वात् । तिलैरिति—कण्ठतिलाग्नि निस्तुषाणं याह्याणं । त्वक्क्षीरी शशी । तगरं प्रसिद्धम् । आमलमामलकफलम् । पथ्या इरीतको । स्थूलजीरकं कण्ठ-जीरकः ; एतत् सकलं समभागं गृहीत्वा चूर्णितम् । अथ भागमेकं भङ्गाद्या भागेक-

अथैषादौ महाषाडवम् ।—

मरिचं नागपुष्पाणि तालीशं लवणानि च ।

प्रत्येकमेकभागाः स्युः पिप्पलीमूलचित्रकैः ॥ ६५ ॥

त्वक् कणा तिलिङ्गोक्तञ्च जौरकञ्च द्विभागिकम् ।

धान्यास्त्रिवेतसौ विश्वं भट्टेला बटराणि च ॥ ६६ ॥

अजमोदा जलधरः प्रत्येकं स्युस्त्रिभागिकाः ।

सर्वौषधिचतुर्थांशं दाडिमस्य फलं भवेत् ॥ ६७ ॥

द्रव्येभ्यो निखिलेभ्यश्च सिता देयाऽर्द्धमीचया ।

महाषाडवसंज्ञं स्याच्चूर्णमेतत् सुरोचनम् ॥ ६८ ॥

अग्निदीप्तिकरं हृद्यं कासातीसारनाशनम् ।

हृद्रोगकण्ठजठर-मुखरोगप्रणशनम् ॥ ६९ ॥

निति, तेन सकलचूर्णसमाना भङ्गा देया इति । भङ्गाऽव भजिता देवा, व्यव-
हारात् । सर्वचूर्णसमा देवा शर्करा चेति—तेन द्वयोः साम्या शर्करेत्यर्थः । एतत्
सिद्धं यद्योचितमात्रं मधुना प्राप्य भक्त्यं, नाव कर्षमानं नियतं, यतः,—“नाचाया
नाख्यवष्टानम्” इत्यादिवचनात् ॥ ६१—६३ ॥

अथ महाषाडवसंज्ञकं चूर्णमाह, मरिचनिति ।—नागपुष्पाणीति—नाग-
केशरम् । लवणानीति बहुवचनत्वेन पञ्चलवणं याज्यं, तच्च—“सिन्धु सौवर्चलस्यैव
विष्टं सामुद्रकं गडम्” इति । अस्मात्सम्प्रदाये लवणानीत्यनेन सैन्धवमेव याज्यं
ग्राह्यत्, स्वजात्युल्लेखेन बहुवचनपठनम् । त्वक् तज्जम्बवास्थम् । अत्र
मरिचादिलवणान्तं प्रत्येकं टङ्कैकम् । पिप्पलीमूलादिजौरकान्तं प्रत्येकं टङ्क-
द्विहितम् । अस्त्रिवेतसं स्वगामप्रसिद्धम् । विश्वं शुण्ठी । भट्टेला हट्टेला ।
बटराणि बटरफलानि । अजमोदाऽत्र यमाग्री, एवं सर्वमान्तःपरिमाणने,
वाङ्गःपरिमाणने तु अजमोदा अजमोदेव ; तथा हि—“अन्तःसम्भारजने प्राय-
श्चाजमोदा यमानिका । वाङ्गःसम्भारजने योज्या त्वजमोदेव निश्चितम् ॥” इति ।
अजमोदायमान्यौ चः, तत्र यमान्येव द्विगुणा अन्तःपरिमाणने । जलधरो
मुकम् । धान्यादिजलधरान्तं प्रत्येकं टङ्कैकमिति । एतत्सकलचूर्णस्य चतुर्थांशं
दाडिमफलं, तेन नाषाधिकद्विष्टङ्कमित्यर्थः । दाडिमफलमथार्धं, यज्ञीके “अनारदाना”

विस्तृचिकां तथाऽऽधानमशीगुल्मकमीनपि ।

कटिं पञ्चविधां श्वासं चूर्णमेतद्व्यपोहति ॥ ७० ॥

उदरादी नारायणचूर्णम् ।—

चित्रकं त्रिफला व्योषं जौरकं हवुषा वचा ।

यमानी पिप्पलीमूलं शतपुष्पाऽजगन्धिका ॥ ७१ ॥

अजमोटा शटी धान्यं विडङ्गं स्थूलजौरकम् ।

हेमाद्रा पौष्करं मूलं जारौ लवणपञ्चकम् ॥ ७२ ॥

शब्दवाच्यं, षाड्वत्तात् । समस्तद्रव्येभ्यः सिता शर्करा अर्द्धभागिका देया * तेन सकल-
चूर्णसाम्यमित्यर्थः, सकलचूर्णसाम्यं कियत्प्रमाणम् ? † टङ्काधिककुडवमानमिति
भावः । महाषाडवमिति “लवणास्त्रिसिंहायुक्तः षाडवः परिकीर्तितः,” इति
पाठान्तरम् इति । तत् “चूर्णे गुडः समो देयः शर्करा दिगुणा भवेत्” (शाङ्ग०
मध्० ६५०) इति नियमेन कथमत्र चूर्णसमनुलिता सिता ? उच्यते—अयमपि
श्रीर्गाऽग्निनाम्ये प्रधानतमः, अग्निसादो हि अयेष श्लेष्माधिकः स्यात्, श्लेष्मिण च
मधुरो बहुतरो न युक्त इत्यदोषः । यथा—दिगुणनानमनुक्तेषु उक्तेषु तु “यदुक्तं
तत्तदैव च” इति ॥ ६५—७० ॥

उदानीं नारायणचूर्णे प्रकटयन्नाह, चित्रकमिति ।—त्रिफला हरीतक्यादिकम् ।
व्योषं विकटुकम् । हवुषेति खनामतः प्रसिद्धा ; कैश्चित्तु ‘हव’ शब्दवाच्यं

* अत्रापि अर्द्धशब्दस्य समाशार्थकत्वं न वैद्यमनोरमम्, एतत् प्रागेव
प्रदर्शितम् ।

† सकलचूर्णसाम्यं टङ्काधिककुडवमानमिति पाठः मुद्राक्षरप्रसादविजृम्भितः
टीकाक्षरप्रसादविजृम्भितो वा इति सन्देहः, यतः मरिचादिजलधरानैः द्रव्यैः टङ्कपरि-
मितैः मिलित्वा एकचत्वारिंशत् टङ्का भवन्ति, चतुर्थांशेन स्रपाददण्डटङ्केन टाडिमफलेन
सप्त मिलित्वा पुनः स्रपादेकपञ्चाशद्दण्डाः लायन्ते, प्रथमं तन्नामानायाः शर्करायाः
ज्ञानमपि स्रपादेकपञ्चाशद्दण्डा एव । टङ्कस्तु श्लेष्माप्रपर्यायः, स च तोलकाहुः,
तस्य स्रपादेकपञ्चाशद्दण्डेः साधकाधिकं साङ्गप्रज्ञविंशतितीलकं लायति, टङ्काधिक-
कुडवेन तु साङ्गप्रज्ञातितीलकं भवति । अस्तुतस्तु सर्वद्रव्येभ्यः अर्द्धनामायाः
शर्करायाः साङ्गप्रज्ञाधिकपञ्च द्वादशतीलकं मानं भवतीति सुधीर्निर्द्वन्द्व्यम् ।

कुष्ठश्चेति समांशानि विशाला म्याह्विभागिका ।

विह्विभागा विज्ञेया दन्त्या भागत्रयं भवेत् ॥ ७३ ॥

चतुर्भागा मातला म्यात् सर्वाण्येकत्र चूर्णयेत् ।

पाचनस्नेहनाद्यैश्च स्निग्धकोष्ठस्य रोगिणः ॥ ७४ ॥

दद्याच्चूर्णं विरेकाय सर्वरोगप्रणाशनम् ।

हृद्रोगे पाण्डुरोगे च कासे श्वासे भगन्दरे ॥ ७५ ॥

मन्दाग्नी च ज्वरे कुष्ठे ग्रहण्याच्च गलग्रहे ।

दद्याद्दुग्धानुपानेन तथाऽऽधाने सुरादिभिः ॥ ७६ ॥

गुल्मे बदरनीरेण विड्भटे दधिमस्तुना ।

उष्णाम्बुभिरजीर्णं च वृक्षास्त्रैः परिकर्त्तिषु ॥ ७७ ॥

वदन्ति । अजगत्त्रिका चतुर्थमानी, वनयमानी वा ; वनतलमीति केचित् ।
अजमोटाऽव अन्तःपरिमार्जनत्वात् यमानी, तेन यमान्या भागत्रयम् । चाराविति
—इी चारो, तेन स्त्रिका यवधारयेति । लवणपक्कं प्रसिद्धम् । एतत्
सर्वं समाश्रमात् । विशालन्द्वारुणी, सा विभागिका एकद्व्यभागापेक्षया ।
विह्विज्ञातः हिभागा, अत्रापि दन्त्यैकभागापेक्षया । दन्ती च एमिहा, तस्या
भागत्रयं दन्त्यैकमानादपि बोध्यम् । मातला चर्मकषा, लोके सङ्गण्डभेद इति,
विमटेनापि यवातक्तकण्डेन लिखितः, सा च दन्त्यैकभागापेक्षया चतुर्भागा ।
पाचनस्नेहनाद्यैरात—पाचनं दोषाणां पाचनं व्याधिबाधनं, स्नेहनं स्नेहपानादिकम्,
आदिशब्दात् श्वदादिकुष्ठः ; एतेन क्रतुपूर्वः पाचनाद्यैः कृत्वा स्निग्धकोष्ठस्य रोगिण
एतच्चूर्णे विरेकाय दद्यादित्यर्थः, तथा हि—“वातोदरं बलवतः पूर्वं स्नेहेकपाचरेत् ।
स्निग्धाय खेदिताङ्गाय दद्यात् स्नेहविरेचनम् ॥” (च० लि० अ० ७८०) इति । नान्विष्ट
“वर्जयन् स्नेहपानमजीर्णं चोटरी ज्वरो” (सू० लि० ३१४०) इति वचनात् स्नेहो
निषिद्धः, “नेने स्वशा नोटरी नातिमारो” इत्यनेन खेदस्यापि निषेधः क्रतुः,
तत् कथं स्नेहस्य दोषदृष्टः ; उच्यते—स्वतन्त्रयोः स्नेहखेदयोर्निषेधो बोध्यः, न तु
शोषनादमृतशोषयोः, अन्यथा दोषदृष्टव्यं दुष्करत्वात् । दद्यात् युक्तानुपानेनेति—
युक्तानुपानमन्तव्यं कथ्यते ; तद्वशा—आधाने सुरादिभिरिति, आदिग्रहणादा-
मवारिहृत्पीडनाधोकादिभिः । गुल्मे बदरनीरेणिति—बदरक्ताद्येनेत्यर्थः । विड्भटे
दधिमस्तुनेति—दधि च मस्तु च ; यदा—दधौ मस्तु नामाजातिकं, यत् मस्तु

उष्ट्रीदुग्धेनोदरेषु तथा तन्नेण वा गवाम् ।

प्रसन्नया वातरोगे दाडिमास्त्रुभिरर्शसि ॥ ७८ ॥

द्विविधे च विधे दद्यात् घृतन विषनाशनम् ।

चणं नारायण नाम दृष्टगोगणापहम् ॥ ७९ ॥

सप्तविधं भवेत्, तद्वशा—“स्नादस्त्रुभिरर्शसि तत्तथा * घृतचौरभवं सरसम् ।
असारमेवं दधि सप्तधाऽस्त्रिन् वगे घृता मस्तुगुणास्तथैव ॥” (सू० सू० ४५५०)
इति । प्रसन्नतोऽभ्यासं प्रकटयन्नाह, स्नादस्त्रुभिर्यादि ।—स्नादु दधि, अस्त्रं दधि,
अत्यस्त्रं दधि, सरजातम् अत्यस्त्रं दधि (?) मन्दजातं दधि एवो जातमित्यर्थः,
तथा घृतचौरभवमिति—विनष्टदुग्धजातम् । + सर इति—दध्न उपरि घृतो
भागः स्नेहवद्भूतः सर इति प्रसिद्धः । असारं साररहितम्, उद्धृतकेदस्य दध्नी
विनिर्मितमित्यर्थः, इति सप्तानध मस्तु दर्शितम् । अन्ये कूर्चिकादधितक्त-
भेदेन मस्तु द्विविधमिति पठन्ति । उष्णास्त्रुभिः सङ्घ पेयमिति व्यवहारः,
उष्णास्त्रुभिरिति बहुवचनत्वेनाष्टमांशावशेषादिकं याज्यं, तस्य यथाटोषानुरूपमिति
योज्यम् । तच्च स्मृतिः—अस्य काथनेत्यर्थः । परिकर्त्तव्यमिति—गुटे परि-
कर्त्तव्यमिव वेदनादिभिरिति परिकर्त्तव्यमिति कथ्यते । उष्ट्रीदुग्धेन गवां तन्नेण
वा उदरेषु इति—सर्वोदरेष्वित्यर्थः । प्रसन्नया वातरोगे इति—प्रसन्ना सुरासङ्घः
प्रसिद्धः ; तथा श्रुतिं—“प्रसन्ना स्यात् सुरासङ्घः तस्मात् कादस्त्रो घना । अमल-
सदधः प्रोक्तो जगन्नाम्नेदको घनः ॥ वक्त्रसो हृतसारः स्यात् सुरावीजन्तु किण्वकम् ॥”
इति । गुणेनापि प्रसन्नामाह—“गुणार्शस्फुटरोचकवातनुत” इति । “प्रसन्नया
वातरोगे” इत्यत्र “रास्त्रया वातरोगेषु” इति वा पाठः, तत्र रास्त्राकाथेन
सह्यर्थः । दाडिमास्त्रुभिरर्शसीति—दाडिमफलस्वरसैः कथितफलरसैर्वा । द्विविधे च
विधे इति—स्नावरज्जमात्मके । विष्णुसंहितायामुक्तं नारायणरुद्रं यथा—
विष्णुवीर्यं लब्ध्वात् नारायणमंत्रं, यथा विष्णुनेत्रमा दैत्यगणाः पलायन्ते तथैवास्त्र
प्रभावेण दृष्टा रोगमथा नश्यतीति तात्पर्यार्थः ॥ ७९—८० ॥

* सुश्रुते “घृतचौरभवम्” इति पाठः ।

+ सरजातं मस्तु इति तु न सङ्गच्छते, यतः दधिनिःसृतं जलं मस्तु, सरान्
जलं न निर्गच्छतीति । दुग्धस्य सरजातदध्नी मस्तु इति तु भवितुमर्हति ।

चकीर्णादौ हवुषाद्यं चूर्णम् ।—

हवुषा त्रिफला चैव त्रायमाणा च पिप्पली ।
हेमचोरो त्रिवृच्चैव मातला कटुका वचा ॥ ८० ॥
नीलिनी सैन्धवं कृष्णं नवणञ्चेति चूर्णयेत् ।
लण्णोदकेन मूत्रेण दाडिमत्रिफलारसैः ॥ ८१ ॥
तथा मांसरसेनापि यथायोग्यं पिबेन्नरः ।
शैर्जार्णं प्लोङ्गं गुल्मेषु शोफार्शोविषमार्ग्विषु ॥
हलीमकामलापाण्डु-कुष्ठाध्मानोदरेष्वपि ॥ ८२ ॥

शुलादौ पञ्चसमं चूर्णम् ।—

शुण्ठी हरीतकी कृष्णा त्रिवृत् सौवर्चलं तथा ।
समभागानि सर्वाणि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥ ८३ ॥
त्रेयं पञ्चसमं चूर्णमेतच्छूलहरं परम् ।
आधानजठराशीघ्नमामवातहरं स्मृतम् ॥ ८४ ॥

आधानादौ नाराचचूर्णम् ।—

कर्षमाना भवेत् कृष्णा त्रिवृता स्यात् पलोन्मिता ।
खण्डात् पलञ्च विज्ञेय चूर्णमेकत्र कारयेत् ॥ ८५ ॥

अथ हवुषाद्यं चूर्णं दर्शयन्नाह, हवुषाति ।—हवुषा खन्यामस्मात् । सा च जम्बूवाटपविशेषः । त्रायमाणा लोकातः प्रसिद्धा । हेमचोरो खणचोरो, कटुकसेद इत्यर्थः, शोफ इति शोफः । लण्णोदकातः । मातला सेहल्लसेदः । नवणञ्च सौवर्चलं, सौवर्चलसममवत् वा इत्यन्ते, यदुक्तं—“न कालक्षयणे गन्धः शोवर्चलसमो गुणैः” (अ० १० अ० १० अध्यायः) । इति सूत्रेणात्र—शोमूत्रेण शोषत्वात् । दाडिमत्रिफलारसैरिति—कथितैः । साधरसः, प्रसिद्धशब्दवाच्यः । यथानामदमिति व्याख्यानरूपम् । विषनाशिष्विति—विषमतीक्ष्णान्तादिष्वपि । हलीमकामलापाण्डु-कुष्ठाध्मानोदरेष्वपि ॥ ८०—८२ ॥

आधानादौ पञ्चसमचूर्णं दर्शयन्नाह, शुण्ठीति ।—समं कृष्णा पिप्पली । प्लोङ्गमिति । शर्षपं सुशोषम् ॥ ८३-८४ ॥

कर्षोन्मितं लिङ्गेतेतत् क्षौट्रेणाध्याननाशनम् ।

गाढविट्कोटरकफान् पित्तशूलञ्च नाशयेत् ॥ ८६ ॥

यत्कृष्णलोटी लवणवितयाद्यं चूर्णम् ।—

लवणवितयं क्षारौ शतपुष्पाद्वयं वचा ।

अजमोदाऽजगन्धा च ह्रवुषा जीरकद्वयम् ॥ ८७ ॥

मरिचं पिप्पलीमूलं पिप्पली गजपिप्पली ।

हिङ्गुश्च हिङ्गुपत्री च शटी पाठापकुञ्चिका ॥ ८८ ॥

शुण्ठी चित्रकचव्यानि विडङ्गञ्चाम्लवेतसम् ।

टाडिमं तिलिङ्गीकञ्च त्रिवृहन्ती शतावरी ॥ ८९ ॥

इन्द्रवारुणिका भार्गी देवदारु यमानिका ।

कुसुम्बकुसुम्बरूणि पौष्करं बदराणि च ॥ ९० ॥

शिवा चेति समांशानि चूर्णमेकत्र कारयेत् ।

भावयेदाद्र्दकरमेर्वीजपूरस्मेस्तथा ॥ ९१ ॥

। इटानौ नाराचकं भाम चूर्णं विवर्धयन्नाह, कर्षमात्रेति ।—कर्षोन्मिताभ्यां भक्ष्यकार्यम् । क्षौटन्तु यावता अवलङ्घः स्यात् तावन्मात्रम् । एतच्च प्रातरपि भक्ष्यं विरेकयन्त्यातः ; तथा क्षान्तं—“खण्डपलं विहतासमस्तपक्व्याकर्षचूर्णितं क्लृप्तम् । प्राग्भोजने च मधुना विडालपदकं लिङ्गेत् प्राञ्जः ॥” इति । गाढविट्कफानवह-पुरोवर्तिना ॥ ८५.८६ ॥

अथ तिलवणाद्यं चूर्णं दशंशनाह, लवणवितयमिति ।—अयं तिलवणाद्यो योग्यचूर्णसंज्ञकः । अथ तिलवणञ्च भैश्वसौवर्चलात्रिकमंजम् । क्षाराविति—क्षौट्कारौ, तेन स्पर्जिकाक्षारौ यवक्षारश्च । शतपुष्पाद्वयमिति—लघुस्यूलभेदेन, एका “सौफ” इति प्रसिद्धा, अपरा “सीवा” शब्दवाच्या । अजगन्धा वर्वरिका । ह्रवुषा भिजनामस्थिता । जीरकद्वयमिति—पीतकण्ठभेदेन प्रतीयते । हिङ्गुपत्री विटप-विशेषः, तस्याः पत्राणि हिङ्गुगन्धसदृशानि भवन्ति, सा हिविधा, एका चारुणपत्रिका तन्वी, अपरा वेषपत्रिका हिङ्गुलफला । उपकुञ्चिका जीरकभेदः, “क्षारौजी” शब्दवाच्या । कुसुम्बक धान्यकम् । कुम्बक खनामप्रसिद्धम् । पौष्करं कुण्डम् । बदराणि बदरफलानि । शिवा इरीतकी । शीवं सुबोधम् । एतत्

तत् पिबेत् सर्पिषा जीर्णं मद्येनोष्णोदकेन वा ।

कोलाश्रमा वा तक्त्रेण दुग्धेनौष्ट्रेण मस्तुना ॥ ८२ ॥

यकृत्यष्टकटीशूलं गुदकुक्षिहृदामयम् ।

अर्शोविष्टमन्दाग्निं गुल्मप्लीहोदराणि च ॥ ८३ ॥

हिक्काधानश्वासकामान् जयेदतन्न संशयः ।

एतैरेवौषधैः सम्यक् घृतं वा माधयेत् सुधीः ॥ ८४ ॥

शूलादौ तुम्बुर्वादि चूर्णम् ।—

तुम्बुरुणि त्रिलवणं यमानो पुष्कराह्वयम् ।

यवक्षाराभयाहिङ्गविडङ्गानि समानि च ॥ ८५ ॥

त्रिर्वाहभागो विज्ञेया सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।

पिबेदृष्णेन तांयेन यवक्वाथेन वा पिबेत् ॥

जयेत् सर्वाणि शूलानि गुल्माधानोदराणि च ॥ ८६ ॥

सकलं समभागेन शुक्लचूर्णोक्तं चार्द्रकरसैर्वीजपूररसैश्च प्रत्येकं भावयेत् ; रसैरिति बहुवचनत्वेन सप्त वारान् भावयेदिति भावः ; तथा चोक्तं—“बीजपूरार्द्रकरसेना-सकलविवृतम्” इति घृतमाधनेन नतुर्गुणा रसो दैत्यः स्नेहपरिमाणात्, चतुर्गुणता च प्रत्येकम् । तत् पिबेत् सर्पिषा जीर्णं इति—अत्र जीर्णं मतिरपिबेदितव्यं, अन्यरोगीत्यतिभयान् ; तथा हि—“औषधशेषे भुक्तं पोतं तथौषधं सशेषेऽन्ने । न खरति गदापशम प्रकीपयत्यन्ययोगाच्च ॥” इति । कोलाश्रमा बदरकाथेन । “वा”यद्वशात् कलत्यगुर्वेण क्षारनिश्रुतनेन टाडमयसेन दोषापेक्षया पिबेदिति तात्पर्यार्थः । यकृत्यष्टकटीशूलमिति—यकृच्छूलं पृष्ठशूलं कटिशूलमेति । गुदकुक्षि-हृदामयमिति—आमया गुदादिभिः सप्त प्रत्येकमग्निसम्बध्यते । एतैरेवौषधैः घृतमपि माधयेत् सुधीरिति—स्नेहयुक्तम् । विपश्चदित्यर्थः ॥ ८७—८४ ॥

अथ तुम्बुर्वाद्य चूर्णं दर्शयन्नाह, तुम्बुरुणीति ।—अयं तुम्बुर्वादिर्को योगः अष्टविधशूलेषु प्रशक्तः । तत्र तुम्बुरुणि फलावशिष्याः प्रासज्याः । त्रिलवणं सैन्धवं सौवर्चलं विडम् । पुष्कराह्वयं पुष्करमूलं, तदभावं कुष्ठम् । अभया इरीतकी । हिङ्गुश्च भर्जितम् । एतत् सकलं समभागम् । विहतं विभागेति एकद्रव्य-भागोपेक्षया । यवक्वाथेनेति—धनोऽन्नविशेषः ॥ ८५—८६ ॥

यदृष्यां चित्रकादि ।—

चित्रकं नागरं छिद्रु पिप्पली पिप्पलीजटा ।
 चव्याजमोदा मरिचं प्रत्येकं कर्षसम्मितम् ॥ ८७ ॥
 खर्जिका च यवक्षारः सिन्धु सौवर्चलं विडम् ।
 सामुद्रकं रोमकञ्च कोलमात्राणि कारयेत् ॥ ८८ ॥
 एकोक्त्याखिलं चूर्णं भावयेन्मातुलुङ्गजैः ।
 रसेर्दाडिमजैर्वाऽपि शोषयेदातपेन च ॥ ८९ ॥
 एतच्चूर्णं जयेद्भस्मं ग्रहणोमामजा रुजम् ।
 अग्निञ्च कुरुते दोषं रुचिकृत् कफनाशनम् ॥ १०० ॥

अग्निमान्द्यं बडवानलचूर्णम् ।—

मैत्र्यं पिप्पलीमूलं पिप्पली चव्याचत्रकम् ।

चित्रकाद्यं चूर्णमाह । चव्यमिति ।—अथ नागरं शृणु । पिप्पलीजटा पिप्पली-
 मूलम् । चित्रकाट मरिचान्तं द्रव्यं कर्षप्रमाणं प्रत्येकं, खर्जिकादि रोमकान्तं
 कोलमात्र प्रत्येकमित्यर्थः । कोल कर्षाङ्गुलमम् । रोमकं गडलवणम् । एतत् सर्वं
 चूर्णीकृत्य * मातुलुङ्गदाडिमफलीद्वये, रसेः पृथक् भावयेत्, मातुलुङ्गो बीजपूरकः ।
 वा-ग्रहणादेतच्चूर्णं मातुलुङ्गदाडिमरसेनाप्लाव्य गुटिकाः कार्याः यस्यान्तरदर्शनाच्च ;
 तथा हि—“चित्रकं पिप्पलीमूलं चोषाग्रे + लवणवयम् । व्योषं छिद्रुजमोदाश्च
 चव्येकेन चूर्णीयेत् ॥ गुटिका मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा । कृता
 विपाचयन्त्यामं दीपयन्त्यां चानलम् ॥” (अ० चि० ग्रहणौ०) इति ॥ ८७—१०० ॥

अथ बडवानलचूर्णमाह, मैत्र्यमिति ।—चव्यमिति—विटपविशेषः निक-

* मातुलुङ्गदाडिमफलीद्वये, रसेः” इत्यादि यदुक्तं, तत्र समीचीनं, यतः
 वा-ग्रहोऽत्र विकल्पार्थकः, न तु समुच्चयार्थकः ; तेन मातुलुङ्गरसेन अथवा दाडिम-
 रसेन मर्दयेत् इत्येवाव्यायः । टीकाया “वा-ग्रहणात्—” इत्यादि यदुक्तं, तदपि
 प्रामादिक, वा-ग्रहणात् एतत् चूर्णं मातुलुङ्गरसेन दाडिमरसेन वा आप्लाव्य इत्येव
 युक्तं पाठः, यस्यान्तरीयशीकोऽपि तादृशार्थक एव ।

+ “लवणवयम्” इत्यत्र चरके चक्रदत्ते च “लवणानि च” इति पाठः, स च
 सर्वविदित्युक्तः ।

शुण्ठो हरीतकी चेति क्रमवृद्धानि चूर्णयेत् ॥

बड़वानलनामैतच्चूर्णे स्यादग्निदीपनम् ॥ १०१ ॥

आमवातादौ अजमोदादिचूर्णम् ।—

अजमोदा विडङ्गानि सैन्धवं देवदारु च ।

चित्रकं पिप्पलीमूलं शतपुष्पा च पिप्पली ॥ १०२ ॥

सरिचञ्चेति कर्षांशं प्रत्येकं कारयेत् बुधः ।

कर्षास्तु पञ्च पथ्याया दश स्युर्वृद्धदारकात् ॥ १०३ ॥

नागराञ्च दशैव स्युः सर्वाखेकत्र चूर्णयेत् ।

पिबेत् काष्णजलेनैव चूर्णं श्वयथुनाशनम् ॥ १०४ ॥

आमवातरुजं हन्ति मन्थिपौडाञ्च गृध्रसीम् ।

कटिपृष्ठगुदस्याञ्च जङ्घयोश्च रुजां जयेत् ॥ १०५ ॥

तूनीप्रतूनीविश्वाचौ-कफवातामयान् जयेत् ।

समेत वा गुडेनास्य वटकान् कारयेद्भिषक् ॥ १०६ ॥

आमोदी शुण्ठ्यादचूर्णम् ।—

(शुण्ठो मौर्वर्चलं हिङ्गुं दाडिमञ्चास्त्वैतसम् ।

चूर्णमुष्णास्वना पेयं श्वासहृद्दोगशान्तये ॥)

नामप्रतीतिः, यस्य फलं नगपिप्पली इति । क्रमवृद्धा इति क्रत्वा योज्यं, इतिस्तु आदद्याद्वातः ; तदुपधा - सैन्धवमेकभागं, पिप्पलीमूलं द्विभागिकं, पिप्पली त्रिभागा, चञ्चं भागचतुष्टयं, चित्रकं पञ्चभाग, शुण्ठो षड्भागा, हरीतकी सप्तभागेति क्रमवृद्धिः । अत्यन्ताधिकरत्वात् बड़वानलमञ्जम् ॥ १०२ ॥

अथ अजमोदाद्यं चूर्णमपि दशपुष्पाद्, अजमोदेति ।—अथमजमोदादिनञ्जको धीगशूर्णदपो गुटकादपञ्च । अजमोदादिसरिचालं नवद्रव्यं प्रत्येकं कर्षमात्रम् । पथ्या हरीतकी, तस्यास्वेकं पञ्चकर्षमिता । वृद्धदारकं दशकर्षम् । नागराण्यष्टौ चैव दशकर्षास्त्विता । एतत् सकलं चूर्णं कृत्वा उचितमावधा कोष्ठागर्जनं पानं बीजस्यम् । वा अथवा पचान्तरमपि, इदमेव चूर्णं गुडमिश्रितं गुडममानं कृत्वा भक्षणं गुदमास्यमत्र चूर्ण्यताम् । अत्रापि कोष्ठाजलाशुषानं बीजस्यम् । कटिपृष्ठगुदज्वावातं च च रुजानित्यन्वयः । जङ्घयोर्बन्धोः अत्रापि रुजाम् । तूनी प्रतूनी वातरोमे पाठिता । विश्वाचौ च ॥ १०१—१०६ ॥

गुल्मादो हिङ्गादिचूर्णम् ।—

हिङ्गु पाठाऽभया धान्यं दाडिमं चित्रकं शटी ।

अजमोटा त्रिकटुकं हवुषा चान्नवेतसम् ॥ १०७ ॥

अजगन्धा तिल्लिङ्गोक्तं जोरकं पीष्करं वचा ।

चव्यं चारदयं पञ्चलवर्णानि विचूर्णयेत् ॥ १०८ ॥

प्राक् भोजनस्य मध्ये वा चूर्णमेतत् प्रयोजयेत् ।

पिवेद्वा जीर्णमद्येन तक्रेणोष्णोदकेन वा ॥ १०९ ॥

गुल्मे वातकफोद्धते हृद्गृहेऽष्टौलिकासु च ।

हृदस्तिपाश्वशूलेषु शूले च गुदयोनिजि ॥ ११० ॥

मूत्रकृच्छ्रे तथाऽऽनाहं पाण्डुरागोऽरुचौ तथा ।

हृक्काया यकृति श्लोक्नि श्वासं कासं गलग्रहे ॥

ग्रहण्यर्शोविकारेषु चूर्णमेतत् प्रशस्यते ॥ १११ ॥

भावितं मातुलुङ्गस्य बहुशः स्वरसेन वा ।

कुर्याच्च गुटिका बह्वीवांतश्चेष्टामयापहाः ॥ ११२ ॥

अधुना हिङ्गाद्यं चूर्णमाह, हिङ्गिति।—अथ हिङ्गु भक्षितं योग्यम् । पाठा
प्रसिद्धा, तथा मूलम् । अमया उचीतकी । दाडिमं दाडिमफलबीजाः । हवुषा
जम्बुवन्दिटपविश्वो विख्यातः । † अजगन्धा वर्करिका । तिल्लिङ्गोक्तमन्त्रफल
प्रसिद्धम् । पुष्करं पुष्करमूलम् । चारदयमिति—यवचारः स्वार्जकाचारः
पञ्चलवर्णानि सैन्धवप्रभृतिकानि । ‡ प्राग्भोजनस्यात—प्रातः काले, मध्ये वा भोजन-
समये । जीर्णमद्यनात—जीर्णं पुरातनं गुषाधिकत्वात्, तथा हि—“नय
मद्यमभिष्याद्गुरुदाघकरपक्वम् । जीर्णस्य सर्वदोषघ्नं लघु वातकफाघ्नम् ॥”
इति । कल्पनात्तरमाह—अथवा एतच्चूर्णं मातुलुङ्गस्य रसेन वा बहुशो भावायत्वा
गुटिकाः कार्याः, तास्य वातश्लेष्मामयापहा भवन्ति । बहुश इति—समवारान् ।
बह्वीरिति—द्विशायप्रमिताः ॥ १०७—११२ ॥

* “पञ्चलवर्णानि” इत्येव अरकवास्यऽवक्रदत्तेषु “लवणे इ च” इति पाठः ।

† “अजगन्धा चेत्यमानी” इति शिवदासः ।

‡ “भोजनस्य प्राक् परिणामे भोजनाद्यवहितपूर्वकाले वा” इति शिवदासः ।

अरोचकादौ यमानीषाङ्गः ।—

यमानी दाडिमं शुण्ठी तिल्लिङ्गीकान्मवेतसौ ।

वदरान्नञ्च कुर्वीत चतुःशाणमितानि च ॥ ११३ ॥

* सार्द्धद्विशाणं मरिचं पिप्पली दशशाणिका ।

त्वक्सौवर्चलधान्याकं जीरकं द्विद्विशाणकम् ॥ ११४ ॥

चतुःषष्टिमितैः शाणैः शर्करामत्र योजयेत् ।

चूर्णितं सर्वमेकत्र यमानीषाङ्गवाभिधम् ॥ ११५ ॥

चूर्णं जयेत् पाण्डुरोगं हृद्रोगं ग्रहणीं ज्वरम् ।

कुट्टिशोषातिसारांश्च ग्रीहानाहविवन्धताम् ॥

अरुचिं शूलमन्दान्निमर्शोजिह्वागलामयान् ॥ ११६ ॥

तालादौ तालीशादिचूर्णम् ।—

तालीशं मरिचं शुण्ठी पिप्पली वंशरोचनम् ।

एकद्वित्रिचतुःपञ्च-कर्षेर्भागान् प्रकल्पयेत् ॥ ११७ ॥

अथ यमानीषाङ्गसंज्ञकं चूर्णमाह, यमानीति।—यमानी प्रसिद्धा । दाडिमं दाडिमफलबीजानि । तिल्लिङ्गीकं प्रायडम । वदरास्त्रिमिति—वदरं प्रायडम, अस्त्रं वृक्षास्त्रं वृक्षमेतः, स च फलान् । यद्वा—वदरास्त्रमस्त्रवदरं षाडवत्वात् । चतुःशाणमितानीति प्रत्येकम् । सार्द्धद्विशाणं मरिचमिति—तेन दशमापकमित्यर्थः । त्वक्सादिजीरकान् प्रत्येकं द्विद्विशाणम् । “त्वक् सौवर्चलधान्याकम्” इत्यस्य स्थाने “क्षमिन्नमच धान्यत्वक्” इति पठान्, तदापि अस्त्रं सौवर्चलम् ; षाडवाभिधमिति प्रसिद्धे ; यतः—“लक्षणास्त्रमिमायुक्तः षाडवः परिकीर्तितः” इति । शोषो मुखजीवः ज्वरमेतौ वा । पानाह उदराद्वरः । विवन्धा बातादौनामपठति । जिह्वागलामयानिति—जिह्वाग्रयान्, गलामयानित्यर्थः ॥ ११३—११६ ॥

तालीशादिकमप्याह, तालीशमिति ।—तालीशं स्वनामधेयात् । वंशरोचनं वंशचोरी । एतत् द्रव्यपञ्चकमादद्रव्यात् कर्षेकेकेन बहिर्तं याच्यं, तेन तालीशं कर्षेयम्, पिप्पली चतुःकर्षां, वाशी पञ्चकर्षां

* पिप्पलीनां शतैकेन द्वे शते मरिचस्य च” इति चक्रपाठः । “पिप्पलीनां शतमिति याच्यतेनामात् एव मरिचस्यापि शतद्वयम्” इति शिवदासः ।

एलात्वचोस्तु कर्षादं प्रत्येकं भागमाचरेत् ।

हात्रिंशत्कर्षतुलिता प्रदेया शर्करा बुधैः ॥ ११८ ॥

तालीशाद्यमिदं चूर्णं रोचनं पाचनं स्मृतम् ।

कासश्वासज्वरहरं कृद्यतीसारनाशनम् ॥ ११९ ॥

शोषाधानहरं प्लीहाग्रहणीपाण्डुरोगजित् ।

पक्का वा शर्करां चूर्णं क्षिपेत् स्याद्गुटिका ततः ॥ १२० ॥

अथादौ सितोपलादिचूर्णम् ।—

मितोपला षोडश स्यादष्टौ स्यादंशरोचना ।

पिप्पली स्याच्चतुष्कर्षा स्यादेला च द्विकार्षिकी ॥ १२१ ॥

अनेति । एलात्वचोस्तु कर्षादंमिति—एला * चुट्टेला, त्वक् बराङ्गं, कर्षादंमिति—
शाण्डयमित्यर्थः । प्रत्येकमिति—पृथगित्यर्थः । शर्कराऽत्र हात्रिंशत्कर्षतुलिता देया,
एतेन सकलचूर्णात् विगुणा शर्करा भवति तोल्यात्वात् (१) । वेति यद्वशेन पञ्चान्तर-
माह,—समं जलेन शर्करां पक्का तत्र चूर्णं प्रक्षिप्य गुटिका कार्या लघुतरत्वात् ;
तथा हि—“कल्पयेद्गुटिकाश्चैतच्चूर्णं पक्का सितोपलाम् । गुटिका स्याद्विंशो-
ग्यां लघुतरा स्यात् ॥” (च० चि० राजयज्ज्ञा०) इति । एतदपि बांशी रज्ज्ना
प्रचरति ; तथा च तन्मात्रं—“तालीशं रुचिं शुण्ठीं पिप्पलीकांशकोरवा ।
त्वगेलाङ्गंशकं दद्यात् शर्करा कुडवं भवेत् ॥” (द्वा०) इत्यादि । अन्त्यापि—
“तालीशमरिचमागरकणाः कर्षोन्नाः क्रमात् । त्वगेले चाङ्गंशं कुडवं सितं गुटिका
विपाच्य कृता ॥” (नन्तुर्का०) इति केषिददन्ति । पित्ते रंजरोचना देयैति ; तथा
सूक्त—“विषयुक्ते भवेच्छ्रेष्ठं रंजरोचनायाऽन्विताम्” इति गत्यान्तरदर्शनात् । तदुक्तं—
“बांशीपिप्पलीशुण्ठीया + तालीशोषण्योन्विता । भागवज्जि क्रमादन्त्यात् त्वगेले चापि
साङ्गं ॥ कणा लघुगुणा चात्र प्रदेया मितशर्करा ॥” इत्यादि ॥ ११७—१२० ॥

अथ सितोपलादिचूर्णमाह, सितोपलेति ।—सितोपला शर्कराभेदः, षोडशेति

* एलाशब्देन स्थूलैलामेव व्यवहरन्ति वेदाः सर्वतः ।

+ “तालीशोषण्योः” इति पाठो न युक्तः, तालीशमरिचयोः क्रमात्
द्वैतभागप्रसङ्गात् । “कण्यतालीशयोन्विता” इति पाठकल्पनं सङ्गतम् । “कणा
लघुगुणा” इत्यादि “कणातोऽष्टगुणा” इति पाठश्चर्यं सङ्गतम् इति ।

एकः कर्षस्त्वचः कार्य्ययुर्णयेत् सर्वमेकतः ।
 मितीपलादिकं चूर्णे मधुमर्पियंतं लिहेत् ॥ १२२ ॥
 श्वासकासक्षयहरं हस्तोपादाङ्गदाहजितं ।
 मन्दाग्निं सुप्तजिह्वत्वं पार्श्वशूलमरोचकम् ॥
 क्ष्वरमूर्ध्निगतं रक्त-पित्तमाशुं व्यपीडति ॥ १२३ ॥

गुण्यादौ भास्करलक्षणम् ।—

सामुद्रलवणं कार्य्यमष्टकर्षमितं बुधैः ।
 पञ्च सौवर्चलं याज्ञं विडं मैन्धवधान्यकात् ॥ १२४ ॥
 पिप्पली पिप्पलीमूलं कृष्णजीरकपत्रकम् ।
 नागकेशरतालीशमस्त्वैतसकं तथा ॥ १२५ ॥
 द्विकर्षमात्राण्येतानि प्रत्येकं कारयेत् बुधैः ।
 सरिचं जीरकं विश्वमेकैकं कर्षमात्रकम् ॥ १२६ ॥
 दाडिमं स्याच्चतुष्कर्षं त्वर्गले चार्द्धकार्षिके ।
 एतच्चूर्णीकृतं सर्वं लवणं भास्कराभिधम् ॥ १२७ ॥

—षोडशकर्षमिता । वंशरोचना अष्टौ स्यादिति—अष्टकर्षमिता, अष्टमकर्षं यद-
 चात् । अन्त्यात् द्विगुणितत्वाभ्यामनिर्देशोऽयम् ; तथा चीक्रे—“मितीपला-
 दिकाचौरी पिप्पली बहुला त्वचः । अन्त्यादूहे द्विगुणितं लिहयेत् मधुमर्पय ॥”
 (अ० वि० राजयन्त्रा०) इति । बहुला * सुद्रेला । मधु सर्पिंश्चात्र लेहयत्
 पागानतम् । हस्तोपादाङ्गदाहजिति—तेन हस्तोपादं, पादोपादं, अङ्गदाहमिति ।
 सुप्तजिह्वत्वमिति—जिह्वारोगे पठितम् ॥ १२१—१२२ ॥

इदानीं लवणभास्करं नाम चूर्णं प्रकटयामाह, सामुद्रलवणमिति ।—दाक्ष-
 समुद्रसमीपे भवं सामुद्रं लवणं, तच्च समुद्रोत्पन्नत्वान्म, अष्टकर्षं पलद्वयम् ।
 पञ्च सौवर्चलं याज्ञमिति—सौवर्चललवणं पञ्चकर्षं याज्ञमित्यर्थः । विश्वलवणाद्यस्त्र-
 वेतस्त्राप्तं द्विगुणकर्षप्रमाणं प्रत्येकम् । विडलवणं क्रिमिं, तच्च प्रसारणीककभक्त-
 लवणसंयोगादग्निदाहजितं निर्हतमित्येके । मिन्धुभवं मैन्धवम् । कृष्णजीरकं पाच्यं,
 तच्च खुरामानशब्दवाच्यम् । सरिचादिभिश्चान्नं द्रव्यमयं कर्षं प्रत्येकमित्यर्थः । ‘जीरक-

शायप्रमाणं देयन्तु मस्तुतक्रसुरासवैः ।

वातश्लेष्मभवं गुल्मं श्लोष्ठानमुदरं क्षयम् ॥ १२८ ॥

अर्शामि ग्रहणो कुष्ठं विबन्धश्च भगन्दरम् ।

शोफं शूलं श्लामकामावामवातश्च हृद्भुजम् ॥ १२९ ॥

मन्दाग्निं नाशयेदतद्दोषनं पाचनं परम् ।

सर्वलोकहितार्थाय भांस्करिणोदितं पुरा ॥ १३० ॥

कृद्यांम एलादिचूर्णम् ।—

एलाप्रियङ्गुमुस्तानि कोलमज्जा च पिप्पली ।

श्रीचन्दनं तथा लाजा लवङ्गं नागकेशरम् ॥ १३१ ॥

एतच्चूर्णीकृतं सर्वं सिताक्षौद्रयुतं लिहेत् ।

वातपित्तकफोद्धृता कृदि हन्यतिवेगतः ॥ १३२ ॥

मम गुक्तम् । विश्वं शुष्टो । टाडितं व्यासतुः कर्षमिति—दाडितमफलबोनाति
गालादि, तच्च अनासदानाशब्दवाच्यं, चतुः कर्षं पलपरिमितम् । त्वमेवे चार्द्धं
कार्षिके इति—मिलित्वा कर्षमात्रमित्यर्थः । ममत्वं च शायप्रमाणं टडित्वा देय
तोष्णत्वात् तत् पुनः (?) इति ग्रहणैतादिकमात्रमपि प्रचरति दोषादीनां
जन्माशयत्वात् । मस्तुतक्रसुरासवैरिति—मस्तु दन्तोऽपकीर्षविशेषः ; “दन्तस्तु यदध-
श्नामं तन्मस्तु परिकीर्तितम्” । तक्रमिति विभागविभक्तम् । सुरासवौ प्रसिद्धौ, सुरा
लोहवत्तयापट्टकित्वात्किञ्चन किञ्चित् कल्लवाः * चाय कियते ये ते आसवाः ;
भास्करं भास्कराद्यर्थे च उदितं कायितं पुरा पूर्वपौरुषेयत्वानामादावित्यर्थः ;
अतु क्वापमथोतिम्य दात कश्चित् ॥ १२४—१३० ॥

एलादिचूर्णनाड, एलाप्रियङ्गुमुस्तानि—एला सूक्ष्मा । प्रियङ्गुलताविशेषः,
तस्याः फलानि । कोलमज्जा बदरफलाल्पसम्यगतद्रव्यविशेषः । श्रीचन्दनं श्वेत-
चन्दनम् । लाजा सृष्टधान्योद्भवा । एतत् सकलं सममात्रं मद्धत्वा वस्त्रपूतं चूर्णं
कुप्यात्, मध्यमात्रमस्य दोषाग्रवत्त्वापेक्षया कार्यम् । सिताक्षौद्रयुतमात्र—सिता
शर्करा, सा चाक्षौद्र्यसमा प्राप्ता, मधुमात्रञ्च यावदवलकृतं स्यात् तावद्वेय-
मित्यर्थः । अतिवेगत इति वचनेनास्य विजिघत्सुं दर्शितम् ॥ १३१।१३२ ॥

* “आसुतत्वादासवः” इति चरकः । आसुतत्वात् सन्धानादिति चक्रः ।
“आसुते इति आसवः” इति च । “आय कियते” इति व्याख्या तु ग मगोरना ।

ऊर्ध्वातादौ व्याघ्रादि चूर्णम् ।—

(व्याघ्रीजीरकधात्रीणां चूर्णं मधुयुतं लिहेत् ।

ऊर्ध्वातमहाश्वाम-तमकैर्मर्च्यत क्षणात् ॥)

कुडादौ पञ्चनिम्बादि चूर्णम् ।—

मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वचं निम्बात् समाहरेत् ।

सूक्ष्मचूर्णमिदं कुर्यात् पलपञ्चदशोन्मितम् ॥ १२३ ॥

लोहभस्महरीतक्यौ चक्रमर्दकचित्तकी ।

भस्मातकं विडङ्गानि शर्कराऽऽमलकं निशा ॥ १२४ ॥

पिप्पलो मरिचं शुण्ठी वाकुची कृतमालकः ।

गोक्षुरश्च पलोन्मानमकैकं कारयेद्दधः ॥ १२५ ॥

सर्वमेकीकृतं चूर्णं भृङ्गराजेन भावयेत् ।

अष्टभागावशिष्टेन खदिरासनवारिणा ॥ १२६ ॥

भावायित्वा च संशोष्य कर्षमात्रं ततः पिबेत् ।

खदिरासनतोयन सर्पिषा पयसाऽथवा ॥ १२७ ॥

अधुना पञ्चनिम्बचूर्णं दशयन्नाह, मूलमिति ।—मूलनिम्बादिना निम्बवृक्षस्य पञ्चाङ्गं कथितं, मूलं जटा, पत्रं पत्राङ्गं, फलमामबोजं, पुष्पं कुसुम, त्वक् कृष्णी । समाहरेदिति—सस्यक् प्रकारेण आहरेदिति यदुक्तं तत् कालावशेषं सूचयति, तथा ऽह—“पुष्पकानि च पुष्पाणि फलकाले फलानि च । सूक्ष्मं पितुमर्दस्य त्वक्षुल्लान् दलानि च ॥” इति । एके मूलस्थाने सारमिति पठ्यति व्याख्यानयन्ति च, तत्र सारं मध्यभागात्तत् कालावशेषम् ; उक्तमन्यत्रापि—“काले त्वग्दल-सारनीजकुसुमेर्निम्बस्य तुल्यांशकैः” इत्यादि । पलपञ्चदशोन्मितमिति—अकलपञ्चाङ्गः पञ्चदशपलपरिमितं शास्त्रमित्यर्थः ; तेन प्रत्येकं विपलमितं भवति । लोहभस्मेति—सतलोहचूर्णम् । चक्रमर्दकः प्रपञ्चाङ्गवैजानि, आमलकमानलकीफलम् । निशा हरिद्रा । कृतमालकी राजवृक्षः । एतन्नोहभस्मादि-माक्षुरकात् पृथक् पलमानं शास्त्रं, तेन निम्बचूर्णसमं भवति ; एतत् सकलं सूर्णीभूतं द्रव्यं भृङ्गराजसेन भावितं कृत्वा पञ्चादष्टभागावशेषेण खदिरकाथेन मज्जं, तत्पञ्चादसप्तकाथेन चैति, असृजः पीतसाजी वृक्षविशेषः ; पश्चात् संशोष्य

मासेन सर्वकुष्ठानि विनिहन्ति रसायनम् ।

पञ्चनिम्बमिटं चूर्णं सर्वरोगप्रणाशनम् ॥ १३८ ॥

वाजीकरणे शताव्यादिचूर्णम् ।—

शतावरी गोक्षुरश्च वीजञ्च कपिकच्छुजम् ।

गाङ्गेरुकी चातिबला वीजमिचुरकोद्धवम् ॥ १३९ ॥

चूर्णितं सर्वमेकत्र गोदुग्धेन पिबेन्नृश ।

न ह्यसिं याति नारीर्भर्नरश्चूर्णप्रभावतः ॥ १४० ॥

कर्षपरिमितं वक्ष्यमाणानुपानेन सह पिबेदित्यर्थः । अनुपानान्याह—हृदि रासन-
तार्थनेति—हृदि रकाष्ठकथितेन असनकाष्ठकथितेन वेत्यर्थः । अथवा सर्पिषा
पयसा च, अत्र दंषापंचा बोद्धव्या । रसायनमिति—जराव्याधिनान्नकलेन
रसायनं कथितम् । पञ्चनिम्बमिति—निम्बस्रस्वत्पुष्पादिपञ्चकमेव निम्बपञ्चकं
कथितम् ; तथा हि—“निम्बपत्रं तथा पुष्पं त्वष्टृफलमुच्यते । पञ्चनिम्बमिति
ख्यातं नामतः शास्त्रकोविदेः ॥” इति । सर्वरोगप्रणाशनमिति—सर्वरोगा
भगन्दरप्रमुखाः ; तथा शृङ्गं—“भगन्दरश्लोपटवातरक्तताताम्यनाडीत्रणशीर्षरोगान् ।
सर्वान् प्रमेहान् प्रदराञ्च सर्वान् दृष्टाविधं मूलविषं निहन्ति ॥ शूलोदरः
मिहकशोदरः स्यात् सुश्लेष्टसन्निधुनोपयोगात् । समोपयोगादपि ये दृशन्ति
सर्पादंशं यान्ति विनाशमायुः ॥ जीवेश्वरं व्याधिराविभुक्तः शुभे रतश्चन्द्रसमान-
कान्तिः ॥” इति ॥ १३९—१४० ॥

इदानीं वाजीकरणचूर्णहयमाह, शतावरीत्यादि ।—कपिकच्छुजं वीजमिति—
धानरीबीजम् । गाङ्गेरुकीति—नागबला, “गुडसकरौ” इति शब्दवाच्या । अतिबला
ब्रूहद्वला । वीजमिचुरकोद्धवमिति—इचुरः कोकिलाचः, “तालसखाना” इति
श्लोकः ; एतत् सर्वं चूर्णितमुक्तमानपरिमितस्य चतुर्गुणेन गोदुग्धेन सह पिबेत् ।
नृश इति । वाजीकरणमिति—वाजीवात्यर्थेमेधुनसामर्थ्यात् वाजीकरणं,
किंवा बाजः शृङ्गं तदव्याक्रीति वाजी, अवाजी वानो क्रियते येन पुरुषसहाजी-
करणम् ; तदुक्तं—“येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीयं लभते भरः । येन बाह्याधिकं
वीजं वाजीकरणमेव तत् ॥” इति । तत्तु विविधं—प्रवर्तकं गणकं प्रवर्तकजनकञ्च
तत्तच्च तन्नाम्नरे—“शुक्रहृदिकरं किञ्चित् किञ्चित् शुक्रप्रवर्तकम् । श्रुतिहृदिकरं

बाजीकरणे अश्वगन्धादिचूर्णम् ।—

अश्वगन्धा दशपला तस्मात्त्रो वृद्धदारकः ।

चूर्णीकृत्याभयं विद्वान् घृतभाण्डे निधापयेत् ॥ १४१ ॥

कर्षिकं पयसा पोत्वा नारोभिर्नैव तृप्यति ।

अगत्वा प्रमदां भूयात् बलौपलितवर्जितः ॥ १४२ ॥

बाजीकरणं मुसल्यादिचूर्णम् ।—

(मुसलौकन्दचूर्णन्तु गुडचौसस्त्वसंयुतम् ।

वानरोगोक्षुराभ्याञ्च शास्त्रलोशकराऽऽमलैः ॥

आलोड्य घृतदुग्धेन पाययेत् कामवर्द्धनम् ॥)

पाण्डुरोगादो नवाद्यनचूर्णम् ।—

चित्रकस्त्रिफला मुस्तं विडङ्गं दूषणानि च ।

सप्तभागानि कार्याणि नव भागा हतायसः ॥ १४३ ॥

एतदक्रोक्तं चूर्णं मधुसर्पयुतं लिङ्गत् ।

गोमूत्रमथवा तक्तमनुपानं प्रशस्यते ॥ १४४ ॥

पाण्डुरोगं जयत्यग्रं हृद्रोगञ्च भगन्दरम् ।

शोथकुष्ठोदराशांसि सन्दर्शिनमर्त्तचिं क्रमोन् ॥ १४५ ॥

“कश्चित् विविधं तृप्यस्यते ॥” इति । तृप्यन्ते बाजीकरणसंज्ञम्, तथा च
दुर्वातस्यशांतिं च्युतकरं, खोराद हृदिकरं, भाषा जनकः प्रवर्त्तकश्च ॥ १२८।१४० ॥

विदोशबाजीकरणचूर्णमाह, अश्वगन्तेति ।—सुशोषणम् । काचघ्रात
पठान् ॥ १४१।१४२ ॥

अथ नवाद्यनं चूर्णमाह, चित्रक इति ।—चित्रकश्चित्रकजटायास्त्वक् ।
त्रिफला हरीतक्यादि । दूषण कटुत्वकम् । एतद्विषकाददूषणानि नवद्रव्यं
एवम् असमाधत् । नव भागा हतायस इति—हतायसो अतलोदस्थ
एकद्रव्यत्वाभावेन । नव भागा बाह्याः, तैलेकदमासतानां
एकद्रव्यादीनां चूर्णानि समसंयुक्तमित्यर्थः । मधुसर्पिषो आद्यं कृष्टपरिमाणवत्
स्यात् ॥ १४३—१४५ ॥

“अधिसाधनीये स्वाहा” इत्युत्पाटनमन्त्रः ।

कुमारौजीवनीये स्वाहा” इति पानमन्त्रः ।

अर्घ्यः काशीनाथं तेलम् ।—

कासीसं लाङ्गली कुष्ठं शुण्ठी कृष्ण। च सैन्धवम् ।

मनःशिलाऽश्वमारुखं त्रिङ्गं चित्रको द्रुमः ॥ ४४ ॥

दन्तो कोशातकीवोजं हेमाह्वा हरितालकम् ।

कल्कैः कर्षमितैरेतैस्तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥ ४५ ॥

सुहृत्कपयसी दद्यात् पृथक् द्विपलसम्मिते ।

चतुगुणं गवां मूलं दत्त्वा सम्यक् प्रसाधयेत् ॥ ४६ ॥

कथितं खरनादेन तैलमर्शोविनाशनम् ।

चारवत् पातयत्येतदर्शांस्तथ्यङ्गतां भृशम् ॥

बलोर्न दूःख्येतत् चारकर्मकरं स्मृतम् ॥ ४७ ॥

कथितमन्त्रः । अथ काथखरसकल्काद्यं यत् शतावरीमूलं प्राक्तं तदनेनैव
उत्पाटनम् ; कुतः ? अस्याऽपत्यादिकरणार्थं, तद्वथा—बल्यमाद्येनोद्धारपूर्व-
भागे कमिलेण कृत्वा उत्तराभिमुखी भूत्वा खरदिरशङ्कुना खरदिरकाष्ठ-
चट्टि खनेत् । पश्चात् ओद्धारसादतेनैकादशाक्षरमन्त्रेणोत्पाटनं कुर्यात् ;
कुष्ठमात्रं कायतः । अथ पानमन्त्रमाह, ओद्धारयुतं दशाक्षरेण मन्त्रेण
बल्यमात्रं मिति । एते मन्त्रा मूले प्रसिद्धाः, ते तत एव ज्ञातव्याः । शतावरी
योषविस्त्रियेन याः सर्वाः शतावरीसदृशः शीघ्रव्यस्ताः सर्वा एवमेव यास्या
पथः ॥ ४५—४७ ॥

इदानीम् अपराणि चतुर्तेत्याह । तत्रादौ कासीनाथं दर्शयन्नाह, कासीसमिति ।

—कासीसं द्रव्यविशेषः भस्मवदं त्यक्त, तद्देहः पुष्पकासीसं किञ्चित् पीतम् । लाङ्गली
कलिकारिका । कृष्णः पिप्पलीश्च अश्वमारुः करबोरकः । द्रुमः कुटनी वृक्षविशेषः ।
कोशातकी जालिनी, तस्या वोजमिति । हेमाह्वा खरुचोरो, स तु रक्तबीर-
सेङ्गुलभेदः, यस्य मूलं “चोक” इति प्रसिद्धम् । तैलप्रस्थमिति—चतुस्तुल्यम् ।
सुहृत्कपयसी इति—सुहृदी सेङ्गुलः, चकः प्रसिद्धः, तयोः पयसा पृथक् द्विपलमितेन

वातरक्तं पिष्टतैलम् ।—

मञ्जिष्ठासारिवासर्ज-यष्टौसिक्यैः पलाशितैः ।

पिष्टाख्यं साधयेत्तैलमभ्यङ्गाद्वातरक्तानुत् ॥ ४८ ॥ ४१ ॥

पामादौ चर्कतैलम् ।—

अर्कपत्ररसे पक्व हरिद्राकल्कसंयुतम् ।

नाशयेत् सर्पपं तैलं पामां कच्छूं किचर्चिकाम् ॥ ४९ ॥

कुष्ठं मरिचाद्य तैलम् ।—

* मरिचं हरितालञ्च त्रिवृतं रक्तचन्दनम् ।

मुस्तं मनःशिला मांसी हे निमि देवदारु च ॥ ५० ॥

आधितमित्यर्थः । गोमूत्रं चतुर्गुणमत्र तैलपरिमाणात् । खरनादाचार्येण अधितरि
दुर्गमनिक्लृप्तार्थम्, एतच्च चारुकर्मकरत्वेन न गुददूषकमित्यर्थः ॥ ४४—४७ ॥

अथ पिष्टतैलमाह, मञ्जिष्ठेति ।—अथ सारिवा आस्त्रोता, सा च हि
शुक्ला कृष्णा च, या कृष्णवर्णवद्रतति; सा शुक्ला, या कृष्णवर्णवद्रतति सुगन्ध
कृष्णाति । सर्जो धूपनः, "राज" इति प्रसिद्धः । यष्टौ मधुशर्ष्टं सिक्थो मधुशर्ष्ट
"मयन" शब्दवाच्यः, एतत् इत्थं तैलाद्य कल्पाम्, अंशचतुष्टयम् । यत्नान्तरं परं
ऽन्वितैरिति पाठः, तत्र प्रथः शीघ्रं, तच्च द्रवत्वाच्चतुर्गुणं तैलपरिमाणात्, नेत्रमर्माङ्गम्
यतः पिष्टाख्यत्वेन सकल द्रव्यं चारिष्य । पञ्चफलसदृशं कल्कीभूतं कृत्वा साधयेत्
सम्यदाद्यो बद्ध्वा दृश्यते, अत एव पिष्टाख्यामिति—पिष्टीभूतत्वात् पिष्टना ॥ ४५ ॥
पिष्टतैलमित्यर्थः । पिष्टकृत्पत्वात् कल्काऽस्य न शीघ्रनीय इत्याहुः । तैलमत्र
अपि गृह्णन्ति अन्यतो दर्शनात् ; तथा हि—“सारिवासर्जयष्ट्याह मधुशर्ष्टा च
पथोऽन्वितैः । सिद्धमैरष्टकं तैलं वातरक्तद्वयापहम् ॥” इति । पयोऽत्र सामां ॥
लाङ्घ्यम् ॥ ४८ ॥

अथार्कतैलमाह, चर्केति ।—अर्कपत्रसरसोऽत्र चतुर्गुणतैलपरिमाणादिति
व्यवहारः द्रवत्वात् । हरिद्रा चतुर्धाया तैलमाणात्, अस्याः कल्काद्यं कृत्वा
तस्य मांशं यावत् कल्कं स्यात् । सर्पपयश्च न्यायविहितत्वात् । पामादयो रोगाः
कुष्ठरोगे पाठिता ॥ ४९ ॥

मरिचाद्यं तैलमाह, मरिचमिति ।—अत्र विहङ्गिभूत । हे निमि हरिद्रे हे, नेत्र

* चक्रान्तवत्पत्रपरिचायतेन मरिचादिकल्काद्रव्याणां प्रत्येकं कर्षद्वयं विषय
पक्षं गोमूत्रं चतुर्गुणमिति पाठो दृश्यते ।

कल्पने आकारकरभादिचूर्णम् ।—

आकारकरभः शुण्ठी कक्कोलं कुङ्कुमं कणा ।
जातीफल लवङ्गञ्च चन्दनञ्चेति कार्ष्णिकान् ॥ १४६ ॥
चूर्णानि मानतः कुर्याद्विह्वलं पलोन्मितम् ।
सर्वमेकीकृतं चूर्णं माषैकं मधुना लिहेत् ॥ १४७ ॥
शुक्रस्तम्भकरं चूर्णं पंमामानन्दकारकम् ।
नारीणां प्रीतिजननं सेवेत निशि कामुकः ॥ १४८ ॥

इति श्रीदामोदरसूनुना श्रीशार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां

शार्ङ्गधरसंहिताया मध्यखण्डे चिकित्सितव्याने

चूर्णकल्पना नाम षष्ठीऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथाकारकरभादिचूर्णं द्रव्यस्राष्ट, आकारकरभ इति ।—“अकारकरभः” इति
लोके प्रसिद्धः । कक्कोलं विख्यातम् । कणा पिप्पली । चन्दनं वृक्षम् । एतत् सर्वं
कुर्यान्मृतं प्रत्येकीकृतम् । आह्वलं पलोन्मितम्—आह्वलं आह्वलं-पलोन्मितम्,
“अह्वलम्” इति लोके, पलोन्मितं पलप्रमाणं, तेन पूर्वचूर्णभागद्वयम् अह्वलं-
भागेकीकृतम्, शर्करावहितत्वात् । कुङ्कुमं सितासहितमाप्य प्रचुरं तत्र
आह्वलं पूर्वद्रव्यचूर्णसाम्यम् ; तदुक्तं—“जातीफलं कर्कशं कटलं वङ्गशुण्ठी कक्कोलं
कुङ्कुमकण्टारिचन्दनानि । एतेः समानमह्वलममेन तुल्या सिता निधाय मधुना
वटकं विदध्यात् ॥ माषद्वयोन्मितमम्, निशि भक्षयित्वा सिद्धं पथकदम् माषद्वयमाशु
पीत्वा । कर्षणं कामुजजननं न तु विन्द्यात् अतीतिं तानि चिकित्सानि कला-
वतीनाम् ॥” इति ॥ १४६—१४८ ॥

इति श्रीशारङ्गधरसूनुना श्रीशार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधर-

दोषिकाया मध्यखण्डे चिकित्सितव्याने चूर्णकल्पनानाम षष्ठीऽध्यायः ॥ ६ ॥

* आह्वलंशोधनं गूढावेदीपिकायां स्या—“तत्र शोधनम् आह्वलंशोधनं सङ्कु-
पयद्रव्यं वा नान्द्रव्यं वा निम्बकद्रव्यं भावनाभिः समभिर्वा शोधयित्वा शोधयित्वा
देयम्” इति ।

सप्तमोऽध्यायः ।

वटकाटिकल्पना ।—

वटकपर्व्यायाः ।—

वटकासाथ कथ्यन्ते तन्नाम गुटिका वटी ।

मोटको वटिका पिण्डो गुडो वर्त्तिस्तथोच्यते ॥ १ ॥

वटकादीना प्रस्तुतिविधिः ।—

लेहवत् साध्यते वल्ली गुडो वा शर्करा तथा ।

गुग्गुलुर्वा क्षिपेत् तत्र चूर्णं तन्निर्मिता वटी ॥ २ ॥

कुर्थाटवर्ज्जिमिडेन क्वचित् गुग्गुलुना वटीम् ।

द्रवेण मधुना वाऽपि गुटिकां कारयेत् बुधः ॥ ३ ॥

वटकादिषु शर्करादीनां साधना ।—

सिता चतुर्गुणा देया वटीषु द्विगुणो गुडः ।

चूर्णाच्चूर्णसमः कार्थ्यो गुग्गुलुर्मधु तत्समम् ॥

द्रवञ्च द्विगुणं देयं मोटकेषु भिषग्वरैः ॥ ४ ॥

इदानीं गुटिकाः कथ्यन्ते वटकाद्येति ।—अथेति—चूर्णकल्पनानन्तरं वटका गुटिकादिमञ्जरा, अत एव तन्नाम गुटिकावटीप्रभृतयो ज्ञातव्याः । तन्नामेति—तस्य वटकस्य नाम पर्व्यायवाक्यं गुटिकाटिकमित्यर्थः ॥ १ ॥

अथ तेषां कर्तव्यविधिमाह, लेहवत् साध्यते इति ।—यथा अबल्लेहाद्ये गुडादिकं साध्यत तथैवाव गुडः, शर्करा, गुग्गुलुर्वाऽपि पक्तव्यः, पाके सति चूर्णे प्रक्षिप्य वटकादीन् कुर्थाटदिति भावः । पचान्तरमाह, क्वचिदिति—न सर्वत्र, अबर्ज्जिमिडेन कुर्थाटेन गुग्गुलुना वटकाः कार्याः । गुडादिकेनापि क्वचिदिति सञ्चारादा (?), अथवा द्रवेण मीथस्त्रीरादिना मधुना क्षौद्रेणापि सम्प्राप्य गुटिकां कारयेत् बुधः पण्डितः, अत्रापि वर्ज्जि विनैति मन्वन्त्यः ॥ २, ३ ॥

इदानीमनुक्तेषु, गुडशर्करादीनां साधनाह, सितेति ।—सिता शर्करा चतुर्गुणा देया चूर्णोदत्तर्यः । गुडोऽव द्विगुणः, अत्रापि चूर्णभागादिति भावः । गुग्गुलुश्च चूर्णसमः, चूर्णभागसमान इत्यर्थः । मधु तत्सममिति—मधु क्षौद्रं, तत्समं चूर्णसमम् । द्रव क्षौद्रतोयादिकं द्विगुणं चूर्णभागादित्यर्थः । चूर्णसमं सकलद्रव्याणाम् । भिषग्वरैरात वक्ष्येन खड्डुद्या वा यथायोग्यमवधारयेदिति साम्प्रदायिकाः ॥ ४ ॥

वटकादीनां नाम ।—

कर्षप्रमाणं तन्मानं बलं दृष्ट्वा प्रयुज्यते ॥ ५ ॥

स यथा—

अर्शःप्रभृतिषु श्रीबाहुशाली गुहः ।—

इन्द्रवाक्पिका मुस्तं शुण्ठी दन्ती हरीतकी ।

त्रिवृच्छटी विडङ्गानि गोक्षुरश्चित्रकस्तथा ॥ ६ ॥

तेजोह्वा च द्विकर्षाणि पृथक् द्रव्याणि कारयेत् ।

शूरणस्य पलान्यष्टौ * वृद्धदारयतुष्यलम् ॥ ७ ॥

चतुष्यलं स्यात् भस्मात् काषयेत् सर्वमेकतः ।

जलद्रोणे चतुर्थांशं गृह्णीयात् काथमुत्तमम् ॥ ८ ॥

अथ भक्ष्यमानमनुज्ञाया दृश्यन्नाह, कर्षप्रमाणमिति ।—कर्षप्रमाणं कर्ष-
मात्रम् । तन्मानमिति—तत् तेषां वटकादीनां मानं परिमाणम् । बलमिति—दृष्ट-
बलं दीपबलं व्याधिवलञ्च । बलशङ्केन कर्षमानमत्र सामान्यं सूचितम्, अत एव
दृष्ट्वा विचार्येत्यर्थः ; विचारणाऽयं बलवृद्धानामेव, मध्याभात् कर्षमात्रैव ॥ ५ ॥

स यथेति वचनं गुटिकासमूहप्रतिपादनार्थमभिहितमाचार्येण । तवादी
श्रीबाहुशाली नाम गुहस्तं दृश्यन्नाह, इन्द्रवाक्पिका इति ।—अयं बाहुशालीगुहोऽर्श-
व्याधौ शलाः । ततन्द्रवाक्पिका चर्मटी, तस्या मूलम् । दन्ती वटपर्वशेषः, तस्या
अपि मूलम् । वृद्धाश्रयातमूलमेव । अटी कर्चुरभेदः । तेजोह्वाऽयं चव्यं, यत्र
तेजोह्वा अविक्का च, तत्र तेजोह्वा ज्योतिष्मती ; एव सर्वज्ञः एतत् सर्वं प्रत्येकं
द्विकर्षपरिमितं भवति । शूरणस्य पलान्यष्टौ इति—शूरणः कन्दविशेषः प्रासङ्गः,
तस्माटी पलानि भवन्ति । वृद्धदारः चतुष्यलमिति—निशीतभेदः तस्य चतुष्यलानि ।
भस्मातमिति—भस्मातकफलानि, तानि चतुष्यलमितानि भवन्ति । एतत् सकलं
पानीयद्रोणे मज्जाय चतुर्थांशं गृह्णीयात् । जलद्रोणमिति—चतुरादृकपरिमितं
जलं, तेन घटपञ्चाशोत्तरशतवृक्षपलानि जलपरिमाणं भवति । उत्तममिति—
वज्रगालितादिकं, तेनात्तमता कथितस्येत्यर्थः । चतुर्थांशमिति—आटकमात्रम् ।

* असलस्रुद्धे वृद्धदारयतुष्यलमित्यत्र वृद्धदारःपलान्यर्थः, दन्ती इत्यत्र कन्दः,
ज्योतिष्मानि नागकेशरः तथा चानलकक्ष्यानि मरिच इति पाठान्तराणि, तथा
मधुन उल्लेखी नास्ति ।

काथ्यदद्यात् त्रिगुणितं गुडं क्षिप्वा पुनः पचेत् ।

मस्यक् पक्षश्च तं ज्ञात्वा चूर्णमेतत् प्रदापयेत् ॥२॥

चित्रकत्रिज्जतादन्ती-तेजोह्वाः पलिकाः पृथक् ।

पृथक् त्रिपलिकाः कार्थ्या व्योषैस्ताऽऽमलकत्वचः ॥१०॥

निक्षिपेत् मधु शौरे च तस्मिन् पस्थप्रमाणतः ।

एवं सिद्धो भवेच्छोमान् बाहुशालगुडाभिधः ॥ ११ ॥

जयेदशांसि सर्वाणि गुल्मं वातोदरं तथा ।

आव्यवातं प्रतिश्यायं महान्तं क्षयपीनसम् ॥

हृन्नीमकं पाण्डुरोगं प्रमेहञ्च रसायनम् ॥ १२ ॥

कामं भारवादिष्यम् । —

मरिचं कर्षमात्रं स्यात् पिप्पली ० कर्षमस्मिता ।

अर्धकर्षा गवचारः क्षुप्रयुष्मञ्च दाडिमम् ॥ १३ ॥

एतच्चण्डाकृतं यज्ज्वातदृष्टकर्षगुलेन हि ।

शाणप्रमाणां गुटिकां कृत्वा वक्रोण धारयेत् ॥

अस्याः प्रभावात् सर्वेऽपि कामा यान्त्येव सङ्गयम् ॥१४॥

काथ्यदद्यात् त्रिगुणितं गुडमात्रं—गुडस्य शोणं शास्त्रम् । काथ्यदद्यादिति—इन्द्र-
वार्जणकादितेजोह्वानात् त्रिगुणितं त्रिभागम् । एतत् गुडं पादशेषकाद्यैश्चिप्वा पुनः
पचितं यावत् भान्दी भवति । अथ चूर्णमाह, चित्रकत्रिज्जतादन्ती—चित्रकायत्कतटा ।
त्रिज्जताशोतम् । दन्ती प्रामडा । तेजोह्वा चको । एतत् द्रव्यसत्त्वस्य पलप्रमाणम् ।
अन्यदद्यात्, व्योषिताऽऽमलकत्वच इत्यादि—व्याष रिक्तकम् । त्वकं गुडत्वकम् ।
इदमापि द्रव्यवृत्तं त्रिपलप्रमाणं प्रत्येकम् । शोवाह्वाना गुड एवासहो भवति,
बाहुशाल आषाव्यादर्शप्रकोणं निर्मातो गुड वृत्तकम् । इत्यर्थः । आद्यवात
जकृष्णभेदः । सद्यन्तं प्रवर्तमित्यर्थः । रसायनं दर्शनं प्रभावात् ; तत् यथा—
“यज्ज्वात्याऽध्यासो मधुश्च तद्रसायनम्” इति ॥ ७—१२ ॥

इदानीं मरिचं पिप्पलीकं द्रव्यमाह भारवादिष्यम् । अथ दाडिमं दाडिम-
फलशोणं कर्षप्रमाणं—कर्ष इत्यर्थः । अत्रोक्तं यत्—अथ पक्षधारणात्

० “अप्यस्याः कर्षार्द्धम्” तथा “दाडिमस्य पलम्” । वक्रवारभट्टौ

श्रामकासे गुडादिगुटिका ।—

गुडशुण्ठीशिवामुस्तैर्गुटिकां धारयेन्मुखे ।

श्रामकासेषु सर्वेषु विभोतं वाऽपि केवलम् ॥ १५ ॥

दृष्ट्वायाम आमलकादिगुटिका ।—

आमलं कमलं कुष्ठं लाजाश्च वटरोहकः ।

एतच्चर्णस्य मधुना गुटिकां धारयेन्मुखे ॥

दृष्ट्वा प्रवृद्धां हस्त्येषा मुखशोषञ्च दारुणम् ॥ १६ ॥

अजीर्णादो मञ्जीवनोवटी ।—

विडङ्गं नागरं कृष्णा पथ्याऽऽमलविभोतकम् ।

वचा गुडूची भक्षातं भट्टिषच्चात्र योजयेत् ॥ १७ ॥

एतानि समभागानि गोमूत्रेणैव पेषयेत् ।

गुञ्जाभा गुटिका कार्या दद्यादादृक्कजै रसैः ॥ १८ ॥

एकामजीर्णगुल्मेषु द्वे विसूच्यां प्रदापयेत् ।

इदमोषधं धूम्रदानव्याहुरेकः । चक्रेण तु स्वसङ्घे एतत् चर्णं वक्तव्यमात्रं गुड इत्यादि-
चूर्णञ्च, चक्रेण धारयेदात प्रभावे लिखितम् । वैद्यप्रसारकेऽपि गुटिकास्वरूप-
मन्वयमभ्योक्तम् । एतदामपायेणान् लिखितम् । अस्या मरिचादकाया वटिकायाः
प्रभावादाभ्यन्त्यशक्तः । सर्वे कासा इति—पञ्चप्रकाराः ॥ १२।१४ ॥

गुडशुण्ठीति ।—स्पष्टम् ॥ १५ ॥

अथामलकादिगुटिकामाह, आमलानिति ।—आमलमामलकफलम् । कमल-
मुत्पलं, तदभावे कमलबीजान् आह्वयिष्य । लाजाः शृङ्खलाभ्योद्भवाः । वटरोहक
इति—वटवृक्षप्रसङ्गः, स च वटरोहशब्दवाच्यः । मध्वव गुटिकाकरणं मानं परि-
भाषोक्तम् । धारयेन्मुखे इति—एतेन यथा यथा गुटिका द्यात, तथा तथा
शोलनोया, पुनरिमा सहमेवाभ्यवहरोदति दृष्टपरिचयः । पट्टामिति—कैरपि
यागेरेतिवाच्यम् । मुखशोषश्च दारुणमात—दारुणं दुःखकरम्, असह्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ सञ्जीवनोगुटिका दर्शयन्नाह, विडङ्गमिति ।—अथ नागरं शुण्ठी । कृष्णा
पिप्पली । पथ्या हरीतकी । आमलमामलकफलम् । भक्षातं भक्षातकफलम् ।
सहिषानिति—शुद्धं विषम् । एतेषा समानमात्रा वाद्व्या । गोमूत्रस्य गुटिकाद्य-
परिणितम् । गुञ्जाभा गुञ्जापरिभाषा वटी काव्यो । आद्रं कर्मोऽवागुदानम् ।

तिष्ठच्च सपेदष्टे तु चतस्रः सान्निपातिके ॥

वटी सञ्जीवनी नाम्ना सञ्जीवयति मानवम् ॥ १८ ॥

पीनसादौ व्योषादिगुटिका ।—

व्योषास्त्रवेतसं चव्यं तालीशं चित्रकं तथा ।

जोरकं तिलिङ्गीकञ्च प्रत्येकं कर्षभागिकम् ॥ २० ॥

त्रिसुगन्धं त्रिशणं स्याद्गुडः स्यात् कर्षविंशतिः ।

व्याषादिगुटिका सेयं पीनसश्चामकासजित् ॥

रुचिस्त्ररकरी ख्याता प्रतिश्यायप्रणाशिनौ ॥ २१ ॥

आमादौ गुडगुल्फादियोगचतुष्टयम् ।—

आमेषु सगुडां गुण्ठीमजोर्णं गुडपिप्पलीम् ।

कृच्छ्रे जोरगुडं दद्यादशःसु सगुडाभयाम् ॥ २२ ॥

अजोर्णगुण्ठीयोरेकेका वटी देया, विमृष्टा हे वट्यौ, सपेदष्टे तिल्ली गुटिकाः, सन्निपाते चतस्र इति । तालीशं कृत्वा सञ्जीवनी कथिता, यतोऽस्याः प्रभावान्मानवो यदा सुमूर्धुलदा जीवतीति । विचारण्याऽम न काव्या, “वायवित्यौ हि मन्त्रिमन्त्रौषधीनां प्रभावः” इति वचनात् ॥ १७—१८ ॥

इदानीं व्याषादिगुटिकाभाष, व्यापैति ।—व्योषभव त्रिकटुकम् । अस्त्रवेतसं प्रसिद्धम् । चव्यं चावशब्दवाच्यम् । तालीशं खनामख्यातम् । तिलिङ्गीकमिति—अस्त्रफलद्रव्यम् । त्रिसुगन्धं त्रिशणमिति—एता त्वक् पत्रकं, तच्च मालितं त्रिकं, न तु प्रत्येकम् । व्योषादितिलिङ्गीकानां द्रव्यञ्च प्रत्येकं कर्षमात्रमित्यर्थः । गुडः स्यात् कर्षविंशतिरिति—गुडाऽत्र पुरातनी यावत्, कर्षविंशतिरिति—पञ्चपलां, तेन सकलद्रव्यात् इगुण्यता गुड इत्यर्थः ; तथा हि—“व्याषाचक्रकतालीशतिलिङ्गीकान् वेतसम् । सचव्याजाजीतुष्याश्मिन्नालकपर्णपादिकम् ॥ व्याषादिकमिदं चूर्णं पुराचगुडमयुतम् ॥” इति ॥ २०-२१ ॥

अथ गुडचतुष्टयगुटिकां व्याचष्टे, आमेष्विति ।—गुडचतुष्टयगुटिका इति कोऽर्थः ? गुडेन सप्त चत्वारि शोभाः कथिता इत्यर्थः । तद्वदथा—आमेषु सगुडां गुण्ठीमित्येको शोभा, आमेषु आमदोषेषु सगुडामिति—अथ * गुडैर्गुण्णम्, एव शोभचतुष्टयेषु

* गुण्ठीऽत्र तुल्य इति गूढार्थदीपिका ; चूर्णत्वात् युक्तमेतत् ।

अशंसु ब्रह्मदारकादिभोटकः ।—

ब्रह्मदारकभस्मात्-शुण्ठीचूर्णेन योजितः ।

भोटकः सगुडो हन्यात् षड्विधार्शःकृतां रजाम् ॥ २३ ॥

अशंसु शूरणपिण्डी ।—

शुष्कशूरणचूर्णस्य भागान् द्वाविंशदाहरेत् ।

भागान् षोडश चित्रस्य शुण्ठ्या भागचतुष्टयम् ॥ २४ ॥

ह्यौ भागौ मरिचस्यापि सर्वाण्येकत्र चूर्णयेत् ।

गुडेन पिण्डिकां कुर्याददर्शमां नाशनीं पराम् ॥ २५ ॥

अशंसु शूरणवटकः ।—

शूरणो ब्रह्मदारश्च भागैः षोडशभिः पृथक् ।

मुशलीचित्रकौ ज्ञेयावष्टभागमितौ पृथक् ॥ २६ ॥

कोऽव्ययः । अशोर्णे गुडपिण्डीमिति द्वितीयः : अशोर्णे विष्टादिके । कृष्णे शीर-
गुडं दद्यादिति तृतीये योगः ; कृष्णे मूत्रकृष्णे । अशंसु च सगुडोऽर्थमिति
चतुर्थी योग इति ॥ २२ ॥

इदानीं ब्रह्मदारकभोटकमाह, ब्रह्मदारकेति ।—ब्रह्मदारको विख्यातः, तदभावे
निर्गता याज्ञा, यतोऽस्या भोटो ब्रह्मदारक इति । एतेषां द्रव्यत्रयाणां चूर्णे समभावं
माहुः । सगुड इति—अत्र भोटकत्वेन गुडो विगुणितो ज्ञेयः ; केचित्, नाद्रियते,
धतक्षत् चतुःसमगुड्येन सम एव गुडो युज्यते, मास्येनापि किञ्चित् द्रवं दत्त्वा अथौ
भोटकाः कार्य्याः । रजामिति—पोडाम् ॥ २३ ॥

अथ शूरणपिण्डीमाह, शुष्कशूरणेति ।—शूरणः कन्दविशेषः प्रसिद्धः, तस्य शुष्कं
कृत्वा चूर्णं कार्य्ये, द्वाविंशद्भागान् पञ्चदशभागान् (१) शूरणस्थेय्ये, चित्रकस्य चित्रक-
मूलस्य त्वचः षोडशभागान्, शुण्ठ्याचत्वारो भागाः, मरिचस्य द्वौ भागौ गुडेन पिण्डिकां
कुर्यादिति—सकलद्रव्यद्विगुणितेनेत्यर्थः । अशंसामिति बहुवचनत्वेन षड्विधत्व-
मित्यर्थः । परामित्यनेन विंशत्येव त्वमस्या दर्शितम् ॥ २४-२५ ॥

अथ शूरणवटकानाह, शूरण इति ।—शूरणः शुष्कशूरणचूर्णे, तस्य षोडशक-
र्षमात्रम् । ब्रह्मदारकोऽप्येवम् । मुशली तालमूली, मूशरीशब्दाच्चा, सा अटक-
र्ष-

शिवा विभीतकी धात्री विडङ्गं नागरं कणा ।

भक्षातः पिप्पलीमूलं तालीशञ्च पृथक् पृथक् ॥ २७ ॥

चतुर्भागप्रमाणानि त्वगेना मरिचं तथा ।

पृथक् द्विभागमात्राणि ततस्तेनैव चूर्णयेत् ॥ २८ ॥

द्विगुणेन गुडेनाथ वटकान् कारयेद्बुधः ।

प्रबलान्निकरा एते तथाशीनाशना पराः ॥ २९ ॥

यद्वर्णी वातकफजां श्वासं कामं क्षयामयम् ।

प्रीहानं स्त्रीपटं शीथं प्रमेहञ्च भगन्दरम् ॥

निह्नन्यः पलितं वृद्धाः (१) तथा मेध्या रसायनाः ॥ ३० ॥

कामलादौ मण्डूरवटकः ।—

त्रिफला व्रूषणं चयं पिप्पलीमूलचित्रकी ।

दारु माक्षिकधातुश्च दार्वी मुस्तं विडङ्गकम् ॥ ३१ ॥

प्रत्येकं कषेमात्राणि सवेद्विगुणितं तथा ।

* मण्डूरं चूर्णयेच्छङ्खं गोमूत्रेऽष्टगुणे क्षिपेत् ॥ ३२ ॥

मितिः भवति । चित्रकमृदाचूर्णमप्यत्रमेव । शिवादितालीशान् नवद्वयं प्रत्येकं चतुःकर्षमितम् । तत्र शिवा इरीतकी । धात्री चामलकी । कणा पिप्पली । भक्षातः भक्षातकफला । तालीशं प्रमिष्टम् । त्वगेनामरिचमपि द्विकर्षमात्रं प्रत्येकम् । तेनैव चूर्णयेदित्यनेन चूर्णोक्तविधिना चूर्णयेदित्यर्थः । द्विगुणेन गुडेनेति —सकल चूर्णद्वयात् गुडा द्विगुणितो वाक्ताः । यद्वर्णी वातकफजांभति —वातजा कफजा वातकफजा वा । क्षयामयं क्षयरोगम् । पलितं वार्द्धकम् । वृद्धा एके वृद्धेति स्थाने * तथ्यात् पठन्ति व्याख्यानयन्ति च । मेध्या इति—बुद्धिप्रदाः । रसायना इति—जराव्याधिविध्वंसकाः ॥ २६—३० ॥

इदानीं मण्डूरवटकानाङ्क, त्रिफला ।—त्रिफला इरीतकाटिकम् । व्रूषणं विडङ्गकम् । दारु देवदारु । माक्षिकधातुः स्वर्णमाक्षकम् । दार्वी दारुहरिद्रा । एकं दारुमाक्षिकधातुस्यक् दार्वी मुस्तं विडङ्गकम् इति पठन्ति ; तत्र दारुहरिद्राया

* इत्या इति पाठ एव युक्तियुक्तः तन्मात्तरदर्शनात् वृद्धा इति पाठस्य निरर्थकत्वाच्च ।

पक्वा च वटकान् कृत्वा दद्यात्तक्रानुपानतः ।

कामलापाण्डुमेहार्शः-शीथकुष्ठकफामयान् ॥

ऊरुस्तन्मजार्णञ्च म्लीहानं नाशयेदपि ॥ ३३ ॥

विषमज्वरादौ पिप्पलीमोदकः ।—

(चौद्राद्विगुणितं सर्पघृताद्विगुणपिप्पली ।

सिता द्विगुणिता तस्याः क्षीरं देयं चतुर्गुणम् ॥

चातुर्जातं चौद्रतुल्यं पक्वा कुर्याच्च मोदकान् ।

धातुस्थांश्च ज्वरान् सर्वांश्च खासं कामञ्च पाण्डुताम् ॥

धातुचयं वाङ्मन्यं पिप्पलीमोदको जयेत् ॥)

इत्येव याज्ञा श्रेष्ठत्वात्, काष्ठं त्वग्भावे गृह्यते, न तु त्वक्शब्देन गुडत्वम् याज्ञा,
यतस्तन्तान्तरं चतुर्दशद्वयं निर्मितम् । सर्वाद्विगुणितं मण्डूरमिति—प्रमाणमिति तात्
पुक्त्वत्वाच्चूर्णान् मण्डूरचूर्णं द्विगुणं देयमित्यर्थः ; मण्डूरं लौहकिट्टं, लौहमलमित्यर्थः ।
यद्वा—पुराणमण्डूरमिति विख्यातं गुणविक्रान्तः । तथा हि—“शताङ्गुलम् किट्टं
सप्तशतीति वाच्यम् । अधमं चाष्टवर्षीयं ततो ह्येनं विषाप्रमम् ॥” इति ।
काष्ठं लौहकिट्टात् पक्व पाण्डुत्वञ्च मण्डूरमिति वर्तते । शुद्धमिति मण्डूर-
मित्यर्थः । “मण्डूरं चूर्णितं शुद्धम्” इति वचनात् । अत्र चूर्णमञ्जनसदृशं चूर्णमुत्तमं
पतादृशमेव श्रेष्ठं भवति । यद्वा—मिति—आयनेन सप्तधा गोमूत्रे निशोपस्थादेना गाढः ;
अत एवोक्तं तन्तान्तरं—“निर्वाप्य बहुशो मूत्रे मण्डूरं याज्ञमिच्छते” इति । कर्णव्य-
तऽस्य—मण्डूरचूर्णमेव पृथक् गामूत्रं पक्तव्यम्, आसन्नपाके च तस्मिन् विफलादि-
चूर्णप्रक्षेपः, यतः चूर्णानां पाका नास्तीति ; अत्रार्थं क्वचित् श्लोकः—“प्रायो न
पाकचूर्णानां मुरिचूर्णस्य तत्र हि । आसन्नपाके प्रक्षेपः स्वल्पस्य पाकमागते ॥”
प्राक्कृत्वचूर्णमपि प्रसङ्गतो नान्यत्र यथा—“रमा मन्थः शुभः पाके वार्तः
आद्धादभदेना” इति । अष्टगुणे गोमूत्रे इति—गूढस्य मण्डूरादष्टगुणं
भवति ; तथा हि—“याज्ञं त्वष्टगुणं सूत्रं शुद्धमण्डूरचूर्णतः” इति । एके “मण्डूरं
चूर्णयेत् सर्वे गोमूत्रेऽष्टगुणे प्रक्षेपे” इति पठन्त्यः, तत्र सकलद्रव्यादष्टगुणं गामूत्रं
गाढम् ; पतदमङ्गलम्, अथ पाठा बहुपुस्तकेषु न दृश्यते ! कफामयानिति—
क्षयकासभृतीन् ॥ ३१—३३ ॥

प्रमेहानो चन्द्रप्रमागुणः ।—

चन्द्रप्रभा वचा सुस्तं भूनिम्बासृतदारुकम् ।

हरिद्राऽतिविषा दार्वी पिप्पलीमूलचिचकी ॥ ३४ ॥

धान्यकं त्रिफला चव्यं विडङ्गं गजपिप्पली ।

व्योषं माक्षिकधातुश्च * हौ क्षारौ लवणत्रयम् ॥ ३५ ॥

एतानि शानमात्राणि प्रत्येकं कारयेत् बुधः ।

चिह्नदन्तो पत्रकञ्च त्वगीला वंशरोचना ॥ ३६ ॥

प्रत्येकं कर्षमात्राणि कुर्यादेतानि बुद्धिमान् ।

द्विकर्षं हतलोहं स्याच्चतुष्कर्षा मिता भवेत् ॥ ३७ ॥

शिलाजत्वष्टकर्षं स्यात् + अष्टौ कर्षाश्च गुग्गुलीः ।

एभिरैकत्र सङ्कुक्षैः कर्त्तव्या गुटिका शुभा ॥ ३८ ॥

चन्द्रप्रभादि विख्याता सर्वरोगप्रणाशिनौ ।

प्रमेहान् विंशतिं कृच्छ्रं मूत्राघातं तथाऽश्मरीम् ॥ ३९ ॥

इदानीं चन्द्रप्रमागुटिका दर्शयन्नाह, चन्द्रप्रमेत्यादि ।—चन्द्रप्रभा कर्पूरः ; एके चन्द्रप्रभाशब्देन अष्टौ अतावरी वा लघयन्ति संज्ञाशब्देनात् । भूनिम्बः केरातः । चमस्त गुडुची । दारुकं देवदारु । कवित् १ “भूनिम्बासरदारुकम्” इति पाठो युक्तः, तद्वामरदारु देवदारु । दार्वी दारुहरिद्रा । व्योषं त्रिकटुकम् । माक्षिक-धातुः स्वर्णमाक्षिकम् । हौ क्षाराविति—वर्जिकाक्षारश्चक्षारौ । लवणत्रयमिति—मेत्स्वं सोषणं विडं लवणत्रयम् । विहन्तिश्रोतः । दन्तोति—दन्तोमूलत्वक् ; तदभावं दन्तोवाजात्यपि मनाक् दृष्ट्यानि इति कश्चिन्सिद्धि सम्प्रदाये, न सर्वत्र । हतलोहं मय्यङ्गुतलोहचूर्णम् । शिलाजतु प्राचङ्गं, तच्चान्न शुद्धं यावत्, यावत् रक्षान्यत्र ज्ञातव्या विज्ञारण । शेषं द्रव्यं सुषोमम् । मात्रासि चैतेषा व्यक्ता

* रसेन्द्रे क्षारलवणयोरेककलं पाठत, तथा च “लवणक्षारनिशायुग” इति ।

+ रसेन्द्रे गुग्गुलीः लघयन्तिमात्रा निर्दिष्टा ।

चन्द्रप्रभा इत्यस्य कर्पूरायः कुचापि क्रीडादौ न दृश्यते । रसेन्द्रे अष्टौ पाठः ।

१ वामरदारुकान्त्यत्र पाठो युक्तः, रसेन्द्रे सुरदारुपाठदर्शनात् गुडुची-प्रस्तादर्शनात् ।

विवन्धानाहशूलानि मेहनं ग्रन्थिर्बुद्धम् ।
 अन्तर्द्विं कटौशूलं खासं कासं विचर्चिकाम् ॥ ४० ॥
 अण्डद्विं तथा पाण्डुं कामलाञ्च हलीमकम् ।
 कुष्ठान्यर्शांसि कण्डूञ्च ग्रीहोदरभगन्दरम् ॥ ४१ ॥
 दन्तरोगं नेत्ररोगं स्त्रीणामार्त्तवजां रुजम् ।
 पुंसां शुक्रगतान् दोषान् मन्दाग्निमरुचिं तथा ॥ ४२ ॥
 वायुं पित्तं कफं हन्यात् बल्या वृथा रसायनी ।
 चन्द्रप्रभायां कर्षस्तु चतुःशाणो विधीयते ॥ ४३ ॥

गुल्मादौ काङ्गायनगुडिका ।—

* यमानी जीरकं धान्यं मरिचं गिरिकर्णिका ।

अजमोदोपकुञ्चो च चतुःशाणाः पृथक् पृथक् ॥ ४४ ॥

हिङ्गु, षट्शाणिकं कार्य्यं क्षारौ लवणपञ्चकम् ।

सुधाधा ज्ञातव्या । चन्द्रप्रभादिविख्यातेति—चन्द्रप्रभेयं बटौ आदिविख्याता
 पुत्रे प्रसिद्धेत्यर्थः, चन्द्रप्रभेवेत्यर्थः, अस्याः सतताभ्यासाच्चन्द्रस्यैव प्रभा कान्ति-
 भवतीति, यदा, चन्द्रप्रभा नाम द्रव्यमादिष्टव्याः । सर्वरोगमिति—अवशिष्टं रोग-
 जातमुक्तरीगसमूहात्, तमपि नाशयितुं योग्या भवतीति भावः । कृच्छ्रं मूत्र-
 कृच्छ्रम् । विवन्धा वातादौनासप्रवृत्तिः । आनाह उदरापूरः । मेहनमिति यद्वृथे-
 नैवापदशशुक्रदोषादथाऽविधीयते । बल्या बलकरौ । वृथा शुक्रवृद्धिकरौ । रसायनी
 जराव्याधिविनाशिनोत्यनेन पौनःपुन्येन प्रभावीकृतत्वमस्या दर्शितम् । “चन्द्र-
 प्रभाया कर्षस्तु चतुःशाणी विधीयते” इति पादद्वयं उपक्रममनन्ति
 काचित् ॥ ३४—४३ ॥

अथ काङ्गायनगुटिकाविवरणमाह, यमानीति ।—अथ + गिरिकर्णिका
 “गणितारौ” शब्दवाच्या, लोके “इस्कन्द” इति प्रसिद्धः । उपकुञ्चो कृष्णजीरकः ।

* अक्रदन्तरसेन्द्रसारोद्युक्तकाङ्गायनेन सह एतस्य मङ्गलनारा दृश्यते ।

+ गिरिकर्णिकाशब्दः स्वतापराजितार्थे आस्फोतार्थे च आयुर्वेदटीकाकारैः
 व्यवह्रियते । बहुदेशं गणितारौशब्दः अग्निमन्यगणकारिकादिशब्दानामपभ्रंशार्थे
 प्रसिद्धः, न तु गिरिकर्णिकायाः, मन्वे आस्फोता एव टीकाकारस्य देशं
 “गणितारौ” “इस्कन्द” इति भाषया प्रसिद्धा इति ।

त्रिवृत्तष्टमितैः शणैः प्रत्येकं कल्पयेत् सुधीः ॥ ४५ ॥

दन्तो शटी पौष्करश्च विडङ्गं दाडिमं शिवा ।

चित्रोऽम्बुवेतसः शुण्ठी शणैः षोडशभिः पृथक् ॥ ४६ ॥

बीजपूररसेनैषां गुटिकां कारयेद्बुधः ।

पृतेन पयसा मद्यैरस्त्रैरुष्णोदकेन वा ॥ ४७ ॥

पिवेत् काङ्गायनप्राक्तां गुटिकां गुल्मनाशिनीम् ।

मध्येन वातिकं गुल्मं गीर्क्षीरेण च पैत्तिकम् ॥ ४८ ॥

मूत्रेण कफगुल्मश्च दशमूलैस्त्रिदोषजम् ।

उद्ग्रीदुग्धेन नारीणां रक्तगुल्मं विनाशयेत् ॥

हृद्रोगं ग्रहणीं शूलं क्रिमीनशांसि माशयेत् ॥ ४९ ॥

आमवाते योगराजगुग्गुलुः ।—

नागरं पिप्पलो चव्यं पिप्पलीमूलचित्रकौ ।

भृष्टं हिङ्गुजमोदा च सर्षपो जौरकद्वयम् ॥ ५० ॥

हिङ्गुः भर्जितं देयम् । चाराविति—यवचारः स्वार्जकाचारः । लवणपञ्चकं प्रमिश्रम् । त्रिवृत्तष्टमितैः । दन्ती प्रसिद्धा । शटी कर्चूरभेदः । पौष्करं पुष्करमूलं, तदभावे कुष्ठमेव । दाडिमं दाडिमबीजम् । शिवाऽव इरीतकी । चित्रश्चित्रकजटा । एतेषाम उक्तमानतुलितानां चूर्णं कृत्वा गुटिकाकरणार्थं परिमितेन बीजपूररसेनाप्लाव्य मोदकाः काव्याः । कृताद्यनुपानं नामान्यमुक्ता विशेषानुपानं मद्यादिकं यदुक्तं तत् विशिष्टरोग-निवृत्त्यर्थं, न दोषः पौनरुक्त्या । मूत्रमत्र गोमूत्रम् । दशमूलैरिति—कथितदशमूलजले । काङ्गायनप्राक्तामिति—काङ्गायनाचार्येण प्राक्तां कथितां गुटिकामित्यर्थः । तन्नाम्नरं गुटिकयमशीविनाशिनी विहिता ; तथा हि—“काङ्गायनेन शिष्येभ्यः शस्त्रचाराग्नि-मात्रेणा । कथितो वटका ह्येषः गुदजानां विनाशनः ॥” इति ॥ ४४—४९ ॥

अथ योगराजगुग्गुलुवटकमाह, नागरमिति ।—नागरं शुण्ठी । भृष्टं हिङ्गु-भाटात्—भर्जितं हिङ्गु देयम्, उत्कृष्टमभ्यात् ; यतः,—“चूर्णेषु भर्जितं हिङ्गु देयं नात्कृष्टकृष्टेन” (शा० मन्व० ६ अ०) इति । अजमोदाऽव्यमानी यास्या, अन्तःपरि-

श्रीकाण्डे अक्षदत्ते अशीऽधिकारात्तकाङ्गायनमोदके विद्यते, तत्र च उपराद्धे “निषर्गाजतमिति प्रोक्तं श्रेष्ठमशीविकारिणाम्” इति पाठः । उक्त-काङ्गायनमोदकेन सह एतस्याः काङ्गायनगुटिकाया मद्यान् भेदः ।

रेणुकेन्द्रयवाः पाठा विडङ्गं गजपिप्पली ।

कटकाऽतिविषा भार्गी वचामूर्वे त्रिभागतः ॥ ५१ ॥

प्रत्येकं शाणकानि स्युर्द्रव्याणीमानि विंशतिः ।

द्रव्येभ्यः सकलेभ्यश्च त्रिफला द्विगुणा भवेत् ॥ ५२ ॥

एभिश्चूर्णीकृतैः सर्वैः समो देयश्च गुग्गुलुः ।

वङ्गं रौप्यञ्च नागञ्च लीहसारस्तथाऽभ्रकम् ॥ ५३ ॥

मण्डूरं रमसिन्दूरं प्रत्येकं पलसम्भितम् ।

गुडपाकममं कृत्वा इमं दद्याद्यथोचितम् ॥ ५४ ॥

एकपिण्डं ततः कृत्वा धारयेत् घृतभाजने ।

गुटिकाः शाणमात्रास्तु कृत्वा याज्ञा यथोचिताः ॥ ५५ ॥

गुग्गुलुर्योगराजोऽयं द्विदोषघ्नो रसायनः ।

मैथुनाहारपानानां त्यागो नैवात्र विद्यते ॥ ५६ ॥

सार्जमत्वात् । ग्रीरकद्वयमिति—श्वेतकृष्णभेदेन विहितम् । रेणुका प्रसिद्धा । गजपिप्पली
अव्यक्तम् । मूर्वा चोरकायुः । शीर्षं प्रसिद्धम् । एतत् विंशतिसङ्काकं द्रव्यमणं विंशति
शाणत्वमितिनित्यर्थः, प्रत्येकं टङ्कमितमाहुः । सकलद्रव्येभ्यस्तु त्रिफलाचर्यं द्विगुणित
देयं, तच्च चत्वारिंशत् शाणमितिनित्यर्थः । त्रिफलाऽप्यत्र सममात्रा बोद्धव्याः ।
गणनाया तत्तन्मात्रां वा साम्यत्वमव्याः । सर्वसमो गुग्गुलुर्देय इति—तेन षष्टिशान्तिनी
गुग्गुलुर्भवति । एकपिण्डमित्यादिवाक्येनास्य करणार्थं यावता पिण्डीभूतं भ्यात्
तावत्पिमाणेन घृतं याज्ञमिति उद्धानां व्यवहारोऽस्ति । पिण्डमत्र कुट्टन-
निघांतादिना, तत एव घृतभाजने धारयेत्, अतिस्निग्धत्वात् । गुटिकाः
शाणमात्रास्त्विति—यद्यपि शाणपरिमिता गुटिका भवति, तथापि भक्षणविधौ
यथोचिता याज्ञा, तेन दोषादिकं नीत्य देया इति तात्पर्यार्थः ; तथा न्युक्त—
“चत्वारो माषका इने मध्ये त्वष्टौ च माषकाः । श्रेष्ठे द्वादशकाः प्रोक्ताः कोहं
विज्ञाय तत् त्रिधा ॥” इति ; यद्वा—शोधनार्थं गुग्गुलीः कर्मः शमनार्थं तु
माषचतुष्टय इति व्यवहारः । मैथुनाहारपानानामित्यादि—अस्याभ्यासे मैथुनादयो
न त्याज्याः, मैथुनं स्त्रीसेवा । * एके “मैथुनाहारपानाभ्यां प्रयोजनत्वात् विद्यात्”

* “एके” इत्यारम्भ “शरदि करम्” इति यावत् व्याख्यानम् असङ्गतम-
भासकञ्च ।

सर्वान् वातामयान् कुष्ठानशांसि ग्रहणीगदम् ।
 प्रमेहं वातरक्तञ्च नाभिशूलं भगन्दरम् ॥ ५७ ॥
 उदावर्तं चयं गुल्ममपस्मारमुरोग्रहम् ।
 मन्दाग्निं श्वासकासञ्च नाशयेदरुचिं तथा ॥ ५८ ॥
 रेतोदोषहरः पुंसां रजादोषहरः स्त्रियाम् ।
 पुंसामपत्यजनको बन्ध्यानां गर्भदस्तथा ॥ ५९ ॥
 रास्नादिकाथमंयुक्तो विविधं हन्ति मारुतम् ।
 काकोल्यादिशृतात् पित्तं कफमारग्वधादिना ॥ ६० ॥
 दार्वीशृतेन मेहांश्च गोमूत्रेण च पाण्डुताम् ।
 मेदोदृष्टिञ्च मधुना कुष्ठं निम्बशृतेन च ॥ ६१ ॥
 क्लिन्नाकाथेन वातासं शोथं शूलं कणाशृतात् ।
 पाटलाकाथमहितो विषं मूषिकजं जयेत् ॥ ६२ ॥
 त्रिफलाकाथमहितो नेत्राग्निं हन्ति दारुणाम् ।
 पुनर्नवादिक्वाथेन हन्यात् सर्वोदराण्यपि ॥ ६३ ॥

इति पठन्ति, पठत मङ्गतं, तेन मेघनादयो बाहुल्यमात्रं भवन्तीत्यर्थः ।
 क्लिन्नु उच्यते यतः,—“आरास्त्रसंग्रहात् दोषधात्वकोचितम् । वृमुक्षितो
 मालपानमयाङ्गुलुसंयुक्तः ॥” इत्यादिवचनात् उचितं यथा मेघनमपि; तथा हि—
 “मेघं कानतः कानं हृत्ती बाजोक्तता हिमे । बाहावमन्तशरदोः पलाहाष्ट-
 निदाघयोः ॥ प्रकामश्च निषेवेत मेघनं शिशिरागमे । शीते रात्रौ दिवा
 गीर्षे प्रावृत्तवर्षणम् । वसन्ते च दिवा रात्रौ नास्मरेत् शरदि स्मरन् ॥”
 इति । अस्यानुपानविशेषमाह, रास्नादिकाथमंयुक्त इत्यादि,—रास्नादिकाथः
 काथकल्पनायां कथितः, स च ब्रह्मद्राक्षादिर्लघुर्वा । काकोल्यादि चूर्णकल्पनायां
 प्राप्तव्यः, तच्च कीबनीयादिगणसंज्ञम्, अस्य शृतेन काथेनेत्यर्थः । आरग्वधादि-
 नेति—आरग्वधोदिगणकाथेनेत्यर्थः; अथमपि काथकल्पनायाम् । दार्वीशृतेनेति—
 दार्वी दारुहृदिता, तस्याः शृतेन काथेन । गोमूत्रेण च पाण्डुतामिति—अतजं
 वा मूत्रं प्रशक्तं व्यवहारात् । मधुना क्षौटेण । निम्बशृतेनेति—निम्बकाथेनेत्यर्थः ।
 क्लिन्ना गृध्रौ, तस्याः काथेन । पाटला प्रसिद्धा, तस्याः मूलत्वक् याद्या ।
 त्रिफला हरितक्यः दिकम् । पुनर्नवादिक्वाथः काथकल्पनायां प्रसिद्धः ॥ ५०—६३ ॥

वातरक्तादी केशीरगुग्गुलुः ।—

त्रिफलायास्तयः प्रस्थाः प्रस्थैका चामृता भवेत् ।

सङ्कुच्य लोहपात्रेण साङ्गं द्रोणाम्बुना पचेत् ॥ ६४ ॥

जलमर्द्धशृतं ज्ञात्वा गृह्णीयाद्वस्त्रगालितम् ।

ततः काये क्षिपेच्छुद्धं गुग्गुलुं प्रस्थसन्मितम् ॥ ६५ ॥

पुनः पचेदयःपात्रे दद्यात् सङ्घर्षयेन्मृदुः ।

मान्द्रीभृतं ततो ज्ञात्वा गुडपाकसमाकृतिम् ॥ ६६ ॥

चूर्णीकृत्य ततस्तत्र द्रव्याणीमानि निक्षिपेत् ।

अधुना केशीरगुग्गुलुवटकानाह, त्रिफलाया इत्यादि ।—सन्धिलितवयस्य वय एव प्रस्थाः, तेन दादशकुडवा इत्यर्थः । प्रस्थैका चामृता भवेत् इति—चमृता गुडूची, तस्याः प्रस्थैकम्, एकै “विप्रस्थसमृता भवेत्” इति पठन्ति ; अथमपि पाठः प्रचरति आहतत्वात् यस्यान्तरदर्शनाद्वा ; तथा च * “दातिंश्च्छिन्नरुक्मायाः पलानि देयानि यत्नतः” इति । सङ्कुच्यति त्रिफलागुडूचीमित्यर्थः । द्रोणाम्बुना पचेदिति—उत्तद्भुज्य अतुराटकपरिमितेन जलेन साङ्गं परिपचेदिति काथविधानेन, काथाङ्गविशेषं गतं वस्त्रगालितं गृह्णीयात् । अपरकार्यमाह, शुद्धं गुग्गुलु-
मित्यादि—गुडताड्य निष्पतादिलेन समरात्रं तृतीषितत्वात् ; यद्वा, शुद्धं नात्युत्कृष्ट-
मित्यामनन्ति, यतः गुग्गुलीः पञ्चजातयः, तद्वयथा—“सुवर्णवणः प्रथमो द्वितीयः
कुम्भसदृतिः । तृतीयः पश्चरागस्तु अतुयेयन्दमौलकः ॥ पञ्चमो मण्डिषालस्य
नामतः शास्त्रकोविदेः ॥” इति । तत्र मण्डिषालं विहितम्, उक्तञ्च तन्नात्तरे—
“वरमण्डिषालोचनीदरसान्नभवर्यस्य गुग्गुलीः प्रस्थम्” इत्यादि । अथ पात्रे लोहपात्रे ।
दद्यात् सङ्घर्षयेन्मृदुरिति—दवीं सञ्चालनक्रियाया प्रसिद्धेन, मुहुर्हरति—वारवारं,
कृतं १ दग्धमयात् । गुडपाकसमाकृतिमिति—यथा गुडपाकं तथा गुग्गुलीः
पाकमित्यर्थः ; यतः,—“गुडवङ्गुली पाकः + सुगन्धस्तु विशेषतः” इति । लक्षणापा-
गुडपाकस्य तन्नात्तरे प्रथितं, तद्वयथा—“तृतीयपूर्णं यदा पात्रे क्षिप्तो न प्रवर्तते
गुडः । क्षिप्तस्तु निश्चलक्षिष्ठेत् पतितस्तु न शीघ्र्यते ॥ एव पाको गुडादीनां
सर्वेषां परिकीर्तितः ॥” इति । अपरकार्यमाह, चूर्णीकृत्य ततस्तत्रेति ।—तत

* पाठोऽयं अक्षपाणसम्मतः, तथा च—“दातिंश्च्छिन्नरुक्मापलानि देयानि
यत्नेन” इति ।

+ “सुवन्धस्तु विशेषतः” इति अक्षपाठः ।

त्रिफला * द्विपला ज्ञेया गुडूची पलिका मता ॥ ६० ॥

षड्जं द्रावणं प्रोक्तं विडङ्गानां पलार्द्धकम् ।

दन्ती कर्षमिता कार्या त्रिवृत् कर्षमिता स्मृता ॥ ६१ ॥

ततः पिण्डीकृतं सर्वं घृतपात्रे विनिक्षिपेत् ।

गुटिकाः श्राणमात्रेण युञ्ज्यादोषाद्यपेक्षया ॥ ६२ ॥

अनुपाने भिषक् दद्यात् कोष्णं नीरं पयोऽथवा ।

मञ्जिष्ठादिशृतं वाऽपि युक्तियुक्तमुतापरम् ॥ ७० ॥

जयेत् सर्वाणि कुष्ठानि वातरक्तं त्रिदोषजम् ।

सर्वव्रणानि गुल्मानि प्रमेहपिडकास्तथा ॥ ७१ ॥

प्रमेहोदरमन्दाग्नि-कासश्चयथपाण्डुजान् ।

हन्ति सर्वामयान्नित्यमुपयुक्तो रसायनः ॥ ७२ ॥

इति शृङ्गपाकादन्तरं, तत्र इति—गुणुपाकद्रव्यं । त्रिफला द्विपला ज्ञेयादि—
संज्ञितत्रिफलाया द्विपलमितं चूर्णं यावत् । गुडूची पलपरिमिता,
अथवा तत् गुडूच्याः सत्त्वमादाय क्षिपेदिति मनोहरः । द्रावणं विकटुकं, तच्च
भिन्नात् षड्जम् । विडङ्गचूर्णमप्यर्द्धपलम् । दन्तीमूलं कर्षप्रमाणम् । केचित् दन्ती-
लोकाव्ययं क्षिपन्ति, तच्च सर्वमतम् । त्रिवृत्त्रिशतः । ततः पिण्डीकृतमित्यादिना च
कर्तव्यविधिरपि योगराजवत् बोद्धव्यः । गुटिकाः श्राणमात्रेणेति—श्राणपरिमिता
गुटिकाः कृत्वा दोषाद्यपेक्षया, न तु नियतश्राणमात्रमेव ; दोषापेक्षया यथा—कर्ष-
मार्द्धकं, नित द्वापलम्, वाथो द्वापलम् इति । कोष्ठापेक्षया यथा “चत्वारो
माषका ह्रीने मध्ये त्रयो च माषकाः । श्रेष्ठे चादशकाः प्रोक्ताः कोष्ठं विश्राय-
तायथा ॥” इति । कृत्वपेक्षया यथा “प्रातःकाले च यौष्णे च घृतयुक्तं प्रदापयेत् ।
शरत्काले वसन्ते च दापयेत् त्रिफलायुतम् ॥ ह्रस्वो गिशिरं चैव गोमूत्रेण
रुग्णायुतम् ॥” इति । अनुपाने तु कोष्णं नीरं पयोऽथवेत्यादि—पयः क्षीरम् ।
मञ्जिष्ठादिशृतमिति—मञ्जिष्ठादिकाद्यं कायकल्पनाया कथितम् । युक्तियुक्त-
मुतापरमात—उताथवा अपरमनुपानं युक्तियुक्तं रोगसत्त्वं दद्यादिति सत्त्वम् ;
तथा ऋ—“यस्य रोगस्य यत् सत्त्वं दद्यात् तदनुपानकम्” इति । एतच्चाद्ये

य “त्रिफलाऽर्द्धपला” इति चकषस्तः पाठः । गूदार्थदोषकाकारणाभि-
प्रेक्षया पाठः समादृतः ।

वासादिना नेत्रैर्गदान् गुल्मादीन् वरुणादिना ।

क्राथेन खदिरस्यापि व्रणकुष्ठानि नाशयेत् ॥

कैशोरकाभिधानोऽयं गुग्गुलुः कान्तिकारकः ॥ ७३ ॥

अम्लं तीक्ष्णमजीर्णञ्च व्यायामं श्रममातपम् ॥

मद्यं रोषं त्यजेत् सम्यग्गुणार्थी पुरमेवकः ॥ ७४ ॥

भगन्द्रादौ विफलांगुगुलुः ।—

विपलं विफलाचूर्णं कृष्णाचूर्णं पलोन्मितम् ।

गुग्गुलुं पञ्चपलिकं क्षोदयेत् सर्वमेकतः ॥ ७५ ॥

ततस्तु गुटिकां कृत्वा प्रयुञ्ज्यादङ्गपेक्षया ।

भगन्दरं गुल्मशोधावर्शासि च विनाशयेत् ॥ ७६ ॥

वक्ष्यमाणमस्ति । वासादिना नेत्रैर्गदानिति—वासादिना वासादिक्राथेन । वरुणादिना वरुणादिक्राथेन । गुल्मादीनिति आदिग्रहणात् कृष्णास्मरौ प्रसृतान् । कृष्णं मूत्रकृष्णम् । खदिरस्य क्राथेनेति—खदिरं उच्चावर्शयः तस्य मूलत्वक् । कैशोर-गुग्गुलुरिति—कैशोरो बालकः तस्य रूपं कैशोरकं, तेनाभ्यास्यासि बालकस्यैव रूपं भवतीत्यर्थः, अत एव कान्तिकारकः काथितः । अम्लमभ्यासे व्याज्यमाह, अम्लमित्यादि ।—अम्लमम्लोका सातुलुङ्गादि । तीक्ष्णं राशिकादि । अजीर्ण-मग्रादिजम् । व्यायामं शरीरायासजनकं कर्म । श्रमं बह्वायासकृतकटं कर्म । आतपं घर्नसेवा । मद्यं मद्यपानम् । रोषं क्रोधम् । सम्यक् त्यजदिति यतः अस्त्रादीनि वातरक्तप्रकोपीषाण भवान् । एके अम्लं तीक्ष्णमित्यादि श्लोकं न पठान्, क्षेपकोऽयमिति मन्यन्ते ॥ ७४—७४ ॥

इदानीं विफलागुग्गुलुवटकमाह, विपलमित्यादि ।—संमिश्रितफलत्रिकचूर्णं विपलप्रमाणं यावत्, तेन हरीतकी पलमानं, विभीतकं पलप्रमाणं, आमलकमपि पलमानमिति । कृष्णा पिप्पली तस्याचूर्णं पलप्रमितमिति । गुग्गुलुं पञ्चपलिक-मिति—पञ्चपलप्रमाणं गुग्गुलुं सङ्कृष्ट्य घृतेन सङ्कृष्ट्य चूर्णं सङ्कृष्ट्य मोदकाः कार्याः, अत एव क्षोदयेदित्युक्तं, घृतमत्र व्यवहारदर्शनात् । वङ्गपेक्षया-त्यादना भक्ष्यं मानं बोद्धव्यम् । गुल्मशोधावर्शिति—गुल्मश्च शोषश्च । एकं “भगन्दरं गुल्मशोधमर्शासि च विनाशयेत्” इति पठान्, तत्र गुल्मेन जगितं शोधमिति ॥ ७५७६ ॥

प्रमेहादौ गोक्षरादिगुग्गुलः ।—

अष्टाविंशतिसङ्ख्यानि पलान्यानीय गोक्षरात् ।

विपचेत् षड्गणे नीरे काथो ग्राह्योऽर्धशेषितः ॥ ७७ ॥

ततः पुनः पचेत्तत्र पुरं सप्तपलं क्षिपेत् ।

गुडपाकसमाकारं ज्ञात्वा तत्र विनिक्षिपेत् ॥ ७८ ॥

त्रिकटु त्रिफला सुस्तं चूर्णितं पलसप्तकम् ।

ततः पिण्डीकृतव्याव्य गुटिका मुखयोजिता ॥ ७९ ॥

हन्यात् प्रमेहं कृच्छ्रञ्च प्रदरं मूत्रघातकम् ।

वातास्रं वातरोगाश्च शुक्रदोषं तथाऽश्मरोम् ॥ ८० ॥

कुश्रादौ त्रिफलामोदकः ।—

त्रिफलाऽष्टपला कार्या भस्मातश्च चतुष्पलम् ।

वाकुची पञ्चपलिका विडङ्गानां चतुष्पलम् ॥ ८१ ॥

हतलोहं त्रिवृच्चैव गुग्गुलुश्च शिलाजतु ।

अथ गोक्षरादिगुग्गुलु दर्शयन्नाह, अष्टाविंशतीति ।—गोक्षरादिति—पञ्चाङ्ग गोक्षरकस्याष्टाविंशतिपलानि ग्राह्याणि, तानि भङ्ग्य षड्गणे पानीय सङ्ख्याङ्गी-
वर्शधौ ग्राह्यः, षड्गुणता च गोक्षरपारभाषात्, अर्धशेषी जलपारभाषात् ।
ततः पुनः पचेदित्यादि—पुनः पचेदित्यर्धशेषितं काथम् । तत्रार्धशेषितं पुर
गुग्गुलुं सप्तपलपरिमितम् । गुडपाकसमाकारमिति—यथा गुडपाकी भवति
तथा अयमपि कर्तव्यः, तस्य गुडपाकलक्षणं पूर्वमुक्तम् । तत्र विनिक्षिपेदिति—
तत्र गुग्गुलुपाके विनिक्षिपेदित्यस्योक्त्याशयः । तानि कानि १ इत्याह,
त्रिकटु त्रिफला सुस्तमिति ।—त्रिकटु व्याघ्रम् । त्रिफला हरीतक्यादिकम् । सुस्तं
प्रसङ्गम् । एतत् सकलं पलसप्तकं ग्राह्यं प्रत्येकं पलमात्रमित्यर्थः । गुटिका
मुखयोजितेति—अथ गुटिका प्राणमात्रा प्रकल्प्या यथादोषं भक्षणीया इति भावः ।
कृच्छ्रं मूत्रकृच्छ्रम् । वातरोगान् हन्यन्तमोदकपादौ ॥ ७७—८० ॥

अथ त्रिफलामोदकस्योद्देशः, त्रिफलाद्यादि ।—* सस्मितफलविकसत्पल-
परिमितं भवात् । भस्मातं भस्मातकफलम् । हतलोहमिति—सम्यग्गतलोहचूर्णम् ।
“हतलोहं गुग्गुलुश्च शिलाजतु पिकतिकन” इति पाठे—विकटिकं त्रिफलमित्यर्थः ।

* त्रिफला प्रत्येकसप्तपला इति गू० दी० ।

एकैकं पलमात्रं स्यात् पलाहं पौष्करं भवेत् ॥ ८२ ॥

चित्रकस्य पलाहं स्याद्विशणं मरिचं भवेत् ।

नागरं पिप्पली मूस्ता त्वगीलापत्रकुङ्कुमम् ॥ ८३ ॥

शाणोन्मितं स्यादेकैकं चूर्णयेत् सर्वमेकतः ।

ततस्तत् प्रक्षिपेच्चूर्णं पक्कखण्डे च तत्समे ॥ ८४ ॥

मोटकान् पलिकान् कृत्वा प्रयुञ्जीत यथोचितान् ।

हृन्वात् सर्वाणि कुष्ठानि त्रिदोषप्रभवामयान् ॥ ८५ ॥

भगन्दरप्लीहगुल्मान् जिह्वातालुगलामयान् ।

शिरोऽक्षिभ्रूगतान् रोगान् हृन्वात् पृष्ठगतानपि ॥ ८६ ॥

प्राग्भोजनस्य देयं स्यादधःकायस्थिते गटे ।

भेषजं भक्तमध्ये च रोगे जठरसंस्थिते ॥

भोजनस्योपरि ग्राह्यमूर्ध्वज्वगटेषु च ॥ ८७ ॥

अयं पाठस्तखण्डत एव, किन्तु “इतलोहं त्रिप्रश्नैव गृगुलस्य शिलाजतु” इति पाठः साधुः; तत्र त्रिप्रश्नश्रोतं, तेन लौहचूर्णादिशिलाजतुपदार्थः * पलमात्रमाहुः । पौष्करं पुष्करमूलं, पलाहं गाल्लम् । नागरादिकुङ्कुमान् द्रव्यसप्तकं शाणोन्मितं प्रत्येकमिति भावः । पक्कखण्डे च तत्समे इति— तत्समे सकलद्रव्यसम्भारमास्ये, तेन + समविंशतिपलानीत्यर्थः । यथोचितानिति— यथादीवापेक्षया । जिह्वातालुगलामयानित्यनेन जिह्वासयान्, ताल्वासयान्, गलामयान् ण्ते मुखरोगे पठिताः । हृन्वात् पृष्ठगतान् रोगानित्यर्थः । प्राग्भोजनस्थिति—प्रातःकाले । अधःकायस्थिते गटे इति—ग्रन्थिदाहौ । जठरसंस्थिते उदरादौ । ऊर्ध्वज्वगटस्थिति—शिरोरोगादिषु । भोजनस्योपरि मायङ्काले ॥ ८१—८७ ॥

* प्रत्येकं पलमात्रमाहुः इत्येव पाठः करणीयः, अन्यथा लौहादीनां चतुर्णां मिलितानां पलमात्रमित्यर्थोधापत्तेः ।

+ चित्रनादिकुङ्कुमान्द्रव्यैर्मिलितैः शाणोत्तरकषययाचिकषण्विंशतिपलानि भक्ष्यन्ति, न तु समविंशतिपलानीति द्रव्यम् ।

गण्डमालादौ काञ्चनारगुगुलुः ।—

काञ्चनारत्वचो ग्राह्यं पलानां दशकं बुधैः ।

त्रिफला षट्पला कार्या त्रिकटुः स्यात् पलत्रयम् ॥ ८८ ॥

पलैकं वरुणं कुर्यादिला त्वक् पत्रकं तथा ।

एकैकं कर्षमात्रं स्यात् सर्वाण्येकत्र चर्णयेत् ॥ ८९ ॥

यावच्चूर्णमिदं सर्वं नावन्मात्रस्तु गुग्गुलुः ।

सङ्ख्य मर्वमेकत्र पिण्डं कृत्वा च धारयेत् ॥ ९० ॥

गुटिकाः शाणमात्रेण प्रातर्ग्राह्या यथोचितम् ।

गण्डमालां जयत्यग्रामपचीमर्बुदानि च ॥ ९१ ॥

ग्रन्थीन् व्रणांश्च गुल्मांश्च कुष्ठानि च भगन्तरम् ।

प्रदेयश्चानुपानार्थं काथो मुण्डितिकाभवः ॥

काथः खदिरसारस्य पथ्याकाथोऽथ कोणकम् ॥ ९२ ॥

पथौ माषादिमोदकः ।—

निस्तुषं माषचूर्णं स्यात्तथा गोधूममश्वत्थम् ।

निस्तुषं यवचूर्णञ्च शान्तिगण्डलजं तथा ॥ ९३ ॥

अथ काञ्चनारगुगुलु प्रकटयन्नाह, काञ्चनारत्वच इति ।—काञ्चनारो बल-
विशेषः प्रमितस्तु एव निजनाम्ना, तस्य त्वक् दशपलपरिमिता ग्राह्या । त्रिफलेति—
सन्निहितफलत्रिकं षट्पलप्रमितम् । त्रिकटोरपि मिलित्वा पलत्रयं भवति ।
वरुणोऽपि स्वनामप्रमिदो ब्रह्मविशेषः, तस्यापि त्वगेव ग्राह्या । पला त्वक् पत्रकं
मिति—सुगन्धवयं प्रत्येकं कर्षमात्रं देयम् । गुग्गुलुस्तु सकलचूर्णसमः, तेन
त्रिकर्षोत्तराणि विंशतिपलानि भवन्ति । पिण्डं कृत्वेत्यादिना मृतेन सङ्ख्य सङ्ख्य
स्निग्धभाण्डे धारयेदिति सम्प्रदायः । यथोचितमिति—यथादोषापेक्षया ।
अनुपानार्थं द्रव्याणां ह, काथो मुण्डितिकाभव इति ।—मुण्डितिका भृङ्गदन्तकं,
केदारमुण्डो इति लोके । खदिरः प्रमिदः, तस्य सारो मज्जाभागस्थितकाष्ठविशेषः ।
पथ्या इरोतकी । कोणमिति—उष्णादकं, यतः “कं शिरो जलमाख्यातम्” इति
वचनम् ॥ ८८—९२ ॥

अथ माषादिमोदकमाह, निस्तुषमित्यादि ।—माषचूर्णं निस्तुषं तुषारहितं
पाण्डु, तथेति यद्वर्णाद्गोधूमचूर्णमपि निस्तुषमित्यर्थः । शान्तिर्धातुविशेषः, स च

सूक्ष्मञ्च पिप्पलीचूर्णं पलिकान्युपकल्पयेत् ।
तत एकीकृतं सर्वं भर्जयेद्गोष्ठतेन च ॥ ८४ ॥
अर्धमात्रेण सर्वभ्यस्ततः खण्डं समं क्षिपेत् ।
जलञ्च द्विगुणं दत्त्वा पाचयेत शनैः शनैः ॥ ८५ ॥
ततः पक्वं समुद्धृत्य वृत्तान् कुर्वीत मोदकान् ।
भुक्त्वा सायं पलेकञ्च पिबेत् क्षीरं चतुर्गुणम् ॥ ८६ ॥
वर्जनायौ विशेषेण क्षारास्त्री द्वौ रसावपि ।
कृत्वंव रमयेन्नारार्वह्जाने क्षीयते नरः ॥ ८७ ॥

इति श्रीदामोदरमुनिना श्रीशार्ङ्गधराचार्येण विरचितया शार्ङ्गधरसंहितायां
मध्यखण्डे चिकित्सितस्थाने वटककल्पना नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथ अवलेहकल्पना ।—

अवलेहस्य स्वरूप पद्यांशो नावा च ।—

काथादीना पुनः पाकात् घनत्वं सा रसक्रिया ।

मोऽवलेहश्च लेहः स्यात्तन्मात्रा स्यात् पलोन्मिता ॥ १ ॥

वटिकी यात्रा, तस्य तण्डुलानि कृत्वा तज्जातं चूर्णं देयम् । पालकानोति बहु
वचनेन माधुचूर्णाऽदाप्यनाचूर्णान्त द्रव्यं प्रत्येकं पलमात्रमाहुः कसंख्यविधावव ।
तत एकीकृतमित्यादि—चूर्णादहमावयव गोष्ठतेन चूर्णं मनाग्भर्जयित्वा तदग्नौ
सकलचूर्णसमानं खण्डं मङ्गलं खण्डाद्द्विगुणितेन जलेन मृदु पक्त्वा पलप्रमिता मोदकाः
कार्याः । सायं सप्त्यासमये । पिबेत् क्षीरं चतुर्गुणमिति—पलप्रमाणं द्रव्यं भक्षयित्वा
पनवत्पृष्ठे क्षीरमनुपेयमित्यर्थः । द्वौ रसौ विशेषेण वर्जनायौ, यतः क्षारास्त्री शुक्रश्रुति-
क्षरो भवतः । न क्षीयते नर इति—शुक्रदानिर्भवंतीति तात्पर्यांशः ॥ ८३—८७ ॥
इति श्रीवाक्पदान्तरप्रकाशवद-श्रीभाषासिंहकर्मजनाटभट्टन विरचितया शार्ङ्गधरदीपि-
काया मध्यखण्डे चिकित्सितस्थाने वटककल्पना नाम सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ७ ॥

अधुनावलेहानां प्रथमतस्तत्त्वपरिवर्धनं दृश्यते, काथादीनामिति ।—

अवलेहे सितागुडद्रवाणां मात्रा ।—

सिता चतुर्गुणा कार्या चूर्णाच्च द्विगुणो गुडः ।

द्रव चतुर्गुणं दद्यादिति सर्वत्र निश्चयः ॥ २ ॥

सम्यक्पक्वावलेहसंज्ञकम् ।—

मुपको तन्तुमत्त्वं स्यादवलेहोऽसु मज्जति ।

स्थिरत्वं पोडितं मुद्रा-गन्धवर्णरसोद्भवः ॥ ३ ॥

काषादीनामिति * आदिग्रहणात् खरसफाण्डकल्कादयोऽभिधीयन्ते । घनत्वमिति—
खान्दत्वं यावद्भवति तावत् पाकः कर्तव्य इति भावः । पाकस्तु काषादीनां भवति,
यतः प्रथमतः कायविधिना पाकं कृत्वा पश्चात् पाकेन लेहः स्यादिति ।
तस्यादिति—तस्यावलेहस्य भक्षणार्थं मानं पलमितं बोद्धव्यम् इति सामान्यमानं
भक्षणोऽभिहितम् ॥ १ ॥

इदानीममुक्तं सितादीनां परिमाणमाह, सितेति ।—अमुक्तमानावलेहं सिता
चतुर्गुणा देशा, चतुर्गुणताऽत्र सकृद्व्यादित्यर्थः । गुडस्तु द्विगुण इति चूर्णद्रव्यात् ।
द्रव तोयस्रोरादिकं चतुर्गुणम्, अत्रापि चूर्णादिति भावः । सर्वत्र निश्चय इति—
स्वतन्त्रे परतन्त्रे वा ॥ २ ॥

अथावलेहस्य सिद्धिलक्षणमाह, मुपको इति ।—सम्यक् पक्वेऽवलेहे एतादृशं
भक्षणं भवति, कौटुश तदाह, तन्तुमत्त्वामत्यादि—द्रव्यां सञ्चालनेन तन्तुसंयुक्त
इव दृश्यते, तेन मृदमानोऽङ्गुलिघाटी भवतीत्यर्थः । अमु मज्जति पानीयमध्ये
यदा क्षिप्तमदा निमग्नो भवति । स्थिरत्वमिति—निरन्तरत्वं, एतेन द्रवरहित
इत्यर्थः ; तथा हि—“तोयपूर्णे यदा पाने क्षिप्तो न प्रवते गुडः । क्षिप्तस्तु
न शूलक्षिष्टेन पतितस्तु न शीयते ॥ एष पाको गुडादीनां सर्वेषां परिकीर्तितः ॥”
इति । पोडितं मुद्रेति—तस्मिन्प्रकुल्यादिपोडिते सति मुद्रादीनामुद्भवो भवति,

* आदिग्रहणात् खरसफाण्डकल्कादयोऽभिधीयन्ते इति यदुक्तं तत्र सङ्गर्भं,
यतः “काथादयन्त पुनः पाकात् घनत्वं सारसक्तिया” इत्यत्र पुनः-शब्देन द्वितीय
वारपाको बोध्यते, खरसस्य पाक एव न भवति द्वितीयपाकस्तु सुतरां नास्त्येव,
एवं पण्डितपक्षे कल्कस्यापि प्रथमपाकरहितस्य पुनःपाकेन घनत्वसम्पादनं न
सम्भवत्येव इति सुबोधाभावाभायम् । आदिपदेन शीतफाण्डयोर्ग्रहणमिति वक्तुं
शुक्लते, यतः उष्णतोये निक्षेपात् तयोः प्रथमपाकः सम्पद्यते एव इति ।

अथलेहे अनुपानम् ।—

दुग्धमिक्षुरसो यूषः पञ्चमूनीकषायजः ।

वासकाक्षौ यथायोग्यमनुपानं प्रशस्यते ॥ ४ ॥

स यथा—

कासे कण्टकाद्यवर्जितः ।—

कण्टकारीतलां नीर-द्रोणे पक्त्वा कषायकम् ।

पादशेषं गृहीत्वा च तस्मिंश्चूर्णानि दापयेत् ॥ ५ ॥

* मुद्राऽथ निम्बता ; यदुक्तं—“पीडिते तं घटाऽङ्गुल्या निम्बतां दत्तं जायते” इति ।
गन्धवर्णरसोद्भव इति—सुगन्धोपेतः सुरसापत इति, याऽवर्जितो भवति स सुपक्व
इत्यर्थः ॥ ३ ॥

इदानीमनुक्तं अनुपानमाह, दुग्धमिति ।—दुग्धमिति सामान्यगृहणेन सर्वाणि
क्षोराण्य यथादाय ग्राह्याण्य । इक्षुरसगृहणेन सर्वे इक्षुवकारा गृह्यान् ।
पञ्चमूनां मूत्राणां रूक्षा वा यथाव्याधिर्वाहिता ग्राह्या । कषायज इति यूष इत्यर्थः,
तत्र पञ्चमूलस्य कषायेण कृत्वा यूषः सोऽनुपानमिति भावः । कषायगृहणान्
स्वरसकायकान्कादयो ग्राह्याः । वासाकाक्ष इति—वासा चाटवृक्षः । यथायोग्य-
मिति—यत् यस्य दोषस्य योग्यं तत् यथायोग्यम्, एतेन दोषानुपमिति व्याख्यानस्य
काथितम्, तदयथा—वातेऽस्त्रगधुरलवणप्रायाः स्निग्धादयः, पित्तं मधुरकषायतिक्त-
प्रायाः शीतादयः, कफं तक्तोषणकषायप्राया रुचादयः । मात्रा यथा,
तथा च्युक्तम्—“अनुपानं प्रयोक्तव्यं कफस्थाधौ पले भवेत् । पलद्वयत् पित्तं
वाऽनिलजं च पलत्रयम् ॥” इति । यदा—“गण्डूष मात्रया दैव भटा क्रूरं तु
पक्ष च । अनुपानं प्रयोक्तव्यं देशकालाद्यपेक्षया ॥” इति । अनुपानाभाते—अनु-
पक्षान् पानं, तत् कृतः ? तदाह—“यथा जलगते तेलं तत्तन्नादेव सर्पति । तथा
भेषज्यमङ्गु प्रसर्पत्यनुपानतः ॥” इति ॥ ४ ॥

स यथाति ।—त दशयन्नाह, कण्टकारीति—खण्डकण्टकारिका, सा समूलफल-

* मुद्रा अङ्गुलीचिह्नम्, अङ्गुलीरखाह इति वृद्धाः ।

+ अकसङ्गुहादौ—“अनुपानं प्रयोक्तव्यं व्याधौ शेषमवे पक्षम् । पलद्वयत्त्व-
त्रिलजे पित्तजे तु पलत्रयम् ॥” इति पाठः ।

पृथक् पलानि चैतानि गुडूचीचव्यचित्रकाः ।

मुस्तं कर्कटशृङ्गी च त्रूषणं धन्वयासकः ॥ ६ ॥

भार्गी रास्त्रा शटी चैव शर्करा पलविंशतिः ।

प्रत्येकञ्च पलान्यष्टौ प्रदद्याद्दृततैलयोः ॥ ७ ॥

पक्का लेहत्वमानीय शीते मधुपलाष्टकम् ।

चतुष्पलं तुगाक्षीर्याः पिप्पलीनां चतुष्पलम् ॥ ८ ॥

क्षिप्वा निदध्यात् सुदृढे मृन्मये भाजने शुभे ।

लेहोऽयं हन्ति द्विकार्त्ति-श्वासकासानशेषतः ॥ ९ ॥

अथक्षीणादौ च्यवनप्राशः ।—

पाटलाऽरणिकाश्मर्य-विल्वारलुकगोक्षुराः ।

पर्ण्यौ सहस्रौ पिप्पल्यः शृङ्गी द्राक्षामृताभयाः ॥ १० ॥

बला भूम्यामली वासा ऋद्धिर्जीवन्तिका शटी ।

शास्त्रा शास्त्रा । भीरद्रोणे इति—चतुरादकपरिमिते पानीये । त्रूषणं प्रत्येकं पलप्रमाणमाहः । धन्वयासकः दुर्गलभा । रास्त्रा सुरभी । शर्करा पलविंशतिरिति भुगमम् । दृततैलयोरिति मालत्वा बीडशपलानि । दृतमत्र गोदृतम् आश्रितं वा व्याधिविहितत्वात् । तैलं कटुतैलमत्र बदन्त्येकैः यतः “कासे श्वासे च द्विक्राद्या कटुतैलं प्रयोजयेत्” इति । क्षिचिदस्य प्रयोगोऽपि दृश्यते, “गुडं कटुकतेलं मिश्रयित्वा मम लिङ्गेत् । विसृताहप्रयोगेण श्वासं निर्मूलतो जयेत् ॥” इति । शीते मधु पलाष्टकमिति—मधु क्षौद्रमष्टपलप्रमाणं शीते द्विमध्यशं विानक्षिपेदित्यर्थः, यतः, —“उष्णार्त्तमुष्णैरुष्णैश्च तन्निहन्ति यथा विषम्” (सु० सु० ४५ अ०) इति वचनात् । अपराणि द्रव्याण्यष्ट, चतुष्पलं तुगाक्षीर्या इत्यादि ।—तुगाक्षीरो वांशी । पिप्पली प्रमिद्धा । सुदृढे लतिचिक्वे । भाजने पात्रे । शुभे अमये मङ्गलत्वात् । अथ लेहः कण्टकारीवञ्चः । अशेषत इति—सम्पूर्णारिष्टदर्शनादपि आसज्ज्यादित्यर्थः (१) । एतेनास्य प्रमाणं दर्शितम् ॥ ५—९ ॥

अधुना च्यवनप्राशवनिहमाह, पाटलित्यादि ।—पाटला प्रसिद्धा । अरणिः आद्यमस्यकः । काश्मर्यः गाश्मरी । विल्वः प्रालडम् । अरलुकः श्लोनाकः । पर्ण्यौ हंतेन शालपर्ण्यौ वृश्चिपर्ण्यौ चेति, तस्य हयं “कवरादय”शब्दाव्यम् । सहस्राविति—हं सहस्रौ । कण्टकारीवञ्चमित्यर्थः । शृङ्गी कर्कटाख्या । भूम्यामली तामलकी ।

जीवकर्षभकौ मुस्तं पौष्करं काकनासिका ॥ ११ ॥

मुद्गपर्णी माषपर्णी विटारी च पुनर्नवा ।

* काकोली कमलं मेदे सूक्ष्मलागुरुचन्दनम् ॥ १२ ॥

एकैकं पलसम्मानं स्थूलचूर्णितमौषधम् ।

एकीकृत्य महत्यात्रे पञ्चामलशतानि च ॥ १३ ॥

पचेद्गोणजले क्षिप्वा ग्राह्यमष्टावशेषितम् ।

ततस्तु तान्यामलानि निष्कुलीकृत्य वाससा ॥ १४ ॥

† चट्टी इति द्विवचनत्वेन चट्टिचट्टी याच्ये । जीवकी शाकविशेषः । जीवक
षंभकाविति द्वौ तेन जीवक ऋषभकयेति । काकनासिका “कौवाडोडी” इति लोके ।
विटारी कन्दविशेषः । काकोल्याविति द्रव्यद्वयं, तेन काकोली चौरकाकोली चेति ।
कमलमुत्पलं, तदभावे पद्मबीजं याच्यम् । मेदे हे मेदा मद्दामेदा च । अगुरुः
क्षयागुरुः । चन्दनं श्रेतम् । स्थूलचूर्णितमिति—उदूखले मूषकादिभिः कट्टित-
मित्यर्थः, न तु वस्त्रगालितम् । पञ्चामलशतानि चेति—चामलकफलानां
गुडकानि पञ्चशतानि ; अथ पाकृतिमानम्, एवं सर्वत्र पलादिमानाभावे ;
यथा वक्ष्यमाणे अगस्त्यहरीतक्यरलेष्टे “हरीतकीशतं भटम्” इत्यादि, एवं
भल्लातकगुडे “भल्लातकसहस्रे हे” इति । यत्र पलादिमानमुक्तं तत्र तु पलादि-
मानेनेव व्यवहारः ; यथा पूर्वोक्तबाहुशालगुडे—“चतुष्पलं आहङ्गातः” इति ।
पचेदिति—इक्षुपरिपाटीव्यवहारात्, तद्यथा—अवच्छिन्नामलकफल कपटे पोडको
वद्वा कथनोऽयं, तेन तानि सुगृहाणि स्युः । अष्टावशेषितमिति—अथ यत्र यत्नः
तत्र वन्दटिप्यणकारमतमालोक्य कृतं, वन्दे तु—“ज्ञात्वा गतरसं द्रव्यं रसं गृह्णीत
गालितम्” इत्यस्य व्याख्यायाम् अष्टभागावशेषेण द्रव्याणां गतरसत्वं स्यात् इति ।
केचित्तु “ग्राह्यं पाद्यावशेषितम्” इति पठन्ति, तत्र ‡ सुसुते वाग्भटे च “पादशर्ष-

* चरकवाग्भटादौ काकोली तथा मेदा इति एकवचनान्तपाठ एव, न
तु काकोलीद्वयं तथा मद्दाद्वयम् । तथा कमलमित्यत्र उत्पलम् इति पाठः ।
उत्पलं नीलीत्पलम् ।

† मूले “चट्टिः” इति एकवचनान्त एव पाठो दृश्यते, स च चरकादि-
सम्मतः । टीकाकारव्याख्या न समीचीना ।

‡ सुसुते अथनप्राप्नोति नास्ति ।

रक्तपिप्पे कुष्माण्डावलेहः । —

निष्कलीकृत्य कुष्माण्ड-खण्डात् पलशतं पचेत् ।

निक्षिप्य द्विगुणं नीरमर्द्धशिष्टञ्च गृह्यते ॥ २२ ॥

तानि कुष्माण्डखण्डानि पोड्येदंढवाससा ।

आतपे शोषयेत् किञ्चिच्छूलाग्रैर्बहुशो व्यधेत् ॥ २३ ॥

क्षिप्वा ताम्रकटाहे च दद्यात् * अष्टपलं घृतम् ।

तेन किञ्चिद्भर्जयित्वा पूर्वोक्तं तज्जलं क्षिपेत् ॥ २४ ॥

खण्डात् पलशतं दत्त्वा सर्वमेकत्र पाचयेत् ।

सुपक्वे पिप्पली शुण्ठो जीरकं द्विपलं पृथक् ॥ २५ ॥

पृथक् पलाहं धान्याकं पत्रैलामरिचं त्वचम् ।

चूर्णीकृत्य क्षिपेत्तत्र घृताहं चौद्रमावपेत् ॥ २६ ॥

अजीर्णविषर्जो भवति, तदपि रोगमूलमेव ; यतः,—“प्रायेणाहार-
वेषस्यादजीर्णं जायते वृणाम् । तन्मूलो रोगसङ्घातस्तदिनाशादिनश्यति ॥”
इति ॥ १०—२१ ॥

अथ कुष्माण्डावलेहविवरणं दर्शयन्नाह, निष्कलीति ।—निष्कलीकृत्यति—
त्वग्ज्जादिरहितानि कुष्माण्डशकलानि सङ्कृत्वात्यर्थः । द्विगुणं नीरमिति कुष्माण्ड-
परिमाणात्, तेन कुष्माण्डशकलानि तुलापरिमितानि द्वितुलामितं नीरमिति,
अर्द्धावशिष्टं कायस्य जलम् । शुलाग्रैरिति—काष्ठमथशङ्कुमुखैः । बहुशो
व्यधेदिति—बहुक्लिद्राणि कुष्माण्डशकलानि कारयेदिति भावः, उक्तञ्च—उक्षपाद्या
पूर्वे निष्कलीकृतं तदग्रे कृतच्छिद्रं पश्चात् संस्लेद्य सौम्येण वेष्टयित्वा पोड्येत्, आतपे
मनाक् भृशस्य पिष्टा पलशतं गृहीत्वा पक्तयम् । तेन किञ्चिद्भर्जयित्वेति—किञ्चिदव-
यथापाकं भर्जयेत् ; तथा हि “सुतसर्पिणि कुष्माण्डे पाको गन्धेन मुद्रया” इति ।
तज्जलमिति—अर्द्धावशिष्टं पूर्वोक्तं कायम् । खण्डात् पलशतमिति—शकरा-
पलशतम् । घृताहं चौद्रमावपेदिति—चौद्रं मधु घृतमानादहं क्षिपेदति-
भावः । वपेदिति यद्वशेन ग्रीतीभूते तस्मिन् पश्चात् मेलयेदित्यर्थः ।

अकदन्तायुर्वेदसारादौ घृतप्रश्लमित्युक्तम् ।

खादेदग्निबलं दृष्ट्वा रक्तपित्तो क्षयो ज्वरी ।

शोषदृष्णावमिच्छुर्दि-श्वासकासक्षतातुरः ॥ २७ ॥

कुष्माण्डकावलेहोऽयं बालवृद्धेषु युज्यते ।

उरःसन्धानकृद्दृष्यो हृंहणो बलकृन्मतः ॥ २८ ॥

अर्थोने खण्डशूरणावलेहः ।—

युक्त्या कुष्माण्डखण्डस्य शूरणं विपचेत् सुधीः ।

अर्शसां मूढवातानां मन्दाग्नीनाञ्च युज्यते ॥ २९ ॥

कासं अग्न्यहरीतक्यबलेहः ।—

हरीतकीशतं भद्रं यवानामाढकं तथा ।

पलानि दशमूलस्य विशातञ्च नियोजयेत् ॥ ३० ॥

चित्तकः पिप्पलीमूलमपामार्गः शटी तथा ।

कपिकक्कुः शङ्खपुष्पो भार्गी च गजपिप्पली ॥ ३१ ॥

बला पुष्करमूलञ्च पृथक् द्विपलमात्रया ।

आतुरशब्दः गोषादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । बालवृद्धेषु युज्यते इति—सौम्यत्वात्
धातुर्पोषकत्वात् । दृष्यः शुकवद्विकरः । वृद्धणो धातुवद्विकरः । बलकृदोजसो
तद्विकर इति ॥ २७—२८ ॥

इदानीं खण्डशूरणावलेहमाह, युतेति ।—कुष्माण्डखण्डस्य युक्त्या कर्तव्य-
विधिना अग्न्यापि शूरणावलेहः कर्तव्यः । सुधीरिति यद्वयेन पूर्वोक्तकुष्माण्डखण्ड-
यद्वयं यन्मूलं या कर्तव्यता तत् सकलं विचार्य तेनैव प्रकारेण शूरणावलेहः
साध्यः । निजिप्रेष मूढवातानां मन्दाग्नीनाञ्च युज्यते ॥ २९ ॥

अथाग्न्यहरीतक्यबलेहं दर्शयन्माह, हरीतकीशतमित्यादि ।—हरीतकीशतं
हरीतकीगुटिकाशतं, न तु हरीतकीपलशतं, “सदृशं फलानां शतशः पलानाम्”
इति वचनात् । भद्रमिति—श्रेष्ठं, हरीतकीफलशतं, तेन नवादिगुणसहितमित्यर्थः ;
तथा शतं—“नवा क्षिप्वा घना वृक्षा गुर्वी क्षिता तथाऽर्भासः । निमज्जन्त या
प्रशस्तत्वात् गुणकत् सा प्रकीर्तिता ॥” इति । यवानामाढकमिति—यवोऽन्नविशेषः,
तस्य अद् धाष्टपलानि । कपिककु “हरीतकीशतं भद्रं यवानामाढकं तथा” इति पठन्ति,
तत्र भद्रयवा इत्युच्यते इति व्याख्या । अत्र प्रचरति, सर्वेषां सन्मदायविरोधान् ;

पचेत् पञ्चाढके नीरे यवैः स्निग्धैः मृतं नयेत् ॥ १२ ॥

तच्चाभयाशतं दद्यात् क्वाथे तस्मिन् विचक्षणः ।

सर्पिस्त्रैलाष्टकपलं क्षिपेत् गुडतुलां तथा ॥ १३ ॥

पक्वा लेहत्वमानीय सिद्धे शीते पृथक् पृथक् ।

क्षौद्रञ्च पिप्पलीचूर्णं दद्यात् कुडवमात्रया ॥ १४ ॥

हरीतकीद्वयं खादेत्तेन लेहेन नित्यशः ।

क्षयं कासं ज्वरं श्वासं हिक्कार्शोऽक्षिपीनसान् ॥ १५ ॥

ग्रहणीं नाशयेदेष बक्षीपलितनाशनः ।

बलवर्णकरः पुंसामवल्लेहो रसायनम् ॥

विहितोऽगस्त्यमुनिना सर्वरोगप्रणाशनः ॥ १६ ॥

तस्मात् हरीतकीशतं भद्रमिति पाठः साधुः । दशमूलस्य विंशतिपलानि प्रत्येकं द्विपलमित्यर्थः । शेषं द्रव्यं प्रसिद्धम् । यवैः स्निग्धैरिति उपलक्ष्ये तृतीया । यवस्त्रिंशताऽत्र चतुर्भागावशेषे कले एव भवति, तेन चतुर्भागावांशमेव याच्यम् ; तन्नात्तरंऽप्युक्तं—“गुलाढकेः पञ्चभिरङ्गुशेषं क्वाथं नयेत्” इत्यादि । पक्वा लेहत्वमानीयेति—व्यवहारात् हरीतकीशतस्य क्षपटे पीडलं बद्धा कथनं, पञ्चादुत्स्निग्धहरीतकीशतस्य घृततैलयोर्भञ्जनं तद्द्वयम् ; यथा तन्नात्तरं सवायं-निद्धहरीतक्या हरीतकीभञ्जनमुक्तं, तदग्रे क्वाथे गुडतुलां लोडयित्वा पाकः कर्षव्यः, अवतरणसमये पिप्पलीचूर्णप्रक्षेपः, शीतोभूते चापरेऽङ्गं मधुदानमिति शङ्काना मतम् । सुगन्धार्थं मनाक् चातुर्जातमिति केचित् ; तदुक्तं—“पिप्पली-चूर्णकुडवं चातुर्जातवचूर्णितम्” इति । सर्पिस्त्रैलाष्टकपलमिति यदुक्तं * तस्मिन्निर्वाला याच्यम् । हरीतकीद्वयं खादेत् तेन लेहेन नित्यशः इति—यद्यपि गुडस्य भक्षणमानं नांक्तं, तथापि हरीतकीद्विरुपग्रहणेन लेहस्य + पलमानं भवत्येव ; यथा तन्नात्तरं भागीगुडे “मन्त्रयेदभयसेकां लिङ्ग्याहपलं लिङ्गे” इति, तेनात्र हरीतकीभक्षणविधानात् गुडपलं भक्ष्यमिति । अन्ये तु गुण्योच्छेदे हरीतकीत्यायात् गुडं द्विपलमाहुः ; एतत् सर्वमेव व्याधिबलावलत्वात् प्रचरति । अगस्त्यमुनिर्विहित-लिनास्य सिद्धफलत्वमुच्यते ॥ १०—१६ ॥

* शिवदासेन पृथगष्टपलमानमिति व्याख्यातम् ।

+ सुश्रुते कर्षनानमुक्तं, शिवदासेनापि तथैव व्याख्यातम् ।

अर्शोरोगादौ कुटजावलेहः ।—

कुटजत्वक्तुला द्रोणे जलस्य विपचेत् सुधीः ।
 कषायं पादशेषञ्च गृह्णीयात् वस्त्रगालितम् ॥ ३७ ॥
 त्रिंशत् पलं गुडस्यात्र दत्त्वा च विपचेत् पुनः ।
 सान्द्रत्वमागतं दृष्ट्वा चूर्णानौमानि दापयेत् ॥ ३८ ॥
 रसाञ्जनं मोचरसं त्रिकटु त्रिफलां तथा ।
 लज्जालुं चित्रकं पाठां विल्वमिन्द्रयवं त्वचम् ॥ ३९ ॥
 भस्मातकं प्रतिविषां विडङ्गान् च बालकम् ।
 प्रत्येकं पलसम्मानं घृतस्य कुडवं तथा ॥ ४० ॥
 सिद्धशीते ततो दद्यान्मधुनः कुडवं तथा ।
 जयेदघोऽवलेहस्तु सर्वाण्यर्शोसि वेगतः ॥ ४१ ॥
 दुर्नामप्रभवान् रोगानतौसारमरोचकम् ।
 ग्रहणौ पाण्डुरोगञ्च रक्तपित्तञ्च कामलाम् ॥ ४२ ॥
 अम्लपित्तं तथा शोथं कार्श्यञ्चैव प्रवाहिकाम् ।
 अनुपाने प्रयोक्तव्यमाजं तक्रं पयो दधि ॥
 घृतं जलं वा जोर्णं च पथ्यभोजो भवेन्नरः ॥ ४३ ॥

इदानीं कुटजावलेहमाह, कुटजत्वगिति ।—कुटजो वृक्षविशेषः तस्य त्वक्
 छल्ली, सा पलशतपरिमितः याज्या । पादशेषमिति—चतुर्थांशं कषायं वस्त्रपूतं
 कृत्वा याज्यम् । कुवचिदंतत्र प्रचरति, किन्तु पादशेषमिति—पादस्य चतुर्थांशस्य
 यच्छेषं चतुर्भागं तत् याज्यम्, एतेनाष्टभागावशेषं कथितम् ; तथा च तत्त्वान्तरं—
 “कुटजत्वक्पलशतं जलद्रोणे विपाचयेत् । अष्टभागावशेषन्तु कषायमवतारयेत् ॥
 वस्त्रपूतं ततः क्वाथं पचेत्क्षेहत्वमागतम् ॥” इति । विशत्पलं गुडस्यावेति—अथ क्वाथे
 गुडस्य पुरातनस्य त्रिंशत् पलं दत्त्वा पुनर्विपचेदिति यावत् सान्द्रत्वं भवति । चूर्णांश-
 मपराणि द्रव्याण्याह, रसाञ्जनमिति—रसाञ्जनं प्रतीतं, तस्य दार्वाक्काथसमुद्भवमिति
 प्रसिद्धिः । मोचरसं शालमलौबेष्टकम् । इन्द्रयवं त्वचमिति—इन्द्रयवं कुटजबीजं, त्वक्
 गुडत्वक् । दुर्नामप्रभवान् रोगानिति—गुल्मोदरप्रभृतीन् । अनुपाने प्रयोक्तव्यमिति

रक्तातीसारारौ कृटजाटकम् ।—

कृटजत्वक्तुलामार्द्रां द्रोणनोरे विपाचयेत् ।

पादशेषं शृतं नीत्वा चूर्णान्येतानि टापयेत् ॥ ४४ ॥

लज्जालुधतकी विल्वं पाठा मोचरमस्तथा ।

मुस्तं प्रतिविषा चैव प्रत्येकं स्यात् पलं पलम् ॥ ४५ ॥

ततस्तु विपचेद्भूयो यावद्दूर्वाप्रलीपनम् ।

जलेन क्वागदग्धेन पीतो मण्डेन वा जयेत् ॥ ४६ ॥

सर्वातिमारान् घोरांस्तु नानावर्णान् सवेदनान् ।

असृग्दरं समस्तञ्च सर्वांशीमि प्रवाहिकाम् ॥ ४७ ॥

इति श्रीदामोदरमुनना श्रीशार्ङ्गधराचार्येण विरचितायां शार्ङ्गधरसंहितायां

मध्यखण्डे चिकित्सितस्थानेऽबलेहकल्पनानामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः ।

अथ स्नेहपरिभाषा ।—

स्नेहस्य पाकविधिर्मात्रा च ।—

कल्काच्चतुर्गुणोक्त्य घृतं वा तैलमेव वा ।

—आजं तकम्, आजं पयः, आजं दधि, आज घृतञ्चेति । जलं पानीयं तक्तादीनामभावात् ; एतत् सकलमनुपातं यथाभावात् निवेदितव्यम् । कीर्णं चेति—द्रव्ये (१) परिणते मति पथ्यभीजी भवेन्नर इति भावः ; यतः,—“बौधधशेषे भुक्तम्” इत्यादिवाक्यान्नीधात् ॥ ३९—४३ ॥

कृटजाटकाबलेहनाह, कृटजेति ।—अयं कृटजाटकाबलेहो व्याख्यायां सुगम एवावगम्यः । कर्तव्यविधित्तु पूर्ववत् बोध्यः । दूर्वाप्रलीपनम् इत्यबलेहस्य संसिद्धिलक्षणं सूचितं पूर्वाज्ञाबलेहविधौ ज्ञातव्यम् ॥ ४४—४७ ॥

इति श्रीवात्स्यान्यप्रकाशवेद्य-श्रीनाभसिंहनाम्नजनादमल्लेन विरचितायां शार्ङ्गधर-

दोषिकायां मध्यखण्डे चिकित्सितस्थानेऽबलेहकल्पनानामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ स्नेहेति ।—तत्र तावत् प्रथमतः परिभाषामस्य व्याचष्टे । इदानीं

चतुर्गुणे द्रवे साध्यं तस्य मात्रा पलोन्मिता ॥ १ ॥

खेडपाकाद्यं कायसाधनविधिः ।—

निक्षिप्य काथयेत्तोयं काथ्यद्रव्याश्चतुर्गुणम् ।

पादशिष्टं गृहीत्वा च स्नेहं तेनैव साधयेत् ॥ २ ॥

काथ्यस्य सृदसज्यादिभेदेन जलपरिमाणम् ।—

चतुर्गुणं सृदद्रव्ये कठिनेऽष्टगुणं जलम् ।

तथा च मध्यमे द्रव्ये दद्यादष्टगुणं पयः ॥

अत्यन्तकठिने द्रव्ये नीरं षोडशिकं मतम् ॥ ३ ॥

काथ्यद्रव्यस्य परिमाणभेदेन जलपरिमाणम् ।—

कर्षादितः पलं यावत् क्षिपेत् षोडशिकं जलम् ।

खेडकल्पनां दर्शयन्नाह, कल्कादिति ।—अनुक्ते कल्कात् कल्कयोग्यद्रव्यात् घृतं तैलं वा चतुर्गुणं याज्यां, न तु द्रवदि पेयितात् कल्कात् । द्रवमपि चतुर्गुणं खेडपरिमाणात्, द्रवं तोयादि । तस्य मात्रा पलोन्मितेति—तस्य संनिद्ध-
खेडस्य पानार्थं पलोन्मिता पलप्रमाणा मात्रा त्रिया इति, अनुक्तेषु मानमिदं सामान्यम् । परिभाषेयमपि सामान्यखेडपाकविधौ बोद्धव्याः । तथा हि—“कल्का-
चतुर्गुणः खेडः खेडान् काथ्यचतुर्गुणः । काथ्याचतुर्गुणं बारि काथः काथ्यसमी मतः ॥”
इति । विशिष्योऽपि कथिद्वर्तते, यथा तन्नात्तरं वासाघृते बलाद्ये घृते वा ; तद्वद्व्या—
“अवाप्यष्टगुणेकोयैः कथितं काथदुग्धयोः । प्रत्येकं द्विगुणो भागो निषक् सर्पिपि
निक्षिपेत् ॥” इति ॥ १।२ ॥

इदानीं द्रव्यविशेषे काथनविधिं जलमानमाह, चतुर्गुणमिति ।—अत्र चतुर्गुण-
प्रभृतिकं द्रव्यपरिमाणात् बोद्धव्यं, यावत्परिमाणं काथ्यद्रव्यं भवति तावत्परिमाणा-
चतुर्गुणितं जलं याज्यामित्यर्थः । सृद कठिनं कठिनतरश्च द्रव्यं तच्चैवानुमानतो-
ऽवगतव्यम् । तथा च मध्यमे द्रव्ये दद्यादष्टगुणं पय इति—मध्यमे सृहादिमृदाते
पयः पानीयं, यत्र सृदकठिनतरद्रव्यमेकत्र मिलित्वा काथ्यं तद्वाष्टगुणं पानीयं दत्त्वा
पादशेषं याज्यामिति सर्वत्र ; तथा हि—“सृहादिकाथ्यमृदाते मानानुक्ते चिकित्सकाः ।
मध्यस्थीमयभागित्वादिच्छन्त्यष्टगुणं जलम् ॥” इति ॥ ३ ॥

अथ मतान्तरे परिमाणविशेषमाह, कर्षादित इति ।—कर्षादित इत्यादि-

तदूर्ध्वं कुडवं यावद्भवेदष्टगुणं पयः ॥

प्रस्थादितः क्षिपेन्नौरं खारौ यावच्चतुर्गुणम् ॥ ४ ॥

खेदपाके जलादिद्रवभेदेन कल्कस्य परिमाणम् ।—

अम्बुकाथरसैर्यत्र पृथक् खेदस्य साधनम् ।

कल्कस्यांशं तत्र दद्यात् चतुर्थं षष्ठमष्टमम् ॥ ५ ॥

दुग्धे दध्नि रसे तन्ने कल्को दियोऽष्टमांशकः ।

कल्कस्य सम्यक् पाकार्थं तोयमत्र चतुर्गुणम् ॥ ६ ॥

परिमाणं सामान्यद्रव्यविषये वर्तते, अन्वयात् स्वतन्त्रविरोधः, यावत् काष्ठद्रव्यं कषादिपरिमाणात् पक्षं भवति तावत्तत्र षोडशांशं जलं दत्त्वा काथः पादशेषो यास्तः, षोडशिकमत्र काष्ठद्रव्यपरिमाणात्। ततस्तु पक्षादुपरि यावत् कुडवं काष्ठद्रव्यपरिमाणं भवति तावत्तत्र पयः पानोयमष्टगुणं भवेत् काष्ठद्रव्यादित्यर्थः; अत्र काथः चतुर्थांशः यास्त इति सर्वत्र । प्रस्थादित इति—प्रस्थादिपरिमाणात् यावत् खारौ भवति तावत्तत्र चतुर्गुणं नीरं पानोयं प्रक्षिप्य सङ्घात्य च पादशेषो यास्त इति तात्पर्यायः । आदिशब्दात् आदिकद्रोणसूपद्रोणीप्रभृतयो यास्तः । यदा, प्रस्थादितः प्रस्थादितस्मात्, तेन शरावर्मापि गृह्यते, शरावादित इत्यर्थः ॥ ४ ॥

• अपरमध्यलुक्तमाह, अम्बुकार्थात् ।—यत्र खेदपाके पानोयादिनद्याणां द्रव्याणां मध्ये यदा एकेन पाकः स्यात् तदा कल्कस्य कल्कद्रव्यस्य चतुर्थांशं षष्ठांशम् अष्टमांशं यथाऽनुक्रमेण दध्यम् ; अनुक्रमो यथा—यदि अम्बुना केवलं पाकस्तर्हि कल्कद्रव्यस्य चतुर्थांशं दध्य, खेदपरिमाणादित्यर्थः । यदा केवलेन काथेनैव पाकस्तदा कल्कद्रव्यस्य षष्ठांशं दध्यम्, अत्रापि खेदपरिमाणादित्यर्थः । यत्र तु केवलस्तरसनेन साध्यते खेदः तत्र कल्कद्रव्यस्याष्टमांशं दध्यं, खेदमानादिति अत्रापि मुख्यः इत्यनुक्रमः । अपरमपि, दुग्धे इति—अत्रापि एकद्रव्यसाध्यता सूचते, तदा कल्कद्रव्यं खेदपरिमाणादष्टमांशं दध्यति भावः । कल्कस्येति—यत्र तु अन्वद्वेः केवलकृतेनैव साध्यते खेदस्तदा चतुर्गुणं * कल्कद्रव्यचतुर्गुणं तोयं

* कल्कद्रव्यचतुर्गुणं जलमिति व्याख्या न समीचीना साम्प्रदायिकविद्वान्त-विरोधात् ; चतुर्गुणता तु खेदपरिमाणादेव इति सर्वत्रैवाविद्वान्तः । गूढार्थकारि-त्वापि इयमेव व्याख्या समाहता ; तथा च—“कल्कस्य सम्यक् पाकार्थं चतुर्गुणं खेदादित्यर्थः” इति ।

स्नेहादिद्रव्येण स्नेहपाके द्रवपरिमाणम् ।—

द्रवाणि यत्र स्नेहेषु पञ्चादौनि भवन्ति हि ।

तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् च स्याच्चतुर्गुणम् ॥ ७ ॥

केवलकल्कसाध्यस्नेहपाकपरिभाषा ।—

द्रव्येण केवलेनैव स्नेहपाको भवेत् यदि ।

तत्राम्बुपिष्टः कल्कः स्याज्जलञ्चात्र चतुर्गुणम् ॥ ८ ॥

कल्कोल्लेखविरहितस्नेहपाकपरिभाषा ।—

* क्वाथेन केवलेनैव पाको यत्नेरितः क्वचित् ।

क्वाथद्रव्यस्य कल्काऽपि तत्र स्नेहे प्रयुज्यते ॥ ९ ॥

निश्चिपेदिति सर्वतः सत्यं पाकार्थं बोद्धव्यम् ; एतन् किमुक्तम् ? यदा क्षीरादिभिः प्रत्येकेन स्नेहपाकेन पाकस्तदा चतुर्गुणं चतुर्थांशं पानोयं दयम् ; पानोयं विना पाको नास्तीति सर्वमतम् ॥ ५।६ ॥

इदानीमनुक्तमानद्रवाणां मानमाह, द्रवाण्येति ।—यत्र स्नेहपाकार्थं द्रवाणि क्षीरतत्करसमूहकायादौनि अन्यान्यपि पञ्चादौनि पञ्चाशदौनि भवन्ति, अनुक्तमाना-
नीति विषयः, तत्र तानि द्रवाणि स्नेहसमाना प्रत्येकमाहुराचार्याः, यथा वक्ष्य-
माणादिफलाघृत । अर्वाक् द्रवं चतुस्तथा, तर्हि स्नेहपरिमाणञ्चतुर्गुणं ज्ञेयं प्रत्येक-
मित्यर्थः । एके यथापूर्वं चतुर्गुणमात्रं पठन्ति, तथापि स एवार्थः । कुत्रचित्
द्रव्याणीति पाठो दृश्यते, सोऽसङ्गत एव ॥ ७ ॥

अथ केवलद्रव्यस्य स्नेहपाकार्थं मानमाह, द्रव्येणेति ।—अत्र द्रव्यं स्नेहा-
चतुर्थांशं, कल्कार्थं बार्ध तावदेयं यावता कल्कः स्यात्, यतः प्रेषणे जलस्य परिमाणं
न स्यात् । जलञ्चात्र चतुर्गुणमिति—अत्र कल्के जलं पानोयं चतुर्गुणं दयं,
स्नेहसमानादित्यर्थः । एके द्रव्यमानाश्चतुर्गुणं जलमिति व्याख्यानयन्ति, तत्र
मतादरं कल्कद्रव्यात्पलात् ॥ ८ ॥

अपरमप्याह, क्वाथेनेति ।—यत्र स्नेहे क्वचिदिति—अनुक्ते केवलेन क्वाथेन

० परिभाषेय न सर्वैः समान्द्रियते ।

+ विफलाघृतस्य दृष्टान्तोऽत्र न युज्यते, यतः परिभाषेयमनुक्तद्रवमान-
विषयिणी, विफलाघृते तु सर्वेषामेव द्रवाणां मानोल्लेखो दृश्यते ।

अकल्कखेडपाकपरिभाषा ।—

कल्कहीनस्तु यः खेडः स साध्यः केवले द्वे ॥ १० ॥

पुष्पकल्कखेडपाकपरिभाषा ।—

पुष्पकल्कस्तु यः स्नेहस्तत्र तोयं चतुर्गुणम् ।

खेहे खेहाष्टमांशश्च पुष्पकल्कः प्रयुज्यते ॥ ११ ॥

१. कल्का पाकः कश्चितः, तत्र खेहे कायद्रव्यस्य कल्कः कार्यः, * कल्काद्यन्तान् चतुर्गुणं जलमिति ; तेन येनैव द्रव्येण काचः क्रियते, तेनैव तत्परिमितेन च द्रव्येणाथमांशं कल्काद्व चतुर्गुणेन च जलेन सह साध्यः, पूर्वं काचेन साध्यः यस्मात् कल्केनेत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथ केवलद्रवसाधनमाह, कल्कहीन इति ।—यः खेडी घृततैलादिकः कल्कहीनः कल्करहितो भवेत्, सः केवले द्वे साध्यः ; द्रवमत्र चतुर्गुणं खेड-परिमाणात् ॥ १० ॥

इदानीं पुष्पकल्कस्य परिमाणमाह, पुष्पकल्क इति ।—यः पुष्पकल्कसंज्ञः खेडः तत्र खेहे तोयं पानीयं चतुर्गुणं देयं, चतुर्गुणता च खेडपरिमाणात् । सः पुष्पकल्कः खेहाष्टमांशः प्रयुज्यते खेहखाष्टमांशं तेन साध्यो धीन्य इत्यर्थः ।
५ पुष्पाणि यथा—नागकेशर-कुङ्कुम--लवङ्ग- दमनक-सुरपुष्प-चम्पकीतल--पुण्डरीक-
केतकी-जाती-कुसुमप्रभृतीनि । एके पुष्पकल्कः प्रयुज्यते इत्यस्य स्थाने पत्रकल्कः प्रयुज्यते

* पाकादे काचे सत्यपि पुनः कल्काद्यं चतुर्गुणं जलमिति यदुक्तं तत्र समीचीनं, सुश्रुतविरीधात्, सुश्रुते येन केनापि द्रव्येण सहैव कल्कपाकावधानात्, तथा च—
“खेडाचतुर्गुणो द्रवः, खेडचतुर्गुणो भवेत्तत्र कल्कः तदेकधं संसृज्य विपचेत् इत्येव खेडपाककल्पः” इति । किञ्च परिभाषायां नपि केवलस्वरसखीरमाह्वयैः सह पाके कल्कस्य वीर्याधानार्थं चतुर्गुणजलेन पाकव्यवस्था अस्ति, न तु काचेन सह पाके, तथा च—“स्वरसखीरमाह्वयैः पाको यदेरितः कश्चित् । चतुर्गुणं जलं तत्र वीर्याधानार्थमावपेत् ॥ न मुञ्चति रसं द्रव्यं खीरादिभिर्बहुकृतम् । कल्कस्य सम्यक् पाकाद्यं जलं तत्र चतुर्गुणम् ॥” इति । किञ्च केवलकाचेन सह पाके कायद्रव्यस्य कल्कोऽपि याद्या इति परिभाषाऽपि अस्तीति सिद्धं, यत्र खेहे नवाधिकारोक्तिः विद्यते तत्रैव कल्ककायद्रव्यविधिर्दृश्यते ; तथा च—“यथाधि-
कारयोगीतिगणैः स्नात् खेडसन्निधौ । तत्रैव कल्कनिर्व्यूहविध्यते खेडवेदिना ॥” इति ।

खेडपाकविधिप्रमाणम् ।—

वर्तिषत् खेडकल्कः स्यात् यदाऽङ्गुल्या विमर्दितः ।

शब्दहीनोऽग्निनिक्षिप्तः खेडः सिद्धो भवेत्तदा ॥ १२ ॥

यदा फेनोद्गमस्तौले फेनशान्तिश्च सर्पिषि ।

गन्धवर्णरसोत्पत्तिः खेडसिद्धिस्तदा भवेत् ॥ १३ ॥

खेडस्य विविधपाकप्रमाणम् ।—

खेडपाकस्त्रिधा प्रोक्तो मृदुर्मध्यः खरस्तथा ।

ईषत्सरसकल्कास्तु खेडपाको मृदुर्भवेत् ॥ १४ ॥

मध्यपाकस्य सिद्धश्च कल्को नौरसकोमले ।

ईषत्काठनकल्कश्च खेडपाको भवेत् खरः ॥ १५ ॥

दग्धामपक्वखेडयोः दोषः ।—

तदूर्ध्वं दग्धपाकः स्याद्वाङ्मन्त्रिप्युयोजनः ।

आमपाकश्च निर्वीर्यो वक्त्रिभाम्यकरो गुरुः ॥ १६ ॥

इति पठन्ति व्याख्यानयन्ति, तत् पक्वकल्कं प्रक्षेपमाहुः, तथा हि—“गन्धनिर्यास-
पुष्पाणां सिद्धशीतेऽवतारिते । प्रक्षेपो गन्धः इत्यर्थे पक्वकल्कान्तु तद्विदुः ॥” इति ॥ ११ ॥

इदानीं खेडानां संसिद्धिलक्षणान्याह, वार्त्तावदिति ।—यदा खेडे परिपाचितः
कल्कः अङ्गुल्या विमर्दितो वातसदृशो भवति तदा सिद्धो ज्ञेयः । अथवा स
पक्व कल्कः यदाऽङ्गो वाचनः शब्दरहितो भवति तदा सिद्धो ज्ञातव्यः इति
सामान्यम् । अपरमपि विशेषमाह—यदा खेडस्य पाकात्ते तैले फेनोद्गमो भवति
सर्पिषि च फेनशान्तिर्भवति तदा सिद्धलक्षणं बोधव्यम् । गन्धवर्णरसोत्पत्तिरपि
यदा तदा स सिद्धिः स्यात् ; वर्णादिकमपि तैले सर्पिषि च ज्ञातव्यम् ॥ १२-१३ ॥

अधुना विविधखेडपाकस्य लक्षणमाह,—खेडपाक इति । ईषत्सरसकल्क इति ।—^(१)
यदा कल्को मादृता किञ्चित् भवति अग्नौ निक्षिप्ते सति चटचटशब्दो भवति
तदा मृदुपाको ज्ञेयः । यदा नौरसः कल्को भवति कोमलश्च नातिकठिनो नातिकृद्-
रिति तदा मध्यपाकः । यदा किञ्चित् कठिनकल्को जातः नौरसश्च भवति तदा
खरपाक इति । एतेषां परीक्षणमनुमानतोऽवगतव्यं गुरुसकाशदर्शनाद्वा ॥ १४-१५ ॥

दग्धामपक्वखेडयोर्दोषावसाह, तदूर्ध्वमिति ।—तदूर्ध्वं खरपाकादूर्ध्वं यदा खेडकल्कः

पाकविशेषेण खेदस्य उपशमिता ।—

नव्याग्नें व्याचक्षुः पाको मध्यमः सर्वकर्मसु ।

अभ्यङ्गाग्नें खरः प्रोक्तो युञ्ज्यादेव यथोचितम् ॥ १७ ॥

अथ व्यथ पक्वगुणानां गुणविवरणम् ।—

पुनतैलगुडादींश्च माधुर्यैकवामरैः ।

पक्वैरन्येषिता ह्येते विशेषाङ्गणमध्यम् ॥ १८ ॥

स यथा—

विषमत्वेनादौ चौरघटपक्वपुनम् ।—

पिप्पलीपिप्पलीमूल-चव्यचित्तकनागरैः ।

मसैस्त्वैश्च पल्लिकैर्वृतपथ्यं विपाचयेत् ॥ १९ ॥

कठिनतरो भवति तदा दग्धी ज्ञेयः, स च सर्वकर्मसु निष्कृतः स्यात् दाहकारश्च भवति । आमपाकश्चेति—आमपाकोऽपि पाककल्पाः खेदो निर्णीयौ भवति निःश्रेष्ठेण योग्यवृत्त इत्यर्थः । बक्तिमान्युक्तद्वययोगे गुणश्च भवति ॥ १६ ॥

इदानीं तस्य विविधपाकस्य गुणमाह, नव्याग्नेमिति ।—नव्यविशेषे कटपाकः

‘खेदः’ । मध्यपाकस्तु सर्वकर्मसु युज्यते, सर्वकर्मं नव्याभ्यङ्गपानादिकम् । खरपाकखेदः क्लृप्तत्वाभ्यङ्गे विहितः मान्यकर्मसु । यथोचितमिति—यथायोग्यं युञ्ज्यादित्यर्थः । एके “नव्याभ्यङ्गे खरः प्रोक्तः” इति पठन्ति, तत्र सर्वमतं, नखे तु नौस्यमाहः ॥ १७ ॥

खेदस्तु किमेकाहेनैव साध्यः, सत दीर्घदिनैः १ तद्विषयमाह, पुनैति ।—पुन-
तैले प्रसिद्धे, गुडोऽवलीढः ; आदिशङ्खपात ईदृशसम्भारा ये चाग्रे प्रयोगाः तान्
सर्वान् एकस्मिन्नेव वासरे न साधयेत् न पाचयेत् इत्यर्थः । कृतकदाह,
प्रकुर्वन्ति इत्यादि ।—पतै खेदादयस्तु यदा उचिताः सन्ति तदा गुणमध्यं प्रकुर्वन्ति,
११ अत एव बहुदिनैः कृत्वा साधनीया इति भावः । तस्मान्मरैषु एतत् बहुदिव्यसम्भार-
विषयम्, अस्मात्सम्भाराद्यैऽपि स्वेत्यमपि खेदं क्विचिद्विपाच्यापरैऽङ्गि लिङोऽवतायैः,
गुडादिष्वमपि आपरैऽङ्गि नपुदानादिकमुक्तं कथ्यते, नैवं सर्वमतविरोधः ॥ १८ ॥

स इति ।—स यथेत्यनेन तं खेदपाचसमूहं दर्शयति पथ्यकारः । तस्मादौ तावत्
पुनतकल्पनां दर्शयन्नाह, यतस्तेषादिभिर्ही पुनतकल्पः पूर्वाचार्यैर्दर्शितः, तथेवावापि
लिखितः । प्रथमतः चौरघटपक्वपुनव्याख्यानमाह, पिप्पलीति ।—अत्र पिप्पल्यादिकं
१२ पक्वद्रव्यं पक्वयोग्यं च बोद्धव्यम् ; यतस्तेषांमरै पक्वयोग्यपुनतमस्य नाम प्रसिद्धम् ।

क्षीरं चतुर्गुणं दत्त्वा तत् मिद्धं ग्रीहनाशनम् ।

विषमज्वरमग्नि-हरं कृचिकरं परम् ॥ २० ॥

गृह्यष्टादो चाङ्गेरीवृत्तम् ।—

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ।

श्वदंष्ट्रा नागरं धान्यं पाठा विल्वं यमानिका ॥ २१ ॥

द्व्यैश्च पलिकैरेतैश्चतुःषष्टिपलं वृत्तम् ।

वृताच्चतुर्गुणो देयः चाङ्गेरीस्वरमो बुधैः ॥ २२ ॥

तथा चतुर्गुणं दत्त्वा दधि मर्पिर्विपाचयेत् ।

शनैः शनैर्विपक्त्यं चाङ्गेरीवृत्तमुत्तमम् ॥ २३ ॥

तत् वृत्तं कफवानघ्नं ग्रहण्यर्शोविकारनुत् ।

हन्त्यानाहं गुदभ्रंशं सूत्रकच्छं प्रवाहिकाम् ॥ २४ ॥

गृह्यष्टादो ममूरुवृत्तम् ।—

मसूराणां पलशतं नीरदोषे विपाचयेत् ।

पाटशेषं शृतं नीत्वा दत्त्वा विल्वपलाष्टकम् ॥ २५ ॥

अथ चक्षुर्मिति—विटपविशेषः, यस्य फलं गजपिप्पलीति श्रुतिः । पलिकैरिति—
पलप्रमाणात् प्रत्येकमाहुः, अत एव क्षीरषट्पलकवृत्तमितं चतुर्गुणक्षीरेण सह
षट्पलप्रमाणवद्व्यैश्च साधितमित्यर्थः । अत चतुर्गुणं नीरमपि देयं, मस्यैकपाकाय-
मित्यश्वत्थभद्राशाभिप्रायः । वृत्तप्रत्ययमिति—षोडशपलमितम् । क्षीरस्य चतुर्गुणताऽत्र
वृत्तपरिमाणात् । तत् सिद्धमिति—सिद्धताऽस्य परिभाषीकविधानात् ॥ १८।२० ॥

अथ चाङ्गेरीवृत्तमाहुः, पिप्पलीति ।—अथ हस्तिपिप्पली गजपिप्पली । श्वदंष्ट्रा
गोलूरकः । नागरं गुण्ठी । विल्वमव विल्वशलाटुः । पलिकैरिति—पलप्रमाणं प्रत्येकम् ।
चाङ्गेरीस्वरम इति—चाङ्गेरी प्रसिद्धा, सा चाक्षरसा चामचाङ्गेरीति लोके
प्रसिद्धा, तस्याः स्वरस इति—सद्योरसः । बुधैरिति गृह्येन सद्योरसामावात्
कायोऽपि देयः । दधि चतुर्गुणं वृत्तपरिमाणात् । शनैः शनैः पक्त्यमिति—
मन्दपाचकपाचितमिति भावः, दग्धमयात् ॥ २१—२४ ॥

अथ मसूरायां वृत्तमाहुः, मसूराणामिति ।—मसूरोऽप्रविशेषः प्रसिद्धः ।
नीरदोषे जलदोषे, * चतुःषष्टिकृत्वपरिमितं भवति । विल्वं पलाष्टकमितं

* जलदोषे चतुःषष्टिकृत्वपरिमितमिति यदुक्तं तत्र समीचीनम्, श्लोकः

घृतप्रस्थं पचेत्तेन सर्वातीसारनाशनम् ।

ग्रहणीं भिन्नविट्कञ्च नाशयेच्च प्रवाहिकाम् ॥ २६ ॥

रक्तपित्तादी कामदेवघृतम् ।—

* अश्वगन्धा पलशतं तदहं गोक्षुरं स्मृतम् ।

शतावरी विदारी च शालपर्णी बलाऽस्मृता ॥ २७ ॥

अश्वत्थश्च च शुङ्गानि पञ्चवोजं पुननेवा ।

काशमर्याश्च फलञ्चैव माषवोजं तथैव च ॥ २८ ॥

पृथक् दशपलान् भागान् चतुर्द्विगुणैश्च पचेत् ।

द्रोणे शेषे रसे तस्मिन् पचेच्चैव घृताढकम् ॥ २९ ॥

सृङ्गीका पञ्चकं कुष्ठं पिप्पली रक्तचन्दनम् ।

पत्रकं नागपुष्पञ्च आत्मगुप्ताफलं तथा ॥ ३० ॥

भवति ; बिल्वं बिल्वमञ्जा, तच्च कल्पीकृतं जलं स ह देयम् । कर्तव्यविधावपि
जसुराः कपटवहाः काय्याः, सृङ्गप्रिया च साधनं कायम् ॥ २५।२६ ॥

इदानीं कामदेवघृतविवरणं दर्शयन्नाह, अश्वगन्धाः—अश्वगन्धामूलं पलशतं
याच्यम् । तदहं गोक्षुरमिति—पचाशत्पल, गोक्षुराऽत्र पञ्चाङ्गो याच्यः । + अपराधि-
दशद्रव्याणि दशपलमिति प्रत्येकमाहुः ; तानि कानि इत्याह, शतावरीत्यादि—
सुगन्धम् । तत्र तु अश्वत्थशुङ्गानिति—पिप्पलशुङ्गानि सिङ्गानि । काशरो नाशरो,
तस्या फलानि । पञ्चवोजं प्रसिद्धं “कमलगटा” शब्दवाच्यम् । माषवोजमिति—माषं
प्रतीतम् । एतत् सकलं पानीयद्रोणचतुष्टये संकाश्य पादशेष वस्त्रगालितं याच्यम् ।
अपराध्यापि कल्कयोग्यानि द्रव्याण्यह, सृङ्गीकेत्यादि—सृङ्गीका द्राक्षा । पञ्चकं

शब्देन चतुर्विंशतिशतद्रोणं शुक्लद्रव्ये एव बोद्धव्यं न तु द्रवार्द्रयोः, अतः जल-
द्रोणशब्देन चतुर्विंशतिशरावपरिमितमित्येवार्थः साधुः ।

* चक्रीतकामदेवघृते “बलाऽस्मृता” इत्यत्र “बला तथा” “घृताढकम्” इत्यत्र
“घृतप्रस्थम्” “पत्रकम्” इत्यत्र “बालकम्” इति पाठान्तराणि ।

+ शिवदासेन “शतावर्थादीनां बलान्नामां प्रत्येकं पञ्चाशत्पलानीत्यर्थः,
अश्वत्थशुङ्गादीनाञ्च पञ्चानां पृथक् दशपलानि, तती मिलित्वा पलशतचतुष्टये
काये प्रतिशतं जलद्रोणं देयः गुप्तादय्ये जलद्रोण इत्युक्तेः” इति व्याख्यातम् ।

नौलोत्पलं सारिवं हे जीवनीयो गणस्तथा ।

पृथक्कर्षममान् भागान् शर्करायाः पलद्वयम् ॥ ३१ ॥

रसस्य पौण्ड्रकैच्छणामाढकैकं समाहरेत् ।

चतुर्गुणेन पयसा घृताढकं विपाचयेत् ॥ ३२ ॥

घृतमेतान्नहन्याशु रक्तपित्तमुरःक्षतम् ।

हलीमकं पाण्डुरोग वर्णभेदं स्वरक्षयम् ॥ ३३ ॥

मूत्रकृच्छ्रमुरोदाहं पार्श्वशूलञ्च नाशयेत् ।

एतत् सर्पिः प्रयोक्तव्यं बह्वन्तःपुरवासिनाम् ॥ ३४ ॥

काशविशेषः, तन्मु चम्पकवत् हृत्विशेषः । आत्मगुप्ता कापिकच्छः तस्याः फलानि । नौलोत्पलं नौलकमलवाच्यं, तदभावे कमलबीजं याज्यम् । सारिवं हे इति— कृष्णसारिवा शुक्लसारिवात, ते “अफाई” शब्दवाच्ये, कृष्णसारिवा कलहंसवत्-पद्मा सुगन्धा, शुक्लसारिवा जम्बूवत्पद्मा व्रतती । जीवनीयो गण इति— जीवनीयो : जीवन्तो शाकविशेषः, तदादिसंज्ञको जीवनीयो गणः, तथा हि— “जीवन्तो मूष्यपर्यायकालौ जीवकर्षभौ । मंदं हे यष्टीमधुरो जीवनीयो गणो मतः ॥” इति । तस्याप्रतिष्ठित्वात् तत्साम्यगुणद्रव्याणि र्थाज्यानि इति हृदयं दाना सम्प्रतम् । एतानि स्रष्टोकादीनि द्रव्याणि पृथक् कर्षप्रमाणानि याज्याणि । शर्करायाः पलद्वयमिति—केचित् सिद्धेऽस्मान् शर्करायाः प्रलेपमाहुः । रसस्य पौण्ड्रकैच्छणमित्ति— पौण्ड्रको विख्यातः इक्षुविशेषः, इक्षुः सामान्यः, स च जीरितेक्षुप्रसृतिर्लो यथा लाभ याज्यः । ननु इक्षुवद्वेनेव पौण्ड्रकवद्वेन प्राप्तिः,

* जीवनीयः जीवन्तो शाकविशेषः इत्यादि व्याख्या न समीचीना, तत्त्वान्तरं “जीवकर्षभौ मंदं काकोस्थौ मूष्यपर्यायके । जीवन्तो मधुकच्छति जीवनीया गणो मतः ॥” इत्युक्तगणे जीवकशब्दस्य प्रथमवद्वेष्टात्, जीवन्तोशब्दस्य प्रथमोक्तत्वात् वा न जीवनीयगणः परन्तु जीवनीशक्तिवर्द्धकत्वात् गणस्यास्य जीवनीय इति सञ्ज्ञा ज्ञातव्या ।

१ रसस्य पौण्ड्रकैच्छणम् इत्यत्र पौण्ड्रकशब्दः इक्षुविशेषणं, बह्वेषु इक्षुजातिषु पौण्ड्रकसंज्ञकलूणा रस इत्येवायः चक्रादसम्प्रतः, न तु पौण्ड्रकैच्छुरसः क्रीडितेक्षु-प्रभृतिसामान्येक्षुरसश्च इत्यर्थः, “रसस्य पौण्ड्रकैच्छणामाढकं तत्र दापयेत्” इति चक्रसंज्ञकः ।

स्त्रीणाञ्चेवाप्रजातानां दुर्बलानाञ्च देहिनाम् ।
 श्रेष्ठं बलकरं वण्यं हृद्यं पुष्टिरसायनम् ॥ ३५ ॥
 श्रोजस्तेजस्करं हृद्यमायुष्यं प्राणवर्द्धनम् ।
 सर्वर्हयति शुक्रञ्च पुरुषं दुर्बलेन्द्रियम् ॥ ३६ ॥
 सर्वरोगविनिर्मुक्तो पयःसिक्तो यथा द्रुमः ।
 कामदेव इति ख्यातं सर्पिरुक्तं महागुणम् ॥ ३७ ॥

उन्मादादो पानीयकल्याणकं घृतम् ।—

त्रिफला हे निशि कीन्ती सारिवे हे प्रियङ्गुका ।
 शालपर्णी पृश्निपर्णी देवटार्वेलवालुकम् ॥ ३८ ॥
 नतं विशाला दन्तो च दाडिमं नागकेशरम् ।
 नीलोत्पलैना मञ्जिष्ठा विडङ्गं कुष्ठपद्मकम् ॥ ३९ ॥
 जारिपुष्पं चन्दनञ्च तालीमं बृहती तथा ।
 एतैः कर्षममैः कल्कैर्जनं दत्त्वा चतुर्गुणम् ॥ ४० ॥

ततः कथं भिन्नपदम् ? उच्यते—पौष्टिकपदम् गुणप्राप्त्यात् कृतं, यतः,—
 “पौष्टिकः शीतलः स्निग्धो बृहण, कफकृत सरः” इति, तस्मात् पौष्टिको
 विशेषणतः पाचनीयः (?) । अस्य रसव्याटकं प्रत्येकं हिरादकपदप्रात् (?)
 घृताढकमेक, गोदुग्धं चतुर्गुणमिति ॥ ३७—३९ ॥

अथ पानीयकल्याणकं घृतम् आह, त्रिफलिति ।—त्रिफलाऽत्र हरितकी-
 प्रभृतिफलत्रयम् । हे निशि हरिद्रादयम् । कीन्ती रणुका । सारिवे
 हे कृष्णयुक्तमेदन । प्रियङ्गुर्लताविशेषः, तस्याः फलानि । शालपर्णी
 पृश्निपर्णी अति कबरादयश्चन्दनायम् । एलवालुकं खनामख्यातं, तच्च कुष्ठमात्रं
 कट्फलसदृशम् । नतं तगरपादिका । विशालेन्द्रवारुणो, दन्तो प्रमिद्धा ।
 दाडिमं दाडिमफलं बीजानि च । नीलोत्पलं नीलकमलं, तदभावे पद्मबीजं
 द्रव्यं याच्यम् । एषा बृहत्फला । जाली मालती तस्याः कुसुमानि ।
 चन्दनं श्वेतम् । तालीशं खनामप्रसिद्धम् । बृहती बृहत्कण्टकारिका ;
 एतानि कर्षममाणां प्रत्येकम् । जल पाचनीयं चतुर्गुणं दत्तं घृतपाचनार्थात् ।

घृतप्रस्थं पचेद्दोमानपक्षारे ज्वरे क्षये ।

उन्मादे वातरक्ते च कासे मन्दानले तथा ॥ ४१ ॥

प्रतिश्याये कटोशूले तृतीयकचतुर्थके ।

मूत्रकण्ठे विसर्पे च कण्डूपाण्ड्रामये तथा ॥ ४२ ॥

विषहये प्रमेहेषु सर्वथैवोपयुज्यते ।

बन्ध्यानां पुचदं भृत-यक्षरक्षोहरं स्मृतम् ॥ ४३ ॥

वातरक्ते अमृताघृतम् ।—

अमृताकायकल्काभ्यां सक्षोरं विपचेत् घृतम् ।

वातरक्तं जयत्याशु कुष्ठं जयति दुस्तरम् ॥ ४४ ॥

कुष्ठो मृदातिक्रमं घृतम् ।—

सप्तच्छदः प्रतिविषा सम्पाकः कटुरोहिणी ।

पाठा मुस्तमुशीरश्च त्रिफला पपेटस्तथा ॥ ४५ ॥

घृतप्रस्थानात्—* कुष्ठवचतुष्टयमाप्तं त्र्यं घृतं भवति । केवलपानीयपारपाचनात् पानीयकल्याणकमस्य संज्ञा कृते ॥ ३८—४३ ॥

अमृताघृतनिवरणमप्याह, असृतेति ।—अमृता गुडूची तस्याः कायकल्काभ्यां कृत्वा सक्षोरं घृतं विपाच्य वातरक्तादिकं दैधम् ; तेन कायचतुर्गुणमन्त्रेण सिद्धः, स च घृताश्चतुर्गुण इति परिभाषाया प्रतीतः । कल्को हृषदि पोषितः, स च घृतांशः तेन कल्काद्रव्यं घृताश्चतुर्गुणं दैधमित्यर्थः । सक्षोरमिति—चतुर्गुणं क्षोरं घृत-परिमाणात् । कायचतु + खड्गसमं प्रीतिमिति पठन्ति, एतदपि संभवं, न विरुद्धं द्रवान्तरत्वात् । कल्केऽपि चतुर्गुणं पानीयं दत्त्वा पाचनीयमिति व्यवहारः । अस्य पानमाहुरभ्यक्तम् ॥ ४४ ॥

प्रदानौ मृदातिक्रमघृतमाह, सप्तच्छद इति ।—सप्तच्छदः सप्तपर्णशब्दवाच्यः, स च शास्त्रलोपसदृशो युष्मपतः । प्रतिविषा अतिविषा । सम्पाको राजहृषः तस्य

* प्रस्थेन कुष्ठवचतुष्टयसङ्घर्षं युक्ताद्रव्यं एव बीजव्यं, द्रवाद्रयोस्तु शराव-चतुष्टयमिति ज्ञेयम् ।

+ परिभाषासिद्धत्वात् हृषद्व्यवहाराच्च एतदेव मतं संभवंतीति । कल्केऽपि चतुर्गुणं पानीयमित्यादि यदुक्तं तत्र सर्वसम्मतं, तत्तु प्रागेव प्रदर्शितमिति ।

पटोलनिखमञ्जिष्ठाः पिप्पली पञ्चकं * शटी ।
 चन्दनं धन्वग्रामश्च विशाली हे निशे तथा ॥ ४६ ॥
 गुडूची सारिवे हे च मूर्वा वासा शतावरी ।
 त्रायन्तीन्द्रयवी यष्टी भूनिख्वाक्षभागिकाः ॥ ४७ ॥
 घृतं चतुर्गुणं दद्याद्घृतादामलकीरसः ।
 द्विगुणः सर्पिषश्चात्र जलमष्टगुणं भवेत् ॥ ४८ ॥
 ततः सिद्धं पाययेत् सर्पिर्वातरक्तेषु सर्वथा ।
 कुष्ठानि रक्तपित्तञ्च रक्ताग्नींसि च पाण्डेताम् ॥ ४९ ॥
 हृद्रोगगुल्मवौमर्ष-प्रदरं गण्डमालिकाम् ।
 क्षुद्ररोगान् ज्वरांश्चैव महातिक्तमिदं जयेत् ॥ ५० ॥

कृताटी काशीशाठं घृतम् ।—

कासीसं हे निशे मूस्तं हरितालं मनःशिलाम् ।
 कम्पिल्लकं गन्धकञ्च विडङ्गं गुग्गुलुं तथा ॥ ५१ ॥
 सिक्थकं मरिचं कुष्ठं तुत्यकं गौरसर्षपान् ।
 रसाञ्जनञ्च सिन्दूरं श्रीवासं रक्तचन्दनम् ॥ ५२ ॥

फलम् । चन्दनं घृतम् । विशाली हे इति—इष्टवाक्योद्देशम् । हे निशे इति
 —हरिताद्वयम् । सारिवे हे इति—शुक्लकण्ठभेदेन । मूर्वा चोरजायुः । वासा चाट-
 रुषकः । त्रायन्ती त्रायमाणा । शेषं द्रव्यं प्रसिद्धम् । अक्षभागिकाः कर्षप्रमाणाः
 प्रत्येकम् । घृतं चतुर्गुणमिति पूर्वद्रव्यसम्भारात् । आमलकीफलस्वरसो द्विगुणो
 घृतपरिमाणात् । स्वरसाभावे क्वाथोऽपि दैयः न दीयः । जलं पानीयस्याष्टगुणं
 दैयं सत्यक्पाकार्थं सर्पिषो घृतपरिमाणात् । एतत् सिद्धं महातिक्तं
 नाम घृतं वातरक्तादिषु प्रशस्तम् ॥ ४५—५० ॥

अधुना काशीसाठघृतविवरणमाह, कासीसमिति ।—कासीसं द्रव्यविशेषः
 मध्यवदव्यस्य, अथ भेदः पुष्पकासीसं, तच्च काश्चित् पीतम् । हे निशे हे हरिद्रे ।
 कम्पिल्लको रोगैशब्दवाची वृक्षविशेषः, कम्पिल्लेत्यपरे । सिक्थकं मधुष्कटम् ।

* चरकवास्यटथकदलेषु शटी इत्येवं तथा तथा विशाली इत्येकवचनान् एव
 पाठः, न तु विशाली इति ।

हरिमेढं निम्बपत्रं करञ्जं सारिवां वचाम् ।

मञ्जिष्ठां मधुकं मांसीं शिरीषं लोध्रपञ्चकम् ॥ ५३ ॥

हरीतकीं प्रपुष्पाङ्कं चूर्णयेत् कार्ष्णिकान् पृथक् ।

ततस्तच्चूर्णमालोच्य त्रिंशत्पलमिते घृते ॥ ५४ ॥

स्थीपयेत्ताम्रपात्रे च घर्मे सप्त दिनान्वधि ।

अस्याभ्यङ्गेन कुष्ठानि टट्टपामाविचर्चिकाः ॥ ५५ ॥

शूकटोषा विमर्षाश्च विस्फोटा वातरक्तजाः ।

शिरस्फोटोपदंशाश्च नाडीदृष्टव्रणानि च ॥ ५६ ॥

शीघ्रो भगन्दरश्चैव लताः शाम्यन्ति देहिनाम् ।

शोधनं रोपणञ्चैव सर्वार्णकरणं घृतम् ॥ ५७ ॥

ब्रह्मश्रीर्देवाद्यादिघृतम् ।—

जातीनिम्बपटोलश्च हे निशे कटुरोहिणी ।

मञ्जिष्ठा मधुकं मिक्थं करञ्जोशीरसारिवाः ॥ ५८ ॥

इत्युक्तं दार्ढ्यकायोद्भवम् । निन्दूरं प्रनिडम् । शीबावः निर्व्यासद्वयं । राल-
शब्दवाच्यम् । हरिमेढो विट्छटिरः योजशब्दवाच्यः । करञ्जी वृक्षत्करञ्जी वृक्ष-
विशेषः, लोके चोला इति प्रनिडः । सारिवा आस्तीता “आफोई” इति लोके । मांसी
गन्धमांसी जटावटिपः । पञ्चकं पञ्चकाक्षम् । प्रपुष्पाङ्कः चक्रमर्दभोजानि । एतानि
पृथक् कर्षप्रमितानि चूर्णीकृत्य त्रिंशत्पलपरिमिते घृते आलोच्य ताक्षपात्रे निधाय
घर्मे चारयेत् यावत् सप्त दिनानि भवन्ति ; एतच्चाद्रवाग्निषिद्धं स्थीपाकसंज्ञमितं
बोद्धव्यम् । अस्याभ्यङ्गदाये तु कल्काङ्कं द्रव्यं कल्कीभूतं कृत्वा चतुर्गुणेन पाभीयेन सह
घृतं विपाच्य पश्चात् पक्षिपक्षीयं द्रव्यं चूर्णीकृत्य तत्र प्रक्षिप्य आलोच्य घर्मे सप्तदिनं
यावत् चारयेत् एवं सिद्धी भवति । कल्काङ्कं द्रव्यं यथा—हरिद्रासुकरजक्तन्दरेनिमेढनिम्ब-
पत्रभरञ्जसारिवावचामञ्जिष्ठामधुकमांसीशिरीषलोध्रपञ्चकहरीतकीप्रभृतिकं, श्रेष्ठं प्रदीपाक्षं
त्रेयम् ॥ ५१—५७ ॥

इदानीं जात्यादिकं घृतमाह, जातीत्यादि ।—जातीनिम्बपटोलमित्यत्र
ब्रह्मश्रीं पञ्चाक्षं दार्ढ्याणि तन्मात्सरदर्शनात्, तथा च—“जातीनिम्बपटोलानां
जन्तुमांसस्य पञ्चवाः” इत्यादि । हे निशे हे हरिद्रे, तेन हरिद्रा दाहहरिद्रा ।
कटुरोहिणी कटुकोशब्दवाच्यम् । मधुकं मधुतनुम् । मिक्थं मदनकम् । करञ्जो

तुल्यं विपचेत् सम्यक् कल्कैरेभिर्वृतं बुधः ।

अस्य खेपाद्गिरोहन्ति सूक्ष्मनाडीव्रणा अपि ॥

मर्मास्थिताः क्लोदिनश्च गन्धोराः सकृजो व्रणाः ॥ ५८ ॥

उदरे विन्दुघृतम् ।—

चित्रकं शङ्खिनी पथ्य कम्पिज्जस्त्रिहतायुगम् ।

इहदारश्च सम्पाको दन्ती च त्रिफला तथा ॥ ५९ ॥

कीशातकी देवदाली नीलिनी गिरिकर्णिका ।

सातला पिप्पलीमूलं विडङ्गं कटुकी तथा ॥ ६१ ॥

हेमक्षीरो च विपचेत् कल्कैरेभिः पिचून्म्रितैः ।

घृतप्रस्थं सुक्षीक्षीरं षट्पलन्तु पलद्वयम् ॥ ६२ ॥

अर्कक्षौरस्य मतिमांस्तत् सिद्धं गुल्फकुष्ठद्वत् ।

इहदारश्चः, तस्य प्रमासि फलानि वा । उक्षीरं सुगन्धद्रव्यम् । सारिवा चास्तीता ।

तुल्यं हरितपाषाणवत् कृमिजडस्यविशेषः, एतत् सामान्यम् । सकृजद्रव्यात् घृतं चतुर्गुणं साध्यम् । अथ कल्कपाचनार्थं चतुर्गुणतः कलं देयम् । एकै सिक्कतुल्ययोः

सिद्धं प्रक्षेपमाहुः ; तथा च—“प्रक्षेपं कारयेद्दोमान् सिद्धे सिक्कतुल्ययोः” इत्यादि ।

जातीकाय गौराद्यश्च तैलमपि पच्यते ; तथा च चक्रः—“गौराद्यं जातीकायश्च तैलमेवं प्रसाध्यते । तैलं सूक्ष्मानने दुष्टे व्रणे गन्धोरे एव च ॥” इति ॥ ५८।५९ ॥

अधुना विन्दुघृतमाह, चित्रकमिति ।—अत्र चित्रकं प्रसिद्धम् । शङ्खिनी वसतिक्ता, शङ्खपुष्पीशब्दवाच्या । कम्पिज्जः कंदीला विख्याता, “रीरो” शब्दवाच्यामिति काचित् ।

विहतायुर्नामिति—अेतज्जन्मभेदेन “निश्रित” इत्यम् । इहदारः महाश्यामी दीर्घपत्रः,

स च त्रिषाराशब्दवाच्यः । सम्पाकः कृतमालकः । दन्ती “दन्तिवृत्ति” इति लोके,

तस्याः फलं जयपालशब्दवाच्यम् । त्रिफला हरीतकादिकम् । कीशातकी

घोषारी । देवदाली वृक्षविशेषः । गिरिकर्णिका “गोफन्द ईयफन्द” इति प्रविष्टः ।

सातला सिद्धजन्मभेदः, “षट्पलव” लोके । हेमक्षीरो ककुद्, कैचिन्नीकशब्द-

वाच्यमिति वदन्ति । पिचून्म्रितैरिति—अर्कप्रमासैः प्रक्षेपकम् । अत्र कल्काय

ज्ञायं चतुर्गुणं देयं व्यवहारात् ; तथा च—“सूक्ष्मार्थं पच्यतां साकसात्प-

प्रतिनतः । चतुर्गुणं कलं देयं पाकाय विन्दुसर्पिषि ॥” (३८९) इत्यादि । सुक्षीक्षीरं

सिद्धं गुल्फ कुष्ठद्वत् । अर्कक्षौरस्य मतिमांस्तत् सिद्धं गुल्फकुष्ठद्वत् ।

इति शूलमुदाकर्त्त शोयाधानं भगन्दरम् ॥ ६३ ॥
 श्रमयत्युदराण्यष्टौ निपीतं विन्दुसङ्गराया ।
 गोदुग्धेनोदुग्धेन कौलस्येन शृतेन वा ॥ ६४ ॥
 उष्णोदकेन वा पीत्वा विन्दुवेगैर्विरिच्यते ।
 एतद्विन्दुघ्नं नाम नाभिलेपाद्विरिच्यते ॥ ६५ ॥

नेत्ररोमे विफलाप्लवम् ।—

विफलाया रसप्रस्थं प्रस्थं वासारसोद्भवम् ।
 मृक्कराजरसप्रस्थं प्रस्थमाजं पयः स्मृतम् ॥ ६६ ॥
 दत्त्वा तत्र हृतप्रस्थं कल्कैः कर्षमिति पृथक् ।
 विफला पिप्पला द्राक्षा चन्दनं सैन्धवं बला ॥ ६७ ॥
 काकोला चारकाकोला मेदा मारचनामरम् ।
 शंकरा पुण्डरीकञ्च कमलञ्च पुनर्नवा ॥ ६८ ॥
 निशायुग्मञ्च मधुकं सर्वैराभविर्पाचयत् ।
 नञ्जान्म्य नकुलान्म्यञ्च कण्डूं पल्लं तथैव च ॥ ६९ ॥

अथान्यथादे त्वं अष्टपलपरिमितं क्षुब्धीचोरम्, एतत्परिमाणत्वं चर्कचोरमिति ।
 विन्दुसङ्गराया निपीतमिति—“विन्दुः स्नातजनीपर्वश्चमघोद्धृती मितः” इति,
 व्यवहारात् षड्विंशतिषु देयाः । विन्दुवेगैरिति—यावत्सङ्गरान् विन्दून् पिबत्
 तावन्मात्रेण विरिच्यते इत्यर्थः । “नाभिलेपाद्विरिच्यते” इत्यनन्तरं प्रभावात्कृष्टत्वं
 दर्शितम् ॥ ६०—६५ ॥

इदानीं विफलाप्लवव्याख्यानमाह, विफलेति ।—विफलाया रसप्रस्थमिति,
 स्वरसामांशं क्लृप्तं वा प्रचरति । वासारसोद्भवं प्रस्थमाजं—वासं आट-
 क्यकः । मृक्कराजो मार्कवः सुमराशब्दवाच्यः । आजं पयश्चागोदुग्धम् । एके
 “प्रस्थमाजं पयः स्मृतम्” इत्यन्वये “यतावद्यां गुडुच्यासु आमलक्या रसं तथा । प्रस्थ
 प्रस्थं समान्म्यं सर्वैरभिर्घृतं पचत् ॥” इति पठितं व्याख्यानयान् च । कल्केति
 अल्पमात्रद्रव्याणां, तदुपेक्षा—विफला इरीतक्यादिकम् । चन्दनं शृतम् ।
 पुण्डरीकं शतकलम् । कमलं समान्म्येन रक्तं गालं वा । निशायुग्ममिति—हार्द्रा-
 द्भृत् । मधुकं मधुषट्ठी । एतत् सक्तं भोजनाये भोजनमन्त्रे भोजनान्ते च

नेत्रसावच्च पटलं तिमिरं काचकं जयेत् ।

अन्येऽपि प्रथमं यान्ति नेत्ररोगाः सुदारुणाः ॥

त्रैफलं घृतमेतद्धि पाने नस्यादिप्रूचितम् ॥ ७० ॥

व्रणशोथे गौराद्यं घृतम् ।—

हे हरिद्रे स्थिरा मूर्वा सारिवा चन्दनहयम् ।

मधुपर्णी च मधुक-पद्मकेशरपद्मकम् ॥ ७१ ॥

उत्पलोशीरमेढाभिस्त्रिफलापञ्चवल्कलैः ।

कल्कैः कर्षमितैरेतैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ ७२ ॥

विसर्पलूताविस्फोट-विषकौटव्रणापहम् ।

गौराद्यमिति विख्यातं सर्पिविषहरं परम् ॥ ७३ ॥

शिरोरोगे माद्युरघृतम् ।—

* बलामधुकरास्त्राभिर्दशमूलफलत्रिकैः ।

पृथक् द्विपलिकैरेभिर्द्रोणनौरेण पाचयेत् ॥ ७४ ॥

मयूरं पक्षपित्तान्त्र-शकृत्पादास्यवर्जितम् ।

पादशेषं शृतं नीत्वा क्षौरं दत्त्वा च तत्समम् ॥ ७५ ॥

विहितम् ; तथा च तन्त्रान्तरे—“ऊर्ध्वपानमधःपानं मध्ये पानञ्च शस्यते” इति ।

प्रकारादत्र सिद्धे प्रलेपमाहुरेके । नक्तान्यादयो नेत्ररोगे विख्याताः ॥ ६६—७० ॥

अधुना गौराद्यं घृतमाह, हे हरिद्रे इति ।—हरिद्रा दाहहरिद्रा । स्थिरा शालपर्णी ।

मूर्वा चौरसायुः । सारिवा चास्फोता । चन्दनहयमिति—श्वतरक्तमेदेन । मधुपर्णी

यष्टीमधुमेदः । मधुकं मधुयष्टी । केचित्सु मधुयष्ट्या एव भागद्वयं यार्त्तं द्विःपाठात् । पद्मकः

काष्ठविशेषः । पञ्चवल्कलैरित्यस्याये “जातीनिष्यपटोलश्च करञ्जं तिलसिक्थकम्” इति

पठन्ति, तत् बहुपलकेषु न दृश्यते । अत्रापि कल्कपाकार्थं पानीयं चतुर्गुणमिति

देयं, परिभाषामतानुसारतः । गौराद्यमिति—गौरा हरिद्रा ॥ ७१—७३ ॥

अथ मयूराद्य घृतमाह, बलेति ।—बला । मधुकं यष्टीमधु । रास्त्रा सुरभिः

दशमूलं प्रनिहन् । फलत्रिकं हरीतक्यादि । पृथक् द्विपलिकैरेभिरित्यस्य स्थाने

* बला इत्यादयस्ते “दशमूलबलारास्त्रामधुकैस्त्रिपलैः सह” इति पाठः

शकृत्पादास्यवर्जितम् । “शकृत्पादास्यवर्जितम्” इत्यत्र “शकृत्पादास्यवर्जितम्” इति

पाठात्तरम् ।

घृतप्रस्थं पचेत् सम्यक् जीवनीयैः पिचून्धितैः ।

तत् सिद्धं शिरसः पीडां मन्यापृष्ठयद्दं तथा ॥ ७६ ॥

अर्दितं कर्णनासाक्षि-जिह्वागलरुजो जयेत् ।

पाने नस्ये तथाऽभ्यङ्गे कर्णपूरुषु युज्यते ॥

हेमन्तकालशिशिर-वसन्तेषु च शस्यते ॥ ७७ ॥

योगिन्यापस्तु वृद्धफलघृतम् ।—

विफला मधुकं कुष्ठं हे निशे कटुरोहिणी ।

विडङ्गं पिप्पली मुस्तं विशाला कट्फलं वचा ॥ ७८ ॥

हे मेदे हे च काकोली सारिवे हे प्रियङ्गुका ।

शतपुष्पा हिङ्गु राज्ञा चन्दनं रक्तचन्दनम् ॥ ७९ ॥

केचित् त्रिपत्रिकैरिति पठन्ति मानयन्ति च । पचयित्वा तत्र शक्यादास्तु बर्जितं मयूरमेकं द्रोणनीरेणेति—चतुरादकमितेन पानीयेन, व्यवहारतः क्लृप्तं अधिकं जलं देयं, यतः मयूरं सप्त द्रव्याणां कायविधानं भवति । तथा च चक्रः,—“दशमूलादिना तुल्यो मयूर इह गृह्यते” इति । एवं मिलित्वा यावत् कायं भवति तावज्जलं देयम् ; तत्र “काय्यास्तुर्गुणं वारि” इत्यादि परिभाषया जल-व्यवस्थेति पूर्वव्याख्याप्रचारः । चौरं दत्त्वा च तप्तमिति—कायसप्तम् ; एके * घृतसप्तं चौरमिति सन्त्यजे, तदपि सक्तं द्रवान्तरत्वात् । जीवनीयैः पिचू-न्धितैरिति—जीवनीयो मधुरमणः, स यद्यालाभं यास्यः । पिचून्धितैः कर्षप्रभातैः प्रत्येकं, जीवनीयस्तु कल्कद्वय इत्याहुः । एतत् घृतं पानाम्यङ्गवत्यादिषु योज्यम् । संव्यमिदं हिमशिशिरवसन्तेषु इति, अन्यथा दोषकृतं स्यात् ; तथा श्रुतं—“हेमन्त-काले शिशिरं च संव्यं वसन्तकाले च मयूरसर्पिः । अथाहिदाही विषमज्जवाय वर्षाशरद्वीशमुखेल्वप्यम् ॥ आचारजातं हि विडङ्गमथ कीटाश्च सर्पाश्च सरीसृपाश्च । पिपीलिकानां कृष्णमन्त्रिकाश्च नेमीषालीन्पडितो मयूरः ॥ तथैव काले जलदाभिरामे विहस्य युक्तश्च बलश्च बर्ही । कश्चलमायात्यतिदीनभावात् शरणात्ते तेन विवर्जनीयम् ॥” इति ॥ ७४—७७ ॥

इदानीं वृद्ध फलघृतमाह, त्रिफलेति ।—विशालेन्द्रबावणी । हे मेदे इति—

* एतदेव चरकादिसम्मतम् ।

जातीपुष्पं तुगाक्षीरी कमलं शर्करा तथा ।
 अजमोटा च टली च कल्केरैश्च काषिकैः ॥ ८० ॥
 जीवहत्त्रैकवर्णाया घृतप्रस्थञ्च गोः क्षिपेत् ।
 चतुर्गुणेन पयसा पचेदारण्यगौमयेः ॥ ८१ ॥
 सुतिथौ पुष्पनक्षत्रे मृद्धाण्डे ताम्रजे तथा ।
 ततः पिबेच्छुभटिने नारी वा पुरुषोऽथवा ॥ ८२ ॥
 एतत् सर्पिर्नरः पीत्वा स्त्रीषु नित्यं वृषायते ।
 पुत्रानुत्पादयेद्दोमान् बन्ध्याऽपि लभते सुतम् ॥ ८३ ॥
 अनायुषं या जनयेत् या च स्मृता पुनः स्थिता ।
 पुत्रं प्राप्नोति सा नारी बुद्धिमत्तं शतायुषम् ॥ ८४ ॥
 एतत् फलघृतं नाम भारद्वाजेन भाषितम् ।
 अनुक्तं लक्षणामूलं क्षिपेदत्र चिकित्सकः ॥ ८५ ॥

शोनिन्यापक्षे खल्वप्येकलघुम् ।—

त्रिफलां हे सहचरे गुडूचीं सपुनर्नवाम् ।
 शुक्रनामां हरिद्रे हे रास्नां मेदां शतावरीम् ॥ ८६ ॥

मेदा महामेदा । हे च काकोत्थाविति—काकोत्थौ चोरकाकोथी । सारिवे हे इति—
 सारिवा जलसारिवा “साव” इति लोके । प्रियकुलताविशेषः । रास्ना सुरभी । जाती
 सुमनाः तस्याः पथम् । तुगाक्षीरी वाग्नी । कमलमुपलम् । टली जयपाकमुलम् ।
 शेषं द्रव्यं सुबोधम् । एतेषां प्रत्येकं कर्षप्रमितानां कल्कमाहुः । जीवहत्त्रा एकवर्णा
 या गौक्षया घृतमिति, जीवहत्त्रायहत्त्रमिति मङ्गलत्वात् । चतुर्गुणेन पयसेति—
 घृतपरिमाणात् । आरण्यगौमयैरिति—मन्दपावकपाचनत्वात् । अनुक्तं लक्षणामूल-
 मिति कश्चित् पठ्यते : लक्षणा नैतकष्टकारिका, अन्ये चत्वारिपमाहः ; तथा
 हि—“पुत्रकाकारकाल्पविन्दुभिर्वाञ्छिता सदा । लक्षणा पुत्रजननी वक्तव्यत्वात्कति-
 भवेत् ॥ शरत्काले भवति सा फलपुष्पान्विता सदा । गृह्णीयात् * पुष्पमूलार्कं
 हृत्वाकं चाभिमन्त्र्य च ॥” इत्यादि ॥ ८८—८५ ॥

च चतुष्फलघृतमाह, त्रिफलामिति ।—सहचरे हे पीतवर्णभेदेन । शुक्रनामा

* पुष्पमूलार्कं हृत्वाकं इत्यत्र पुष्पमूलार्कं हृत्वाकं इति पाठकल्पनं समीचीनम् ।

कल्कोक्त्य घृतप्रस्थं पचेत् क्षीरे चतुर्गुणे ।

तत् मिर्चं पाययेन्नारीं योनिशूलनिपीडिताम् ॥ ८७ ॥

पिण्डिता चलिता या च निःसृता विवृता च या ।

पित्तयोनिश्च विस्रस्ता षण्डयोनिश्च या स्मृता ॥ ८८ ॥

प्रपद्यन्ते हि ताः स्थानं गर्भं गृह्णन्ति चासक्तत् ।

एतत् फलघृतं नाम योनिदोषहरं परम् ॥ ८९ ॥

विषमज्वरादो पञ्चतिकृत् घृतम् ।—

द्वषनिस्त्रासृताव्याघ्रो-पटोलानां शृतेन च ।

कल्केन पक्वं सर्पिस्तु निहन्त्याद्विषमज्वरान् ॥

पाण्डुं कुष्ठं विसर्पञ्च क्षमीनर्शांसि नाशयेत् ॥ ९० ॥

इति श्रीदामोदरभूतना श्रीशार्ङ्गधराचार्येण विरचिताया शार्ङ्गधरसंहिताया

मध्यखण्डे चिकित्सितस्थाने घृतकल्पना नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीलोकः । रासा सुरभिः । शेषं द्रव्यं सुगमम् । एतत् सकलं घृतचतुर्धात्रं यावत्,
कल्कं कृत्वा क्षीरचतुर्गुणेन सह घृतं साध्यम्, यत्र कल्काद्यै चतुर्गुणं पानीयं देयं,
चतुर्गुणं स्नेहपरिमाणात् । एतत् घृतं योनिदोषेषु प्रायशः प्रचरति । पिण्डिता
चलितेत्यादयो योनिगदविशेषाः कृच्छिताः, ते तु तत्रैव बोद्धव्याः ॥ ८६—८९ ॥

अथ पञ्चतिकृत्घृतमाह, इति ।—इषः पाटरुषकः, निम्बः, प्रविडः, अमृता
गुडची, व्याघ्रो कण्टकारिका, पटोलः, प्रविडः, एतेषां शृतेन क्रायेन, क्रायाद्यै
द्रव्यं स्नेहविगणम् ; पानीयमत्र चतुर्गुणं, क्रावचतुर्धात्रं यावत् । कल्केनेति ।—
वषाटीनामपि कल्केन पाकमाहुः, कल्काद्यै घृतचतुर्धात्रं द्रव्यकटव्यमाहुः ।
* पानीयमप्यत्र चतुर्गुणं शोभनपाकाद्यम् । अथ पानाभ्यङ्गमाहुः । इति घृतं
समाप्तम् ॥ ९० ॥

इति श्रीवामन्यान्वयप्रकाशवेद्य-श्रीभावसिंहात्मजिनादमल्लेन विरचितायां शार्ङ्गधर-

टीपिकाया मध्यखण्डे चिकित्सितस्थाने घृतकल्पना नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः ।

तैलकल्पना ।—

विषमज्वरादौ लाक्षादितैलम् ।—

लाक्षादं कं क्षाययित्वा जलं च चतुरादकैः ।
चतुर्थांशं शृतं नीत्वा तैलप्रस्थे विनिक्षिपेत् ॥ १ ॥
मस्त्वादकञ्च गोदध्नस्तत्रैव विनियोजयेत् ।
शतपुष्पामश्लगम्यां हरिद्रां देवदारु च ॥ २ ॥
कटकीं रेणुकां मूवां कुष्ठञ्च मधुयष्टिकाम् ।
चन्दनं मुस्तकं राक्ष्णां पृथक्कषप्रमाणतः ॥ ३ ॥
चूर्णयेत्तत्र निक्षिप्य साधयेन्मृदुर्वाङ्गना ।
अस्त्राभ्यङ्गात् प्रशाम्बन्ति सर्वेऽपि विषमज्वराः ॥ ४ ॥
कासश्वासप्रतिश्याय-त्रिकपृष्ठग्रहास्तथा ।
वातं पित्तमपस्मारमुन्नादं यक्षराक्षसान् ॥ ५ ॥
कण्डूं शूलञ्च दौर्गन्ध्यं गात्राणां स्फुरणं जयेत् ।
पुष्टगर्भा भवेदस्य गर्भेण्यभ्यङ्गतां भृशम् ॥ ६ ॥

कीचंज्वरे अङ्गारकतैलम् ।—

(मूवां लाक्षा हरिद्रे द्वे मञ्जिष्ठा सेन्द्रवारुणी ।

बृहती सैन्धवं कुष्ठं राक्ष्णा मांसी शतावरी ॥

इदानीं तैलकल्पनायां प्रथमतो लाक्षादितैलमाह, लाक्षादकमिति ।—
अथ लाक्षारसः तैलाद्यतुर्गुणो ज्ञेयः, लाक्षायां चादकमपि निर्यासत्वादितरम ।
मस्त्वादकमपि तैलाद्यतुर्गुणं ज्ञेयमित्यर्थः, गोदध्न इति—गोदधिसम्बन्धं मस्तु,
न तु दध्यादकमपि तैले पचनीये, यतस्तन्मात्रेऽपि—“लाक्षारसं समादाय तैल-
प्रस्थाद्यतुर्गुणम् । मस्तुमस्त्वादकं दद्याद्वैरेभिश्च कार्ष्णिकैः ॥” इत्यादि । दधि-
पचयन्तम दधिसम्बन्धास्तुपातिनिमित्तं जलं, यतः मस्तु सप्तविधं भवति ;

आरनालादके तत्र तैलप्रस्थं विपाचयेत् ।

तैलमङ्गारकं नाम सर्वज्वरविमोक्षणम् ॥)

* वातव्याधौ नारायणतैलम् ।—

अश्वगन्धां बलां विल्वं पाटलां सुहृतीहयम् ।

श्वदंष्ट्राऽतिबला निम्बं ग्योनाकञ्च पुननंवा ॥ ७ ॥

प्रसारणीमग्निमन्यं कुर्याद्दशपलं भिषक् ।

चतुर्दोणे जले पक्त्वा पाटशेषं शृतं नयेत् ॥ ८ ॥

+ “स्नाहस्त्रमथस्त्रकमन्दनात् तथा शृतचौरभवं सरयः । असारमेवं दधि सप्तधाऽस्त्रिन्
वर्गे क्षुता मस्तुगुणास्तथैव ॥” (सु० सू० ४५ अ०) इति । द्रव्याणाम् प्रसिद्धानि ।
केचित्तु “कुष्ठञ्च मधुघाटकाम्” इत्यस्यागे “मस्त्रिहापयकीशीर-मासीलीहितचन्दनम्”
इति पठन्ति व्याख्यानयन्ति च । “कल्कात्तेलं चतुर्गुणम्” इति परिभाषया यद्व्यवहृष्टं
तदनुक्तकल्कारिमाणाथै मनीषरम् । चूर्णयेदिति—अत्र चूर्णोपलक्षितत्वात् प्रथमं
चूर्णभूतं क्त्वा पश्चात् दृषादि पेषितं कुर्यादिति भावः । त्रिकपृष्ठयष्टा इति—
तृतीयकज्वरभेदः कथितः, यतः,—“कफपित्तात् त्रिकयाहो पृष्ठात् वातकफात्मकः”
(अ० वि० ज्वर०) इति वचनात् । यद्यपि पूर्वं विषमज्वरशब्देनैव तृतीयकज्वर-
प्रसिद्धत्वाऽपि विशेषेण तृतीयकज्वरनाशनेऽस्य प्रभावः इत्यदोषः । अस्य तैलस्यैवजात्
गर्भिणी स्त्री पुष्टगर्भा भवेत् इति, पाणाहाऽस्तेति केचित् ॥ १—६ ॥

अथ नारायणतैलव्याख्यानमाह, अश्वगन्धाति ।—अश्वगन्धादीनि प्रसिद्धानि,

* नारायणतैलं निम्बशब्दः पारिभट्टायकः “पारिभट्टो निम्बतरुभेन्दारः
पारिजातकः” इति कोषात् तन्नाम्नरे पारिभट्टपाठदर्शनाच्च । चक्रदत्ते कल्कोक्त-बला-
ख्याने पुननंवा इति पाठः ।

+ ज्ञाकोऽयं सप्तविधदधिजातस्य सप्तविधमस्तुनः ध्वयोनिवत् गुणवत्त्वप्रदर्शनपरः
न तु दधीतरद्रव्यजातमस्तुनः पोषणपरः । मस्तु तु दधिनिःसृतजलाद्यै एव । पुनः पुनः
यत् पुनः पुनः कूर्बिकादधितकजं मस्तुदधे मस्तुदधे वा उक्तं तत्तु नातिप्रसिद्धम् ।

+ त्रिकपृष्ठयष्टाः तृतीयकज्वरभेद इत्यादि यदुक्तं तत्र सङ्गतं, त्रिकपृष्ठयष्टसु
वातव्याधौ विशेष एव, यदि त्रिकपृष्ठयष्टशब्देनैव तृतीयको लभ्यते, तदा वातव्याधि-
नाशप्रकथने पाणिपृष्ठशिरोपष्टः इत्यापि पृष्ठशिरोपष्ट इत्यनेन तृतीयक एव
अभिहितं भवितुमर्हति, यतः,—“पृष्ठात् वातकफात्मकः । वातपित्ताच्छिरोयाहो
विषयः अस्तुतृतीयकः ॥” इति सुधीर्भिर्विभाव्यम् ।

